भारतीय राजनीति का विकास
और
संविधान

[मई १६६० तक भारतीय-संविधान के विकास के विवरण सहित]

U. G. C. TEXT BOOK

लेखक

चन्द्रकला मित्तल, एम० ए०

नेमिशरण मित्तल, एम० ए०

प्राध्यापक व अध्यक्ष, राजनीति विभाग अग्रवाल (डिग्री) कॉलेज, जयपुर

[भू० पू० प्राध्यापक एस० एम० कॉलेज, चन्दौसी (उ० प्र०)

तथा

सेठ जी० बी० पोद्दार कॉलेज, नवलगढ (राजस्थान)]

विद्या भवन

पुस्तक प्रकाशक जयपुर

प्रकाशक—विद्या भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर

प्रथम संस्करण १६६०

मूल्य आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे मात्र

मुद्रक—नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर

उस 'माँ' को

जिसने अपने दूध मे 'भारत' का प्यार घोलकर पिलाया

और

उस 'पिता' को

जिसने 'भारत' क्या है यह ज्ञान देकर उस पर मर मिटना सिखाया

श्रद्धा का यह प्रसून

सादर समर्पित

भारत एक महान देश है, उसकी अपनी एक प्राचीन संस्कृति है, एक दीर्घ इतिहास है और उदात्त परम्परायें हैं। उसकी राजनीति के विकास का सही-सही अनुसरण करना तथा उसके संविधान का सम्यक् विश्लेषण एक दुरुह कार्य है। यह जानते हुए भी हमने उस दिशा मे यह अत्यन्त नम्र प्रयास किया है।

भारतीय राजनीति का विकास और सविधान भारत के प्राय सभी विश्वविद्यालयो के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठयक्रमो मे सम्मिलित किया गया है। हमे आशा है कि भारत के हिन्दी भाषी विद्यार्थी इस पुस्तक के द्वारा अपने प्यारे देश भारत के नूतन और पुरातन दोनो स्वरूपो को समझने मे सहायता पा सकेंगे। मुख्य बात यह है कि हम भारत को अधिकाधिक समझ सकें, निष्पक्षता के साथ उसे पहचानने की चेष्टा करें, तथा उसे हृदय से अधिकाधिक प्यार करना सीख जायें।

हमारा सविधान यद्यपि लिखित है तथापि उसका विकास बहुत तेजी के साथ और असाधारण गति से हो रहा है, पुस्तक के लेखन और प्रकाशन काल मे ही इतने विशाल और महत्वपूर्ण परिवर्तन और सशोधन हुए हैं कि यह कहना कठिन हो गया है कि जिस दिन यह पुस्तक पाठको के हाथो म पहुचेगी उस दिन तक के सावैधानिक विकास का व्यौरा उन्हे दे सकेगी, तथापि हमने यह चेष्टा की है कि मई १९६० के प्रथम सप्ताह तक होने वाले सावैधानिक विकास को इस पुस्तक में गृहित कर लिया जाये।

राजनीति-विज्ञान के नम्र विद्यार्थी होने के नाते हमें जो आनन्द इस पुस्तक की रचना म प्राप्त हुआ है उसे हम अपने श्रम का सन्तोषकारक पुरस्कार मानते हैं। हम यह आशा करते हैं कि यह पुस्तक अपने पाठको के लिय अच्छी सहायक और मित्र सिद्ध हो सकेगी तथा उनको ज्ञान-साधना म उतना ही समाधान-कारक योग दे सकेगी जितना कि इसने हम प्रदान किया है।

पूर्ण मे से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष बचता है, तिस पर भी हमारी यह कृति तो हमारी ही तरह अपूर्णताओ से भरी हो सकती है, अतः हम उन सब मित्रो के ऋणी होंगे जो कृपा करके इसकी न्यूनताओ, गलतियो और असंगतियों की ओर हमारा ध्यान दिलायेंगे।

जिन विद्वानो की बहुमूल्य कृतियो से सहायता ली गई है उन सबका उल्लेख हमने यथास्थान कर दिया है। उन सबके प्रति हम ज्ञान-ऋण स्वीकार करते हुये अपने प्रणाम निवेदित करते हैं।

बुद्ध पूर्णिमा, १९६० — चन्द्रकला मित्तल एम. ए

जयपुर — नेमिशरण मित्तल एम ए.

विषय-क्रम

★

अध्याय १

भारतीय राजनीति का उत्कर्ष और अपकर्ष

'आत्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलि
विपस्त्वा सर्वा वान्छन्तु मा त्वाद्राष्ट्रमधिभ्रशत।'

—ऋग्वेद १०।१७३।१ +

इन पाच हजार वर्षों से भारत अपना जीवन कायम रखता आ रहा है और उसने बहुत से परिवर्तन देखे है। मै बाज वक्त यह सोचने लगता हूँ कि क्या हमारी यह बूढी भारत-माता जो इतनी प्राचीन और फिर भी इतनी नौजवान और सुन्दर है, अपने बच्चों की अधीरता पर, उनकी छोटी-मोटी परेशानियो पर, उनके हर्ष और शोक पर, जो दिन भर रहने हैं और फिर समाप्त हो जाते हैं, मुस्कुराती न होगी।' —जवाहरलाल नेहरू×

भारत संसार का एक अति प्राचीन देश है, उसकी संस्कृति बहुत पुरानी है, वह सदा विकसित हुई है और उसमें नित्य नई गति पैदा होती रही है। भारत का नाम लेते ही हमारे मस्तिष्क मे एक ऐसा चित्र निर्माण होता है जो विविध, विचित्र तथा बहुरंगी है और हमारे हृदय में भावनाओ का एक ज्वार सा उमड पडता है। पर्वत-राज हिमालय से लेकर चिर-कुमारी कन्या के पावन चरणो को अनन्त काल से धोने वाले भारत महासागर तक और कामरूप व बग मे लेकर वीरप्रसू राजस्थानी भूमि व अरबसागर तक फैले हुए इस विशाल, विस्तृत एव महान् देश की भूमि के कण-कण, अजस्र प्रवाहिनी नदियो के जल की बूद-बूद और पर्वतो के एक-एक पत्थर के साथ अतीत से आज तक की कितनी ही पावन, प्रेरक, उन्नायक और रोमाचकारी स्मृतिया जुडी हुई हैं। इस देश ने सृष्टि के आदि से आज तक विभिन्न धर्मों, संस्कृतियो, अर्थ-व्यवस्थाओ और राजनीतिक गति-विधियो का प्रयोग तटस्थ होकर देखा है और आज भी वह हमारे नये प्रयोगो को उसी दृष्टि से देख रहा है, मानो उसने अपने आप को इस पृथ्वी पर एक वृहद् प्रयोगशाला मान लिया है जिसमे होने वाले अनुसन्धानो के

+ "हे राजा मैंने तुझे चुना है आपस के बीच मे (हम ही लोगो के बीच मे से), ध्रुव हो, ठहर। सारा विश् (प्रजा) तुझे पसन्द करे, चाहे। तेरे कारण राष्ट्र पतित न हो।"

× 'विश्व इतिहास की झलक'—अध्याय २०, अन्तिम पंक्तिया।

परिणाम समूचे विश्व का मार्ग दर्शन करते रहे है । जगद्गुरू के शीर्ष पद पर प्रतिष्ठित होने वाले इस महान् देश के चरणो मे श्रद्धा से प्रणाम निवेदित करने के पश्चात् हम विनीत भाव से इसकी राजनीतिक गतिविधि का अध्ययन करने का बाल सुलभ प्रयास कर रहे हैं ।

प्रमुखत हमारा लक्ष्य प्रस्तुत रचना मे सन् १८८५ से आज तक की भारतीय राजनीति के विकास का अध्ययन करना है तथापि हमारी नम्र धारणा है कि हम उस काल की राजनीति का अध्ययन अचानक शुरू नही कर सकते क्योकि भारत एक ऐसा देश है जिसम कुछ भी एकदम नही होता । हमारे वर्तमान की जडें हमेशा अतीत के गर्भ में निहित होती हैं और हमे इस देश के विचार और व्यवहार को समझने के लिए उसकी पूर्व भूमिका एव परिस्थिति को समझना होगा । हमारे अध्ययन की परिधि यद्यपि बहुत सीमित है तथापि हम उससे दूर हट कर थोडी देर के लिए उन तत्वो और शक्तियो का अध्ययन करेंगे जिन्होने हमारी इन परिधियो का निर्माण किया है । अपने इस अध्ययन को हम भारतीय इतिहास के उन धुँधले पन्नो से आरम्भ करेंगे जिनकी लिपि और भाषा हमारे लिए समझने मे बहुत कठिन होगई है तथा हम उसके ऐसे अध्यायो में से गुजरेंगे जो कही उजले कही धूमिल हैं । अपने इस सिंहावलोकन में हमारे मस्तक कई बार गर्व और गौरव से उन्नत होगे एव बहुत बार लज्जा से झुकेंगे भी । एक वैज्ञानिक की सी तटस्थ वृत्ति रखकर हम इस अध्ययन की मजिल पूरी करेंगे । इस अध्ययन को हमने भारतीय राजनीति के उत्कर्ष का अनुसन्धान माना है तथा हम उसे वैदिक युग की एक संक्षिप्त सी झाकी के पश्चात् इस प्रकार वर्गीकृत कर रहे हैं —

(क) चाणक्य से अशोक
(ख) अशोक से गौरी
(ग) गौरी से क्लाइव
(घ) क्लाइव से डलहौजी
(च) प्रथम स्वाधीनता संग्राम (१८५७)

प्रथम स्वाधीनता सग्राम के पश्चात् हमारे वर्तमान अध्ययन की परिधियाँ आरम्भ होती हैं जिनके गुरुत्वाकर्पण-क्षेत्र मे हम अगले अध्याय मे प्रविष्ट होगे ।

वैदिक युग

वैदिक-काल मे राज्य संस्था का उदय और राजनीतिक जीवन का विकास हुआ ऐसे प्रमाण हम वेद मंत्रो म मिलते हैं । इस अध्याय का श्री गणेश हमने जिस मंत्र से किया है उसम कहा गया है कि राजा होता था, उसे चुना जाता था, वह वंश क्रमानुगत नही वरन् निर्वाचको म से एक होता था, राज्य स्थिर होता था, सारी प्रजा राजा को चाहे (पसन्द करे) यह आवश्यक था, राष्ट्र होता था और राजा से अपेक्षा की गई थी कि वह राष्ट्र को भ्रष्ट न करे । इस मंत्र के अतिरिक्त अन्यत्र भी वेदो म

इसके प्रमाण बिखरे पड़े हैं। ऋग्वेद (७।३४।११) में कहा गया है कि 'राजा राष्ट्राणाम् पेशो नदीनामनुतमस्मै क्षत्र विश्वायु' राजा विभिन्न धन्धों के लोगों को राष्ट्र में वैसे एकत्रित करता है जैसे समुद्र अनेक अलग-अलग नदियों को। यहां राजा और राष्ट्र शब्दों का उल्लेख मिलता है।

राज्य का जन्म—अथर्ववेद (८।१०) में उल्लेख मिलता है कि "विराड्वा इदमग्—" यह जगत राजा रहित था परन्तु जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण (१।१४) में बताया गया है कि देवों और असुरों में युद्ध हुआ, देव पराजित हुए, उन्होंने हार से डरकर निर्णय किया—"राजानम् करवामहै" हम राजा चाहिये क्योंकि हम 'अराजतया' अर्थात् राजा न होने के कारण हार गये हैं। इस प्रकार 'वैराज्य' (राज्य हीनता) से ऊब कर आर्य जन उठे और 'गार्हपत्य ।न्यक्रामत', उन्होंने अपने परिवार को एक प्रधान के आधीन सगठित किया जो – 'गृहमेधी गृहपतिर्भवति' घर का ठीक प्रबन्ध करने लगा और घर का स्वामी बना। सगठन आगे बढ़ा और परिवार के मुखिया जो देव कहलाये वे समय समय पर सभा करने लगे—'यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवाना भवति य एव वेद।' (जो सगठन) के रहस्यों को जानता है वह देवों (कुल-नायकों) को आहूत करता अर्थात बुलाकर इकट्ठा करता है और उनसे मित्रता करता है। इससे आगे चलकर 'सभाया न्यक्रामत्' सभा अर्थात् ग्राम—सभा बनी, 'सभा सम्योभवति' सभा म सभ्य (सदस्य) बने। सभा का लघु रूप समिति बना—समितो न्यक्रामत। अथर्व० ८।१०।१०'। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इस प्रसग म मत्रो म कहीं राजा शब्द नहीं आया है अत समिति का अर्थ राजा की समिति से नहीं वरन् ग्राम-समिति या पचायत है जो राजा से स्वतत्र है। समिति म जो मत्रणा देने योग्य हुआ वह मत्री बना —मत्रणाना मत्रणीयो भवति। १२'

ऋग्वेद में भी समिति का उल्लेख मिलता है—'समानोमन्त्र समिति: समानी' मिलकर मत्रणा हो मिलकर समिति हो (ऋ० १०।१६१।३)। ऋग्वेद (६।६२।६) म राजा के समिति म जाने का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद (३।५।७) म राजकर्तृ शब्द आया है जिसका अर्थ है राजा को बनाने वाले अर्थात् मतदाता या नागरिक। राजा का चुनाव समिति करती थी। परवर्ती काल में रामायण व महाभारत मे राजा के निर्वाचक को 'राजकर्तार' कहा गया है।

वैदिक काल के पश्चात् भी त्रेता से द्वापर युग तक राजा का निर्वाचन होता रहा। कहीं यह निर्वाचन वास्तविक रहा कहीं केवल परम्परा को निबाहने के लिए केवल औपचारिक। राम के राजतिलक की स्वीकृति दशरथ को अयोध्या के पौर-जानपद से लेनी पड़ी थी। राजा दशरथ की मृत्यु पर नये राजा के चुनाव के लिए पौर-जानपद की बैठक हुई, इसी पौरजानपद ने राम के वन चले जाने पर भरत को राजकाज सभालने का आदेश दिया था (रामायण, अयोध्या काड ६७।२, ११।३३) महाभारत म भी इस प्रकार के प्रसंग आये हैं जहां प्रजा ने देवापि को कुष्ठ-पीड़ित

होने के कारण राजा नही बनने दिया है तथा पौर-जानपद ने ययाति से कहा कि वह अपने पुत्र पुरू को राजा बनाये। प्रजा राजा पर जुर्माना कर सकती थी और उसे गद्दी से उतार सकती थी।

ग्राम-प्रजातन्त्र—प्राचीन भारत मे ग्राम-व्यवस्था की दो प्रथाएं थी—एक आर्य पद्धति, दूसरी दक्षिणी-भारत की द्रविड पद्धति। द्रविड पंचायतें स्वतंत्र-लोकतंत्र होती थी। आर्यो के गाव व्यवस्थित ढंग से बसाये जाते थे। गाव की व्यवस्था का दायित्व 'सभा' और 'समिति' पर होता था। गाव का प्रमुख अधिकारी 'ग्रामणी होता था। ऋग्वेद मे उसकी तुलना राजा से की गई है। मनु, शुक्र, विष्णु आदि स्मृतियो मे उसे 'ग्रामिक' कहा गया है। जातक-साहित्य मे उसे ही 'ग्रामभोजक' कहा गया।

वैदिक काल मे जिस राजनीतिक जीवन का आरम्भ हुआ, उसने-धीरे धीरे राजनीतिक-सस्थाओ का स्वरूप ग्रहण कर लिया। आज तक ये राजनीतिक-संस्थाएं किसी न किसी रूप मे हमारे पास मौजूद है। भारत के अतीत के इस चित्र को देखकर कितना आश्चर्य होता है कि हमारे पूर्वजो ने किस प्रकार एक उन्नत-व्यवस्था का निर्माण किया था। इन संस्थाओ का विस्तृत अध्ययन, जो यहा संभव नही है, हमारी आज की समस्याओ के लिए सम्भव है कोई समाधान प्रस्तुत कर सके और प्रगति के पथ मे हमारा मार्ग दर्शन कर सके। इस वर्णन को यही समाप्त करके हम भारतीय राजनीति के ज्ञात-काल का वर्णन आचार्य-चाणक्य के समय से आरम्भ करेंगे।

चाणक्य से अशोक

आचार्य चाणक्य भारतीय-राजनीति के प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं। उन्होने 'अर्थ शास्त्र' नामक एक ग्रन्थ की रचना की है जिसमें राज्य की शासन-व्यवस्था की सावैधानिक-रचना का विस्तृत वर्णन किया गया है, उसका वर्णन हम आगे भारत की सावैधानिक-परम्परा के सदर्भ मे करेंगे। चाणक्य का नाम विष्णुगुप्त था, उन्हे कौटिल्य भी कहते थे। ये सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मत्री थे। वास्तव मे इनकी सहायता से ही चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर महान् की मृत्यु के पश्चात् तक्षशिला विजय करके मगध की राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) पर चढाई की और वहा के राजा नन्द को पराजित किया। चाणक्य ने आज से लगभग २३०० वर्ष पूर्व एक विशाल भारतीय राष्ट्र का स्वप्न देखा, जिसके लिए वे जीवन भर परिश्रम करते रहे। उनकी कुशलता के आधार पर ही सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिकन्दर के यूनानी गवर्नर सेल्यूकस को परास्त किया एवं उससे मित्रता स्थापित की।

सम्राट चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व आचार्य चाणक्य के पीछे छिप गया है। उनके पुत्र सम्राट बिन्दुसार एक सामान्य प्रशासक थे परन्तु बिन्दुसार के पुत्र सम्राट अशोक एक महान् शासक ही नही महान-मानव भी हुए। उनके मन मे आचार्य चाणक्य के

स्वप्न को मूर्तिमान करने की अमिट इच्छा थी और इसके कारण ही उन्होने भरसक चेष्टा की कि भारत केवल वैधानिक दृष्टि से ही नही वरन् आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी एक राष्ट्र बने। उनके बारे मे प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री एच० जी० वेल्स ने लिखा है कि— इतिहास के पृष्ठो मे ससार के जिन लाखों सम्राटो राज-राजेश्वरो, महाराजाधिराजो, श्रीमानो के नाम भरे हुए हैं अकेले अशोक का ही नाम सितारे की भाति चमकता है। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है।'

सम्राट अशोक संसार के प्रथम शक्तिशाली सम्राट थे जिन्होने विजयी होने पर भी युद्ध को त्याग दिया। वे दक्षिण के उस छोटे से टुकडे को भी अपने साम्राज्य मे मिला सकते थे जिसे जीतना बहुत कठिन नही था परन्तु उन्होने साम्राज्य के विस्तार की अपेक्षा साम्राज्य के भीतर एकता और संगठन पैदा करने पर अधिक ध्यान दिया। वे प्रजा का हृदय जीतने की चेष्टा मे लग गये।

सम्राट अशोक एक दयालु सम्राट थे और उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया, केवल इन्ही कारणों से वे महान् और देवप्रिय नही बन गय। सम्राट अशोक एक महान राजनीतिज्ञ थे, उन्होंने राज्य व्यवस्था के उस भारतीय लोकतन्त्रात्मक आदर्श को पुनर्स्थापित करने का संकल्प किया जिसके अन्तर्गत प्रजा को राज्य की शक्ति मे भाग लेने का अधिकार दिया गया है। देवप्रिय अशोक ने घोषणा की कि वे चाहते हैं कि उनकी प्रजा उनकी शक्तियो मे भाग ले। आधुनिक युग में जनतन्त्र का मूल-तत्त्व यही माना जाता है, यह ही राज्य की प्रभुता मे जनता के सक्रिय भाग लेने का सिद्धान्त (Theory of peoples' participation in the power of State) है। इस प्रकार सम्राट अशोक एक सम्राट ही नही लोकनायक भी थे। उनके शासन की सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि वे राज्य-कोष को प्रजा का एक पवित्र धरोहर मानते थे, उन्होंने धर्म-महामात्र नाम के राज्य-अधिकारियों की नियुक्ति की थी जो सम्राट के राजमहल के खर्च की जाच-पडताल करते थे तथा उस पर नियंत्रण भी रखते थे। यह उनकी लोक-नीति का एक उज्ज्वल प्रमाण है।

अशोक से गौरी

सम्राट अशोक ने भारत में एक पुष्ट और सबल राष्ट्र की नीव डाली थी जिसका अन्तिम पत्थर मुहम्मद गौरी के हाथो उखडवाया गया। अशोक के पश्चात् मौर्यवंश के राजा अधिक दिनो तक राज्य नही कर सके। ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने राज्य-सत्ता उनसे छीन कर अपने को सम्राट घोषित किया। अशोक के साथ ही भारतीय राजनीति मे से बौद्ध-प्रभाव समाप्त हो गया। पुष्यमित्र ने ब्राह्मणवाद को प्राश्रय दिया तथा बौद्ध धर्म को नष्ट किया जाने लगा। मगध से बौद्ध-संस्कृति को तो नही मिटाया जा सका परन्तु उस संघर्ष के परिणामस्वरूप मगध भारत का केन्द्र नही रहा।

इसी समय उत्तरी-पश्चिमी सीमा की ओर से भारत पर आक्रमण शुरू हो गये। आक्रमणकारियो मे प्रधानत शक और तुर्क थे। अब शको को बढावा देने वाले कुशान सम्राट स्वयं आये तथा उन्होने समस्त उत्तर भारत व मध्यभारत पर अपना राज्य जमा लिया। यह शासन तीन सौ वर्षो तक चला। ठीक इन्ही दिनों दक्षिण भारत मे आन्ध्र राज्य फैला हुआ था। कुशान शासको मे कनिष्क नाम का एक बहुत शक्तिशाली सम्राट हुआ जो कट्टर बौद्ध था। इसने रोम तक अपने राजदूत भेजे और इसके जमाने में विदेशी व्यापार खूब फैला। ये कुशान सम्राट विदेशी बनकर नही रहे, वे पूरे भारतीय बन गये थे और उन्होने यहा का धर्म भी अपना लिया था।

कुशान साम्राज्य तीन सौ वर्ष के लगभग रह कर समाप्त हो गया और उत्तर भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त हो गया जिन पर प्रधानत शक, सिथियन या तुर्क लोग राज्य कर रहे थे। यद्यपि ये लोग भारत के प्रति प्रेम रखते थे, बौद्ध थे, भारत के निवासी बन गये थे तथा आर्यो के आचरण का अनुकरण भी करते थे तथापि भारत के मूल आर्य-क्षत्रियो के मन में असन्तोष था और वे राह ढूंढ रहे थे कि किसी प्रकार फिर एक बार उत्तर भारत में आर्य-साम्राज्य की स्थापना की जाये। इन्हे एक मात्मी नेता आखिरकार मिल गया। यह नेता पाटलिपुत्र का एक छोटा सा राजा चन्द्रगुप्त उत्तर भारत का एक बडा अंश जीतकर सम्राट बन गया और उसने गुप्त वंश की नीव डाली।

राष्ट्रवाद—हमे यह नही भूलना चाहिये कि दो सौ वर्ष के लगभग गुप्त-शासन का यह युग एक शक्तिशाली हिन्दुत्व और कट्टर-राष्ट्रवाद का युग था। इस काल मे तुर्क, पार्थव इत्यादि अनार्य शासको को देश से निकाल दिया गया। चन्द्रगुप्त का पुत्र समुद्रगुप्त एक बहुत कुशल योद्धा और सेनापति था, अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सम्राट बनने पर उसने केवल उत्तर ही नही दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त कर ली और पश्चिम मे सिंध नदी के उस पार तक भारतीय राष्ट्र का विस्तार कर लिया।

समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय जिसने अपना नाम विक्रमादित्य रख लिया था और आगे बढा तथा उसने काठियावाड व गुजरात को भी जीत लिया एवं वहां से तुर्कों व शक राजाओ को खदेड दिया। विक्रमादित्य का युग कट्टर आर्य-राष्ट्रवाद का युग था, उस समय में बाहर से आने वाली सभी संस्कृतियो को तिरस्कृत करके आर्य-संस्कृति एवं संस्कृत भाषा को प्रतिष्ठित किया गया।

भारतीय-संस्कृति का अग्रदूत महाकवि कालिदास इसी युग की उपज है। विक्रमादित्य ने बौद्ध धर्म की उपेक्षा तो की परन्तु उस पर अत्याचार नही किये। इस युग मे क्षत्रियो के हाथो मे फिर से सत्ता आई एवं ब्राह्मण प्रतिष्ठित हुआ। हिन्दू धर्म ने धीरे-धीरे बौद्ध धर्म को आत्मसात कर लिया एव इस प्रकार भारत से बह धर्म प्राय लुप्त होने लगा। विदेशी व्यापार और राजनीतिक-सम्बन्धों की स्थापना

इस काल में हुई। प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान इसी समय भारत आया और उसने यहा के जीवन की प्रशंसा की।

हूण—गुप्तकाल मे कला का बहुत विकास हुआ। अजन्ता की गुफाओ के चित्र आज भी उसकी साक्षी दे रहे है। आचार्य चाणक्य ने जो एक भारतीय राष्ट्र का स्वप्न देखा था वह पूरा हो ही रहा था कि अचानक भारत के ऊपर एक महान् सकट टूट पडा। यह सकट था उत्तर-पश्चिम की ओर से हूणो का आक्रमण। भारत ने उनका बहुत डटकर सामना किया, गुप्तवशी सम्राट बालादित्य और मध्यभारत के राजा यशोवर्मन ने मिलकर उन्हे खदेड दिया परन्तु उन्होने दया करके उनके राजा मिहिरगुल को क्षमा कर दिया। 'यह एक बडी राजनीतिक भूल थी, परिणाम यह हुआ कि हूण बराबर भारतीय-राष्ट्रीय-एकता पर प्रहार करते रहे तथा उन्होने आर्य जीवन मे घुल-मिल कर उनके जीवन-आदर्शों को गिरा दिया। उत्तर भारत मे अनेक छोटे-छोटे राज्य बन गये तथा केन्द्रीय सत्ता समाप्त हो गई। परन्तु दक्षिण भारत मे सम्राट पुलकेशिन ने चालुक्य वश का राज्य स्थापित किया और उसका व्यापक-विस्तार कर लिया।

हर्षवर्धन—इसी समय हर्षवर्धन नामक एक महान् सम्राट उत्तर भारत में उदय हुआ। उसने कान्यकुब्ज (कन्नौज) को अपनी राजधानी बनाया। हर्ष ने उत्तर भारत मे बगाल की खाडी से अरब सागर तक तथा काश्मीर से विन्ध्याचल तक अपना साम्राज्य फैला लिया। विन्ध्या के उस पार दक्षिण मे चालुक्य-साम्राज्य था जिसने हर्षवर्धन को आगे बढने से रोक दिया। उसके समय मे प्रसिद्ध चीनी यात्री युआनच्वाग (ह्यूएनत्साग) भारत आया और उसने सम्राट हर्षवर्धन के बारे में विस्तार से लिखा है।

सम्राट हर्ष बहुत निष्ठावान बौद्ध थे। एक प्रकार से वे भारत के अन्तिम बौद्ध-सम्राट थे, परन्तु उन्होंने एक विलक्षण धर्म-निरपेक्षता (Secularism) का परिचय दिया। हिन्दू धर्म को उन्होंने तनिक भी आघात नही पहुँचाया वरन् वे उसे पुष्ट बनाते रहे। प्रत्यक बार वे प्रयाग के कुम्भ मेले (हिन्दू-मेले) मे स्वय पधारते थे और पंजाब तक के सब निर्धन व अपाहिज लोगो को अपना अतिथि बनाकर मेले मे बुलाते थे। इस मेले म हर पाचवे वर्ष राज्यकोप की सारी बचत जनता में बांट दी जाती थी, सम्राट ने एक बार स्वयं अपना राजमुकुट और राजसी वस्त्र भी बाट दिये तथा अपनी बहिन राज्यश्री से एक पुराना वस्त्र लेकर पहना। राज्य-कोष प्रजा की सम्पत्ति है इस निष्ठा का इससे बढकर ससार के इतिहास में कोई दूसरा प्रमाण नही है। हर्ष ने मासाहार निषिद्ध कर दिया था। वह स्वय बहुत विद्वान थे, उन्होने विद्वानो और शीलवानो का बहुत सम्मान किया।

युआनच्वाग ने लिखा है कि उस समय भारत के लोग बहुत सज्जन और सरल थे। वे सच्चे थे तथा अपराध नही होते थे। बेगार की प्रथा नही थी, करो का बोझ प्रजा पर बहुत हल्का था, देश समृद्ध था।

दक्षिण भारत का उत्तरागमन—इधर सन् ६४८ ई० मे सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु हुई उधर दक्षिण भारत म राष्ट्रकूट और पल्लव सम्राट समय-समय पर चालुक्य-साम्राज्य को चुनौती देते रहे। नवी शताब्दी के मध्य म दक्षिण भारत म एक नई सामुद्री शक्ति का आविर्भाव हुआ। यह चोल वश था। चोल उत्तर की ओर बढे, राष्टकूटो ने उनका सामना किया और उन्हे हरा दिया परन्तु चोल सम्राट राज-राजा ने उत्तर प्रयाण आरम्भ किया और दसवी शताब्दी के अन्त तक वह राष्ट्कूटो को परास्त करके उत्तर म निकल गया। बगाल तक चोल-साम्राज्य फैला और गुप्त साम्राज्य के पश्चात यह पहला विस्तृत साम्राज्य हुआ। १०४४ ई० मे चोल-सम्राट राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् यह साम्राज्य नष्ट हो गया और भारत पुन छोटे-छोटे अनेक राज्यो म विभक्त हो गया।

चोल-काल मे भारत ने बहुत प्रगति की, गावो मे मन्दिरो का निर्माण हुआ। श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि य मन्दिर विद्या-पीठ, ग्राम-ससद और ग्राम दुर्ग का भी काम करते थे तथा गाँव का सारा जीवन इन मन्दिरो के चारो ओर घूमता था। (विश्व इतिहास की झलक–४४)

शकराचार्य—दक्षिण भारतमे इसी समय एक महान विजेता का जन्म हुआ जिसने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और बगाल की खाडी से अरब सागर तक पूरे देश को पदाक्रान्त किया तथा अपना साम्राज्य स्थापित किया। यह साम्राज्य राजनीतिक नही आध्यात्मिक था और यह विलक्षण विजेता जगदगुरू शकराचार्य थे जो अपनी युवावस्था में ही शरीर छोडकर चले गय। उन्होने भारत के चारो कोनो मे धर्म-पीठो की स्थापना की तथा यह सिद्ध कर दिया कि भारत की सस्कृति राजनीतिक उथल पुथल के बावजूद भी अखड, अक्षुण्ण तथा एक है। महान शकर के इस प्रयास ने देश म भारतीय राष्ट्रीयता की चेतना को जाग्रत कर दिया। उन्होने भारत को एक सास्कृतिक इकाई बना दिया और भारत ने उनके इस विचार को इतने थोडे समय म हृदयगम कर लिया यह इस बात का प्रमाण है कि उसके भीतर इस एकता की एक सुप्त चेतना पहले से विद्यमान थी—शकराचार्य अपनी आयु के बत्तीस वर्ष ही तो पूरे कर सके। भारतीय राष्ट्रीयता के विकास और राजनीतिक चेतना के प्रसार में शकराचार्य का शीर्ष स्थान है।

इस्लाम का प्रवेश—हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त भारत एक सगठित देश न रह सका। आठवी शताब्दी के अन्त म इधर शकराचार्य भारत का सास्कृतिक एकीकरण कर रहे थ, उधर भारत के द्वार (उत्तरी-पश्चिमी सीमा) पर एक नया धर्म आकर खडा हो गया जिसने दरवाजा खटखटाया और जो इस प्राचीन देश म उत्तर से दक्षिण तक शान के साथ सिर ऊचा करके तलवार के साथ से इस देश को परास्त करता हुआ निकल गया। यह धर्म इस्लाम था। नये धर्म के नय जोश को लेकर अरब के सैनिक राज पुरुष भारत की ओर बढे। इस्लाम का यह भारत प्रवेश सन् ७१० ई० मे मुहम्मद बिनकासिम के आक्रमण के साथ शुरू हुआ। उसने सिन्ध की

घाटी को पश्चिम म मुलतान तक जीत लिया, विरोध तो करता ही कौन। ये लोग भारत म आते जाते रहे, व्यापार करते रहे और मस्जिदें भी बनाते रहे परन्तु इनका विरोध नही हुआ। हमने आरम्भ में कहा है कि भारत बहुत तटस्थता के साथ विविध प्रयोगो को देखता रहा है, उसमें एक विलक्षण धैर्य और सहनशीलता तथा आत्मसात करने की सामर्थ्य रही है।

प्रतिक्रिया का आरम्भ ग्यारहवी शताब्दी म हुआ जब इस्लाम हाथ मे तलवार लेकर एक विजेता के रूप में भारत म घुसा। इस समय भारत अपनी सहनशीलता खो बैठा और उनके प्रति उसके मन में घृणा का भाव पैदा होने लगा। गजनी के सुल्तान सुबुक्तगीन ने दसवी शताब्दी के अन्त म भारत पर आक्रमण किया, लाहौर के राजा जयपाल ने उसका सामना किया उसे खदेडा परन्तु अन्त में वह मारा गया। सुबुक्तगीन के बेटे महमूद गजनवी ने भारत की लूट शुरू। की वह पटना मथुरा और सोमनाथ तक पहुँचा तथा डाकू की तरह से उसने भारत को लूटा। इस घटना से भारतीय-राजनीतिक मस्तिष्क को बहुत ठेस लगी परन्तु भारत इस आक्रमण के खिलाफ सगठित न हो सका जिसका परिणाम हुआ प्राचीन भारत का अन्त।

भारत की राजनीतिक नींद—महमूद गजनवी के आक्रमणो म केवल सिंध और पँजाब ही उसे मिल सका तथा उन प्रदेशो का एक बडा भाग भी उसकी मृत्यु के बाद वापिस भारत ने ले लिया तथापि भारत इस दुर्घटना से कुछ न सीख सका। वह एक जबर्दस्त राजनीतिक नीद लेता रहा। गजनवी और गोरी के बीच मे डेढ सौ वर्ष से अधिक का समय भारत को मिला जिसे उसने अपने पारस्परिक वैमनस्य, आलस्य और प्रमाद मे नष्ट कर दिया। भारत की यह राजनीतिक नीद उसके भविष्य के लिए घातक सिद्ध हुई और यहा से भारतीय प्राचीन-सस्कृति का अध्याय सदा के लिए बन्द हो गया, उसे तब तक बन्द ही मानना चाहिये जब तक हमारी वर्तमान और आने वाली पीढिया पश्चिमी जगत की उपलब्धियो से चकित न होकर अपने सांस्कृतिक-मार्ग का अनुसरण करके ससार का पथ-प्रदर्शन करने का निश्चय ही न कर लें।

गोरी से क्लाइव

हमारा यह सिंहावलोकन बहुत सक्षिप्त है, फिर भी हम आशा करते हैं कि भारतीय राजनीति के विकास का एक चित्र प्रस्तुत कर सकेंगे। सन् ११८६ ई० के आसपास अफगानिस्तान के एक सरदार शहाबुद्दीन गोरी ने गजनवी साम्राज्य को समाप्त करके भारत पर आक्रमण किया। वह दिल्ली से परास्त होकर लौटा। परन्तु वह शीघ्र ही कन्नौज के राजा राष्ट्र-द्रोही जयचन्द के निमंत्रण पर भारत लौट आया और उसने उस राष्ट्र-घाती राजा की सहायता से दिल्ली के यशस्वी सम्राट पृथ्वीराज को थानेश्वर के युद्ध में हरा दिया। जयचन्द की काली करतूत की कहानी भारत में बहुत प्रचलित है। उसे यहाँ दोहराने की आवश्यक्ता नही है। इस घटना से हमें यह ज्ञात होता है कि उस समय राष्ट्रीयता की भावना घट रही थी, एक ओर जयचन्द ने

पृथ्वीराज से बदला लेने के लिए राष्ट्र-के जीवन को दांव पर लगा दिया, दूसरी ओर भारत की दूसरी शक्तियां ऐसे महत्वपूर्ण अवसर पर पृथ्वीराज की सहायता के लिए नहीं दौड़ी। शायद वे अवसर की गम्भीरता को उस गहराई तक नहीं माप सके जितना कि हम उसे आज अनुभव कर रहे हैं। सन् ११६३ ई० में दिल्ली के राज-सिंहासन पर गोरी का राज्याभिषेक भारत के इतिहास में एक निर्णायक घटना थी। इस घटना के पश्चात् भारत में प्राचीन-राजनीति का अध्याय सदा के लिए बन्द हो गया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि दिल्ली जीत लेने पर दक्षिण-भारत भी गोरी के अधीन हो गया। वह युग आज जैसा नहीं था, उस युग में बिना लड़े किसी भी क्षेत्र पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी। तथापि, दक्षिण भारत भी अब उतनी स्वतंत्रता का अनुभव नहीं कर सका जितनी स्वतंत्रता वह इस समय तक अनुभव करता आ रहा था। मुस्लिम शासन को दक्षिण भारत तक फैलने में १५० वर्ष लग गये। यदि हम इन मुसलमान आक्रमणकारियों की बर्बरता का वर्णन अपने शब्दों में करें तो हमें भय है कि हमें सम्प्रदायवादी न समझ लिया जाए, इस कारण हम यहां एक ऐसे व्यक्ति के विचार दे रहे हैं जिसकी निष्पक्षता और इस्लाम-प्रेम में सन्देह नहीं किया जा सकता। हमारे ये विचारक श्री जवाहरलाल नेहरू हैं। वे लिखते हैं—'शुरू में ये मुसलमान बड़े खूंख्वार और ज़ालिम थे। ये एक कठोर देश से आये थे, जहाँ नर्मी की ज्यादा कद्र नहीं थी। इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि वे एक नये जीते हुए देश में थे और चारों ओर दुश्मनों से घिरे हुए थे जो किसी भी समय विद्रोह कर सकते थे। इन लोगों को बलवे का डर बराबर बना रहता होगा और डर से आदमी अक्सर भयंकर और ज़ालिम बन जाता है। इसलिए जनता को पस्त करने के लिए कत्लेआम होते थे। यह मुसलमान द्वारा हिन्दू को उसके धर्म के कारण कत्ल करने का सवाल नहीं था, बल्कि हारे हुए लोगों की आत्मा को विदेशी विजेता द्वारा कुचल दिये जाने का सवाल था। इन अत्याचार-पूर्ण हरकतों का कारण बताने में मजहब को करीब-करीब हमेशा ला घसीटा जा सकता है, लेकिन यह ठीक नहीं है। कभी-कभी मजहब (धर्म) का बहाना जरूर लिया जाता था, लेकिन असली कारण राजनीतिक और सामाजिक थे···हम देखते हैं कि धीरे-धीरे भारत ने इन लड़ाकुओं को नर्म बना दिया और उन्हें सभ्यता सिखा दी।·· ···' +

मुसलमानों के इस आक्रमण ने भारत की राजनीति में बहुत महत्वपूर्ण तत्वों को दाखिल किया। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि उत्तर भारत के विद्वान एवं कला-निष्ठ लोग मुस्लिम-बर्बरता से ऊबकर दक्षिण की ओर बड़ी संख्या में चले गये। इसके परिणामस्वरूप दक्षिण भारत पर आर्य-संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा और राष्ट्रीय संस्कृति, जो अब तक अधिकतर उत्तर भारत में पनप रही थी, अब दक्षिण भारत में पोषित होने लगी।

+ विश्व-इतिहास की झलक, अध्याय ६५।

गोरी की विजय के पश्चात् दिल्ली मे गुलाम वश का शासन स्थापित हुआ । इल्तुतुमिश के शासन काल मे मगोल शासक चगेज खा ने भारत पर आक्रमण किया और देश को लूटा, इसके दो वर्ष बाद तैमूर-नामक मंगोल सम्राट ने भारत पर आक्रमण किया। तैमूर की बर्बरता का वर्णन करना सम्भव नही है। यह देश के दुर्भाग्य का एक अन्धकारपूर्ण युग था। इस काल मे दक्षिण भारत मे चोलो के स्थान पर पाड्यो का शासन स्थापित हुआ।

तैमूर की विजय ने दिल्ली के साम्राज्य को समाप्त कर दिया और सारे भारत मे छोटे-बड़े हिन्दू व मुस्लिम राज्य बन गये। इनमे मुस्लिम राज्य ही अधिक बड़े व शक्तिशाली थे, दक्षिण भारत मे विजय नगर का हिन्दू साम्राज्य काफी शक्तिशाली बन गया था। मुसलमान शासक भी धीरे-धीरे भारतीय बनते जा रहे थे और उनकी बर्बरता घटती जा रही थी। ग्रामीण जीवन भी बदल रहा था, यद्यपि मौलिक रूप से उसमें कोई विशेष अन्तर नही पडा परन्तु पचायतो की शक्तिया धीरे-धीरे कम होती जा रही थी।

नई चेतना के अकुर—वेदना और पतन के इस युग मे शकराचार्य के पश्चात् ग्यारहवी शताब्दी मे दक्षिण में रामानुजाचार्य पैदा हुए और उन्होने वैष्णव-धर्म के सहारे देश की आर्य जाति मे एक नया आत्म-विश्वास जागृत कर दिया। इतना ही नही, धर्म और सस्कृति से ओत-प्रोत इस आन्दोलन ने देश मे एकता की नई चेतना पैदा कर दी।

इनके बाद चौदहवी शताब्दी मे दक्षिण मे स्वामी रामानन्द पैदा हुए जिन्होने जहाँ एक ओर जाति-पाति पर प्रहार किया, वही एक सबसे बडा काम यह किया कि उन्होने हिन्दी भाषा मे नये साहित्य की रचना को प्रोत्साहित किया। उनके शिष्य कबीर के हिन्दी भजन राष्ट्रीय जागरण का नया आधार बने। यह भारत मे धार्मिक व सास्कृतिक पुनर्जागरण का युग था। ठीक इसी समय उत्तर भारत मे नानक देव नाम के महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, इनके शिष्य ही आगे चलकर सिक्ख कहलाये।

सोलहवी शताब्दी मे बगाल मे चैतन्य महाप्रभु ने ज्ञान और शक्ति की गंगा प्रवाहित की। एक प्रकार से सारे भारत म एक नई चेतना पैदा हो गई। इन आन्दोलनो से यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय-सस्कृति एक अखंड और अबाध सजीव वास्तविकता है और राजनीतिक उत्थान-पतन क क्रम म वह अक्षुण्ण रही है। यही कारण था कि प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर ने १८८२ म कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के समक्ष भाषणो मे कहा था—'हिन्दू-विचार के अति-आधुनिक और अति प्राचीन स्वरूपो में अखंड एकता और सातत्य (Continuity) है जो हजारो वर्षो के दीर्घकाल में विस्तृत है।'—'यदि मुझ से पूछा जाय कि संसार के किस देश के मनुष्यो ने उच्चतम प्रतिभा की प्राप्ति की है, जीवन की महानतम समस्याओ पर अधिकतम गहराई के साथ चिन्तन किया है तथा उनमें से कुछ समस्याओ के ऐसे महत्वपूर्ण हल तलाश किये हैं जो प्लेटो और कान्ट के विद्यार्थियों के लिए भी ध्यान देने योग्य हैं—तो मैं भारत

की ओर इशारा करूंगा।

मुगल काल—भारत के अफगान शासक अपनी क्रूरता का परित्याग करके पूरी तरह भारतीय बन गये थे भारतीय संस्कृति ने उन्हें प्रभावित किया। १५२६ ई० में तैमूर वंश का सरदार बाबर भारत में आया और दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। वह केवल चार वर्ष जीवित रहा, इस अल्प-काल में उसने कुस्तुनतुनिया से विश्वकर्मा (आरकिटैक्ट) बुलाकर आगरे में एक शानदार राजधानी का निर्माण किया। बाबर एक सहृदय शासक था आरम्भ से ही उसने भारत के प्रति मातृभूमि जैसी दृष्टि रखी।

बाबर ने जिस मुगल साम्राज्य की नींव रखी उसको उसके पौत्र अकबर ने सुदृढ़ बनाया। अकबर वास्तव में केवल एक कुशल सम्राट विजेता और राजनीतिज्ञ ही नहीं था उसने भारत में आर्य एवं मुस्लिम संस्कृतियों में समन्वय स्थापित करके एक नई भारतीय-संस्कृति की बुनियाद रखनी चाही। अकबर ने सिद्ध किया कि वह एक भारतीय था और उसने भारत को एक राष्ट्रीय स्वरूप देने की चेष्टा भी की परन्तु न तो वह अपनी महत्वाकांक्षाओं का परित्याग कर सका न इस्लाम के प्रति अपनी कोमल भावनाओं को त्याग कर एक धर्म निरपेक्ष राजनीति को ही अपना सका। यद्यपि उसने सुदूरपूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार किया तथापि वह भारत का हृदय सम्राट नहीं बन सका। सम्भव है कि उसके उत्तराधिकारी यदि उसके जैसा अथक प्रयत्न करते तो भारत में एक स्थायी सांस्कृतिक समन्वय स्थापित हो जाता। परन्तु विधाता को वह मंजूर नहीं था। जहांगीर और शाहजहां तो अपेक्षाकृत सज्जन शासक रहे परन्तु औरंगजेब एक निहायत कट्टर व्यक्ति था। उसे दो ही चीजों से प्रेम था-सत्ता और इस्लाम। इन दोनों के पीछे वह इतना पागल हुआ कि उसने सारे देश में साम्राज्य के शत्रु पैदा कर दिये। अकबर ने अपने परिश्रम से जिस नये भारत की बुनियाद रखी थी उसकी जड़ें औरंगजेब की कट्टरता ने हिला दीं।

राष्ट्रीयता की नई चेतना—अंग्रेजों के भारत आने से पूर्व की राजनीतिक स्थिति का हमारा वर्णन शायद अधूरा ही रह जायगा यदि हम इस काल में उठने वाली नई राष्ट्रीय-चेतना का उल्लेख न करें। अकबर ने ज्यों ही राजपूताने की वीर भूमि की ओर पांव बढ़ाना आरम्भ किया, तब शुरू में उसे कोई विरोध तो मिला ही नहीं वरन् राजपूत बेगमें मिलीं परन्तु जब वह मेवाड़ की धरती पर पांव रखने लगा तो वहां एक स्वाभिमानी और स्वातन्त्र्य प्रेमी सम्राट महाराणा प्रताप इसे सहन न कर सका और अन्त तक वह अकबर से लोहा लेता रहा। राणा की कहानी भारत में गौरव के साथ पढ़ी और सुनी जाती है। स्वतन्त्रता का उससे बड़ा प्रेमी भारत तब तक दूसरा नहीं पैदा कर सका था।

औरंगजेब जब अपने पिता को कैद में डालकर सिंहासन पर बैठा तो उसके मन में दक्षिण-विजय की उत्कट लालसा थी। वह बढ़ा तो उसे मराठा जाति से टक्कर लेनी पड़ी, इस संदर्भ में हमें उनके महान नेता और भारतीय राष्ट्रवाद के

प्रबल नायक शिवाजी का उल्लेख करना चाहिये।

पंजाब में सिखों की शक्ति मुगल-साम्राज्य को चुनौती दे रही थी। यह सब औरंगजेब की साम्प्रदायिक नीति का परिणाम था।

उस काल के राष्ट्रवाद का स्वरूप आधुनिक राष्ट्रीयता के चरित्र से भिन्न प्रकार का था, उसमें धर्म, सामन्तवाद और राष्ट्रीयता का एक सक्रिय सम्मिश्रण हुआ था। वास्तव में भारत के भीतर हिन्दू-राष्ट्रवाद की भावना का उठना नितान्त स्वाभाविक था। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उस समय यह राष्ट्रवाद असहिष्णु नहीं था, शिवाजी मुसलमानों के प्रति खूब प्रेमल थे वे उन्हें राज-कर्मचारी भी बनाते थे। झगड़ा इस्लाम से नहीं था वास्तविक संघर्ष उस मनोवृत्ति से था जो भारत में दो राष्ट्रों का निर्माण कर रही थी जिसमें एक ओर मुस्लिम-शासक जाति थी, दूसरी ओर हिन्दू-शासित। यह राष्ट्रवाद एक प्रकार से मुस्लिम-शासन के स्थान पर भारतीय-शासन की स्थापना के लिये खड़ा हुआ था। हम यह जानकर शायद आश्चर्य हो कि इस काल के राष्ट्रवादियों में एक बड़ा नाम दक्षिण के एक मुस्लिम शासक हैदरअली का है, उनके बाद उनके पुत्र सुल्तान टीपू ने भी अपने पिता की जैसी शुद्ध-राष्ट्रीयता का परिचय दिया, उनका वर्णन हम आगे करेंगे।

मराठों की राष्ट्रीयता का वर्णन वारेन हेस्टिंग्ज ने एक स्थान पर इस प्रकार किया है—'भारत और विशेषकर दक्षिण भारत की जनता में केवल मराठे ही राष्ट्रीय विचार और निष्ठायें रखते हैं। उनकी राष्ट्भक्ति का सारे राष्ट्र पर प्रभाव है।'

विदेशियों का भारत प्रवेश—जहांगीर के दरबार में सर टामस रो के आने के बाद से भारत में विदेशी व्यापारियों का बेटोक आवागमन जारी हो गया। अंग्रेज व फ्रांसिसी वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी थे। भारत का यह दुर्भाग्य था कि यहां दो राष्ट्रवादी शक्तियां—हैदरअली व टीपू सुल्तान तथा मराठों में परस्पर बैर था और वे एक दूसरे को सर्वथा मिटा देना चाहते थे। मुगल-साम्राज्य गिर रहा था उसको अन्तिम धक्का फारिस के लुटेरे नादिरशाह ने दिया जो दिल्ली के प्रसिद्ध सिंहासन तख्त-ताऊस को भी उठाकर ले गया और मुगल वंश के अन्तिम शासकों के खोखलेपन को प्रगट कर गया।

इधर अंग्रेज भारत में अपनी कूटनीति और युद्ध-कौशल के बल पर सशक्त हो गये थे। प्लासी के युद्ध में क्लाइव की विजय ने अंग्रेजों के लिए रास्ता खोल दिया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत की फूट का लाभ उठाकर देश में अपना शासन धीरे-धीरे जमाने लगी जब तक कि १७५७ के प्लासी युद्ध के ठीक सौ वर्ष पश्चात् १८५७ में भारतीय राष्ट्रीयता के आक्रमण ने कम्पनी को उखाड़ नहीं फेंका।

क्लाइव से डलहौजी

अठारहवीं शताब्दी में मराठा-संघ एक बड़ी शक्ति बन चुका था और वह अंग्रेज शक्ति को चुनौती दे रहा था। सर चार्ल्स मेटकाफ ने १८०६ में लिखा था—

'भारत मे केवल दो ही बडी शक्तिया रह गई हैं मराठा और ब्रिटिश । भारत के राज्य इनमे से ही किसी एक की प्रभुता स्वीकार करते हैं। एक-एक इ च भूमि जो हम छोडेगे उसे वे (मराठे) ले लेंगे।' और टीपू सुलतान बराबर मराठो और निजाम को पत्र भेजकर सगठन की माग कर रहा था, उत्तर पश्चिम में महाराजा रणजीत सिंह के नामकरण में अंग्रेज विरोधी राज्य का निर्माण हो रहा था। यह सब होते हुए भी मराठे अपनी शक्ति का उपयोग न कर सके, उनके सरदारों में परस्पर वैमनस्य था। १८०४ में वे आगरे के निकट ब्रिटिश सेनाओ को हराकर भी अपने आपको न पहचान पाये। अन्ततोगत्वा १८१८ के पहुँचते-पहुँचते मराठे अग्रेजो के सामने झुक गये और उन्होने उनकी आधीनता स्वीकार कर ली। यहा से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रूप मे भारत पर ब्रिटिश की अबाध प्रभुता का आरम्भ होता है जो लगभग १५० वर्ष तक भारत को पीडित करके १५ अगस्त १९४७ के दिन अचानक लुप्त हो गई।

मराठो के पतन के बाद भी देश मे अग्रेजो के विरुद्ध एक राजनीतिक चेतना कायम रही परन्तु वह एक सक्रिय-राष्ट्रीयता का स्वरूप नही ले पाई। मराठे स्वय राष्ट्रवादी थे परन्तु उनमे अपनी जाति व संस्कृति का अहंकार बहुत बढ गया, वे भारत की आत्मा को नही पहचान पाये, न उन्होने राजपूतो, सिखो व राष्ट्रीय-मुस्लिम-शासकों जैसे हैदरअली व टीपू-सुलतान के साथ मिलकर काम करना ही स्वीकार किया। अच्छे योद्धा होने पर भी उनकी ज्ञान शक्ति और राजनीतिक-मेधा बहुत अविकसित थी। कैसी विचित्र राजनीतिक मूर्खता की बात है कि वे अपनी सेना के प्रशिक्षण के लिए अंग्रेज अधिकारी रखते थे जो समय पर स्वाभाविक रूप से उन्हे धोखा देते थे। इसी प्रकार उनके प्रशासन मे भी अग्रेज गुप्तचर मौजूद थे जो उनके रहस्यों का उद्घाटन करते रहते थे। इस युग की सबसे बडी समस्या संगठन की थी शक्ति की नही। मुसलमानों को यदि छोड भी दें तब भी सिख, राजपूत, जाट, गोरखे और मराठे मिलकर भारत में ही नही एशिया के एक बडे भाग मे साम्राज्य की स्थापना कर सकते थे परन्तु वैसा हो नही सका। एकता का अभाव और सकीर्ण अहकार भारत के लिए बडे अभिशाप रहे है। इन्होने ही इस समय भी धोखा दिया।

अंग्रेज बहुत कुशल व्यापारी और प्रशासक थे। उन्होने भारत की बीमारी पहिचान ली थी और उसका लाभ उठाकर उन्होने अपनी नीति 'फूट डालो और राज्य करो' बनाली थी। वे जानते थे कि भारत फूट और कलह का देश बन चुका था।

क्लाइव से डलहौजी तक १०० वर्षों के इस दीर्घ काल में ईस्ट इण्डिया कपनी अपने शासन को जमाने और फैलाने के काम में व्यस्त रही। उसने अपने फ्रान्सीसी प्रतिद्वन्द्वियो को समाप्त कर दिया तथा भारतीय शक्तियो को कही शक्ति के द्वारा और कही कूटनीति से दबा दिया। यह दबी हुई आग एक बार फिर से जल उठने के

लिए बेचैन हो रही थी और आखिरकार १८५७ मे मई महीने में वह फूट निकली। इन सौ वर्षो में कम्पनी के कारनामो का एक चित्र हम देखते चलें, १८१८ मे सर टामस मुनरो ने भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड हैस्टिंग्ज को लिखा था 'विदेशी विजेता जाति देशी-प्रजा पर हिंसा करती है तथा प्राय अत्याचार भी करती है परन्तु (इतिहास मे) कभी किसी ने इतना अत्याचार नही किया जितना हमने (अंग्रेजो ने) किया है, किसी भी विजेता ने अपनी प्रजा पर इतना गहरा अविश्वास नही किया और उन्हे इतना बेईमान व अयोग्य नही समझा, जितना हम (भारतीयो को) समझते हे—।' १८५० म कम्पनी ने सिख राज्य को जीत लिया और १८५६ मे अवध को। इस प्रकार पूरे भारत पर वे चढ बैठे। देशीय राज्यो में भी उनके दूत रहने लगे, उन्होने उनके साथ सन्धिया की एवं उन पर भी वे एक प्रकार की प्रभुता का प्रयोग करने लगे।

प्रथम स्वाधीनता सग्राम

१८५७ के स्वाधीनता सग्राम को, जिसे अंग्रेजो ने सैनिक विद्रोह या गदर कहा, हमने अंग्रेजो के विरुद्ध भारतीय प्रजा का प्रथम संगठित प्रयास माना है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस बारे मे लिखा है कि—'यह सिर्फ फौजी विद्रोह नहीं था बल्कि अंग्रेजो के विरुद्ध एक व्यापक सार्वजनिक विप्लव था। यह विद्रोह बढकर घृणा के पात्र विदेशियो के विरुद्ध भारतीय स्वाधीनता के युद्ध मे परिणत हो गया।' (विश्व इतिहास की झलक, अध्याय १०६)

इस महान क्रान्ति की घटनाओ का वर्णन करना यहा सम्भव एव आवश्यक नही है, परन्तु हम जब उस रोमाचकारी इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो हमारा सिर श्रद्धा के साथ भारतीय-स्वाधीनता समर के उन वीर सेनानियो के सामने झुका रह जाता है जिन्होने अंग्रेजी राज्य को भारत से मिटाने के लिए अपना सर्वस्व दाव पर लगा दिया था। कौन भूल सकता है महारानी लक्ष्मीबाई के बलिदान को और कैसे भूला जा सकता है उन राष्ट्रवीरो को जिन्हे तोप के मुह से बाधकर उनकी धज्जिया उडा दी गई। कितनी रोमाचकारी है वह स्मृति, जब अंग्रेज सेनापति नील ने इलाहबाद से कानपुर तक रास्ते भर हरे-भरे गावो को समूल नष्ट कर दिया था तथा सडक के किनारे एक भी पेड ऐसा न बचा था जो फासी पर लटके हुए भारतीय वीरो से लदा न हो। श्री जवाहरलाल नेहरू जैसे वीर पुरुष ने उन घटनाओ के बारे में लिखा है—'यह सब एक भयानक और दर्दनाक किस्सा है और मुझ मे इस सारे कटु सत्य का बखान करने की हिम्मत नही है।' (वि० इ० झलक, अध्याय १०६) भारत की जनता ने उस विद्रोह के परिणामस्वरूप भयकर कष्ट उठाये। उसका एक ही अपराध था कि वह अपने आप को उस विदेशी के हाथो से मुक्त करके स्वतन्त्रता-पूर्वक जीना चाहती थी जो स्वय अपने देश मे स्वतन्त्रता का आनन्द ले रहा था।

इस प्रसंग मे इतना कह देना और उचित होगा कि यद्यपि अंग्रेजो ने क्रान्ति

का दमन करके अपने मन में यह समझ लिया कि अब वे भारत के निर्द्वन्द्व शासक हो गये थे परन्तु वास्तविकता इससे ठीक उल्टी थी। यह क्रान्ति भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के कफन में अन्तिम कील के जैसी थी क्योंकि इसने भारतीय मानस में अंग्रेजों के प्रति केवल अदम्य घृणा ही नहीं छोड़ी वरन् वे यह भी समझ गये कि अब १८५७ जैसे असंगठित एवं अनियोजित संघर्ष से काम नहीं चलेगा तथा संघर्ष का भार सामन्तों और नेताओं के कन्धे पर से उतार कर आम जनता को उठाना होगा। यही हुआ और जहां कम्पनी सौ वर्ष तक जी सकी, ब्रिटिश संसद का राज्य भारत में ९० वर्ष की अल्पायु में ही तिरोहित हो गया और वह भी ऐसे ढंग से जिसके कारण हम आज संसार के भीतर गर्व के साथ सिर ऊंचा उठा सके हैं तथा जिसके द्वारा हमने घृणा और द्वेष के स्थान पर प्रेम और मैत्री का निर्माण किया है।

o

अध्याय : २

राष्ट्रीय चेतना का पुनर्जागरण

"यह सत्य है कि भारत मे एक सामाजिक क्रान्ति को जन्म देने में इग्लैण्ड की नीयत बहुत खराब थी तथा उसने इस सामाजिक क्रान्ति को बहुत बेहूदे ढग से भारत मे जन्म दिया। परन्तु वास्तव मे प्रश्न यह नही है। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या एशिया की सामाजिक स्थिति मे मौलिक क्रान्ति हुए बिना मानव जाति अपने लक्ष्यो को प्राप्त कर सकेगी ? यदि इसका उत्तर 'नहीं' है तो चाहे इग्लैण्ड कितना भी अपराधी हो, यह मानना ही होगा कि वह उस क्रान्ति को जन्म देने मे इतिहास के हाथो मे एक अचेतन साधन या अस्त्र बना है।"+

— कार्ल मार्क्स

१८५७ मे जो आग दबी सी प्रतीत होने लगी थी वस्तुत वह लोगों के हृदय मे सुलग रही थी, यद्यपि उसने धधकना अभी शुरू नही किया था तथापि वह अनुकूल वायु और ईधन की प्रतीक्षा मे थी। पिछले अध्याय में हमने यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि भारत की आत्मा के भीतर एक सास्कृतिक एकता और सुप्त राजनीतिक चेतना मौजूद थी परन्तु उसे प्रगट होने का न उपयुक्त अवसर ही मिल रहा था, न उचित माध्यम ही। भारत में अंग्रेजी शासन की जड़ें जम जाने के पश्चात् और एक बार देश मे शान्ति व व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद, भले ही वह शान्ति श्मशान की शान्ति हो, उसे वह अवसर और माध्यम मिला तथा वह फिर से जाग्रत होने लगी।

भारत की एकता

यहा हमे यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि भारत हजारो वर्षों से एक देश है, उसकी एक प्राचीन सस्कृति है तथा उस सस्कृति की मूल प्रेरणा न साम्राज्यवादी आकाक्षाओ में निहित है न भौतिक जीवन की विलासिता में, और न एक सकीर्ण राष्ट्रीय अहकार मे, उस सस्कृति की जड़ें एक अत्यन्त उदार और व्यापक मानवीय-आध्यात्मिकता मे गहरी पैठी हुई है। हमारी सस्कृति के नायक न राजनीतिज्ञ हैं, न अर्थशास्त्री और न वैज्ञानिक वरन् उसका नेतृत्व सदा से आध्यात्मिक महापुरुषो ने

+ 'The British Rule In India'—New York Daily Tribune June 10, 1853.

किया है जिन्हें हम सन्त महात्मा या ऋषि के नाम से पुकारते हैं। अपने राजनीतिक उत्थान-पतन के दौरान मे वास्तविक भारत अनेक उग्र प्रभावो के बावजूद भी सास्कृतिक दृष्टि से अखड और अडोल बना रहा है। भारत की भूमि और उसके नागरिको के भौतिक जीवन पर भले ही दासता और पराधीनता की कालिमा का कलक लगा है तथापि भारत की आत्मा हमेशा जीवित और उन्नत रही, वह विजेताओ को भी आत्मसात करने की चेष्टा करती रही तथा हम देखेंगे कि भारत की यही आध्यात्मिक और सास्कृतिक शक्ति आगे जाकर हमारी मार्ग-दर्शक व प्रेरक बनी और उसने हमे ऊचा उठाया।

इस सस्कृति का उल्लेख श्री जवाहरलाल नेहरू ने विश्व इतिहास की झलक मे इस प्रकार किया है—"राजनीतिक दृष्टि से भारत में अवसर भेद रहा है हालाकि कभी-कभी सारा देश एक ही केन्द्रीय-शासन मे भी रहा। लेकिन सस्कृति के लिहाज से यह देश हमेशा से एक रहा, क्योकि इसकी पृष्ठभूमि, इसकी परम्पराए, इसका धर्म, इसके वीर और वीरागनाए, इसकी पौराणिक गाथाए, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (सस्कृति), देश भर म फैले हुए इसके तीर्थ स्थान, इसकी ग्राम पचायतें, इसकी विचारधारा और इसका राजनीतिक सगठन, शुरू से एक ही चले आ रहे हैं। साधारण भारतवासी की नजर मे सारा भारत पुण्यभूमि था और शेष संसार अधिकतर म्लेच्छो का और बर्बर लोगो का निवासस्थान था। इस प्रकार भारत मे भारतीयता की एक व्यापक भावना पैदा हुई, जिसने देश के राजनीतिक विभाजन की पर्वाह नही की बल्कि उस पर विजय प्राप्त की।" (अध्याय ४४) 'सारे इतिहास में सस्कृति की दृष्टि से भारत एक रहा है, राजनीतिक दृष्टि से चाहे उस देश में कितनी ही परस्पर लडने वाली रियासते क्यो न रही हो। जब कोई महापुरुष पैदा हुआ या महान आन्दोलन उठा, वह राजनीतिक सीमाओ को लाँघ कर सारे देश मे फैल गया।" (अध्याय ७५)

प्रसिद्ध विद्वान प्रो० मैंकडॉनल ने 'सस्कृत-साहित्य का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ मे एक स्थान पर भारतीय सस्कृति के बारे में इस प्रकार लिखा है—'ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी के अन्त मे जब यूनानियो ने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर आक्रमण किया उस समय भारत अपनी एक ऐसी सस्कृति को जन्म दे चुका था जो विदेशी प्रभावो से मुक्त रही। फारसी, यूनानी, सिथियन व मुस्लिम जातियो के लगातार आक्रमण और उनकी विजय के बावजूद भी भारतीय जीवन और साहित्य का राष्ट्रीय-विकास अंग्रेजो की विजय के काल तक अबाध एव अप्रभावित बना रहा।'

हमारी इस अबाध एकता को ब्रिटिश-साम्राज्यशाही ने हमेशा अस्वीकार किया। ब्रिटिश अधिकारी और लेखक भारत और ससार के मस्तिष्क पर यह अकित करने की चेष्टा करते रहे कि भारत एक राष्ट्र न होकर एक उप-महाद्वीप है जिसमे भिन्न-भिन्न राष्ट्र मौजूद हे। उनका मानना था कि 'भारत के बारे में पहली बात,

जिसका जानना अत्यन्त आवश्यक है यह है कि, भारत या भारत नाम का ऐसा कोई देश न कभी था और न है जिसमें यूरोपियन कल्पना के अनुसार भौतिक, सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक एकता हो। भारतीय राष्ट्र या भारतीय-जनता जैसी कोई चीज नही है।'× इसी प्रकार प्रसिद्ध राजनीति-शास्त्री सर जॉन सीली ने अपनी पुस्तक 'दि एक्सपान्शन ऑफ इग्लैंड' में लिखा है कि—'यह धारणा कि भारत एक राष्ट्रीय इकाई है, एक ऐसी बेहूदी और *गलत कल्पना है जिसका निवारण करना* राजनीति-विज्ञान का प्रधान लक्ष्य है। भारत एक राजनीतिक नाम (इकाई) नहीं है, वह यूरोप और अफ्रीका की भाति एक भौगोलिक इकाई है। वह एक राष्ट्र और एक भाषा का नही वरन् अनेक राष्ट्रो और अनेक भाषाओ का द्योतक है।' साइमन-रिपोर्ट ने भारत का एक ऐसा चित्र पेश किया था जिसे देखकर ब्रिटिश साम्राज्य-वाद की कुत्सित नीति 'फूट डालो और राज्य करो' का एक घिनौना स्मरण हो उठता है। उस रिपोर्ट की समीक्षा करते हुए एक विद्वान् ने लिखा था—'भारत जैसे उप-महाद्वीप के लिए उपयुक्त शासन व्यवस्था या सविधान की रचना करना एक इतना कठिन काम है जिसे प्राय हल नही किया जा सकता क्योकि उसमें ५६० देशी राज्य हैं जो नाम-मात्र के लिए स्वाधीन हैं, २२२ पृथक भाषाए बोलने वाली नस्लें हैं तथा दो प्राचीन तथा परस्पर विरोधी धर्म हैं (१६,८०,००,००० हिन्दू तथा ६,००,००,००० मुस्लिम प्रजा केवल ब्रिटिश भारत मे रहती है) तथा १,००,००,००० अछूत या शूद्र अथवा दलित जन सख्या है—' विद्वान् पुरुष श्री एच० डब्ल्यू० नेविन्सन एक वामपक्षी थे और उन्होंने ये शब्द २७ जून, १९३० के न्यू लीडर नामक समाज-वादी पत्र मे लिखे थे। यह देखकर बडा आश्चर्य होता है कि भारत के प्रति सहानु-भूति रखने वाले नविन्सन सरीखे व्यक्ति भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के गलत प्रचार *का शिकार हो गये, वास्तव मे साइमन-रिपोर्ट का उद्देश्य ही यह था कि वह भारत* की एकता पर प्रहार करे और ससार को यह बताये कि भारत नाम की कोई चीज इस धरती पर और आकाश के नीचे कोई अस्तित्व नही रखती। ठीक इसी प्रकार के विचार ब्रिटिश इतिहासकार डब्ल्यू० ई० एच० लेकी ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के बारे मे प्रगट किये थे— उस देश मे राष्ट्र भक्ति या भावनाओ की एकता का निर्माण नही हो सकता क्योकि वहा बाहर से आने वाले लोगो का ऐसा बहु-जातीय जमघट हुआ है जो भिन्न-भिन्न राष्ट्रो से वहा गये हैं और जिनके धर्म भी भिन्न-भिन्न हैं, उसका भूमि-क्षेत्र बहुत विशाल है परन्तु यातायात के कुशल साधनो के अभाव मे वे एक दूसरे के सम्पर्क में नही आ सकते हैं तथा उनके भीतर धन कमाने की वृत्ति बहुत तीव्र है।'+

× 'India: its Administration and Progress'—Sir John Stratchey.

+ 'History of England in the Eighteenth century.' Vol IV. P. 31.

भारत की एकता का एक सुन्दर चित्र प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेन्ट ए० स्मिथ ने इस प्रकार खीचा है—'यद्यपि भारत की राजनीतिक एकता पूर्ण रूप से कही स्थापित नहीं हो सकी तथापि वह अनेको शताब्दियो से भारतीय जनता का आदर्श रही है। सस्कृत साहित्य म एव अनेको शिला-लेखो पर चक्रवर्ती राजा अर्थात् सार्वभौम-सम्राट की धारणा अ कित है। महाभारत म कुरुक्षेत्र के युद्ध के लिए इकट्ठे होने वाले लोगो के वर्णन से ज्ञात होता है कि समस्त भारतीय जनता (दूर दक्षिण के लोग भी) में एकता के दृढ बन्धन मौजूद थे तथा व सार्वजनिक हित के प्रश्नो पर ध्यान देते थे।' यूरोपियन लेखक आम तौर पर भारत की एकता की अपेक्षा उसकी विविधता पर अधिक ध्यान देते रहे हैं। असाधारण स्वतन्त्र-विचार वाले लेखक जोसेफ कनिंघम इसमे अपवाद हैं। १८४५ मे ब्रिटिश आक्रमण से उत्पन्न होने वाली सिक्खो की आशंकाओ का उल्लेख करते हुए उन्होंने बहुत सही व सत्य वर्णन किया है कि—'काबुल से असम की घाटी तक फैला हुआ भारत और लका द्वीप एक देश माना जाता है तथा जनता के मस्तिष्क मे यह विचार एक राजा या एक नस्ल के शासन की स्मृति के साथ जुडा हुआ है।' इस प्रकार भारत मे पिछले दो हजार वर्ष से भी लम्बे समय से एक आदर्श राजनीतिक एकता रही है और आज भी है।—असन्दिग्ध रूप से भारत में एक गहरी एव मौलिक एकता मौजूद है जो भौगोलिक सीमाओ या राजनीतिक-प्रभुता से उत्पन्न होने वाली एकता की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण है। यह एकता रक्त, वर्ण, भाषा, वेश भूषा, प्रथा-परम्परा और जाति से बहुत परे है, बहुत ऊपर है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद का गलत दावा

भारतीय-राष्ट्रीयता के अनवरत और सतत् अस्तित्व का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। भारत की यह राष्ट्रीयता मुस्लिम शासन काल म असगठित रही उसका मुख्य कारण यह हुआ कि मुसलमान शासक बाहर से यहा आय परन्तु यहा राज्य जमा लेने पर वे पूर्ण रूप से यहीं के हो गय तथा किसी दूसरी भूमि मे उन्होने सम्बन्ध नही रखा। भारत ने भी अपनी समन्वयकारी परम्परा के आधार पर उन्हे आत्मसात करने की चेष्टा की। परन्तु ब्रिटिश शासक आदि से अन्त तक विदेशी बने रहे, उनकी जडें भारत मे न होकर इ ग्लैंड मे रही उनकी निष्ठा भारत के प्रति न होकर ब्रिटेन के प्रति रही, साथ ही उन्होने अपने भाग्य को अभिन्न रूप से भारत के साथ उस प्रकार नही जोडा जिस प्रकार मुस्लिम-सम्राटो ने जोड लिया था, वे निरन्तर इ ग्लैंड से आदेश पाते रहे तथा उस देश के हितों की रक्षा भारत के मूल्य पर करते रहे। 'भारत को इससे (ब्रिटिश आगमन से) पहले भी विजय किया गया था, परन्तु उसके विजेता उसकी सीमाओ में बस गय थे और उसके जीवन का अभिन्न अ ग बन गये थे। इस प्रकार उसने अपनी स्वतत्रता कभी नही खोई और वह कभी दास नही बना था, अर्थात् उसकी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था कभी ऐसी नही बनी थी जिसमें सत्ता का केन्द्र उसकी अपनी भूमि से बाहर रहा हो तथा वह कभी ऐसे शासक वर्ग के

आधीन नही हुआ था जो उद्गम और चरित्र मे विदेशी हो तथा स्थायी रूप से ... तक विदेशी ही बना रहा हो।' —के० एस० शेलवन्कर (श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा डिस्कवरी आफ इण्डिया मे उद्धृत) ऐसी *स्थिति मे यह बहुत स्वाभाविक ही था कि* इस विदेशी-शासन के विरुद्ध, जिसके पीछे गोरी जाति का यह अहंकार भी निहित था कि अ ग्रेज सभ्य लोग हैं और वे भारत के असभ्य लोगों को सभ्य बनाने यहा आये हैं, *भारत मे व्याप्त राष्ट्रीय चेतना सगठित, सुव्यवस्थित और मुखर हो गई।*

कई बार यह दावा किया जाता है कि भारत में राष्ट्रीय-चेतना का विकास अ ग्रेजो के सम्पर्क और उनकी कृपा से हुआ है। वास्तव मे यह एक बडी विचित्र बात है, *जैसा हम कह चुके हैं, अ ग्रेज भारतीय-राष्ट्रीयता के अस्तित्व को हमेशा* अस्वीकार करते रहे परन्तु जब उन्होने देखा कि वह राष्ट्रीयता एक प्रबल-शक्ति बनकर उनके रास्ते को रोक कर खडी हो गई है तब दूसरा तर्क यह दिया जान लगा कि *ब्रिटिश-शासन ने भारतीय-राष्ट्रीयता को जन्म दिया है तथा उसने भारतीय लोक* मानस में लोकतंत्रात्मक-आदर्शो की स्थापना की है। कुछ लोग तो दावा करते हैं कि ब्रिटिश शासन का लक्ष्य आरम्भ से ही यह था कि वह भारतीय-राष्ट्रीयता को जागृत करे। *इस दावे को वे लोग कभी स्वीकार नही कर सकते जिन्होने ब्रिटिश शासन की* साम्राज्यवादी और शासक नीतियो का मुक्ताचार भारत में देखा है।

माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट (१९१८, पृ० ११५) म लिखा गया है कि—'*भारतीय जनता का वह अंश जो राजनीतिक चेतना से सम्पन्न है, बौद्धिक रूप से हमारी* सन्तान है। उन्होने उन्ही विचारो को ग्रहण किया है जो हमने उनके सामने रखे हैं और इस मामले मे हमे उनकी प्रशसा करनी चाहिये। भारत की वर्तमान बौद्धिक एव नैतिक हलचल हमारे काम के लिए निन्दाजनक नही है वरन् गौरवास्पद है।' इसी प्रकार इंडियन सिविल सर्विस के एक पुराने सदस्य (१९२१ से १९३७) सर परसीवल ग्रिफिथ्स सी० आई० ई० ने अपनी पुस्तक 'माडर्न इंडिया' में लिखा है कि—'भारत मे ब्रिटिश शासन के अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणामो मे से दो ये हैं —भारतीय जातीयता का उदय तथा राष्ट्रीयता की भावना का इतना गहरा विकास जिसके परिणामस्वरूप अन्तत भारत को स्वाधीनता मिली। आधुनिक काल से पूर्व जातीयता के दो लक्षण— दूसरी जातियों से पृथकता की भावना एव एकता, (भारत मे) नही थे, यहा वे तत्व भी मौजूद नही थे, जिनसे जातीयता का निर्माण हो सकता।... *सामाजिक परम्पराए जाति-व्यवस्था मे सुरक्षित हो गई थी। यद्यपि जाति व्यवस्था भारतीय समाज मे स्थिरता पैदा करने वाली थी परन्तु वह इतनी संकीर्ण थी कि* उसमे से राष्ट्रीय-जातीयता (कौमियत) की भावना उत्पन्न नही हो सकती थी...।'

इस प्रकार के तर्कों को अधिक विस्तार में न देकर हम *यहा यह कहना उचित* समझते है कि अ ग्रेजो व उनके समर्थको का यह दावा ठीक नही है कि उनके प्रयत्न से भारत एक राष्ट्र बन सका है, वस्तुतः भारत अनन्त काल से एक राष्ट्र रहा है। संसार के बडे देशो जैसे भारत, चीन, सयुक्तराष्ट्र अमेरिका, सोवियत समाजवादी

राज्य संघ आदि देशों में राष्ट्रीयता का स्वरूप इंग्लैंड व फ्रान्स जैसे छोटे देशों की राष्ट्रीयता के स्वरूप से भिन्न है। इंग्लैंड मे एक सुदृढ राजशाही ने समान भाषा, संस्कृति व धर्म के लोगो को लेकर राष्ट्रीयता के तत्व को जन्म दिया था, शायद इसी कारण अंग्रेज भारत की राष्ट्रीयता के स्वरूप को नही पहचान सके। भारत के राष्ट्रीय समाज का आदर्श, धर्म, भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, और रूप-रंग की दृष्टि से समानता पर बल नही देता, वरन् वह इन दृष्टियो मे विविधता और विचित्रता को स्वीकार करके एक ऐसी मिश्रित संस्कृति (Composite culture) में विश्वास रखता है जिसकी प्रेरणा से यहा के लोग एक राजनीतिक इकाई के रूप मे अपनी राष्ट्रीय आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए काम करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। इस आदर्श की प्राप्ति ब्रिटिश-शासन के कारण अनायास ही पैदा होने वाली एकता के आधार पर नहीं हो सकती थी, उसके लिए भारतीय जनता को स्वयं परिश्रम करना पड़ा है। राष्ट्रीयता के इस पुनर्जागरण मे तीन तत्वो ने बड़ा काम किया है— (१) भारत की अतीत-संस्कृति के गौरव को पहचान कर अपने महत्व एवं अपनी प्रतिष्ठा को समझना (२) उस गौरवशाली अतीत के भग-क्रम की कड़ियो को फिर से जोड़ने की चेष्टा एवं (३) देश भक्ति की सोई हुई भावना को पुनः सचेत करना। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आज भारत के कोटि-कोटि नर-नारी जिस राष्ट्रीयता की भावना से प्ररित हो रहे हैं वह स्वयं उनके अपने प्रयास एवं संस्कृति का फल है। आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश शासन द्वारा जान-बूझ कर विकसित की गई है या वह भारतीय-प्रयत्नों का परिणाम है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री रजनी पामदत्त ने लिखा है कि आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष के कारण विकसित और पुष्टि हुई है अत ब्रिटिश-साम्राज्यवाद को उसी प्रकार उसकी पूर्व-भूमिका या आरम्भ-स्थल माना जा सकता है जिस प्रकार रूस मे मजदूरो की विजय के लिए जार या क्रामवेल के लिए चार्ल्स-प्रथम था।'+ इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय लोकमानस मे जो-विरोधी प्रतिक्रिया हुई उसने अव्यक्त भारतीय राष्ट्रीयता को एक मूर्त्त स्वरूप प्रदान किया है।

इस प्रसग म हम यह स्वीकार करना होगा कि अंग्रेजो ने अपनी साम्राज्यवादी आकाक्षाओ की सतुष्टि के लिए भारत को एक राजनीतिक एकता प्रदान की अर्थात् सारा देश एक ही शासन के अन्तर्गत आ गया। देशी-रियासतें भी ब्रिटिश सम्राट की सर्वोपरिता (Paramountcy) को मानती थीं। यहाँ राजनीतिक एकता पैदा हो गई परन्तु अंग्रेज सरकार उस एकता पर बराबर प्रहार करती रही और

+ R Palme Dutt, 'India Today' 1947, P. P. 249. This book was banned in 1940 when it was first published in England, by the then British rulers of India

से खंडित करने की चेष्टा करती रही। श्री जवाहर लाल नेहरू ने इस बारे में लिखा है कि—'ब्रिटिश सरकार ने भारत को एक राजनीतिक इकाई का रूप दिया जिससे ऐसी क्रान्तिकारी शक्तियों को काम करने का अवसर मिला जो केवल राजनीतिक एकता का ही चिन्तन नहीं करती थी वरन् भारत की स्वतन्त्रता चाहती थी, परन्तु जिस एकता का उसने निर्माण किया था वह उसे ही भंग करने की चेष्टा करती रही। भारत की एकता पर यह प्रहार राजनीतिक दृष्टि से भारत को खंडित करेगा, उस समय यह कल्पना नहीं थी उसका लक्ष्य राष्ट्रीय शक्तियों को कमजोर करना था जिससे कि वे समूचे देश पर अबाध शासन कर सकें।+

पुनर्जागरण मे सहायक तत्व

भारत की आधुनिक राष्ट्रीय जागृति का काल उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध से आरम्भ होकर सन् १९२० ई० तक चलता है। १९२० में भारतीय-राष्ट्रीयता महात्मा गाधी के राजनीति प्रवेश के साथ स्थिर होने लगी एव उसका प्रभाव प्रगट होने लगा। १८५८ मे जब प्रथम स्वाधीनता सग्राम को निष्ठुरतापूर्वक भारत के विदेशी शासको ने कुचला तब से लेकर १९२० तक भारतीय राष्ट्रीयता के विकास और पुनर्जागरण में जिन तत्वों ने प्रमुख योग दिया है हम उनका उल्लेख यहाँ करेंगे। इनमे प्रमुख तत्व ये हैं —

(१) १८५७ की क्रांति की असफलता
(२) धार्मिक व सामाजिक पुनर्जागरण,
(३) अंग्रेजो द्वारा भारत का आर्थिक शोषण
(४) देश का राजनीतिक एकीकरण,
(५) सरकारी नौकरियो मे पक्षपात,
(६) अंग्रेजी शिक्षा व विदेश गमन
(७) समाचार पत्रो का प्रसार,
(८) लिटन का कुशासन,
(९) इलबर्ट बिल आन्दोलन,
(१०) ससार की क्रान्तियाँ,
(११) भारतीय राष्ट्रीय महासभा का जन्म।

१८५७ की क्रान्ति की असफलता—इस महान क्रान्ति को अनेक अंग्रेज और भारतीय लेखको ने भारत के सामन्त-वर्ग का विद्रोह कहकर टालने की कोशिश की है। परन्तु हमे यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि भारत के हिन्दू और मुसलमान लोग अंग्रेजो को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे और १८५७ में क्रान्ति आरम्भ होते ही भारत की आम जनता बेचैनी के साथ भारत से अंग्रेजो को निकालने का स्वप्न देखने लगी थी। क्रान्ति जब हो रही थी उस समय भारत की जनता ने क्रान्तिकारियो का

+ Discovery of India' 1947, Indian Edition, P P 274

साथ नहीं दिया, ऐसा आरोप कई बार लगाया जाता है, परन्तु जो लोग यह आरोप लगाते हैं वे शायद भारत की तत्कालीन परिस्थितियों से परिचित नहीं हैं। उस जमाने में जनता शासन के संचालन या उसके उलट-फेर में भाग नहीं लेती थी, यह काम राजा और शासक का था। भारतीय जनता उस महान क्रान्ति के असफल हो जाने के बाद उसके दुष्परिणामों का बड़े ध्यान के साथ अनुभव एवं अध्ययन करती रही। वास्तव में इस क्रान्ति से पहले ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दंश (तीखे प्रभाव) का कटु अनुभव भारत की आम जनता को उस सीमा तक नहीं हुआ था जितना कि उसके बाद हुआ।

यह क्रान्ति भारतीय जीवन पर कई निर्णायक प्रभाव छोड़ गई। क्रान्ति असफल तो अवश्य हुई परन्तु उसने भारतीय लोकमानस में अंग्रेजों के विरुद्ध सोई हुई घृणा के प्रारम्भिक लक्षण प्रगट कर दिये तथा जनता के सामने यह उदाहरण पेश कर दिया कि अंग्रेजों का शासन कोई ईश्वरीय योजना नहीं है तथा उसका विरोध किया जा सकता है। गांव-गांव और घर-घर में अवध के अत्याचारों और तात्या टोपे व झांसी की रानी लक्ष्मी बाई की कथायें गूंज उठीं, उस बलिदान ने देश में एक चमत्कार पैदा कर दिया। असफल क्रान्तियां धार्मिक और सांस्कृतिक राष्ट्रीयता को जन्म दिया करती हैं। भारत में भी यही हुआ। यूरोपियनों को भारत में विजातीय तत्व समझा जाने लगा तथा भारतीय-संस्कृति के पुनर्जागरण का नया प्रयास आरम्भ हो गया, भारत और यूरोप के बीच सांस्कृतिक समन्वय की स्थापना करने वाला ब्रह्म-समाज आन्दोलन मंद पड़ने लगा तथा महर्षि दयानन्द के नेतृत्व में आर्य-समाज देश के भीतर एक नई शक्ति के रूप में उदय हुआ जिसने भारत की प्राचीन संस्कृति का गौरव देश के सामने रखा और वेदों की ओर हमारा ध्यान खींचा। शिक्षित नवयुवकों में देश-प्रेम का भाव उदय हुआ और वे भारत के प्राचीन साहित्य व गौरव से प्रेरणा लेने लगे।

निस्सन्देह यह क्रान्ति हिंसक क्रान्ति थी उस समय तक संसार राजनीति में अहिंसा का प्रयोग करना नहीं सीख पाया था, उसके लिये तो गांधी जी को पैदा होना अभी बाकी था। अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीय क्रान्तिकारियों ने जिस हिंसा का प्रयोग किया उसने उनके मन में प्रतिक्रिया पैदा की और वे एक बदले की भावना में काम करने लगे। जब कोई नया अंग्रेज सरकारी कर्मचारी बनकर भारत आता तो वह अपने साथियों से हिन्दुस्तानियों के अत्याचारों का वर्णन सुनता और उसके मन में हमारे लिये घृणा का भाव पैदा हो जाता जिसके परिणामस्वरूप वह और भी अधिक कठोर बन कर शासन करता। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों और अंग्रेजों के बीच दूरी पैदा होती चली गई तथा भारत के लोगों के मन पर अंग्रेजों की दमन-नीति से क्षोभ के चिन्ह उभड़ने लगे। अंग्रेज शासक बहुत ही रूढ़िपंथी थे, साथ ही उनके मन में अपनी जीवन पद्धति का बहुत गहरा अहंकार भी था, जिसके कारण वे भारतीय समाज के साथ अपना सम्पर्क नहीं पैदा कर सके। एक सबसे बड़ी बात इस

प्रसग मे यह है कि अंग्रेजो के मन में हमेशा यह बात रही कि शासको को जनता से दूर रहना चाहिए तभी वे अपना रोब बनाये रख सकेंगे। इन सब बातो का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज हमारे लिए हमेशा विदेशी और विजातीय बने रहे तथा वे हम में से एक न बन सके। इस सब ने भारत की जनता को हमेशा, जब तक अंग्रेज यहा रहे, बेचैन रखा, वे एक तरह से हमारी गुलामी के चिन्ह बन गये जिन्हे देख-देख कर हमें अपनी बेबसी की कसक होती थी।

इस क्रान्ति को दबाने म अंग्रेज सरकार ने जो खर्च किया था वह सब भारत से वसूल किया गया। यह तथ्य जब भारत के समझदार लोगो के सामने आया तो उनके मन मे इस बात पर स्वाभाविक तौर पर क्रोध आया। यह एक विडम्बना थी कि हमें अपनी ही कीमत पर गुलाम बनने के लिये मजबूर किया गया।

धार्मिक व सामाजिक पुनर्जागरण—भारत एक आध्यात्मिक देश है, उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के मूल तत्वो का आधार एक बुनियादी चिन्तन पर आधारित है। इस चिन्तन को ही हम धर्म कहते हैं। बौद्ध धर्म के आगमन के बाद से भारत में हिन्दू धर्म अपने को सम्हाल नही पा रहा था शिक्षा के अभाव के कारण धर्म रूढियो और बेमायनी कर्मकाड तथा रीति-रिवाजो मे फस कर समाज को नई दिशा और गति देने मे असमर्थ होता जा रहा था। भारत में जब-जब धर्म इस प्रकार की सकीर्णताओ में फसा है तब-तब ऐसे महापुरुष इस देश मे पैदा हुए जिन्होने अपने आचरण और उपदेशो के द्वारा इस को सही दिशा मे प्रवाहित करने की चेष्टा की। धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण का कार्य भक्ति काल में आरम्भ हुआ। इस काल मे शकराचार्य और रामानुज की भाति दक्षिण भारत से ही एक महान् शक्ति भारत मे उठी जिसने भारत के धार्मिक और सामाजिक जीवन के सामने एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इस शक्ति के प्रणेता स्वामी रामानन्द हैं। श्री यदुनाथ सरकार ने स्वामी रामानन्द के महान् कार्य के बारे मे बहुत ही सही ढग से लिखा है—'यह धार्मिक पुनर्जागरण रूढिपथी ब्राह्मणवादी नही था, यह जन्म पर आधारित कर्मकाड और वर्गभेद के विरुद्ध एक विद्रोह था तथा यह एक नैतिक आन्दोलन था जो दूसरे सब गुणो और सत्कार्यों की अपेक्षा पवित्र हृदय तथा प्रेम की शक्ति पर जोर देता था। यह पुनर्जागरण जनता की ओर से हो रहा था, किसी वर्ग विशेष की ओर से नही। इसके नेता ऐसे सन्त, ऋषि, कवि और दार्शनिक थे जो समाज के निम्न वर्गों से उत्पन्न हुए थे, जैसे-दर्जी बढई, कुम्हार, माली, व्यापारी, नाई, तथा हरिजन। ये लोग ब्राह्मण वर्गों से कम आयें।'+—रामानन्द जी के शिष्यो मे कबीर जुलाहे थे, रैदास मोची और सेना नाई। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र मे सत तुकाराम और नामदेव भी ब्राह्मण नही थे। बंगाल मे इसी समय चैतन्य देव, पजाब मे गुरुनानक, दक्षिण मे बल्लभाचार्य, तिरुवल्लुवर, वेमन तथा उत्तर भारत मे सत तुलसीदास, मीरा, दादू

+ 'Shivaji and His Times', 1919, pp 13-14

आदि महापुरुषों ने सामाजिक जागरण का काम किया, उन्होंने उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक एक भारतीय समाज, संस्कृति और राष्ट्र का बीज बोया।

पुनर्जागरण का जो कार्य स्वामी रामानन्द ने आरम्भ किया था उसे भारत के एक महान् पुरुष राजा राममोहन राय ने आधुनिक काल में उठाया। उन्होंने भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त यूरोप की भाषाओं का अध्ययन भी किया तथा हिन्दू धर्म और दर्शन के अतिरिक्त ईसाई धर्म के बारे में भी पूरी जानकारी की। उन्होंने प्रयास किया कि भारत और यूरोप की संस्कृति के बीच समन्वय की स्थापना की जाये तथा भारत के सामाजिक जीवन में जो गम्भीर दोष आ गये थे उन्हें दूर किया जाये। इस लक्ष्य को लेकर उन्होंने ब्रह्म समाज के नाम से एक सुधार-संगठन का निर्माण किया जिसने आगे जाकर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में समाज-सुधार का काफी काम किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में वैदिक धर्म की स्थापना का नया आन्दोलन आर्यसमाज के नाम से शुरू हुआ। स्वामी दयानन्द अपने से पहले सामाजिक व धार्मिक सुधारकों से भिन्न थे, वे आर्य-संस्कृति के जिस पुनरुद्धार के लिये खड़े हुए उनका लक्ष्य भारत के मानस में नई राष्ट्रीयता के बीज बोना था। वे आदि से अन्त तक भारतीय थे, उनकी नसों में भारतीयता के गर्व का गर्म खून दौड़ता था। उन्होंने पहली बार यह कहा कि भारत भारतीयों के लिये है, स्वराज्य और स्वदेशी के मन्त्र भी आधुनिक भारत को उन्हीं की देन हैं जिनका पुनर्वाचन हमने बाद में दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी के मुँह से सुना। आर्य समाज के इस आन्दोलन ने हिन्दू समाज का ध्यान उसकी उन कुरीतियों की ओर खींचा जिनके कारण वह पतन के गर्त में गिरा था। उसने स्त्रियों के स्वातन्त्र्य, छुआछूत के निवारण तथा हिन्दू धर्म के संगठन की दिशा में बहुत बड़ा काम किया। आर्यसमाज की सबसे बड़ी देन शिक्षा के क्षेत्र में है, स्वामी दयानन्द के प्रधान शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की जिसमें भारतीय संस्कृति की गरिमा और राष्ट्रीय विचार से ओत-प्रोत युवकों का निर्माण हुआ जो देश की आजादी के आगामी संघर्ष में बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। स्वामी दयानन्द ने सारे देश में एक नई चेतना पैदा कर दी और देश को सोते से जगा दिया। उनके कामों को तत्कालीन अंग्रेजी सरकार राजनीतिक क्रान्ति का आन्दोलन मानती थी और निस्सन्देह वह वैसा ही था।

जिस समय स्वामी दयानन्द उत्तर व पश्चिम भारत में भारतीय संस्कृति का अलख जगा रहे थे ठीक उसी समय बंगाल में एक दिव्य पुरुष का उदय हुआ, ये थे परमहंस स्वामी रामकृष्ण। इन्होंने जाति और धर्म के सब सनातन बन्धनों को लाँघकर विविध धर्मों की साधना की तथा यह बताया कि सत्य सम्प्रदाय से परे होता है, वे जाति-पाँति के विरोधी थे तथा सरल महात्मा थे। उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व ने स्वामी विवेकानन्द का निर्माण किया। स्वामी विवेकानन्द यद्यपि राजनीतिक पुरुष नहीं थे तथापि वे एक ऐसे भारतीय थे जिन्हें भारत में ईश्वर के समान ही दिलचस्पी

थी, तथा जिनका लक्ष्य भारत को नया गौरव प्रदान करना था। भारत का यह उज्ज्वल सपूत अमेरिका और यूरोप के देशो म गया। वहा उन्होने वेदान्त का प्रचार किया तथा भारत की सस्कृति के रहस्य का पश्चिमी जगत के सामने उद्घाटन किया जिसे जान कर जगत चकित रह गया। उन्होने भारतीय नवयुवक को नया मंत्र दिया—'उठो, जागो और तब तक मत रुको जब तक कि लक्ष्य प्राप्त न हो जाय।' स्वामी विवेकानन्द के बारे मे परसीवल ग्रिफिथ्स ने लिखा है कि—'विवेकानन्द ने शीघ्र ही अपने गुरू की ईश्वर भक्ति को देशभक्ति तथा स्वतंत्रता की चाह के साथ जोड दिया।' +

स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द ने भारत के लोगो को निर्भयता का पाठ पढाया। विवेकानन्द जी ने कहा कि मनुष्य को भयभीत नही होना चाहिये, भय का कारण निर्बलता है। निर्बलता सबसे बडा पाप है, वह साक्षात मृत्यु ही है निर्बलता को दूर करके भारत को सशक्त होना चाहिय। निर्भयता और शक्ति के ये मत्र भारत के नौजवानो के मन म बैठ गय तथा वे आगे जाकर इन्ही मत्रो की शक्ति से देश के लिय लड सके।

महाराष्ट्र और दक्षिण भारत मे सास्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक चेतना को जागृत करने तथा जनता म साहस पैदा करने का काम लोकमान्य बालगगाधर तिलक, महादेव गोविन्द रानाडे और गोपालकृष्ण गोखले ने किया। लोकमान्य तिलक तो उग्र-धार्मिक राष्ट्रीयता तथा भारतीय संस्कृति के प्रतीक ही हो गये।

इसी समय दक्षिण भारत मे थियॉसॉफिकल सोसायटी के एक सस्थापक कर्नल ऑलकॉट ने हिन्दू धर्म की प्रशसा की तथा उनकी अपनी प्राचीन सस्कृति की ओर उनका ध्यान खीचा। श्रीमती एनीबीसेन्ट ने भी इस दिशा में बडा काम किया। श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस प्रसग मे लिखा है कि —'हिन्दू मध्यम वर्ग के भीतर उनकी अपनी आध्यात्मिक और राष्ट्रीय धरोहर म विश्वास पैदा करने में श्रीमती एनीबीसेर्न्ट का बहुत बडा हाथ था।'× श्रीमती बीसेन्ट ने बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की स्थापना की और कर्नल ऑलकॉट ने मद्रास के निकट अदयार नामक स्थान मे थियॉसॉफिकल सस्था की। इन लोगो ने पश्चिमी सभ्यता और सस्कृति की अपेक्षा भारतीय धर्म और सस्कृति की महत्ता को स्थापित करने की चेष्टा की। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने इनके बारे में लिखा है कि—'भारत के पुनर्जागरण को कर्नल ऑलकॉट, मैडम ब्लावट्स्की और श्रीमती बीसेन्ट के नेतृत्व मे थियॉसॉफी के आन्दोलन से बल मिला। यह एक सत्य है कि उस आन्दोलन को सगठित और सशक्त बनाने मे किसी हिन्दू ने उतना काम नही किया जितना कि श्रीमती बीसेन्ट ने किया, उन्होने अपने सेन्ट्रल हिन्दू कॉलिज, बनारस और मद्रास के निकट अदयार की थियॉसॉफी

+ Modern India, 1957 pp 59.

× 'Discovery of India' 1947, pp 254

संस्था में पश्चिम की बहुत डींग मारने वाली सभ्यता की अपेक्षा हिन्दू व्यवस्था की श्रेष्ठता की खुले आम घोषणा की। जब एक यूरोपियन नागरिक, जिसकी बौद्धिक शक्तियाँ बहुत बड़ी हो तथा जिसके पास असाधारण वक्तृत्व कला हो, भारत आकर भारतवासियों को यह बताये कि सर्वोच्च बुद्धिमत्ता की कुन्जी केवल उन्ही के पास है तथा वह उन के पास अनन्त काल से रही है, एवं उनके देवता, उनका दर्शन और उनकी नैतिकता पश्चिम की अपेक्षा बहुत ऊंचे स्तर के हैं तब यदि हिन्दू हमारी सभ्यता की ओर से मुंह मोडने लगें तो कोई आश्चर्य की बात नही है।' इतना ही नही श्रीमती बीसेन्ट आगे चल कर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की कर्णधार बनी, उन्होने होम रूल आन्दोलन का संगठन किया, वे जेल गई और इंडियन नेशनल कांग्रेस की अध्यक्षा बनी।+

पुनर्जागृति के ये आन्दोलन भारत की उस प्राचीन संस्कृति के आधार पर खड़े हुए थे जिसका सम्बन्ध केवल हिन्दुओ से था। मुसलमानो के शिक्षित और उच्च वर्गों के लोगों को लगा कि वे इन आन्दोलनो के साथ अपने आप को सम्बन्धित नही कर सकते थे, और ऐसा करना उनके इस्लामी धर्म के विरुद्ध होगा। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपनी सांस्कृतिक जड़ें इस्लामी इतिहास में खोजने लगे और इस प्रकार उनकी दृष्टि भारत से बाहर की ओर गई। यह एक दुर्भाग्य की बात थी क्योंकि इसके कारण भारतीय मुसलमान भारत का होकर भी इस देश मे विदेशी बन बैठा। वह स्वयं भी विभाजित निष्ठाओं के मध्य डावाडोल हुआ तथा हिन्दुओ के मन मे भी उसके प्रति अविश्वास पैदा हो गया, उन्हे लगा कि मुसलमान भारत के बाहर के मुस्लिम देशो के प्रति भारत की अपेक्षा अधिक वफादार हैं। उस समय तुर्की का इस्लामी राज्य ही स्वतंत्र बचा था, भारत के मुसलमानों ने उसके खलीफा की ओर अपने नेतृत्व के लिये देखना आरम्भ किया और उसके प्रति अपनी निष्ठा प्रगट की।

१८५७ की क्रान्ति के पश्चात भारतीय मुसलमान अपना भावी मार्ग नहीं निश्चित कर पा रहे थे। क्रान्ति के लिये अंग्रेज उन्हे बहुत बड़ी सीमा तक उत्तरदायी मानते थे अत। उनका। रुख उनके प्रति कडा हो गया था और वे हिन्दुओ की अपेक्षा उन पर अधिक दमन कर रहे थे। यह बहुत ही स्वाभाविक था क्योंकि अंग्रेज को राजनीतिक सत्ता का संघर्ष मुसलमान के साथ करना पडा था, उन्हें उसी के हाथो से सत्ता छीननी पडी थी और इस प्रकार वही उनका तत्कालीन शत्रु था। हिन्दू तो पहले से ही एक आधीन जाति थे। इस व्यवहार के परिणामस्वरूप वे अंग्रेजों के

+ इसी प्रकार का महत्वपूर्ण कार्य यूरोप के कुछ विद्वानो ने किया जिन्होने भारत के प्राचीन ग्रन्थो का गहरा अध्ययन करके भारतीय संस्कृति की महत्ता का रहस्योद्घाटन किया। इनके इस कार्य से भारतीय जनता को अपने आप को पहचानकर जागने मे बहुत मदद मिली। इन विद्वानो मे मैक्समूलर, विल्सन, संसन, रौथ और मोनियर विलियम्स आदि बहुत प्रसिद्ध हुए हैं।

कट्टर शत्रु बन गये थे। परन्तु परिस्थिति ने अचानक पलटा खाया। सर सैयद अहमद खा एक बहुत शक्तिशाली व्यक्तित्व लेकर खड़े हुये और उन्होंने संकल्प किया कि वे मुसलमानों की स्थिति को सुधारेंगे। उन्होंने अनुभव किया कि अंग्रेज भारत मे जम चुके हैं अत उनके साथ असहयोग करके मुसलमान प्रगति नहीं कर सकेंगे। उन्होंने मुसलमानों की उन्नति के लिये पश्चिमी शिक्षा को आवश्यक समझा और अनुभव किया कि वे अपने कार्यक्रम को अंग्रेजो की मदद के बिना पूरा नही कर सकते थे। उन्होंने अलीगढ में मुस्लिम शिक्षा सस्था को जन्म दिया तथा मुसलमानो से अपील की कि वे अपने तग दायरे से बाहर निकल कर अग्रेजो के प्रति मित्रता का भाव अपने मन में पैदा करे। वे बराबर यह कोशिश करते रहे कि भारतीय मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलनो से कोई सम्बन्ध न रखें, क्योंकि वे मन मे डरते थे कि यदि अग्रेजो का विरोध करके उन्हे अप्रसन्न कर देंगे तो उनकी प्रगति की सारी योजनायें ठप्प हो जायेंगी। यहां यह कह देना उचित और आवश्यक होगा कि सर सैयद अहमद खा साम्प्रदायिक दृष्टि से नही सोचते थे और वे मुसलमानो को भारत का राष्ट्रीय नार्गरिक मानते थे। उन्होने कहा है कि—'क्या तुम एक ही देश में रहते हो ? याद रखो कि हिन्दू और मुसलमान शब्द केवल धर्म की भिन्नता प्रगट करते हैं। वे सब लोग जो इस देश में रहते हैं चाहे वे हिन्दू हो, मुसलमान या ईसाई, इस दृष्टि से एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं।'

बीसवी शताब्दी के आरम्भ में एक ओर मुसलमान अंग्रेजो का प्रेम प्रतिपादित करने मे लगे हुए थे दूसरी ओर उनके बीच से कुछ ऐसे नौजवान निकले जो भारत को दिल से प्यार करते थे और जो पहले भारतीय पीछे मुसलमान थे। एक ओर १९०६ मे अंग्रेज भक्त मुसलमान मुस्लिम-लीग नामक संस्था बनाकर उसमें संगठित हुए दूसरी ओर मौलाना अबुलकलाम आजाद, डा० अन्सारी और मौलाना मौहम्मद अली जैसे नौजवान कांग्रेस मे दाखिल हो कर भारत की स्वाधीनता और एकता के लिये आगे आये। मौलाना आजाद ने अल-हिलाल और बाद मे अल-बलाग नामक पत्र निकाले जिसके द्वारा उन्होंने मुसलमानो में भारतीय राष्ट्रीयता के बीज बोने की चेष्टा की तथा अंग्रेजो की बड़ी निर्भीक आलोचना की। मुस्लिम-लीग जो आरम्भ से ही अलीगढ आन्दोलन के साथ जुडी रही, आगे जाकर एक बार तो भारत की आजादी की माग करने के लिये आगे आई परन्तु बाद मे वह प्रतिक्रियावादी नेतृत्व मे चली गई और अग्रेजो की पिट्ठू बन कर उसने भारत की आजादी की माग को बहुत धक्का पहुचाया। आखिर मे उसकी हठ के परिणामस्वरूप ही भारत का विभाजन हुआ।

अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण:—अग्रेजो के आते ही देश मे उनके विरुद्ध आवाज पैदा हो गई, यह भारत के लिये एक अनोखी बात थी। भारत एक बहुत सहनशील देश है। उसने अनेक विदेशियो का शासन देखा है और उसे सहन भी किया है, परन्तु अंग्रेजो के शासन में कुछ ऐसा वैचित्र्य था जो

हमारे लिये असह्य हो गया। इसके दो कारण थे, पहला तो यह कि अंग्रेजों ने हमारा जातीय अपमान किया, वे अपनी गोरी चमड़ी और वैज्ञानिकता के अहंकार में हमें बर्बर और असभ्य कह कर हमारा मजाक उड़ाते थे, आज भी जब किसी भारतीय से अमेरिका या आस्ट्रेलिया में यह पूछा जाता है कि क्या उसका देश सपेरों का देश है तो उसका मन अंग्रेजों के प्रति क्रोध से भर जाता है जिन्होंने संसार के सामने हमारी प्राचीन संस्कृति की अवहेलना करके हमारे बारे में इस प्रकार का गलत प्रचार किया। दूसरी इससे भी बड़ी बात यह थी कि अंग्रेज भारत आने के आरम्भ से ही हमारी दौलत के गाहक हो गये थे और भारत की इस लूट को उन्होंने इस सीमा तक जारी रखा कि उनकी आंखें हमारे मुंह के टुकड़े पर भी पड़ने लगीं। हमारे अपने ही देश में हमारे लिये अपनी धरती और अपने कठोर परिश्रम के फलों को प्राप्त करना कठिन हो गया।

अंग्रेज भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी बनाकर व्यापारी की हैसियत से आए थे। कम्पनी ने भारत की अर्थ-व्यवस्था को पूरी तरह चौपट कर दिया और उसको बिल्कुल अपने हित की दृष्टि से इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। अठारहवीं शताब्दी तक भारत औद्योगिक दृष्टि से एक बहुत विकसित और समृद्ध देश था। इस बारे में श्री० एन्स्टे ने लिखा है—'उत्पादन और औद्योगिक व व्यापारिक संगठन की भारतीय पद्धतियां संसार के अन्य भागों में प्रचलित पद्धतियों की तुलना में श्रेष्ठ ठहरती हैं।'+ ईस्ट इण्डिया कम्पनी का लक्ष्य आरम्भ में किन्हीं राष्ट्रीय-स्वार्थों की पूर्ति करना नहीं था। वह व्यापारियों का एक संघ था जिसका उद्देश्य अधिक से अधिक मुनाफा कमाना था। वह भारत में यूरोप के तैयार माल के लिये बाजार तलाश करने नहीं आई थी। उस समय उसका लक्ष्य इंग्लैंड और यूरोप के बाजारों में भारत और ईस्ट-इंडीज के तैयार माल और मसालों की बिक्री करके मुनाफा कमाना था। कम्पनी के व्यापारी भारत से सूती और सिल्क का कपड़ा तथा दूसरी उपयोगी वस्तुएं ले जाते थे। रेम्से म्योर ने अपनी पुस्तक 'दा मेकिंग आफ ब्रिटिश इण्डिया' में (१६१७: पृ० ८६ पर) लिखा है कि—सूती और सिल्क के कपड़े के मामले में भारत के उत्पादन के साथ कोई भी पश्चिमी बुनकर होड़ नहीं कर सकता था। कम्पनी के सामने इस व्यापार में सबसे बड़ी कठिनाई थी कि वह भारत के कारीगरों से माल खरीदते समय उनके माल के बदले में उन्हें क्या दें। वे ऊनी कपड़ा दे सकते थे परन्तु भारत के जलवायु में उसकी कोई बड़ी मांग नहीं थी, दूसरी चीजें जो भारत में खप सकती थीं वे चांदी और दूसरी कीमती धातुएं व जवाहरात थे। कम्पनी आरम्भ में तो वेस्ट-इंडीज और स्पेनिश अमेरिका में दासों की बिक्री से जो चांदी प्राप्त करती थी उसका उपयोग वह भारतीय माल की खरीद में करती रही परन्तु कुछ ही समय बाद एक ओर तो भारतीय माल की खपत की मात्रा इस सीमा तक बढ़ गई कि

+ Quoted by Jawaharlal Nehru in his Discovery of India'

उसके बदले में चादी जुटा सकना कठिन हो गया, दूसरी ओर कम्पनी ने भारतीय-राजनीति की कमजोरियो का लाभ उठा कर भारत मे अपनी सत्ता जमाना शुरू कर दिया। इन दोनो बातो का परिणाम यह हुआ कि कम्पनी के कर्मचारी व्यापार को छोड कर अत्याचार और लूट पर उतर आये। उन्होने जो किया, उसका प्रमाण हमे इतिहास मे भलि-भाति मिलता है। मई १७६२ मे बगाल के नवाब ने इंगलिश गवर्नर को एक पत्र मे लिखा था कि—'वे (कम्पनी के कर्मचारी) रैयत, व व्यापारियो आदि की वस्तुएं और सामान चौथाई दामो पर जबर्दस्ती छीन लेते हैं, और हिंसा तथा दमन के द्वारा वे रैयत आदि को इस बात के लिये विवश करते हैं कि उन्हे एक रुपये के दाम की वस्तु के लिये पाच रुपये चुकाये जायें।'

एक अंग्रेज व्यापारी विलियम बोल्टस ने अपनी पुस्तक कन्सिडरेशन्स ऑन इन्डियन अफेयर्स (१७७२, पृ० १६१-४) मे लिखा है कि—अंग्रेज अपने भारतीय दलालो और गुमाश्तो की मदद से मनमाने तौर पर यह तय करते हैं कि प्रत्येक कारीगर उन्हें कितनी मात्रा मे वस्तुएं देगा और उसका क्या मूल्य उसे चुकाया जायेगा। ..गरीब बुनकर की सहमति आम तौर पर आवश्यक नही समझी जाती, कम्पनी द्वारा नियुक्त होने वाले गुमाश्ते जब चाहे तब उनसे (कारीगरो से) किसी सौदे पर हस्ताक्षर करा लेते हैं। जब कारीगर (कम) दाम लेने से इन्कार करते हैं तभी उन्हें बाध कर कोडे लगाये जाते हैं। . इस विभाग मे जो जुल्म होते हैं वे कल्पना में भी नही आ सकते। कम्पनी का शासन भारत के शोषण के लिये ही आरम्भ हुआ था और जब अंग्रेजी शासन ब्रिटेन के लिय लाभ का सौदा न रहा तभी वह सौदागर इस देश को छोड कर यहा से भाग खडा हुआ। सर जार्ज कार्नवाल लेविस ने १२ फरवरी १७७२ को ब्रिटिश लोक सभा में कहा था–'मैं बहुत विश्वासपूर्वक यह दावा करता हूँ कि इस पृथ्वी पर अभी तक किसी भी ऐसी सभ्य सरकार का उदाहरण नही मिलता जो इतनी भ्रष्ट, दगाबाज और लुटेरी हो जितनी कि १७६५ से लेकर १७८४ तक ईस्ट इन्डिया कम्पनी की सरकार थी।'

भारत की यह लूट कम्पनी के बाद ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भी चालू रही। इसी बीच मे ब्रिटेन मे औद्योगिक क्रान्ति हो गई तथा भारत को अब कच्चे माल के उत्पादन का काम सौप दिया गया। जो भारत सारे संसार के बाजारो मे अपना तैयार माल भेज रहा था, वही भारत एक पराजित और पिछडा हुआ देश बन गया। कार्ल मार्क्स न अपन लेख 'दा ब्रिटिश रूल इन इन्डिया (न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून १० जून १८५३) में लिखा था कि,—'ब्रिटेन से भारत जाने वाले कपडे की मात्रा १८१८ की अपेक्षा १८३६ में ५२०० गुनी हो गई थी। १८२४ मे ब्रिटेन से भारत जाने वाली मलमल मुश्किल से ६० लाख गज होती थी -जबकि १८३७ मे वह साढे छह करोड गज से भी अधिक हो गई थी। दूसरी ओर ढाका की जनसख्या पन्द्रह लाख से घटकर केवल बीस हजार रह गई। अपने कपडे के उत्पादन के लिये प्रसिद्ध नगरो के पतन से भी अधिक भयकर घटनायें हुई। ब्रिटिश भाप और विज्ञान

ने भारत की सारी भूमि पर से खेती और उद्योग के बीच चलने वाली एकता को समाप्त कर दिया।'

इस लूट के अलावा अंग्रेज भारत को कई प्रकार से लूटते रहे। यहा प्रमुख सरकारी पदो पर अंग्रेजो की ही नियुक्ति होती थी और उन्हे बहुत ऊंचे वेतन दिये जाते थे तथा निवृत्ति (रिटायरमेन्ट) के पश्चात् उन्हें मोटी-मोटी पेन्शनें मिलती थी। ये लोग इस पैसे को भारत से इंग्लैंड भेज देते थे और भारत की सम्पत्ति भारत से बाहर चली जाती थी। ब्रिटिश सरकार भारत से नजराने के तौर पर भी एक बडी रकम लेती थी। मार्क्स के अनुसार यह रकम उसके समय में पचास लाख पौंड थी। अदम स्मिथ ने इस लूट के बारे में अपनी जगत्-प्रसिद्ध पुस्तक वेल्थ ऑफ नेशन्स में (खंड ५ अध्याय ४) लिखा है—'आम तौर पर धनी मनुष्य और कभी-कभी साधारण मनुष्य (अंग्रेज) भी इन्डिया-स्टॉक (ईस्ट इन्डिया कम्पनी) का एक हजार पौंड का हिस्सा केवल इस लिये खरीदना चाहता है जिससे कि उसे मालिको की संख्या में एक मत देने की प्रभावशाली स्थिति प्राप्त हो जाये। इस प्रकार उसे भारत की लूट मे तो नहीं, परन्तु लुटेरो की नियुक्ति करने में एक हिस्सा अवश्य प्राप्त हो जाता है।'

इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है और उसके समर्थन में प्रमाणो की भी कमी नही है कि अंग्रेजो ने भारत को बुरी तरह से लूटा और इस सोने की चिड़िया को उसके सारे पख काट कर छोडा है। व्यापक बेकारी, उत्पादन के तरीको का पिछडापन, उत्पादन की मात्रा मे ह्रास और अकाल, ये अंग्रेजो से प्राप्त होने वाले कुछ अभिशाप हैं। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों के भीतर भारत में सात बडे अकाल पडे जिनमे अनुमानतः १५ लाख लोगों की मृत्यु हुई तथा ब्रिटिश शासन के अधिक स्थिर हो जाने के बाद अगले पच्चीस साल म छह और उससे अगले पच्चीस साल में १८ अकाल पड़े जिनमे कुल मिलाकर लगभग दो करोड पिचासी लाख लोगो को जान से हाथ धोना पडा।

इस आर्थिक संकट ने देश के भीतर राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण मे बहुत बडा काम किया, लोगो को विश्वास हो गया कि अंग्रेज भारत में केवल शोषक बन कर रह रहे हैं और उन्हें भारत के जीवन और मरण से कोई वास्ता नही है। अदम स्मिथ ने वेल्थ ऑफ नेशन्स में लिखा है कि—'संसार में न तो कोई दूसरा शासक अपनी प्रजा के सुख-दुख, अपने अधिकृत प्रदेश के सुधार या बिगाड और अपने प्रशासन की प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा के बारे मे इतना पूर्ण उदासीन हुआ है और न हो सकेगा जितने कि व्यापारिक कम्पनी के अधिकाश मालिक हैं।' अंग्रेजो की यह उदासीनता जहा एक ओर हमारी आर्थिक दीनता का कारण बनी वहीं वह हमारे जागरण का निमित्त भी बनी।

देश का राजनीतिक एकीकरण—हम बार-बार यह बात दोहरा चुके हैं कि भारत सास्कृतिक दृष्टि से एक देश है और वह हजारो वर्षों से एक रहा है, परन्तु

इसमें भी कोई सन्देह नही कि राजनीतिक और भौतिक दृष्टि से भारत की एकता हमेशा शकास्पद रही है तथा उसका स्वरूप बदलता रहा है। अग्रेजो ने निस्सन्देह भारत को एक दीर्घकाल के बाद राजनीतिक और भौतिक एकता प्रदान की। यद्यपि यह नहीं माना जा सकता कि अग्रेजो ने वह एकता जान बूझकर सदवृत्ति से हमें दी है तथापि यह तथ्य स्वीकार करना होगा कि उन्होंने अपने शासन को मजबूत बनाने के लिय इस प्रकार के काम किय जिनसे राष्ट्रीयता के विकास म बहुत सहयोग मिला। यह एकता निम्न साधनो से पैदा हुई (१) यातायात की सुविधा, (२) समाचार व सदेशवहन के नय उपकरण, (३) प्रशासन और प्रशासकीय नीतियो की समरूपता।

अग्रेजो ने अपने व्यापारिक हितो की पूर्ति और शासन सचालन की दृष्टि से भारत में सडको और रेल मार्गो का निर्माण कराया। इस प्रकार जो कच्चा माल वे इग्लैण्ड की मिलो के लिय खरीदते थे उस पर ढुलाई का खर्च कम होने लगा तथा इग्लैण्ड का तैयार माल सुविधा के साथ देश के भीतरी भागो तक पहुँचने लगा। १८५७ की क्राति मे उन्हे भारत के ऊबड-खाबड रास्तो पर चलने म बहुत कठिनाई हुई थी, सडको और रेलो के द्वारा उनके लिय यह सरल हो गया कि वे अपनी सेनायें देश म जहा चाहे भेज सकें। इसी प्रकार सरकार के कर्मचारियो तक सरकारी आदेश शीघ्रातिशीघ्र पहुँचाने की दृष्टि से डाक व तार की व्यवस्था की गई। इस बारे म मार्क्स ने लिखा है कि—'मै जानता हूँ कि अग्रेजी मिल वादी (व्यापारिक हित) भारत म रेलो का जाल बिछाना चाहते ह परन्तु इसके पीछे उद्देश्य यह है कि वे अपने कारखानो के लिय कपास और दूसरा कच्चा माल कम से कम दामो पर खसोटना चाहते हैं।' परतु इन सचार साधनो के निर्माण से यह परोक्ष लाभ हुआ कि भारत की जनता के लिय समूचा भारत उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक एक हो गया। जहा हजारो सालो तक विन्ध्या के पर्वत ने उत्तर को दक्षिण से अलग कर रखा था अब वह बाधा दूर हो गई। भारत के लोगो को भारत का दर्शन सुगम हो गया तथा सारा भारत एक साथ खड़ा होने म समर्थ हो गया। १८५७ की क्रान्ति यातायात की असुविधा के कारण ही असफल हुई थी अब इस प्रकार की सम्भावना समाप्त हो गई। क्रान्ति का सदेश तार द्वारा पलक मारते इधर से उधर जाना सुगम हो गया। भारत की राष्ट्रीयता का तत्व इससे पोषित हुआ।

प्रशासकीय ढाचे और प्रशासकीय नीतियो की समरूपता ने भी भारत की राजनीतिक एकता के निर्माण म बहुत योग दिया। ब्रिटिश भारत की समूची प्रजा यह अनुभव करने लगी कि सारे देश म एक ही प्रकार का शासन है और उसकी समस्यायें एक ही प्रकार की हैं। प्रशासन की नीतियो का प्रभाव सारे देश पर एक साथ होता था और जब कभी कोई दमनकारी नीति सरकार द्वारा अपनाई जाती थी तो सारे देश में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगी। अग्रेज भारत की जनता के ग्राम शत्रु हो गय सारे देश को हरदम एक ही शत्रु से लडना पड रहा था और उस शत्रु

के विरुद्ध हम अपने सब भेद-भाव भूलकर तथा प्राचीन सांस्कृतिक एकता के प्रकाश में संगठित हो गये। अंग्रेजों के शासन ने सारे भारत के भाग्य को एक ही सूत्र में बाँध दिया। यह राजनीतिक एकता आगे चलकर अंग्रेजी शासन के लिए घातक सिद्ध हुई।

सरकारी नौकरियों में पक्षपात—क्लाइव की नीति के अनुसार भारत के लोग अंग्रेजी सरकार में क्लर्कों और कम्पनी में गुमाश्तों का पद पाने लगे थे। १८५८ की घोषणा में महारानी विक्टोरिया ने घोषित किया था कि वे भारत सरकार के संचालन में भारत के लोगों का निष्पक्ष सहयोग लेंगी तथा उन्हें सरकारी नौकरियों में बिना किसी भेद-भाव के योग्यता के आधार पर लिया जायगा। परन्तु सरकार अपने वचन का पालन नहीं कर सकी। भारत के पितामह दादाभाई नौरोजी ने जब इस बारे में सरकार पर दबाव डालना शुरू किया तब १८७० में ब्रिटिश संसद ने यह कानून बनाया कि कुछ कुलीन भारतीय नामजदगी द्वारा इण्डियन सिविल सर्विस में नियुक्त किये जायेंगे। यह अधिनियम भी संसद द्वारा पास कर दिये जाने के बाद सरकार की मेज पर पड़ा रहा और कहीं आठ साल बाद १८७८ में उसको लागू करने के लिए आवश्यक नियम आदि बनाये गये और कुछ लोगों की नियुक्ति भी की गई। १८८६ में लोक सेवा आयोग और प्रांतीय सेवा आयोगों की नियुक्ति की गई जिसके परिणामस्वरूप ये नामजदगियां बन्द कर दी गयी। इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षायें केवल लन्दन में होती थी इस कारण भारतीय विद्यार्थियों को उसमें बहुत कठिनाई होती थी, उस कठिनाई के बावजूद भी कुछ भारतीय उसमें सफल हुए जिनमें सबसे पहले श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पुत्र और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भाई सत्येन्द्रनाथ ठाकुर थे, उनके बाद रमेशचन्द्र दत्त, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और सर के० जी० गुप्ता आदि ने उसमें सफलता प्राप्त की। इन सफलताओं का परिणाम यह हुआ कि सरकार घबड़ा उठी और इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठने की आयु २३ से घटा कर १९ वर्ष कर दी गई। भारत के शिक्षित लोग नौकरियों के बारे में अंग्रेजी सरकार की नीति से पहले ही असन्तुष्ट थे इस घटना ने उनके हृदय की समस्त आशाओं पर पानी फेर दिया। स्वयं वाइसराय लिटन ने भारत मंत्री को एक गुप्त पत्र में लिखा था कि—'हमने अपनी घोषणाओं के द्वारा भारत के लोगों के हृदय में जो आशायें पैदा की थी वे हमने भंग कर दी हैं।' सरकार की इस नीति के विरुद्ध देश में बहुत हलचल हुई और श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा स्थापित इण्डियन एसोसियेशन की ओर से श्री लालमोहन घोष नामक एक नौजवान को इस बारे में हलचल करने के लिये इंग्लैण्ड भेजा गया। श्री घोष बहुत उच्च कोटि के वक्ता थे। उनके अंग्रेजी भाषणों ने अंग्रेज जनता और राजनीतिज्ञों को बहुत प्रभावित किया। उन्होंने ब्रिटिश राजनीतिज्ञ श्री ग्लेडस्टन से भेंट की तथा उन्हें इतना प्रभावित किया कि लोकसभा ने उस विषय की चर्चा की। जब ग्लेडस्टन ब्रिटेन के प्रधान मंत्री बने तो उन्होंने फिर से सिविल सर्विस की प्रवेश आयु बढ़ाकर २३ वर्ष कर दी।

सरकारी नौकरियों में भारतीय कर्मचारियों के साथ जो पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जा रहा था उसका एक दूसरा रूप और भी था। जब कभी प्रतिभाशाली भारतीय नौजवान परिश्रम करके आई० सी० एस० की परीक्षा पास कर लेते थे तो कोई न कोई बहाना बनाकर उन्हें नौकरी से हटा दिया जाता था। इसके प्रभाव बहुत गहरे हुए, यहां तक कि जिन नवयुवकों के साथ यह दुर्व्यवहार हुआ उनके मन अंग्रेजी शासन के प्रति घृणा से भर गये तथा उन्होंने ही आगे चलकर अपने राष्ट्राभिमान की रक्षा के लिये संगठन की नींव डाली। इसका एक बहुत उज्ज्वल प्रमाण श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी हैं। उन्होंने १८३९ में आई० सी० एस परीक्षा पास कर ली परन्तु किसी बेबुनियाद बहाने पर उन्हें अयोग्य घोषित कर दिया गया। इस समाचार से भारत और विशेषकर बंगाल में बहुत क्षोभ पैदा हुआ। यह मामला निर्णय के लिये सम्राज्ञी के बेंच डिवीजन के पास भेजा गया, वहां से श्री बनर्जी की नियुक्ति का आदेश हो गया और वे सहायक मजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्त होकर भारत आ गये। परन्तु अंग्रेज शासक सत्ता के नशे में इतने दीवाने बन चुके थे कि वे एक स्वाभिमानी भारतीय को जो अपने अधिकारों के लिए लड़ना जानता था, सहन नहीं कर सके और आखिरकार उन्हें उनके पद से हटा दिया गया। उन्होंने इस घटना के बारे में अपनी आत्मकथा में लिखा है कि—'मुझे लगा कि मुझे जो हानि उठानी पड़ी उसका कारण केवल यह था कि मैं एक भारतीय हूँ, मैं एक ऐसी कौम का सदस्य हूं जो बिल्कुल असंगठित है, जिसका कोई लोकमत नहीं है और अपने ही देश की सरकार की परिषदों में जिसकी आवाज की कोई कीमत नहीं है। मैंने अपनी जवानी के जोश में यह अनुभव किया कि हम अपनी ही जन्म भूमि में दास, लकड़हारे और पनिहारे मात्र रह गये हैं। मेरे साथ जो व्यक्तिगत अन्याय हुआ था वह हमारे देश की निस्सहाय लाचारी का प्रतीक है। जो अन्याय मेरे साथ हुआ, क्या वह दूसरों के साथ भी होगा? मैंने सोचा कि वैसा होना तब तक निश्चित ही है, जब तक कि हम एक राष्ट्र के रूप में संगठित होकर अपने को अन्याय से न बचा सकें तथा अपने व्यक्तिगत और सामूहिक अधिकारों की रक्षा न कर सकें। इस विनाश के संकट और अन्धकारमय तथा डरावने दुर्भाग्य के बीच खड़े होकर मैंने यह संकल्प किया कि मैं इस मामले में अपने निस्सहाय भाइयों की सहायता में लग जाऊंगा।'

इसी प्रकार का व्यवहार श्री अरविन्द घोष के साथ किया गया जो उसके बाद एक महान क्रान्तिकारी बने तथा आगे जाकर भारत के महान योगी बने। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ही वह पहले भारतीय व्यक्ति थे जिन्होंने इण्डियन एसोसियशन नाम के प्रथम अखिल भारतीय संगठन की नींव डाली जिसका उद्देश्य राजनीतिक था और जिन्होंने सारे भारत का दौरा उसे राजनीतिक दृष्टि से संगठित करने के लिये किया। इस प्रकार अंग्रेज सरकार की इस भेदभाव भरी नीति ने भारत के लोगों में नई जाग्रति पैदा कर दी तथा उन्हें संगठित हो जाने के लिये प्रेरित किया।

अंग्रेजी शिक्षा व विदेशगमन—मैकॉले के अथक प्रयत्न के पश्चात् सन् १८३५

में ब्रिटिश ससद ने यह निर्णय किया कि भारत मे अ ग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया जायेगा। मैकॉले ने स्पष्ट रूप से अ ग्रेजी शिक्षा के लक्ष्य की घोषणा इस प्रकार की कि—'यह भारत मे एक ऐसा वर्ग पैदा कर देगी जो रक्त और रग मे तो भारतीय होगा परन्तु अपनी पसन्द विचार, नैतिकता और बुद्धि के मामले मे पूरा अ ग्रेज होगा।' इस प्रकार अ ग्रेजी शिक्षा का आरम्भ भारत के पूर्ण अराष्ट्रीयकरण के उद्देश्य से हुआ, परन्तु कभी कभी नियति का विधान विपरीत होता है और बुरी नीयत से किये गय कामो के परिणाम भी उल्टे निकलते हैं। मैकॉले भारत मे ऐसे गुलाम मस्तिष्क अ ग्रेजी शिक्षा के द्वारा पैदा करना चाहता था जो अ ग्रेजी साम्राज्यशाही के आदेशो का पालन पूरा वफादारी के साथ करते रहे और जो अपने देश के हितो के बारे मे सर्वथा उदासीन और अनभिज्ञ रहे। मैकॉले का लक्ष्य अ ग्रेजी शिक्षा के द्वारा भारत मे लोकतात्रिक चेतना का निर्माण करना नही था। मैकॉले अपने लक्ष्य मे काफी सीमा तक सफल हुआ और अ ग्रेजी शिक्षा के द्वारा एक ऐसे गुलाम मनोवृत्ति वाले वर्ग का निर्माण देश के भीतर हुआ जो अ ग्रेजो को भगवान मानकर उनके आदेशो का परिपालन करने और भारत के साथ द्रोह करने मे गौरव समझने लगा। इस वर्ग की सहायता से ही अ ग्रेज ने भारत मे अपना शासन इतने लम्बे समय तक चलाया। अ ग्रेजी पढ़े-लिखे इन गुलामों ने भारत पर जितना जुल्म और अत्याचार अ ग्रेजी शासन को बनाये रखने के लिय किया, इतिहास मे उसका कोई दूसरा उदाहरण ससार के किसी भी देश मे नही मिलता।

जिस शिक्षा का सूत्रपात देश को सदा तक गुलाम बनाये रखने के लिये किया गया था, उस शिक्षा के कुछ लाभ भी हुए। जहा एक ओर उसने ऐसे गुलाम प्रशासक पैदा किये जिन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल कर देश मे अ ग्रेजी शासन को बनाये रखने की पूरी कोशिश की, वहा उसने उन व्यक्तियों को जो भारत के प्रति प्रेम रखते थे, उस विचार का सम्पर्क दिया जिसमे स्वतत्रता का अभिमान भरा हुआ था। उन्होने एडमड बर्क और जॉन स्टुअर्ट मिल के साहित्य मे स्वतत्रता के महत्व का अध्ययन किया और उसका अर्थ समझा। अ ग्रेजो का जो चित्र हमारे सामने था वह उस चित्र से बिल्कुल उल्टा था जो उनके अपने देश मे था। अपने देश मे वे दमन और आतक के प्रतीक न होकर स्वतत्रता और जनतत्र के हिमायती थे। अ ग्रेजी साहित्य में मिल्टन, बायरन, शैली जैसे उच्च कोटि के साहित्यकारो ने जो विचार स्वतत्रता की हिमायत म प्रस्तुत किय थे वे सब अ ग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारत के अ ग्रेजी पढ़े-लिखे लोगो को प्राप्त हुए और वे शीघ्र ही भारत की लम्बी पराधीनता के बारे मे सोचने लगे। उन्होने फ्रान्स और दूसरे राज्यों की क्रान्तियो के बारे मे पढ़ा और उससे प्रेरणा प्राप्त की।

अ ग्रेजी शिक्षा से एक और लाभ भी हुआ। किसी जमाने में सस्कृत भारत की लोकभाषा थी, उत्तर से दक्षिण तक यह भाषा बोली और समझी जाती थी परन्तु कालान्तर मे सस्कृत धीरे-धीरे समाप्त हो गई तथा उत्तर और दक्षिण की भाषाओ के

बीच एक गहरी खाई पैदा हो गई। देश के पास कोई लोकभाषा नहीं। भारत मे अंग्रेजी भाषा यद्यपि आम आदमी की भाषा तो नही बन सकी तथापि उ पमुख अभाव की किसी सीमा तक पूर्ति करने की चेष्टा की। + अंग्रेजी पढे लिखे लोगो लिय यह सुगम हो गया कि वे देश के विविध भागो के वसे लोगो के साथ बातचीत और विचार विनिमय कर सके। इस प्रकार अंग्रेजी भाषा ने देश के राष्ट्रीय एकीकरण के माग की एक बडी बाधा को दूर कर दिया।

अंग्रेजी शिक्षा के लिय भारत के युवक इंग्लैड तक गय और वे यूरोप तथा ससार के अनेक भागो मे भी गये। इन यात्राओ से दोहरा लाभ हुआ। ये विदेश यात्रायें भारत के नौजवानो को बता सकी कि उनके देश की ससार की निगाहो मे क्या स्थिति है। वे जहा जहा गय उनके साथ वैसा व्यवहार किया गया जैसा कि असभ्य लोगो और दासो के साथ किया जाता है इससे उनके मर्म को ठेस लगी और उन्होने सकल्प किया कि वे देश की आजादी के लिय प्राण-प्रण से चेष्टा करेंगे। अपनी विदेश यात्राओ म उन्होने स्वतन्त्र देशो के नागरिको की सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक स्थिति का निरीक्षण भी किया। उनसे उन्हे ज्ञात हुआ कि उनकी स्थिति भारत की पराधीन जनता की अपेक्षा कितनी अच्छी है। उसे देखकर उनके मन म स्वतन्त्रता के मूल्य का आभास हुआ और वे उसकी तडप लेकर स्वदेश लौटे।

भारत म भी जो अंग्रेजी शिक्षा दी गई उसके द्वारा भारतीय विद्यार्थियो ने एलिजाबेथ से विक्टोरिया तक का अंग्रेजी लोकतन्त्र का इतिहास एव शक्सपियर व मिल्टन से वर्डसवर्थ तथा टेनीसन का साहित्य पढा। यह अध्ययन स्वय अपने म राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत था साथ ही उस समय मध्य विक्टोरिया युग के स्वातन्त्र्य प्रेम व दृढ देशभक्ति से ओत-प्रोत अंग्रेज शिक्षक भारत के स्कूलो म पढाते थे। य सब कारण बहुत सबल थ और इन्होने देश के अंग्रेजी पढे-लिखे लोगो म देश-प्रेम की लहर पैदा कर दी।

यहा यह मानने की आवश्यकता नही है कि यदि भारत म अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार व प्रसार न होता तो हमारी राष्ट्रीयता सावधान होकर न उठ खडी होती। हम यह याद रखना चाहिय कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म भारत की सामाजिक स्थिति साम्राज्यवाद द्वारा आर्थिक शोषण तथा उससे उत्पन्न होने वाले परिणामो म से हुआ था। पीछे हम यह उल्लेख कर चुके ह कि भारतीय राष्ट्रीयता का पुनर्जागरण *भारतीय साहित्य और सस्कृति के आधार पर हुआ है।* उसके आधार हमने वेद और शास्त्र म खोज थ। अंग्रेजी शिक्षा से जो लाभ हुए वे वास्तव मे

+ १६३१ की जनगणना के अनुसार भारत की ३५ करोड जनसख्या म से केवल ३५ लाख व्यक्ति अर्थात कुल एक प्रतिशत जनता अंग्रेजी लिख-पढ सकती थी। इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजी कभी लोक भाषा नही बन सकी।

मे ब्रिटिश सरकार की देन नही थे वरन् वे हमे उसकी असावधानी से ही प्राप्त हुए। जायेम्स स्टाइन शिरोल की पुस्तक 'इंडियन अनरेस्ट' की भूमिका में सर अल्फ्रेड लैयाल जी० सी० आई० ई० ने सन् १९१० मे इस असावधानी की ओर ध्यान दिलाते हुये लिखा था कि—'भारत म पश्चिमी शिक्षा को फैलाने के लिये जो कदम उठाये गए हैं उनकी गति और उनके परिणामो का अध्ययन पुस्तक के लेखक ने किया है। वह एक गम्भीर राजनीतिक भूल की कहानी है।'

समाचार पत्रो का प्रसार—भारतीय राष्ट्रीयता के पुनर्जागरण मे समाचार पत्रो ने बहुत बड़ा योग दिया है। आज से पचास वर्ष से भी अधिक पहले सर थॉमस मुनरो ने कहा था कि स्वतन्त्र-प्रेस मे से एक अत्यन्त शक्तिशाली क्रान्ति जन्म लेगी। उनका यह कथन सत्य सिद्ध हुआ। लोकमत के निर्माण मे स्वतन्त्र विचार प्रकाशन और समाचार पत्रो का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। अंग्रेजी शासन काल के आरम्भ काल मे यद्यपि समाचार पत्रो के सम्पादक अंग्रेज थे तथापि कम्पनी उन पर कड़ा नियन्त्रण रखती थी और उसने प्रेस-लाइसेंसिंग रेग्यूलेशन्स लागू कर रखे थे। पहली बार १८३५ मे तत्कालीन गवर्नर जनरल मेटकाफ ने उन नियमो को रद्द कर दिया। उसने कहा कि 'यदि भारत की जनता को अज्ञान मे रखकर ही भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रखा जा सकता हो तो निश्चय ही हमारा शासन देश के लिए अभिशाप होगा अत अच्छा होगा। कि वह समाप्त हो जाए।' उस समय से भारत प्रकाशन की स्वतन्त्रता आरम्भ हुई और भारतीय समाचार पत्रो का प्रकाशन शुरू हुआ। बगाल में हरीशचन्द्र मुकर्जी ने हिन्दू पैट्रियट, बाबू शिशिरकुमार घोष ने अमृत बाजार पत्रिका, केशवचन्द्र सेन के सरक्षण में मनमोहन घोष ने इण्डियन मिरर, उमेशचन्द्र बनर्जी और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'बगाली' पत्र निकाले। बम्बई मे श्री दादाभाई नौरोजी ने 'वायस आफ इण्डिया' माडलिक ने नेटिव-ओपीनियन मलबारी ने इण्डियन-स्पेक्टेटर, श्री तैलग ने इन्दु प्रकाश और श्री आगरकर व लोकमान्य तिलक ने केसरी व मरहठा पत्रो का सम्पादन किया। मद्रास मे प्रसिद्ध विद्वान सम्पादक जी० सुब्रह्मण्य अय्यर ने 'दा हिन्दू', इलाहाबाद मे पण्डित अयोध्यानाथ ने 'इण्डियन हेराल्ड' और पजाब मे सरदार दयालसिंह मजीठिया ने 'ट्रिब्यून' निकाला। इनके अतिरिक्त अनेको भारतीय पत्रो का सम्पादन शुरू हुआ।

१८५७ मे एक वर्ष के लिए तथा १८७८ से चार वर्ष के लिए समाचार पत्रो पर गम्भीर प्रतिबन्ध लगाये गये। शेष समय मे ये पत्र काफी स्वतन्त्रता के साथ सरकारी आलोचना करते रहे। देश की राजनीतिक एकता में इन पत्रो का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। लार्ड लिटन ने १८७८ मे समाचार पत्रो पर जो प्रतिबन्ध लगाये उनसे भी राष्ट्रीय चेतना के विकास मे बहुत सहायता मिली। उसका वर्णन हम आगे करेंगे।

लिटन का कुशासन—सन् १८७६ मे लार्ड लिटन वाइसराय बनकर भारत आये। वे चार वर्ष यहां रहे, उनका यह अल्प शासन काल दमन और कुशासन के

अनेक कारनामो से भरा हुआ है। उन्होंने जो भी काम किये उन सबने भारत मे अंग्रेजी शासन के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया की लहर पैदा कर दी। इनमे प्रमुख निम्न है —

(क) १८७७ मे दिल्ली दरबार
(ख) १८७८ मे वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट
(ग) १८७८ मे शस्त्र अधिनियम (Arms Act)
(घ) काबुल पर आक्रमण और द्वितीय अफगान युद्ध
(ड) कपास आयात कर का हटाया जाना।

१८७७ मे लार्ड लिटन ने दिल्ली मे शाही दरबार ऐसे कुसमय मे आयोजित किया जबकि देश के अनेक भाग एक भयकर अकाल की भीषण आपत्ति मे फसे हुए थे। इससे देश के समझदार लोगो के मन मे बहुत क्रोध और क्षोभ पैदा हुआ। यह घटना बिल्कुल ऐसी थी जैसी कि जब रोम जल रहा था वहा का सम्राट नीरो राग रग मे मस्त था। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे प्रतिभावान व्यक्तियो के मन पर इसकी दोहरी प्रतिक्रिया हुई। पहली तो यह कि भारत के अंग्रेजी शासक भारत के दुख और कष्ट के साथ न कोई सहानुभूति रखते थे न उसे दूर करने के लिए कोई चेष्टा ही करना चाहते थे। इससे भी बढकर वे उसकी उपेक्षा करके अपनी शान-शौकत और मौज-मज मे मस्त रहते थे। दूसरी प्रतिक्रिया यह हुई कि जिस प्रकार दरबार मे भारत के सैकडो नरेशो को इकट्ठा करके देशद्रोहियो को सगठित किया गया था क्या उसी प्रकार भारत के देशभक्त लोगो को इकट्ठा करके उन्हे सगठित नही किया जा सकता? इसी ने उनके मन मे अखिल भारतीय सगठन बनाने के विचार को दृढ कर दिया तथा १८७६ मे उन्होंने जिस इण्डियन एसोसियशन की स्थापना की थी उसके व्यापक सगठन और विस्तार के लिए उन्होंने देश भर का दौरा किया।

सर चार्ल्स मेटकाफ ने १७६६ ई० मे भारतीय समाचार पत्रो को प्रकाशन की स्वतन्त्रता दी थी और उसके बाद देश मे अनेक पत्र देशी भाषाओ मे निकलने लगे थे। सन् १८७७ मे देशी भाषाओ के कुल ६४४ समाचार पत्र ब्रिटिश-भारत मे चल रहे थे। भारतीय जनता इन समाचार पत्रो को बहुत चाव से पढती व सुनती थी तथा ये पत्र भी जनता की आवाज सरकार तक पहुचाने की चेष्टा करते थे। धीरे-धीरे ये पत्र सरकार का विरोध भी करने लगे। दिल्ली-दरबार को लेकर अनेक पत्रो ने सरकारी नीति की कडी आलोचना और निन्दा की। लार्ड लिटन उसे सहन न कर सके और उन्होंने भारत मन्त्री (Secretary of State for India) से १३ मार्च १८७८ को एक ऐसा कानून बनाने की अनुमति मागी जिसके द्वारा इन समाचार पत्रो का गला घोटा जा सके। अगले ही दिन वह स्वीकृति मिल गई तथा वाइसराय ने वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट की घोषणा कर दी जिसके द्वारा देशी भाषाओं के पत्रों पर कडे प्रतिबन्ध लगा दिये गये। देश भर मे इस कानून का कडा विरोध

हुआ। इण्डियन एसोसियेशन की ओर से कलकत्ते मे एक विराट सभा की गई जिसमे एक्ट का सबावत विरोध किया गया। 'यह कानून एकदम तर्क विरुद्ध था तथा इसी कारण यह स्थायी और प्रभावशाली नही बन सका।'+ १८८२ मे लार्ड रिपन ने उसे रद्द कर दिया। परन्तु इस एक्ट के विरुद्ध जो आन्दोलन हुआ उसने देश मे राष्ट्रीय चेतना को जगाने मे बडा काम किया। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' मे इस आन्दोलन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'इसने वास्तव मे राष्ट्रीयता के विकास की दिशा मे एक निश्चित और प्रगतिशील स्थिति पैदा कर दी तथा इसके द्वारा इण्डियन एसोसियशन के निर्माताओ की नीव पड़ी।'

लार्ड लिटन इतने से ही सन्तुष्ट होने वाले न थे। उन्होने अगले ही वर्ष शस्त्र-अधिनियम लागू कर दिया जिसके द्वारा भारतीय जनता से शस्त्र रखने का अधिकार छीन लिया गया। लार्ड लिटन को भय था कि भारत मे बढते हुए असन्तोष के कारण सशस्त्र क्रान्ति होना सम्भव है, अत उन्होंने उसकी हर सम्भावना को नष्ट कर देने का निर्णय कर लिया। इस कानून के आधार पर भारत की जनता से सब प्रकार के हथियार छीन लिये गये एवं उसे इस सीमा तक निहत्था कर दिया गया कि वह जंगली पशुओ से भी अपनी रक्षा करने मे असमर्थ हो गई। हथियार रखने के लिए लाइसेंस लेना पडता था, ये लाइसेन्स यूरोपियन लोगो आग्लभारतीय जाति के सदस्यो, सरकारी कर्मचारियो और कुछ वफादार जमीदारो व रईसो को ही दिये जाते थे। इस कानून ने देश के आम आदमी के मन मे यह विचार पैदा कर दिया कि अंग्रेजी सरकार उन्हे पुरुषार्थ हीन कर देना चाहती है। जनता इस पर बहुत भडक गई। बेचारे लिटन को क्या मालूम था कि लकडी और लोहे के हथियार छीनने से भारत के लोग निहत्थे नही बनाये जा सकते, भारत की संस्कृति की रक्षा आध्यात्मिक-शस्त्रो से होती रही है और एक दिन ऐसा आयगा जब ये निहत्थे-भारतीय शक्ति का आधार खो देने पर अपनी आध्यात्मिक शक्ति को पहचान कर तूफान की तरह से उठे एवं विश्व युद्ध के विजेता ब्रिटेन को भारत की भूमि से बाहर निकालने मे समर्थ हो जावें। इस निःशस्त्रीकरण ने भारत को जो चुनौती दी, महात्मा गाधी उसी चुनौती की उपज है, उनके नेतृत्व मे देश ने संसार के इतिहास मे एक नया अध्याय जोड दिया।

अफगान युद्ध मे लार्ड लिटन ने अपनी मूर्खतावश भारतीय जन और धन को अपार हानि पहुँचाई। भारत की जनता इस भयंकर बर्बादी और मूर्खतापूर्ण प्रयोग से बहुत नाराज हुई तथा उसके मन मे ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह की भावना प्रबल हो गई।

+ Thompson & Garratt, 'Rise and Fulfilment of British Rule in India'—1958 P. P. 443.

ब्रिटिश सरकार अंग्रेजो के व्यापारिक हितो की रक्षा के लिए ही भारत मे स्थापित की गई थी। जब लकाशायर की मिलो का सूती कपडा भारत मे देशी कपडे के सामने महगा होने के कारण टिकने मे कठिनाई अनुभव करने लगा तो लंकाशायर के व्यापारिक हितो को सुरक्षित करने के लिए वहा के मिल मालिको की प्रार्थना पर सूती माल के आयात पर लगाए गय पाच प्रतिशत आयात-कर (Import Duty) को हटाने के लिए १८७७ मे ब्रिटिश ससद ने एक प्रस्ताव द्वारा भारत सरकार से सिफारिश की। 'वाइसराय की काउन्सिल मे इस प्रश्न ने बहुत तीव्र राष्ट्रीयता को उभाड दिया, जिससे उनका यह विश्वास दृढ हो गया कि यह विशुद्धत भारतीय प्रश्न है और वे इस बात के विरुद्ध डट गये कि लकाशायर के हितो की रक्षा के लिए उन पर कोई दबाव डाला ज'ए। अन्त मे लार्ड लिटन ने विवश होकर अपनी विशेष शक्ति का प्रयोग किया।' इस प्रकार सूती माल आयात-कर हटा दिया गया, जिससे भारतीय विचारको को बहुत ठेस लगी तथा उन्हे लगा कि अंग्रेजी सरकार भारतीय-व्यापार के हितो की रक्षा नही कर सकती।

इलबर्ट-बिल आन्दोलन --'आगामी वर्षों मे एक दूसरी घटना ने, जो एक मामूली प्रशासकीय व्यवस्था से सम्बन्धित थी, भारत के राजनीतिक विकास पर महान् प्रभाव डाला।'+ हुआ यह कि कुछ भारतीय व्यक्ति जो परीक्षा पास करके इन्डियन सिविल सर्विस मे घुसे थे, धीरे-धीरे पदोन्नति के द्वारा जिला-जज और जिलाधीश के उच्च पदो पर पहुंचे। उस समय (१८८० ई०) तक कोई भारतीय न्यायाधीश किसी यूरोपियन के मुकदमो की सुनवाई नही कर सकता था। एक भारतीय न्यायाधीश ने भारत सरकार से इस बारे मे अपना क्षेत्राधिकार पूछा। लार्ड रिपन के सामने जब बात आई तो उन्होने निश्चय कर लिया कि इस जाति-भेद को समाप्त कर दिया जाए। अत उन्होंने अपनी परिषद के विधि-सदस्य (Law-membe.) सर कार्टनी इलबर्ट को आदेश दिया कि वे इस बारे मे एक विधेयक तैयार करें। सर इलबर्ट ने एक विधेयक तैयार किया जिसमे भारतीय-न्यायाधीशो को यूरोपियन लोगो के मुकदमे सुनने का अधिकार देने का प्रस्ताव रखा गया था। इस बिल (विधेयक) को इलबर्ट-बिल कहा गया। ज्योही उस बिल का समाचार यूरोपियन लोगो को मिला त्योही वे क्रोध से उबलने लगे और वे बगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर के नेतृत्व मे उस बिल का विरोध सगठित करने लगे। अंग्रेजो द्वारा सम्पादित समाचार पत्रो ने उनका साथ दिया। यह एक प्रकार का जाति-गत आन्दोलन था। अंग्रेजो को अपनी जाति का बडा अहकार था और वे यह सहन नही कर सके कि कोई भारतीय उनके मुकदमे सुने। इधर हिन्दुस्तानी-समाचार पत्रो ने अंग्रेजो के इस आन्दोलन का जवाब देना शुरू कर दिया। दोनो ओर से वाद-विवाद छिड गया तथा अंग्रेजो व भारतीयो के

+ 'Thompson & Garratt' Rise and Fulfilment of British Rule in India 1958 P. P. 441.

बीच जाति-भेद की खाई चौडी होती गई। बात यहा तक बढी कि स्वयं अंग्रेजो ने अपने वाइसराय को अपमानित किया एव उसका बायकाट किया। अन्त में सरकार अपने विरोधी आन्दोलन से दब गई और इलबर्ट बिल वापिस ले लिया गया तथा यह तय हुआ कि जब किसी अंग्रेज का मुकदमा किसी जिला-न्यायाधीश की अदालत मे आयगा तो उसकी सुनवाई के लिए एक जूरी की नियुक्ति की जायगी जिसमें कम से कम आधे सदस्य यूरोपियन होगे। इस व्यवस्था के बहुत बुरे परिणाम हुए। यूरोपियनो की सख्या देश में बहुत कम थी और ऊचे सरकारी अफसरो की नियुक्ति किन्ही प्रशासनिक कारणो से प्राय जूरी मे हो नही पाती थी अत छोटे-छोटे यूरोपियन लोग जो बहुत शिक्षित और समझदार भी नही होते थे, जूरी मे बैठते थे। वे मुकदम को एक जाति-गत मामला बना कर सुनवाई करते थे, अत न्याय की हत्या हो जाती थी और जाति का पक्ष लेना वे अपना धर्म समझते थे। इस सबसे भारतीय जनता और भी अधिक तेजी से अंग्रेजी शासन की नीतियो के विरुद्ध होती चली गई।

इलबर्ट बिल आन्दोलन ने भारत के राष्ट्रीय विचारको को एक नया रास्ता भी दिखा दिया। उन्हे यह बात ज्ञात हो गई कि अंग्रेजी सरकार पर आन्दोलन का बहुत प्रभाव होता है। आन्दोलन किस प्रकार चलाया जाता है तथा उसमे समाचार पत्र किस प्रकार मदद करते है, यह विद्या भी भारतीयो ने इस आन्दोलन के प्रत्यक्ष उदाहरण से सीख ली। इस प्रकार यह आन्दोलन राष्ट्रीयता के विकास मे बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

संसार की क्रान्तियां—यह मानना ठीक नही होगा कि भारत ने लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का पाठ ब्रिटेन से ही सीखा है। फ्रास की राज्य क्रान्ति और अमेरिकन स्वतन्त्रता की घोषणा उन्नीसवी शताब्दी मे लोकतन्त्र के विचार के लिए ब्रिटिश उदाहरण से भी अधिक प्रेरक हो गये थे। जर्मनी, इटली, स्पेन आदि अन्य यूरोपियन देशों मे राजनीतिक क्रातिया हो रही थी, उनका प्रभाव भी भारतीय मस्तिष्क पर पड रहा था। उधर अमेरिका मे गृह युद्ध और उसके पश्चात् नीग्रो-दासों की स्वतन्त्रता बडी घटनाए हुई। विश्व स्वतन्त्रता के इस वातावरण मे भारत उस हवा से अछूता नही रह सकता था। १९०४-५ मे एशिया के छोटे से देश जापान ने भीमकाय देश रूस को युद्ध मे हराया और उस पर विजय प्राप्त की। एशिया के दूसरे देशों की भाति भारत में भी इससे आत्म-विश्वास की लहर पैदा हुई और अंग्रेजों के सामने हमारे मन मे जो हीन भाव आ गया था वह दूर होने लगा एव हम उन्हे अपनी भूमि से निकालने का स्वप्न देखने लगे।

इन उदाहरणों ने भारत को राष्ट्रीय एकता की दिशा मे बहुत प्रेरणा दी। यह स्मरणीय है कि भारतीयता के आदि-जनक स्व० राजा राममोहन राय १८३० मे जब इंग्लैण्ड गए तो उन्होने असुविधा के बावजूद भी फ्रेंच जहाज मे समुद्री यात्रा करना पसन्द किया। इससे सिद्ध होता है कि भारत मे ससार की क्रातिया गहरा

प्रभाव पैदा कर रही थी। रूस मे १६०५ और १६१७ की क्रान्तियो ने भी भारत के जनसाधारण को बहुत प्रेरणा और शक्ति दी तथा वे ब्रिटिश आधीनता से मुक्ति के लिए छटपटाने लगे।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा का जन्म—भारतीय राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) का जन्म राष्ट्रीयता के पुनर्जागरण का परिणाम था या उसके कारण राष्ट्रीयता के विकास को एक निश्चित दिशा मिली ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है और हमे स्वीकार करना होगा कि दोनो बातें सच हैं। कांग्रेस का जन्म राष्ट्रीयता की कोख से भले ही न हुआ हो परन्तु उसके पीछे राष्ट्रीयता की शक्ति अवश्य काम कर रही थी। उसके जन्म के पश्चात् धीरे धीरे भारतीय राष्ट्रीयता को नयी भाषा, नया आधार और नया स्वरूप व नई दिशा प्राप्त हुई। यहा हम यह अध्ययन करने की चेष्टा करें कि यह संस्था किन परिस्थितियो मे पैदा हुई और आरम्भ मे उसका क्या लक्ष्य था ?

भारतीय राष्ट्रीयता के पुनर्जागरण का काल १८२८ से आरम्भ होता है। उस समय ब्रह्म समाज की स्थापना की गई थी। यह एक धार्मिक सगठन था अत १८४३ मे बगाल मे ब्रिटिश इण्डिया सोसायटी की नींव रखी गई जिनका लक्ष्य 'भारतीय प्रजा के कल्याण की प्राप्ति, उचित अधिकारो का विस्तार और सब वर्गों के हितो की पूर्ति' था। १८५१ मे इस सोसायटी को 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसियशन' मे विलीन कर दिया गया। इस एसोसियशन ने अगले वर्ष ब्रिटिश सरकार को एक आवेदन पत्र भेजा जिसमे कहा गया था कि—'हमे यह अनुभव करना पड रहा है कि हम ग्रेट ब्रिटेन के साथ अपने सम्बन्धो के परिणामस्वरूप उतना लाभ नही प्राप्त कर सके हैं जितना प्राप्त करने की आशा करने का हमे अधिकार था।' इसने अनेक मार्गें सरकार के सामने रखी, इनमे सबसे महत्वपूर्ण दो मार्गें थी पहली तो सिविल सर्विस मे भारतीयो के प्रवेश की और दूसरी ऐसी विधान सभा (Legislative Council) की स्थापना की जो जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर सके। परन्तु ये सब सगठन जमीदारो के थे। ब्रिटिश इण्डियन एसोसियशन मे 'बगाल जमीदार सघ' भी विलीन हो गया था।

१८५७ की क्रांति मे ये सगठन निष्क्रिय हो गए परन्तु उसकी असफलता के पश्चात ये पुन उठे। सन् १८७५ मे श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इण्डियन एसोसियशन की स्थापना की। यह सगठन राष्ट्रीय विचारो का सही प्रतिनिधि था। देश भर मे ब्रिटिश इण्डियन एसोसियशन (अग्रेज भक्त) और इण्डियन एसोसियशन (देश भक्त) दोनो सगठनो की शाखायें स्थापित की गई। सन् १८८३ मे इण्डियन एसोसियशन ने 'आल इण्डिया नेशनल कान्फ्रेन्स' नाम से एक सम्मेलन बुलाया जिसमे बगाल, मद्रास, बम्बई और उत्तर प्रदेश से प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन के अध्यक्ष श्री आनन्दमोहन बोस ने (जो आगे चलकर १८९८ मे कांग्रेस के अध्यक्ष बने) अपने भाषण मे बताया कि 'एसोसियशन' राष्ट्रीय सगठन की दिशा मे पहला

कदम था। इस वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय राष्ट्रीयता तीव्रता से सगठन की दिशा मे बढ रही थी।

इसी समय सारे भारत मे लार्ड लिटन की नीतियो के विरुद्ध विद्रोह की भावना उमड रही थी। इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना से सरकार को लगा कि *यदि वह स्वय आगे बढकर एक अखिल भारतीय संगठन की स्थापना करे जिसकी* नीतियो पर वह नियंत्रण करती रहे तो उसकी स्थिति सुरक्षित हो सकती है। इस विचार को लेकर लार्ड डफरिन ने एक निवृत्त ब्रिटिश अधिकारी श्री ऐलेन आक्टेवियन ह्यूम को यह काम सौपा। श्री ह्यूम पहले से ही इस बारे मे चिन्तित थे। उनके जीवन चरित्र मे सर विलियम वेडर बर्न ने लिखा है कि '१८७८,७९ के आस-पास लार्ड लिटन के शासन काल के अन्तिम दिनो मे ह्यूम को यह लगने लगा था कि बढते हुए असन्तोष का सामना करने के लिए कोई निश्चित कदम उठाना पडेगा।' +

स्वय ह्यूम ने इस बारे मे लिखा है कि, 'लार्ड लिटन के जाने से कोई पन्द्रह महीने पहले मै भली भाति समझ गया था कि हम एक भयकर विस्फोट के सकट मे फंस गये हैं। मैने सात बडी-बडी फाइले देखी—उनमे देश भर के लगभग ३० हजार रिपोर्टरो की रिपोर्ट थी, जिसमे बताया गया था कि भारत की गरीब प्रजा वर्तमान परिस्थितियो से निराश हो उठी थी। उसे भरोसा हो गया है कि उसे भूखो मरना होगा अत वह कुछ करना चाहती है। वह संगठित होना चाहती है तथा कुछ करने का अर्थ हिंसा करना है। अनेक सूचनाओ मे कहा गया था कि पुरानी तलवार, कुल्हाडे, भाले आदि शस्त्रो की गावो मे मरम्मत की जा रही है जिससे कि समय पर उनका उपयोग हो सके।'÷

१८८५ के आरम्भ मे स्वयं ह्यूम लार्ड डफरिन से मिले और उन्होने वाइसराय के सामने यह प्रस्ताव रखा कि भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारक और कार्यकर्ता प्रत्येक वर्ष एक सम्मेलन करके सामाजिक प्रश्नो पर चर्चा करें (राजनीति पर नही)। लार्ड डफरिन ने ह्यूम के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और स्वय उन्हे यह काम सौपा कि वह भारतीय लोगो का एक ऐसा संगठन बनावें जो देश मे उठने वाले असन्तोष से सरकार को परिचित करावे और सरकार के प्रति वफादारी के साथ इस काम को करे।

ह्यूम इस प्रसंग मे देश के विविध भागो मे स्वयं घूमे और उन्होने भारतीय राजनीतिज्ञो के सामने वे प्रस्ताव रखे तथा उन लोगो ने लार्ड डफरिन के प्रस्ताव को पसंद किया। इसी समय ह्यूम ने पचास ग्रेज्युएटो की माग की जो काग्रेस की स्थापना मे

\+ 'Allan Octavian Hume, Father of the Indian National Congress.' 1913 P. 101.

÷ 'Allan Octavian Hume, Father of the Indian National Congress'. 1913 P. 80-81.

मदद कर सकें। उन्होंने अपनी अपील मे बहुत सुन्दर ढंग से कहा—'व्यक्ति हो या राष्ट्र, प्रत्येक महत्त्वपूर्ण प्रगति का उदय भीतर से ही हो सकता है। आपका देश अभिक्रम (Initiative) के लिए आप लोगो की ओर देख रहा है क्योंकि आप अपने देश के सबसे अधिक सभ्य, बुद्धिमान और सौभाग्यशाली पुत्र हैं। आप देश की आन हैं। यदि आप शिक्षित लोगो मे से पचास व्यक्ति भी ऐसे नही निकल सकते जो आत्म-बलिदान के लिए तैयार हो तथा जिनके हृदय मे पर्याप्त प्रेम, अभिमान, वास्तविक नि स्वार्थ देश भक्ति हो जिसके द्वारा वे शुरूआत कर सकें और यदि आवश्यकता हो तो शेष जीवन देश के लिए अर्पित कर सकें तो भारत के लिए कोई आशा नही की जा सकती।'

इस अपील का बहुत गहरा प्रभाव हुआ और २८ दिसम्बर १८८५ को गोकुलदास तेजपाल हाई स्कूल, बम्बई मे काग्रेस की प्रथम बैठक हुई, जिसमे देश के चुने हुए लोग एकत्रित हुए जिनमे—दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, काशीनाथ त्र्यम्बक तेलग, झवेरलाल याज्ञिक, दिनशॉ इदुल जी वाचा, गोपालगणेश आगरकर, नारायणगणेश चन्द्रावरकर, सर सुब्रह्मण्य अय्यर, दीवान बहादुर रघुनाथराव, पी० आनन्द चार्लू, पी० रंगिया नायडू, एम० वीरराघवाचार्यर, बाबू नरेन्द्रनाथ सैन, बाबू गंगाप्रसाद वर्मा, बदरुद्दीन तैय्यब जी. श्री उमेशचन्द्र बनर्जी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री उमेशचन्द्र बनर्जी को काग्रेस का पहला अध्यक्ष चुना गया तथा श्री ह्यूम को मत्री।

काग्रेस के जन्म के समय यह नही सोचा गया था कि यह सगठन आगे जाकर भारत से अंग्रेजो की जड़ें उखाड देगा। स्वय श्री ह्यूम ने इस बारे में कहा था कि 'हमारे अपने कारनामो से उत्पन्न होने वाली महान एव निरन्तर बढने वाली विरोधी शक्तियो से बचने का मार्ग खोजना अनिवार्य था। हमारे काग्रेस आन्दोलन से अधिक प्रभावशाली दूसरा कोई रक्षा साधन खोजना सम्भव नही था।'—इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जन्म के समय काग्रेस ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रक्षा का एक साधन थी।

यह सब उल्लेख करने से हमारा प्रयोजन यह नही है कि हम काग्रेस की निन्दा करना चाहते हैं। यहा हम केवल तथ्यो का निरीक्षण मात्र कर रहे हैं। इस बारे मे श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि—'काग्रेस जब पहले पहल स्थापित हुई तब वह एक बहुत ही नरम और फूक-फूक कर कदम रखने वाली सस्था थी जो अग्रेजो के प्रति अपनी राजभक्ति का इकरार करती थी और छोटे-छोटे सुधारो के लिए बडी नम्र भाषा मे माग पेश करती थी।—यह ख्याल न करना कि शुरू मे काग्रेस कितनी नरम थी, यह बता कर मैं उसकी आलोचना कर रहा हू अथवा उसके महत्त्व को कम करने की कोशिश कर रहा हूं। मेरा यह अर्थ नही है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि उन दिनो की काग्रेस ने और उसके नेताओ ने बडा काम किया था।'+

+ विश्व इतिहास की झलक अध्याय ११३।

लार्ड डफरिन के मन मे काग्रेस से यह अपेक्षा थी कि वह भारत मे अंग्रेजी सरकार की रक्षा करेगी। काग्रेस की स्थापना के एक वर्ष बाद सन् १८८६ मे एक भाषण मे उन्होने अपना यह अभिप्राय प्रकट भी कर दिया। उन्होंने कहा कि—'जिन भारतीयो से मै मिला हू उनमे ऐसे काफी लोग हैं जो योग्य और समभदार हैं तथा जिनके वफादारीपूर्ण सहयोग पर भरोसा किया जा सकता है। उनके समर्थन से सरकार के अनेक कानूनो को लोकप्रियता मिल जायगी जबकि इस समय ऐसा लगता है कि वे कानून विधान-सभा मे जबर्स्ती पास किये जाते हैं। यदि वे एक ऐसा देशी-दल बना लेते हैं तो भारत सरकार तूफानी समुद्र के मध्य मे एकाकी चट्टान की तरह अकेली नही रह जायगी जिसके चारो ओर हर दिशा से तूफानी लहरें टकराती हैं।' इस प्रकार वे काग्रेस से वफादारी की आशा करते थे।

कांग्रेस के पिता

अंग्रेज इतिहासकारो ने हमे इस भ्रम मे डाल दिया है कि श्री ह्यूम काग्रेस के पिता हैं। यह एक भयकर असत्य है। इसमे कोई सदेह नही कि ह्यम काग्रेस की स्थापना मे सरकारी एजेन्ट थे तथा उन्होने उस परिपक्व स्थिति का लाभ उठाया जो श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने तैयार की थी। काग्रेस के पिता यदि कोई हैं तो वे श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी हैं। मिस्टर ह्यूम तो एक दाई (मिडवाइफ) के समान हैं जिन्होंने भारत की राष्ट्रीय चेतना की कोख से काग्रेस नामक शिशु का प्रसव कराया। यहा हम सक्षेप मे श्री बनर्जी के प्रयत्नो का उल्लेख करे।

श्री बनर्जी द्वारा स्थापित किये गये इडियन एसोसियेशन का वर्णन पीछे किया जा चुका है। श्री बनर्जी 'बगला' नामक एक अग्रेजी भाषा के पत्र के सम्पादक थे, उन्होने २८ अप्रेल १८८३ को बगला मे एक अग्रेज जज श्री नारिस की बहुत आलोचना और निन्दा की। इसी प्रकार श्री भुवन मोहन दास (श्री देशबन्धु चित्तरजन दास के पूज्य पिता जी) ने अपने पत्र ब्राह्म पब्लिक ओपीनियन मे भी जज साहब की निन्दा की।

श्री नारिस ने श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर न्यायालय की मान हानि का मुकद्दमा चलाया और चीफ जस्टिस सर रिचार्ड गार्थ ने दूसरे न्यायाधीशों को अपने पक्ष मे करके श्री बनर्जी को दो मास का कारावास का दड दिया। भारतीय न्यायाधीश रमेशचन्द्र मित्रा ने उस निर्णय से अपनी असहमति प्रगट की। सन् १८८३ की पाच मई को श्री सुरेन्द्रनाथ को सजा सुना दी गई। उस दिन न्यायालय के बाहर छात्रो का एक बहुत बडा दल सर आशुतोष मुकर्जी (कलकत्ता विश्वविद्यालय के निर्माता) के नेतृत्व मे इकट्ठा हो गया, इस दल मे श्री देशबन्धु चित्तरंजन दास भी थे।

बंगाल और सारे भारत मे इस घटना से बहुत जोश फैला। श्री आनन्द मोहन बोस ने इसके बारे मे इडियन एसोसियेशन की कार्यवाही मे लिखा था कि—'इस अवसर पर अशुभ घटना मे से शुभ का जन्म हुआ, इससे पहले ऐसा कभी नही

हुआ था। इस मामले मे सर्वत्र जितना क्रोध तथा क्षोभ का उद्रेक हुआ, विभिन्न प्रान्तो के लोगो मे जिस तरह पारस्परिक प्रीति की भावना बढी, जिस तरह एकता का प्रदर्शन हुआ, ऐसा कभी नही हुआ था।'

श्री सुरेन्द्रनाथ जब जेल मे थे तभी राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने के लिए सस्था और कोष बनाने के अनेक प्रस्ताव आये। जिस दिन श्री बनर्जी जेल से छूटे उसी दिन इडियन मिरर मे तारापद बन्दोपाध्याय का एक पत्र प्रकाशित हुआ जिसमे उन्होने राष्ट्रीय सगठन और राष्ट्रीय कोष की स्थापना का बहुत जोरदार समर्थन किया था। श्री बनर्जी पहले भारतीय थे जिन्हे इस प्रकार राजनीतिक कार्यवाही के लिए सजा मिली थी। उनके छूटने पर उनका बहुत जोरदार स्वागत हुआ, छात्रो ने उनको सिर पर उठा लिया। वे सैकडो सभाओ मे बोले। वह दृश्य कैसा रोमाचकारी होता होगा जब भारतीय राष्ट्रीयता का यह उन्नायक-अग्रदूत भरी सभा मे पूछता—'तुम मे कौन गैरीबाल्डी और मैजिनी जैसा राष्ट्रभक्त है ?' और चारो ओर से जवानो की आवाज गूज उठती-'हम-हम'। श्री सुरेन्द्रनाथ सारे देश मे घूमे और अखिल भारतीय राष्ट्रीय सगठन बनाने के काम मे जुट गये। उन्होने देश के कोने-कोने मे दूसरे नेताओ से पत्र व्यवहार भी किया, जिसके परिणामस्वरूप १८८३ मे कलकत्ता मे राष्ट्रीय-सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसका वर्णन हम पीछे कर चुके है।

श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी राष्ट्रीय सम्मेलन से भी सन्तुष्ट नही हुए और अधिक व्यापक प्रचार व सगठन के लिए वे मई १८८४ में देशव्यापी दौरे पर निकले। उत्तर भारत के प्राय सभी प्रमुख नगरो मे उन्होंने अपने विचार सभाओ में रखे तथा एक वातावरण का निर्माण किया। इस दौरे का वर्णन सर हेनरी कॉटन ने इस प्रकार किया है—'गत वर्ष १८८४ मे एक बगाली नेता जिस समय व्याख्यान देते हुए उत्तर भारत का दौरा कर रहे थे, उस समय वह दौरा किसी वीर की दिग्विजय से कम नही था। इस समय ढाका से मुल्तान तक सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नाम से ही युवको मे जोश आ जाता है।'+

१८८५ मे राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स का दूसरा अधिवेशन फिर कलकत्ते मे ही हुआ। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने मद्रास की महाजन सभा तथा पूना की सार्वजनिक सभा नामक सस्था से भी सम्पर्क स्थापित किया था और ये लोग मिलकर अखिल भारतीय सस्था बनाने का विचार कर रहे थे। जनवरी १८८४ मे बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन की स्थापना हुई थी जिसमे बदरुद्दीन तैयबजी, दिनशॉ ईदुलजी वाचा आदि प्रसिद्ध व्यक्ति थे। १८८४ मे अखिल भारतीय थियोसॉफिकल सोसायटी के अधिवेशन के पश्चात् मद्रास के राव बहादुर रघुनाथराव के घर पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियो ने इकट्ठे होकर अखिल भारतीय सगठन के प्रश्न पर विचार विमर्श किया। इन्होने आठ सदस्यो की एक समिति भी उसके लिए बनाई जिसने जनवरी १८८५ मे देश

+ 'New India'—1885

भर के नेताओ को पत्र लिखे।

उधर कलकत्ते मे श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे देशभक्त के नेतृत्व मे राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स का अखिल भारतीय सम्मेलन हो रहा था और इधर बम्बई मे श्री ह्यूम के नेतृत्व मे इण्डियन नेशनल कांग्रेस का। यह एक दुर्भाग्य की बात थी कि श्री बनर्जी कांग्रेस के पहले अधिवेशन मे सम्मिलित नही हुए। वास्तव मे श्री ह्यूम कांग्रेस को श्री बनर्जी की छाया से बचाना चाहते थे क्योंकि उन्हे भय था कि श्री सुरेन्द्रनाथ जैसे व्यक्ति के नेतृत्व से, जो सरकार के विरोध मे जेल हो आया हो एक ओर तो वाइसराय के नाराज होने की सम्भावना थी, दूसरी ओर कांग्रेस अंग्रेज-भक्त न रहकर देशभक्त बन जाती परन्तु श्री ह्यूम अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सके। कांग्रेस के अन्य लोगो को श्री बनर्जी से पूरी सहानुभूति थी। कलकत्ता के राष्ट्रीय सम्मेलन ने अपने अन्तिम दिन कांग्रेस के 'प्रथम बम्बई अधिवेशन को निम्न सन्देश भेजा— 'कलकत्ते के सम्मेलन मे उपस्थित प्रतिनिधिगण बम्बई सम्मेलन के प्रति अपनी सहानुभूति भेज रहे हैं।' आगे चलकर कांग्रेस श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के दल से अलग न रह सकी और उनका सयोग देश के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। इस प्रकार हमारी दृष्टि मे श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी कांग्रेस के पिता हैं और श्री ह्यूम दाई (मिडवाइफ) जिन्होने पिता की अनुपस्थिति मे पुत्री (कांग्रेस) का जन्म सम्पन्न कराया।

कांग्रेस का प्रारम्भिक लक्ष्य

इण्डियन नेशनल कांग्रेस का जन्म २८ दिसम्बर, १८८५ को दिन के १२ बजे बम्बई मे हुआ। उसके प्रथम अध्यक्ष श्री उमेशचन्द्र बनर्जी थे। इस अधिवेशन मे ७२ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। श्री उमेशचन्द्र बनर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कांग्रेस के लक्ष्य की घोषणा इस प्रकार की थी—

(१) जो लोग देश के विभिन्न भागो मे देश के लिए काम कर रहे हैं उनमे पारस्परिक स्नेह तथा परिचय उत्पन्न करना,

(२) सब देश प्रेमियो मे, यानी ऐसे लोगो मे जो हमारे देश को प्रेम की दृष्टि से देखते हैं जाति, धर्म, प्रान्त सम्बन्धी कुसस्कारो को दूर कर सीधा प्रेम तथा वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करना और राष्ट्रीय एकता के भावो को दृढ करना,

(३) उस समय के महत्वपूर्ण तथा जरूरी प्रश्नो पर भारतीय शिक्षित वर्ग के परिपक्व मत को अच्छी तरह तर्क-वितर्क के बाद पता लगाना और फिर जब वह मालूम हो जाए तो उसे अधिकारपूर्ण ढग से लिपिबद्ध करना,

(४) अगले बारह महीनों मे जनता के हित के लिए देश के नेताओ को जो कुछ करना है उसका एक चित्र बनाना।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन मे ही अनेक प्रस्तावो द्वारा रॉयल कमीशन की स्थापना, इण्डिया काउन्सिल की समाप्ति, शासन सुधार, सिविल सर्विस मे भारतीयो के लिए समानता, सेना पर खर्च घटाने, युद्ध के व्यय का भार भारतीय जनता पर न

डालने की माग सरकार से की गई थी । इतना ही नही, बर्मा पर अग्रेजो की विजय और उसे भारत मे मिलाने की चेष्टा की निन्दा भी की गई ।

इस काग्रेस-अधिवेशन का अन्त यद्यपि सम्राज्ञी विक्टोरिया की जय के साथ हुआ तथापि उसके भीतर सुलगती हुई आग की ओर से हमे आँख नही मूद लेनी चाहिये। प्रथम अधिवेशन मे ही बगाल के श्री गिरिजा बाबू ने भारत की गरीबी तथा स्वदेशी व स्वराज्य की आवाज उठाई थी। धीरे-धीरे काग्रेस राष्ट्रीयता के रग मे रगती चली गई है और अग्रेजो से वह दूर हटती चली गई। १८८६ मे ही कलकत्ते अधिवेशन मे श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अपने दल सहित काग्रेस मे राष्ट्रीयता का सबल तत्व लेकर घुस आये ।

सन् १८६१ के अधिवेशन मे लाला मुरलीधर ने जो भाषण दिया था उससे प्रगट होता है कि काग्रेस का स्वरूप बहुत तेजी से बदल रहा था। उन्होने काग्रेस-अधिवेशन के सयोजको को फटकारते हुए कहा—'तुम ! तुम ! मुझे लगता है कि तुम भी इन अभिशाप सरीखे राक्षसो का साथ देने मे और अपने भाइयों के हृदय का रक्त पीने मे सन्तोष का अनुभव करते हो। (चारो ओर से नही नही' की आवाज आने लगी) मै कहता हू, हा, अपने चारो ओर देखिये, ये कन्दील, लैम्प, यरोप के बने हुए कुर्सी, मेज, फुर्तीले कपड़े और टोप तथा अग्रेजी कोट, टाई, फ्राक और चादी के जड़े हुए बेंत व तुम्हारे घर की समस्त विलासिता की वस्तुयें क्या हैं ? ये सब भारत की दरिद्रता के चिन्ह तथा भारत की भुखमरी के प्रमाण और प्रतीक हैं।' इस भाषण से काग्रेस मे राष्ट्रीयता की धारा के प्रवेश का बोध होता है ।

आगे चलकर काग्रेस ने देश के भीतर जागी हुई राष्ट्रीयता को प्रभावशाली ढग से प्रगट किया तथा देश के सोये हुए पुरुषार्थ को जगाकर हममे एक दिन हमारी स्वाधीनता लेने की योग्यता पैदा कर दी। १८८५ से १९४७ तक की इस काग्रेस के सामने हर भारतीय गौरव के साथ नत-मस्तक हो जाता है ।

अध्याय . ३

स्वाधीनता संघर्ष और राष्ट्रीय राजनीति

काग्रेस देश की सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रतिनिधि सस्था है। उसका इतिहास उच्च कोटि की अटूट सेवा और त्याग का इतिहास है। शुरू से ही उसने जितने तूफानो का सफलता के साथ सामना किया, उतना किसी सस्था को नही करना पडा। उसके आदेश से लोगो ने इतना अधिक त्याग किया है कि जिस पर देश गर्व कर सकता है। —महात्मा गाधी

इन्डियन नेशनल काग्रेस की स्थापना के शीघ्र बाद ही भारतीय राष्ट्रीयता अधिक जाग्रत हो गई तथा धीरे-धीरे वह सघर्ष के पथ पर बढने लगी। स्वाधीनता-संघर्ष के उज्ज्वल इतिहास को, जो १८८५ से आरम्भ होकर १५ अगस्त १९४७ मे समाप्त होता है, हम प्रधानत काग्रेस का इतिहास कह सकते हैं। यहा यह कह देना उचित होगा कि १८८५ से १९४७ तक की काग्रेस का इतिहास भारत का राष्ट्रीय इतिहास है। उस काल मे काग्रेस एक राजनीतिक दल नही थी वरन् वह एक ऐसी राष्ट्रीय मच थी जिस पर सारे देश की प्रबुद्ध जनता एकत्रित हो कर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए सघर्ष कर रही थी। १९४७ के पश्चात काग्रेस ने एक राजनीतिक दल का रूप ले लिया। हमे इस बारे मे बहुत सावधानी रखनी होगी कि १९४७ के बाद की काग्रेस उस काग्रेस से एकदम भिन्न है जो १८८५ से १९४७ तक देश के लिए काम कर रही थी। उस काग्रेस को हमे श्रद्धा और सम्मान के साथ देखना चाहिये। कोई भी अंग्रेज जब कभी ईस्ट इन्डिया कम्पनी का नाम लेता है तो उसके पहले ग्रेट अर्थात् महान लगाता है। यह एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण का प्रश्न है, इस प्रकार हम एक ऐसी महान् सस्था के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करते हैं जिसने अपने मार्ग-दर्शन के द्वारा राष्ट्र को खोई हुई स्वतन्त्रता और एकता प्रदान की तथा जिसके पवित्र झन्डे के नीचे हमारे राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग ने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-समर मे भाग लिया। काग्रेस के मंच के बाहर देश की राजनीतिक प्रवृत्ति बहुत ही अल्प थी, फिर भी हम उस प्रवृत्ति का उल्लेख यथास्थान पूरे सम्मान के साथ करेंगे।

काग्रेस विशुद्धत राष्ट्रीय-राजनीति से सम्बन्धित एक संस्था थी जिसका लक्ष्य भारत के लिए स्वराज्य प्राप्त करना था। उसे धार्मिक या साम्प्रदायिक विश्वासो और धारणाओ के साथ कोई वास्ता नही था। समाज-सुधार जहा जहा राष्ट्रीयता के विकास के लिए आवश्यक हो गया था, केवल वहीं काग्रेस ने उसमे हाथ डाला

जैसे छुआ-छूत का निवारण व महिला-जागरण। आम तौर पर अंग्रेजो व गैर-भारती। इतिहासकारो ने कांग्रेस को हिन्दू-संस्था बताया, यह मान्यता सर्वथा गलत है परन्तु इस गलतफहमी की जिम्मेदारी बहुत कुछ वास्तविक तथ्यो पर है। पिछले अध्याय मे हमने भारतीय-राष्ट्रीयता के आधुनिक चरित्र और स्वरूप पर धार्मिक-नेताओ व आन्दोलनो के प्रबल प्रभाव का उल्लेख किया है, इस प्रसंग मे यह और कहना उचित होगा कि *भारतीय राष्ट्रीयता के उस चरण मे जब सघर्ष आरम्भ होने* को था एव अग्रेजो के विरोध मे उसके पाव बढने को ही थे लोक मान्य तिलक ने उसके भाग्य को गति और दिशा दी। स्व० तिलकजी बहुत धर्मवान पुरुष थे, हिन्दू धर्म मे उनकी निष्ठा अद्वितीय थी। श्री मद्भगवदगीता के टीकाकार एव भाष्यकार के रूप मे तथा हिन्दू धर्म की प्राचीनता के सबल हिमायती के नाते वे प्रसिद्ध थे। इसी प्रकार भारत मा के अनपम सपूत लाला लाजपतराय भी हिन्दू धर्मवाद या धार्मिक सगठन के हिमायती हो गए थे। थोड़े काल के पश्चात जब गांधीजी भारतीय राजनीति के अखाड़े मे कूदे तब से अपने जीवन के अन्त तक वे विचार, आचरण, पहनावे, भाषा तथा उपदेशों में पूरे हिन्दू रहे तथा उन्होने अपने हिन्दुत्व को छिपाने की अपेक्षा उसकी घोषणा डंके की चोट पर की।

परन्तु यहा धर्म एक प्रेरणा के रूप मे था, सकुचित सम्प्रदायवाद के रूप में नही। भारत जैसे धर्म-प्रधान देश में जहा लोगो को अपने दैनिक जीवन मे साधारण से साधारण कामो मे धर्म को जोड़ने की आदत है, यह बात बहुत ही स्वाभाविक थी कि राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने जैसे महान कार्य को धर्म के नाम से पवित्रता प्रदान की जाती। इतना ही नही सारे ससार के इतिहास मे यह एक अनुपम घटना थी कि एक विशाल राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता शस्त्र और घृणा के बिना प्रेम और बलि-दान के अहिंसात्मक मार्ग से प्राप्त करे। भारतीय जनता की धार्मिक पृष्ठ-भूमि ही इस बात के लिए जिम्मेदार है कि यहा का आम आदमी आजादी के लिए, बिना शत्रु को मारे, मरने के लिए खडा हो गया।

महान कांग्रेस के बारे मे एक बात और समझ लेनी चाहिये कि वह महान्-संस्था प्रान्तीय या प्रादेशिक सस्था नहीं थी वरन् उसके सामने हमेशा उस विशाल भारत-माता का चित्र रहा जो काश्मीर से कन्या कुमारी और अरब सागर से बंगाल की खाडी तक फैला हुआ है, जिसमे ब्रिटिश-भारत के प्रान्त और देशी राजाओ के राज्य सम्मिलित थे तथा जो अनन्त काल से विविध धर्मों, भाषाओ, वेश भूषाओ एवं रीति-रिवाजो के बावजूद भी एक शाश्वत सस्कृति के *समान तत्वो से ओत-प्रोत* रहा है। इसी महान भारत-माता का जयघोष उसने किया, यद्यपि अन्त मे उसे विवश होकर उसके विभाजन का जबर्दस्ती का निर्णय अनमने मन से मजूर करना पडा। ×

× 'The Nationalist movement became less provincial and

राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के इस उज्ज्वल इतिहास को हम निम्न काल-क्रम मे वर्गीकृत करके अध्ययन करना उचित मानते हैं—

(१) संगठन और सुधार काल (१८८५ से १९०७)
(२) औपनिवेशिक स्वराज्य की माग और संघर्ष के चिन्ह (१९०७ से १९१६)
(३) क्रान्ति की दशा मे (१९१६ से १९२०)
(४) असन्तोष और असहयोग (१९२० से १९२९)
(५) पूर्ण-स्वराज्य का संकल्प (१९३० से १९४४)
(६) चर्चा, विभाजन और स्वराज्य (१९४५ से १९४७)

संगठन और सुधार काल
(१८८५ से १९०७)

सन् १८८५ मे इण्डियन नेशनल कांग्रेस के जन्म की कथा पिछले अध्याय मे वर्णन की जा चुकी है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कांग्रेस की स्थापना करते समय अंग्रेज शासको और नेताओ के मन मे यह विचार नही था कि वह शीघ्र ही अंग्रेजो की रीति-नीति और उनके शासन के विरोध मे खडी हो जायगी परन्तु वैसा होना अनिवार्य था। जैसा हम पीछे कह चुके हैं, भले ही कांग्रेस का जन्म डफरिन और ह्यूम के हाथो से हुआ हो परन्तु वह भारत के तत्कालीन राष्ट्रीय विचार की उपज थी। भारतीय राष्ट्रीयता इतनी प्रबल हो चुकी थी कि उसे अपनी अभिव्यक्ति और अपने विस्तार के लिए संगठन की बहुत सख्त जरूरत थी। महान-कांग्रेस के जन्म के तुरन्त बाद ही उसके भीतर राष्ट्रीय तत्व घुस गये तथा उन्होंने उसे भारत की राजनीतिक प्रगति का महत्वपूर्ण मंच बना लिया। हमे ह्यूम के व्यक्तित्व और उनकी नीयत के कारण इस संस्था के बारे मे कोई गलत धारणा नही बनानी चाहिये। कांग्रेस आरम्भ से ही उनके प्रभाव मे नहीं रही तथा वे उसकी नीतियो पर कोई महत्वपूर्ण दबाव नही डाल सके। उसका कारण यह था कि वह युग भारतीय इतिहास मे प्रतिभा का युग था। हमारा तात्पर्य यह है कि उस समय भारत मे ऐसे अनेक महान व्यक्ति एक साथ पैदा हुए जिनके नाम हमेशा भारत के इतिहास के उजले पन्नो पर गर्व और गौरवपूर्ण शब्दो में सम्मानित होते रहेगे। इनमें से कुछ महान नाम इस प्रकार हैं—दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, फिरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, दिनशॉ इदुल जी

---

less religious, its adherents more interested in their status as Indians.'—Rise and Fulfilment of British Rule in India (1958 P. P. 492) by Thompson and Garratt.

वाचा, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, उमेशचन्द्र बनर्जी, आनन्द मोहन बोस, सुब्रह्मण्य अय्यर, कृष्णास्वामी अय्यर, पडित अयोध्यानाथ, पडित मदनमोहन मालवीय, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, बदरुद्दीन तैय्यबजी और रहीमतुल्ला मुहम्मद सयानी। इन महापुरुषो की जीवन गाथा बहुत रोमाचकारी, प्रेरक और पावन है। प्रस्तुत पुस्तक उसके वर्णन के लिए बहुत छोटी पडेगी। काश! हमारे देश के नवयुवक और नवयुवतिया उनकी जीवन-गाथा के पवित्र घाट पर देश प्रेम, विद्वत्ता, निर्भीकता और उज्ज्वल चरित्र के अमृत का पान कर सकते। इनमे कितने ही महान नाम छूट गये हैं, आगे भी यह भूल हम से होगी, कही स्थानाभाव से कही अल्पज्ञता से। भारत जिस प्रकार मन्दिरों और देवस्थानो का देश है वैसे ही महापुरुषो का देश भी है। इसकी भूमि मे महापुरुष बहुत सुगमता से पैदा होते हैं। विशेषकर सकट और पराधीनता के काल में तो इसमे महापुरुषो की फसल ही होती है जिसमे कही स्वय भगवान भी छिपे रहते है क्योंकि उन्होंने वचन दे रखा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मनं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे।

जब जब होई धर्म कै हानि। बढहिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन कै पीरा॥

साथ ही इस प्रसंग मे एक बात और भी है कि स्वाधीनता के सघर्ष में भारत के भीतर अगणित उज्ज्वल जीवन बलिदान हुए है, जिनके नामो का उल्लेख करना प्राय असम्भव है। भगवान के सहस्र नामों का जप करना सरल है परन्तु भारत के कोटि-कोटि शूरवीरो की नामावली तैयार करना एकदम असम्भव है, उन्हे तो हम नम्र श्रद्धा के साथ अपने प्रणाम ही निवेदित कर सकते हैं। उनके सामने झुककर हम उनके ज्ञान, चरित्र, बल और त्याग के उत्तराधिकारी बन जाते हैं जिसके बल पर हम आगे अपने देश भारत–महान को श्रेष्ठता से दिव्यता की ओर ले जा सकेंगे।

काग्रेस ने अपने पहले ही अधिवेशन मे सुधारो की माग शुरू कर दी, इनमे भारतीय प्रशासन की जाच, विधान परिषदो के विस्तार और भारतीयकरण, इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा भारत मे करने आदि की कई मागें सम्मिलित थी। इससे यह बात साफ जाहिर हो गई कि काग्रेस ने शुरू से ही अग्रेजी शासन को विदेशी समझा, उसकी कमियें देखी, यह सोचा कि अच्छा शासन कैसा होता है और अग्रेज सरकार से डरे बिना उसे सुझाव देने तथा उससे मागें करनी शुरू कर दी। सरकार को सुझाव देते समय हमारे उन मेधावी पूर्व पुरुषो को तनिक भी झिझक नही होती थी। इससे यह बात सिद्ध होती है कि यद्यपि उन्होने अग्रेजों के राजनीतिक शासन को स्वीकार कर लिया था तथापि वे मानसिक, बौद्धिक और सास्कृतिक दृष्टि से स्वतन्त्र थे और उस मामले में वे अपने को अग्रेजो के बराबर ही मानते थे, उनके

ऊपर अंग्रेजों की योग्यता या जातीय उच्चता का कोई आतंक नही था।

इस काल मे कांग्रेस एक ओर अंग्रेजी सरकार से सुधारो की माग कर रही थी दूसरी ओर अपने संगठन की दिशा मे आगे बढ रही थी तथा पढ़ लिखे चन्द लोगो से विस्तृत होकर जनता की ओर फैल रही थी। उसके पहले अधिवेशन मे केवल ७० सदस्य थे, दूसरे मे उनकी सख्या ४३६, तीसरे मे ६०७, चौथे मे १२४८ तथा पाचवें मे जो १८८६ मे हुआ पूरे १८८६ सदस्य थे। इस प्रकार कांग्रेस बढ रही थी। तीसरे अधिवेशन के लिए, जो मद्रास मे हुआ, मजदूरो ने साढे पाच हजार रुपया इकट्ठा किया, उसमे तीन बढ़ई (Carpenter) प्रतिनिधि के रूप मे आये तथा उन्होने भाषण भी दिये।

इस प्रकार कांग्रेस देश की समस्त राष्ट्रीय शक्तियो को एक राजनीतिक मंच पर सगठित करने लगी।+ इसमे उदार अंग्रेज भी आये और अध्यक्ष भी बने। आरम्भ मे नेताओ को अंग्रेजो की राजनीतिक न्याय बुद्धि और ईमानदारी मे विश्वास था तथा वे इंग्लैंड और भारत के बीच स्थायी राजनीतिक सम्बन्ध बनाना चाहते थे। कलकत्ता और मद्रास अधिवेशनो पर वहा के गवर्नरो ने कांग्रेस प्रतिनिधियो को विशिष्ट अतिथि मानकर दावते भी दी। इससे स्पष्ट होता है कि सरकार का रुख उसके प्रति इन दिनो अच्छा था। इसी समय ब्रिटेन मे भारत के प्रति सहानभूति पैदा करने के लिए 'इण्डिया' नामक एक मासिक पत्र प्रकाशित किया गया जो आगे १९२१ में बन्द किया गया।

इसी बाल्यकाल मे कांग्रेस के भीतर उग्र-दल का निर्माण हो गया। उग्र दल के नेता कांग्रेस की नीति से असन्तुष्ट थे। वे समझते थे कि सुधारो की भीख मागने से देश आगे नही बढ सकेगा। ला० लाजपतराय ने उस काल मे कांग्रेस की नीति को राजनीतिक भिक्षावृत्ति (Political Mendicancy) कहा और उसकी कटु आलोचना की। उनके अतिरिक्त लोकमान्य तिलक ने देश को एक नारा दिया। उन्होने कहा—स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मै उसे लेकर रहूँगा।' उग्र-दल के निर्माण के कारणो मे निम्न बहुत प्रमुख हैं—

(१) कांग्रेस की छः वर्षों की निरन्तर माग के बाद १८९२ मे कुछ सुधारो की घोषणा की गई, इसे 'भारतीय परिषद् अधिनियम' (Indian Councils Act

---

+ 'यह मेरे जीवन का स्वप्न रहा है कि मेरी जाति (Nation) की बिखरी हुई इकाइयां किसी दिन एक हो जायें और केवल व्यक्तियों के रूप मे जीने के बजाय हम एक जाति के रूप मे जीने मे समर्थ हो। मै इस सभा मे इसी प्रकार की एकता का प्रारंभ देख रहा हूँ। मै इस कांग्रेस मे भारतवर्ष के लिए अधिक सुखकर और सुन्दर भविष्य की सूचना देख रहा हूँ।'—श्री डा० राजेन्द्रलाल मित्र, १८८६ मे कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन मे स्वागत समिति के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए।

of 1892) कहा गया। इसके द्वारा बहुत ही महत्वहीन और अपर्याप्त सुधारों की घोषणा की गई। यद्यपि कांग्रेस के नम्र पक्ष ने उनका स्वागत किया तथापि आम तौर पर उनके कारण असन्तोष उत्पन्न हुआ। +

(२) लार्ड लैनडौन के वाइसराय बनने पर २६ जून १८९३ में वाइसराय की परिषद ने एक ही बैठक में जिसमें कोई भी भारतीय सदस्य उपस्थित नहीं था, यह निर्णय कर लिया कि भारतीय टकसालें मुक्त रूप से चाँदी के सिक्के नहीं बना सकेंगी साथ ही, ब्रिटिश कर्मचारियों के लाभ के लिए विनिमय-प्रति धन भत्ता (Exchange compensation allowance) स्वीकार किया गया जो एक प्रकार से निर्धन भारत का निर्दय शोषण था। पंजाब के लाला मुरलीधर ने १८९४ के कांग्रेस अधिवेशन में इस प्रसंग पर व्यंग करते हुए कहा था—

'यदि यह कथन शब्दशः सत्य है कि ऊँट के लिए सुई के छेद में से निकलना आसान है परन्तु धनी मनुष्य का स्वर्ग में प्रवेश पाना कठिन है, तो मेरा विचार है कि भारत जैसा प्रसन्न देश और भारतीय जनता जैसी प्रसन्न जनता दूसरी नहीं हो सकती। आपको इंग्लैण्ड की धनी जनता पर उस विशाल धनराशि के कारण जो उसने संग्रह कर ली है तरस खाना चाहिए और परमेश्वर को धन्यवाद देना चाहिए कि उसने आपको (हमें) इस लाभकारी स्थिति में रखा है तथा स्वर्ग के वे द्वार आपके लिए खुले गये हैं जो यूरोप की जनता के लिए बन्द हैं। क्या अधिकारियों ने तुम्हारे लिए स्वर्ग के द्वार खोलने में काफी बलिदान नहीं किया है? उस बलिदान के बदले उन्होंने अपने लिए विनिमय प्रतिधन भत्ता स्वयं ले लिया है।'

इस भाषण से अंग्रेजों के प्रति रोष और कांग्रेस की नम्र नीति के प्रति व्यंग का तीव्र भाव प्रगट होता है।

(३) १८९६–९७ में एक भयङ्कर अकाल पड़ा। उसी समय वाइसराय लार्ड ऐल्गिन जबलपुर गये जहाँ 'जनता मक्खियों की भाँति मर रही थी' तब उन्होंने मध्यप्रदेश की जनता को उसकी समृद्धि पर बधाई दी। इससे देश में बड़ी चिढ़ पैदा हुई। शिमला के यूनाइटेड सर्विसेज क्लब की एक सभा में ऐल्गिन ने यह भी कहा कि 'भारत को तलवार से जीता गया है और उसे तलवार से ही (ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत) बनाये रखा जायगा।' वाइसराय के इन शब्दों ने नेताओं के मन में क्रोध पैदा कर दिया।

(४) अकाल के समय बम्बई प्रांत में प्लेग तथा देश में भूकम्प, युद्ध और दमन का दौर चल पड़ा। महादेव गोविन्द रानाडे ने उसके बारे में लिखा है कि वह

+ "The rules under the Act were utterly unsatisfactory—as such rules have almost always been-and gave rise to agitation."—C. Y. Chintamani in 'Indian politics since The Mutiny'—1947, p p 17

सात प्लेगों जैसा भयानक सकट था। सरकार की ओर से प्लेग की रोक-थाम और इलाज की व्यवस्था बहुत खराब थी। पूना म इतना क्षोभ पैदा हुआ कि सम्राज्ञी के जन्म दिन की रात मे प्लेग कमिश्नर मि० रैन्ड व लेफ्टीनेन्ट अर्स्ट को मार डाला गया। इससे सरकार बेहद क्रोध मे आ गई व दमन का चक्र तेजी से चलने लगा। सेशन्स जज के यह लिखने पर भी कि कोई प्रमाण नही मिलता, चपेकर बन्धुओ को सजा दी गई तथा लोकमान्य तिलक को अपने समाचार पत्र केसरी म भडकाने वाले लेख लिखने के अपराध मे डेढ़ वर्ष का कठोर कारावास देकर उन्हे माडले जेल में बर्मा भेज दिया गया।

(५) १८६८ म लार्ड कर्जन ने भारत आकर देश पर दमन और अत्याचार की बाढ शुरू कर दी। उसने भारतीय जनता को सार्वजनिक ढंग से भूठा और बेई-मान कह कर अपमानित किया। इस पर देश मे तूफान मच गया और अमृत बाजार पत्रिका मे सिस्टर निवेदिता ने कर्जन के कथन को गलत बताया तथा सिद्ध किया कि स्वयं कर्जन ने कितनी ही बार भूठ बोला है और माना भी है कि वे भूठ बोलते हैं। १६०५ मे जब कर्जन देश से गया तब देश कराह रहा था। बगाल के विभाजन का घाव बहुत ताजा था और देश की आखो से आग बरस रही थी।

(६) बगाल के विभाजन ने बगाल और सारे भारत मे क्रोध और घृणा की लहर पैदा कर दी तथा देश भर में उसका सगठित विरोध हुआ। समझदार लोग समझ गय कि अग्रेज 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति का अनुसरण करके भारतीय एकता की दीर्घ-परम्परा को नष्ट करना चाहते है। उग्र-विचार को इससे बहुत समर्थन मिला। देश में बडे पैमाने पर विदेशी माल, स्कूल, कचहरी और सर-कारी नौकरियो का बहिष्कार किया गया।

(७) १६०४ म कांग्रेस ने सर हेनरी कॉटन की अध्यक्षता मे एक प्रतिनिधि मण्डल वाइसराय से मिलने भेजा परन्तु लार्ड कर्जन ने उनसे मिलने से इन्कार कर दिया। इससे कांग्रेस के स्वाभिमान को करारी चोट लगी और उसने ला० लाजपत-राय व श्री गोखले को ब्रिटिश जनता और सरकार का समर्थन प्राप्त करने के लिए इग्लैण्ड भेजा। वहा से य लोग निराश होकर लौटे। ला० लाजपतराय तो विद्रोही बन गय और उन्होने भारत लौटकर देश की जनता को अपने पावो पर खडे होने के लिए ललकारा।

(८) इधर १६०४ में ही एशिया के नवोदित राष्ट्र जापान ने रूस को सशत्र युद्ध मे परास्त कर दिया। अबेसीनिया म इटली की हार से जो उत्साह देश मे पैदा हुआ था वह जापान की इस विजय से चमक उठा तथा नौजवान सोचने लगे कि वे किस प्रकार अंग्रेजी राज्य का जुआ उतार कर फेंक सकते हैं। उधर दक्षिणी अफ्रीका में वहाँ की गोरी सरकार ने भारतीय प्रवासियो के साथ जो दुर्व्यवहार किया उससे देश का खून खौल उठा एव पराधीनता का अपमान उसे बहुत खलने लगा। यहाँ यह बात ध्यान रखनी होगी कि दक्षिणी अफ्रीका मे भारतीय प्रवासियो के दमन और

उत्पीड़न ने ही हमारे देश को हमारा वह दाता महात्मा गाँधी के रूप मे हमें दिया जिसने दुनिया के इतिहास मे शान्त-क्रान्ति का एक सर्वथा विचित्र अध्याय लिखा है।

नम्र दल का पक्ष—जहाँ एक ओर नम्र दलीय कांग्रेसी यह मानते थे कि इंग्लैंड और भारत का सम्बन्ध ईश्वरीय योजना है और उसकी स्थापना श्रेष्ठ एंव उच्च आदर्शों के लिए हुई है, वही उग्र-विचारक नेता अंग्रेजो के साथ अपने सम्बन्धो को समाप्त करने पर बल दे रहे थे। नम्र दल में जब हम श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री महादेव गोविन्द रानाडे, श्री गोपालकृष्ण गोखले जैसे भारत प्रेमी महापुरुषो को देखते हैं तो कोई कारण नही दिखाई देता कि उनकी नम्रता को हम लोकमान्य तिलक की भाषा मे देशद्रोह कह सकें। + वास्तव मे ये लोग कई कारणो से नम्रवादी थे, इनको हम निम्न प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं—

(१) उन्हे अंग्रेजी सभ्यता और विज्ञान का आकर्षण हुआ, उन्हें लगा कि अंग्रेज ससार मे एक नई सभ्यता और नई शक्ति के प्रतीक हैं तथा हमें अपनी प्राचीन कालीन रूढिग्रस्तता को छोडकर उनकी दिशा मे आगे बढना होगा। आगे के जमाने में श्री मोतीलाल जी नेहरू एक नम्रदलीय राजनीतिज्ञ हुए। उनके बारे मे श्री जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि वे मॉडरेट या नम्रदलीय कैसे बने—श्री मोतीलाल नेहरू, "बहुत दृढ भावना, दृढ उत्साह, महान गर्व और महान इच्छाशक्ति वाले पुरुष थे। वे नम्रवादिता से बहुत दूर थे, तथापि १९०७ और १९०८ में तथा उसके बाद कुछ वर्षो तक वे निस्सन्देह नम्रवादियो मे सबसे अधिक नम्रवादी हो गये थे तथा वे उग्रवादियो (Extremists) के प्रति क्रुद्ध थे, हालाँकि मेरा विश्वास है कि वे तिलक के प्रशसक थे।"

"परन्तु ऐसा हुआ क्यो। स्पष्ट चिन्तन के कारण उन्हे ऐसा लगा कि जब तक भाषा के अनुरूप ही कार्यक्रम न अपनाया जाये तब तक कठोर एंव उग्र शब्दो से मसला हल नही होता। उन्हे सामने कोई प्रभावशाली कार्यक्रम नजर नही आता था। इसके अलावा उग्रवादी आन्दोलनों की पृष्ठभूमि म धार्मिक राष्ट्रीयता का विचार था जो उनकी (श्री मोतीलाल जी की) प्रकृति के विरुद्ध था। वे प्राचीनकाल के भारत को फिर से लौटा लाना नही चाहते थे। वे न प्राचीन प्रथाओ और जाति आदि को समझते थे न उनके साथ उनकी सहानुभूति ही थी। वे जिन रूढियो को प्रतिक्रियावादी समझते थे, उनको नापसन्द करते थे। वे पश्चिम की ओर देखते थे

+ "It Should not be assumed from the tone of these declarations that these early Congress leaders were reactionary anti-national servants of alien rule. On the contrary, they represented at that time the most progressive force in Indian society.'—R. Plame Dutt in India To-Day' p.p 267.

और पश्चिम की प्रगति से बहुत आकर्षित हुए थे। वे मानने लगे थे कि वह प्रगति भारत में इंगलैंड के साथ सम्बन्ध रखने से ही प्राप्त हो सकती है।" (ऑटोबायग्राफी, पृ० २३–४)

(२) ये लोग शिक्षित वर्ग के थे। श्री फिरोजशाह मेहता ने इस बारे में स्पष्ट रूप से कहा था कि उस समय 'काँग्रेस जनता की आवाज नहीं है फिर भी वास्तव में जनता के शिक्षित देशवासियों का यह कर्तव्य है कि वे जनता की शिकायतों को प्रगट करें तथा उन्हें दूर करने के लिए सुझाव दें।' १८९८ में काँग्रेस अध्यक्ष श्री आनन्द मोहन बोस ने कहा था कि, शिक्षित लोग (भारतीय) इंग्लैंड के शत्रु नहीं मित्र हैं। वे उसके महान मिशन में उसके स्वाभाविक और अनिवार्य सहयोगी हैं।' इस वाक्य से यह बात स्पष्ट रूप से झलकती है कि इन लोगों को सचमुच यह लगता था कि अंग्रेज जाति का संसार के लोकतंत्रात्मक और नवीन मानवीय निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण मिशन और स्थान है। उनकी यह धारणा अंग्रेजी साहित्य के पढ़ने से बनी थी।

(३) नम्रवादियों ने ब्रिटिश जाति का इतिहास प्रशंसात्मक दृष्टि से पढ़ा था तथा उनका यह विश्वास बन गया था कि अंग्रेज देर सवेर से भारतीय जनता की आवाज सुनेंगे और उन्हें सुशासन प्रदान कर देंगे। सर फिरोजशाह मेहता ने १८९० में अपना यह विश्वास प्रगट किया था – 'मुझे कोई शंका नहीं है, मैं समझता हूँ कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ आखिरकार हमारी पुकार सुनेंगे।" उन्होंने अंग्रेजों से अपील की कि वे—"इस शक्ति (शिक्षित भारतीय वर्ग) को विरोध में खदेड़ने के बजाय अपनी ओर आकर्षित करें।" इसी प्रकार श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भारतीय राष्ट्रीयता के आधुनिक पिता होते हुए भी यह मानते थे कि हमें "ब्रिटिश सम्बन्धों के प्रति अडिग निष्ठा से काम करना चाहिए, क्योंकि (हमारा) लक्ष्य भारत से ब्रिटिश शासन को मिटाना नहीं है वरन् उसके आधार को अधिक विस्तृत करना, उसकी भावना को उदार बनाना, उसके स्वरूप को श्रेष्ठ बनाना तथा उसे एक राष्ट्र के प्रेम की अपरिवर्तनीय बुनियादों पर खड़ा करना है।"

नम्रवादी विचारक अंग्रेजी शासन के भीतर भारत के लिए अधिक उदार-शासन के इच्छुक थे। परन्तु वे जल्दी ही निराश हो गये। स्वयं श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने १८९२ की काँग्रेस में घोषणा की थी—"हम एक महान और स्वतंत्र साम्राज्य के नागरिक हैं और हम संसार के श्रेष्ठतम संविधान के साये में रहते हैं। अंग्रेजों जैसे ही अधिकार, सुविधायें और संविधान हमें भी प्राप्त हैं। बस इतना है कि हमें उससे बाहर निकाल दिया गया है अर्थात् हम उसके भीतर नहीं हैं।" इस वक्तव्य का अन्तिम वाक्य बहुत मार्मिक है। केवल उग्रवादी ही नहीं, नम्रदलीय विचारक भी ब्रिटिश शासन की नीतियों से निराश हो रहे थे परन्तु उन्हें संवैधानिक ढंग पर ही विश्वास था और वे कोई ऐसा कार्यक्रम नहीं खोज पा रहे थे जिसके द्वारा वैधानिक व शान्तिपूर्ण ढंग से अंग्रेजी शासन की नीतियों का प्रतिकार किया जा सके।

कांग्रेस और सरकार मे अनबन—कांग्रेस ज्यो-ज्यो भारत की समस्याओ को हाथ म लेने लगी तथा उसने जनता के साथ सम्पर्क पैदा करना आरम्भ किया त्यो-त्यो अंग्रेज सरकार की निगाहो म वह खटकने लगी। कांग्रेस और सरकार के बीच अनबन का प्रारम्भ दूसरे अधिवेशन के समय १८८६ म ही हो गया था जबकि शस्त्र अधिनियम का घोर विरोध करते हुए कांग्रेस के मच से अवध के राजा रामपालसिंह ने कठोर भाषा म यह कहा कि—हमको दबाने के लिय, हमारे अन्दर की युद्ध शक्ति को नियमित रूप से नष्ट करने के लिए एक योद्धा तथा वीर जाति को मुशिया का जाति म परिणत करने क लिय हम सरकार के आभारी नही हो सकते। भारतीयो को एक दिन इसके लिय दुखित होना पडेगा कि अंग्रेजो के साथ उनका मनहूस सम्पर्क क्यो हुआ। य बात कठोर हं परन्तु हं सत्य। यदि किसी देश के लोगो की राष्ट्रीयता की भावना को दबाया न जाय और उनम जाति तथा देश की रक्षा की शक्ति को नष्ट किया जाय तो उससे जितनी हानि होती है उसकी क्षति-पूर्ति किसी प्रकार भी नही हो सकती। तीनरे अधिवेशन में तो शस्त्र-अधिनियम समाप्त करने के बारे म एक प्रस्ताव ही पास किया गया। उस प्रस्ताव पर जब विचार हो रहा था तब ह्यूम साहब बहुत परेशान हो रहे थे। हुआ यह कि मद्रास कांग्रेस के अवसर पर बगाल के प्रसिद्ध नेता श्री अश्विनी कुमार दत्त शासन सुधार के एक माग पत्र पर ४५ हजार लोगो के हस्ताक्षर कराकर लाय थे। इससे बडी हलचल पैदा हुई। अंग्रेजो द्वारा चलाय जाने वाले समाचार पत्रो ने कांग्रेस का विरोध करना आरम्भ कर दिया तथा इस बात पर आपत्ति की कि कांग्रेस भारत के लिय राष्ट्र शब्द का प्रयोग कर रही थी। १८८८ मे उत्तर प्रदेश के गवर्नर सर आकलैंड कालविन ने कांग्रेस का विरोध करना शुरू कर दिया और इलाहाबाद मे उसके अधिवेशन में बहुत सी अडचनें पैदा की। हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच फूट डालने की चेष्टा की जाने लगी और इस काम के लिय सर सैयद अहमद खां का उपयोग किया गया। इसी समय १८८८ के नवम्बर महीने में वाइसराय ने कांग्रेस की बहुत निन्दा की। इस सब का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस सरकार की गोद से दूर हटती गई तथा वह राष्ट्रीय शक्तियो के हाथो मे चली गई।

विद्रोह की दिशा मे—कांग्रेस और सरकार के बीच सम्बन्ध-विच्छेद की घडी बहुत नजदीक आ गई और १९०५ में जब भारत के सबसे अधिक जाग्रत प्रान्त बगाल का विभाजन हुआ उस समय बडे पैमाने पर सरकार का विरोध किया गया। इस आन्दोलन का नेतृत्व कांग्रेस ने नही किया वरन् स्वय बगाल के नेताओ ने उसका आयोजन किया। कांग्रेस ने भी उस कार्यक्रम का समर्थन कुछ शर्तो पर किया। उस आन्दोलन म सबसे महत्व की बात यह थी कि पहली बार अंग्रेजी-शासन की हर चीज का बहिष्कार किया गया। स्कूल, कॉलिज, कचहरी, सरकारी नौकरी तथा विदेशी माल का बहिष्कार किया गया। १९०६ में कलकत्ता कांग्रेस ने श्री दादा भाई नौरोजी के नेतृत्व में उग्रवादी कार्यक्रम का समर्थन किया। यह अधिवेशन भारत

के इतिहास में इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है कि यहा पहली बार कांग्रेस के मंच पर दादा भाई नौरोजी ने स्वराज्य के उस पावन और प्रेरक मंत्र का उच्चारण किया जो देश को स्वामी दयानन्द ने प्रदान किया था। इस समय तक कांग्रेस केवल वैधानिक साधनो का ही आश्रय ले रही थी। सबसे पहली बार १९०१ मे कलकत्ता कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष महाराजा नाटौर ने उसकी नीति की आलोचना करते हुए कहा था कि वैधानिक साधनो को राजनीतिक भिखमगेपन की नीति कहा जा सकता है। सर आशुतोष मुकर्जी ने भी इसी असन्तोष को प्रकट करते हुए कहा था कि पराधीन जाति की कोई राजनीति नही होती। बाबू विपिनचन्द्र पाल १८८७ म ही कांग्रेस मे आ चुके थे और वे अपने विचारो म काफी उग्र हो चले थे। उधर महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक कांग्रेस में प्रमुख होते जा रहे थे। पजाब मे लाला लाजपतराय का प्रभाव भी कांग्रेस म बढता जा रहा था। इन लोगो ने मिलकर बनारस कांग्रेस अधिवेशन म ब्रिटिश सम्राट जार्ज पंचम व सम्राज्ञी के भारत आगमन पर उनके स्वागत का विरोध किया। परन्तु श्री गोखले, श्री रमेशचन्द दत्त और श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के प्रयत्नो से वे सफल न हो सके। अंग्रेजी माल के बहिष्कार पर कांग्रेस सहमत हो गई। परन्तु यह शान्ति की स्थिति टिक नही सकी तथा १९०७ मे तूफान आया जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

औपनिवेशिक स्वराज्य की माग और सघर्ष के चिन्ह

कांग्रेस के भीतर नम्र दलीय और उग्र नेताओ के बीच मतभेद गहरा होता चला गया। १९०७ में कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में होना था परन्तु स्वागत समिति की बैठक मे किसी बात पर इतना गहरा मतभेद हो गया कि वहा अधिवेशन न हो सका। सूरत के कार्यकर्ताओ ने बहुत उत्साह दिखाया और वहा अधिवेशन शुरू हुआ, परन्तु सभापति अपने भाषण का पहला पैराग्राफ भी नही पढ पाये थे कि दोनो दलो मे दगा शुरू हो गया तथा अधिवेशन हुल्लड मे समाप्त हो गया।

यहा कांग्रेस के भीतर से उग्रदल के लोग निकल गये तथा वे १९१६ से पहले फिर से उसमें नही लौटे। यह काल भारत के लिये पीडा और अपमान का काल था। एक ओर पजाब में दमन का दौर चल रहा था, दूसरी ओर बगाल में अंग्रेजी नीति के फलस्वरूप साम्प्रदायिक द्वेष और लूट-पाट का केन्द्र बना हुआ था। उग्रवादी नेता लाला लाजपतराय और अजीतसिंह को बिना मुकदमा चलाये ही छ माह के लिये मांडले जेल मे डाल दिया गया। लोकमान्य तिलक को केसरी मे कुछ आपत्तिजनक लेख लिखने के लिये छ वर्षों के लिये जेल मे डाल दिया गया। बगाल के अनेक नेताओ को देश निकाले का दण्ड दिया गया। बगाल के समाचार पत्रो पर कई प्रतिबन्ध लगाये गये तथा अनेक भारतीय सम्पादको को पकडा और दण्डित किया गया।

सूरत की फूट के बाद कांग्रेस के नम्रदलीय नेताओ ने कांग्रेस का विधान

बनाने के लिये इलाहाबाद में एक सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में जो विधान बनाया गया उसमें कांग्रेस के लक्ष्य की घोषणा इस प्रकार की गई—

"भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का लक्ष्य भारत में एक ऐसी शासन व्यवस्था की स्थापना करना है जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासी उपनिवेशो मे पाई जाती है। कांग्रेस चाहती है कि भारत अन्य उपनिवेशो की भांति ही साम्राज्य के अधिकारो का उपभोग और उत्तरदायित्वो की पूर्ति करे।" कांग्रेस के विधान में इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिय जिन साधनो का उल्लेख किया गया वे इस प्रकार हैं—

'वर्तमान शासन पद्धति के क्रमिक सुधार, देश के भीतर राष्ट्रीयता, एकता तथा सार्वजनिक सेवा की भावना के प्रोत्साहन एव देश की बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक व औद्योगिक शक्तियो के विकास व सगठन आदि के सावैधानिक साधनो के द्वारा कांग्रेस अपने लक्ष्य को सिद्ध करना चाहती है।'

यह बात स्मरण रखने योग्य है कि केवल तिलक, लाजपतराय और विपिन-चन्द्र पाल जैसे उग्रवादी नेता ही नही, गोखले जैसे नम्रवादी भी भारत में भारतीय शासन की स्थापना की चर्चा खुल कर करने लगे थे। १६१५ के कांग्रेस अधिवेशन में सर एम० पी० सिन्हा ने जो बाद मे लार्ड बने, स्पष्ट तौर पर यह कहा कि भारत का लक्ष्य उस आदर्श को प्राप्त करना है जिसकी घोषणा स्वतत्रता के अग्रदूत अब्राहम लिंकन ने की, अर्थात् जनता के लिये, जनता द्वारा, जनता का शासन। यह एक प्रकार से पूर्ण स्वराज्य का ही नारा था। बग विभाजन के परिणामस्वरूप देश में आतंकवादी आन्दोलन का जन्म हुआ था जो १६१२ मे बग-विभाजन रद्द कर देने के बाद भी समाप्त नही हुआ, उसका वर्णन हम आगे यथास्थान करेंगे।

ब्रिटिश सरकार यह समझ गई थी कि कांग्रेस उसके चगुल से पूरी तरह निकल चुकी है अत उसने विभाजन की नीति को अपनाना शुरू किया। १ अक्तूबर १६०६ को मुसलमान नेता आगा खाँ वाइसराय से मिले और उन्होंने मुसलमानो के शासन मे विशेष अधिकारो और सुविधाओ की माग की। लार्ड मिन्टो ने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया और उनके प्रोत्साहन पर ३० नवम्बर १६०६ को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना नवाब वकारुलमुल्क की अध्यक्षता मे ढाका मे हुई। इसके लक्ष्यों की घोषणा मे कहा गया था कि वह मुसलमानो के दिल म ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी पैदा करना चाहती है, उनके राजनीतिक अधिकारो और हितो की रक्षा करना चाहती है तथा लीग के उद्देश्यो को हानि पहुँचाये बिना भारत की दूसरी जातियो के प्रति सद्भाव पैदा करना चाहती है। लीग और तो सब कुछ कर सकी परन्तु बस वह इस सदभावना का निर्माण ही न कर सकी, वरन् इसके बजाय उसने देश की दो महान जातियो के बीच इतनी बडी खाई पैदा कर दी कि भारत का विभाजन करना पडा।

१६०६ में मिन्टो मार्ले सुधारो के नाम से एक शासन व्यवस्था की घोषणा की गई जिसका अध्ययन हम सावैधानिक विकास के प्रसग में आगे करेंगे। इन

सुधारों से कांग्रेस को बहुत असन्तोष हुआ और पंडित मदन मोहन मालवीय जी जैसे उदार व्यक्ति ने भी कांग्रेस के अध्यक्ष पद से लाहौर में उनकी तीव्र आलोचना की। फिर भी उन नेताओं के पास राजनीतिक सुधारों के लिये भिक्षापात्र के अतिरिक्त दूसरा कोई अस्त्र नहीं था अतः ब्रिटिश सरकार उनकी झोली में जो कुछ डालती गई, वे उसे मन मसोसकर स्वीकार करते गये। मुस्लिम लीग की स्थापना के बाद कांग्रेस में मुसलमानों की ओर झुकाव बढ़ा और १६१२ के कांग्रेस अधिवेशन में मौलवी मजरुल हक को स्वागत समिति का अध्यक्ष बनाया गया तथा १६१३ में सैयद मुहम्मद बहादुर को कराची अधिवेशन में कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। इन्हीं नवाब बहादुर ने हिन्दू मुसलमानों को पास लाने की जो कोशिश की उसके परिणामस्वरूप १६१६ में लखनऊ कांग्रेस के अधिवेशन के समय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता हो सका।

गांधी जी का भारत आगमन—इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना जिसका बाद के इतिहास पर बहुत प्रभाव हुआ, यह हुई कि दक्षिणी अफ्रीका में भारतीय प्रवासियों के प्रसिद्ध नेता और सत्याग्रह शस्त्र के आविष्कारक मोहनदास करमचन्द गांधी नामक एक व्यक्ति भारत में आये। श्री गोपाल कृष्ण गोखले उनके राजनीतिक गुरु थे, उनके आदेश पर श्री गांधीजी जो तब तक महात्मा के नाम से विख्यात नहीं हुए थे, एक वर्ष सारे भारत में घूम घूम कर भारत का दर्शन करते रहे। वे १६१५ में बम्बई कांग्रेस अधिवेशन में विषय निर्धारिणी समिति के लिए नहीं चुने जा सके परन्तु अध्यक्ष श्री सत्य प्रसन्न सिंह ने उन्हें अपने विशेषाधिकार से समिति में ले लिया। अगली बार १६१६ के लखनऊ अधिवेशन में भी उन्हें कठिनाई पड़ी परन्तु इस समय लोकमान्य तिलक ने उनकी मदद की और वे समिति में जा सके।

श्रीमती एनीबीसेन्ट का भारतीय राजनीति में प्रवेश—इसी समय थियोसॉफिकल सोसायटी की प्रसिद्ध कार्यकर्त्री श्रीमती एनीबीसेन्ट ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। वे बहुत अच्छी वक्ता थीं। उन्होंने शीघ्र ही पुराने राजनीतिक नेताओं को पीछे छोड़ दिया, उनको वे 'अतीत के पुरुष' कहकर सम्बोधित करती थीं। इधर लोकमान्य तिलक कांग्रेस से बाहर थे। यद्यपि १६१५ के बम्बई अधिवेशन में कांग्रेस के विधान में ऐसे सुधार कर दिये गये थे जिनके अनुसार वे १६१६ में कांग्रेस में आ सकते थे तथापि वे कुछ करने के लिए बेचैन थे अतः श्रीमती बीसेन्ट के साथ मिलकर उन्होंने होमरूल लीग की स्थापना की।

युद्ध और दमन—१६१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो चुका था तथा भारत सरकार उस युद्ध में धन और सेनाओं से अंग्रेजों की मदद कर रही थी। वह नहीं चाहती थी कि ऐसे नाजुक मौके पर भारत में सरकार का विरोध हो। परन्तु घटनाओं का क्रम कुछ इस प्रकार का हुआ कि भारत में आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। होमरूल लीग ने भारत के लिए स्वराज्य की मांग पर जोर दिया। तिलक, विपिनचन्द्र पाल और बीसेन्ट—ये तीन नेता देश के इस कोने से उस कोने तक तूफानी दौरा करके

भारतीय जनता और विशेषकर शिक्षित वर्ग को स्वराज्य का मंत्र दे रहे थे। श्रीमती बीसेन्ट की कार्यवाही पर सरकार ने प्रतिबन्ध लगाया पर वे बहुत उग्र हो गई और अन्त में सरकार ने उनके दो साथियों वाडिया और अरुण्डेल के साथ उन्हें नजरबन्द कर लिया। इन तीनों की गिरफ्तारी से आन्दोलन तेज हो गया। लोकमान्य तिलक कांग्रेस में आ चुके थे, उन्होंने कांग्रेस पर जोर डाला कि वह इन तीनों को छुड़ाने के लिए सरकार पर दबाव डाले। एक समय तो सविनय अवज्ञा (Civil disobedience) की चर्चा की जाने लगी थी। इस हलचल के परिणामस्वरूप श्रीमती बीसेन्ट छूट गई और वे कांग्रेस के अगले अधिवेशन में अध्यक्षा बनीं। यह उनके चरम् उत्कर्ष का काल था। उसके बाद वे नम्र पड़ती गई तथा भारत के राजनीतिक क्षितिज पर एक नया सूर्य उगने लगा।

लखनऊ अधिवेशन—१९१६ में लोकमान्य तिलक छः वर्ष की जेल काटने के बाद कांग्रेस में शामिल हुए। लोगों ने उनका बहुत सम्मान किया और उनके द्वारा प्रस्तावित 'स्वराज्य' सम्बन्धी प्रस्ताव भारी बहुमत से पास हो गया। कांग्रेस-लीग सन्धि का उल्लेख हम कर चुके हैं। इस सन्धि में कांग्रेस ने भारी मूर्खता का परिचय दिया जिसका परिणाम उसे अन्त तक भोगना पड़ा। वह मूर्खता यह थी कि उसने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन को स्वीकार कर लिया।

लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस के भीतर एक नई चेतना दिखाई दी। सारा वातावरण उत्तरदायी शासन की माँग और उसकी प्राप्ति के सकल्प से भरा हुआ था। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि इस अधिवेशन से पूर्व ही नम्रदल के दो प्रभावशाली नेताओं श्री गोखले और फीरोजशाह मेहता का निधन हो चुका था। यह बात बड़ी विचित्र है कि लो० तिलक ने गोखले के शिष्य गाधी का बहुत स्वागत, सम्मान किया। शायद वे समझ गये थे कि गाधी नम्र तो हैं परन्तु हैं क्रान्तिकारी। आगे चलकर तिलक गाधी के पक्ष में राजनीति से निवृत्त होते चले गये।

युद्ध में सहायता—महायुद्ध में भारत ने ब्रिटेन की मदद की। गाधी जी को विश्वास था कि यदि इस संकट के समय अंग्रेजों की मदद की गई तो वे भारत से प्रसन्न होकर उसे स्वराज्य की दिशा में कुछ देंगे। यही आशा आगे चलकर निराशा में बदली और गाधी जी एक महान क्रान्तिकारी सिद्ध हुए। युद्ध के दौरान में ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि—'भारत के लोग ब्रिटिश साम्राज्य के हिस्सेदार संयुक्त और समान रहेंगे।' यह घोषणा बहुत आशाजनक थी। गाधी जी ने देश में घूम-घूम कर युद्ध के लिए सैनिक भर्ती किये और सरकार की मदद की।

क्रान्ति की दिशा में

लखनऊ कांग्रेस में नम्र व उग्र दलों में जिस एकता का दर्शन हुआ था वह क्षणिक थी। १९१७ के कलकत्ता अधिवेशन में बीसेन्ट का अध्यक्षा होना नम्रवादियों की करारी हार थी। वे धीरे धीरे कांग्रेस से टूटते गये। इसी बीच जुलाई १९१८

माटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार योजना प्रकाशित हुई जिस पर विचार करने के लिए २९ अगस्त १९१८ को कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बम्बई में बुलाया गया। इसमें ३८४५ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस अधिवेशन में चर्चा के पश्चात् घोषणा की गई कि माटेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना में दिये गये सुधार 'अपर्याप्त, असन्तोषजनक और निराशाजनक' है। इस घोषणा ने नम्रवादियों को एकदम परेशान कर दिया और इसी समय वे सदा के लिए कांग्रेस से पृथक हो गये।+

उदार दल का जन्म—नवम्बर १९१८ में बम्बई में उदार दल (नम्र दल) की स्थापना की गई। वहा श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता मे देश भर से नम्रदलीय व्यक्ति एकत्रित हुए तथा उन्होने माटेग्यू-चेम्सफोर्ड के कुछ अंशो की तो आलोचना की परन्तु कुल मिलाकर उसका स्वागत किया।

कैसी विचित्र विडम्बना है कि जो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी कांग्रेस के पिता और स्वप्नद्रष्टा थे वे ही एक दिन उसे छोडकर अलग हो गय। वस्तुत उनके लिए कांग्रेस में कोई जगह ही नही रह गई थी। जो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उग्रवादी समझे जाने के कारण कांग्रेस मे कठिनाई से प्रवेश कर सके थे तथा अनेक महत्वहीन व्यक्तियो के अध्यक्ष बन चुकने पर उसके अध्यक्ष बन सके थे, वे ही उग्रवादी कांग्रेस मे नम्रदलीय होने के कारण न रह सके। इससे बोध होता है कि कांग्रेस किस प्रकार क्रांति की दिशा में बढ़ रही थी।

चम्पारन में तपस्या—इधर भारत के वरिष्ठ राजनीतिज्ञ आपसी वाद-विवाद में उलझे हुए थे, उधर गाधी जी देश की जनता के दुख-दर्द को खोज रहे थे। इसी खोज म वे चम्पारन गये जहा निलहे गोरे नील की खेती करने वाले किसानो को सता रहे थे। सरकार ने गाधी जी को रोकना चाहा परन्तु गाधी जी डटे रहे और वे सत्याग्रह का प्रयोग करते रहे। सरकार को अन्त मे एक जाच कमीशन बैठाना पडा तथा किसानो की बहुत सी बातें मानी गयी। इसी प्रकार गुजरात के खेडा क्षेत्र में उन्होने किसानो के पक्ष को लेकर सत्याग्रह किया। चम्पारन के सत्याग्रह मे गाधी जी को डा० राजेन्द्रप्रसाद और आचार्य कृपलानी नाम के दो साथी मिले जो आज तक देश की सेवा अनन्य भाव से कर रहे हैं।

चम्पारन और खेडा ने गाधी जी को जनता के निकट ला दिया और भारत के लोग उनकी ओर आशा भरी निगाहो से देखने लगे, यहा तक कि स्वय लोकमान्य तिलक भी उनकी प्रशसा करने लगे।

रौलट समिति—१० दिसम्बर १९१७ को भारत सरकार ने श्री रौलट की अध्यक्षता मे एक समिति की नियुक्ति की जिसका काम देश मे क्रान्तिकारी आंदोलन की जाच करना था। इस समिति ने सिफारिश की कि शान्ति काल मे भी सरकार

\+ इन सुधारो के बारे में श्रीमती बीसेण्ट ने कहा था कि "अंग्रेजो की ओर से दिये जाने तथा भारतवासियों द्वारा स्वीकार किये जाने योग्य नही हैं।"

जिस व्यक्ति को जब चाहे गिरफ्तार कर सकती है तथा इस प्रकार देश में फैलते हुए क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबा सकती है।

इस रिपोर्ट को देखकर गांधी जी बहुत बौखलाये और उन्होंने सार्वजनिक रूप से यह बात जाहिर कर दी कि उन्हें अंग्रेजी सरकार से यह आशा न थी कि वह युद्ध में दी गई १ लाख सैनिकों तथा एक हजार करोड रुपये की आहुति के बदले में भारत को इस प्रकार के कठोर और निष्ठुर कानून भेंट करेगी।

कांग्रेस का दिल्ली अधिवेशन—१६१८ में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली में पंडित मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता मे हुआ। इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव द्वारा अमेरिकन सिनेट की वैदेशिक सम्बन्ध समिति से यह प्रार्थना की गई कि 'वह लीग ऑफ नेशन्स (राष्ट्रसंघ) के विधान में ऐसा संशोधन करावे जिसके द्वारा उसके घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक होना चाहिए कि वह अपने अाधीन प्रदेशों में जनतन्त्रात्मक संस्थाओं की स्थापना करे।'

एक दूसरे प्रस्ताव में कहा गया कि 'राष्ट्र संघ द्वारा घोषित राष्ट्रों के आत्म-निर्णय का सिद्धान्त भारत के लिए भी लागू किया जाय तथा शान्ति परिषद् में भारत का प्रतिनिधित्व उसके निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा हो।'

दिल्ली कांग्रेस ने लोकमान्य तिलक, गांधी जी और सैयद हसन इमाम को अपनी ओर से (यदि बुलाया जाय तो) शान्ति परिषद् में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए नियुक्त किया गया।

इनके अतिरिक्त सरकार से मांग की गई कि वह युद्ध काल मे दिये गये अपने उस वचन को पूरा करे जिसमें कहा गया था कि युद्ध में अंग्रेजों के जीत जाने पर प्रगतिशील जातियों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जायगा।

परन्तु वास्तव में सरकार की नीयत अच्छी नहीं थी जैसा कि हम आगे की घटनाओं से अनुभव करेंगे।

रौलट बिल और ऐक्ट—फरवरी १६१६ में रौलट बिल का प्रारूप (Draft) सामने आ गया। इसे देखकर सारे देश में क्रोध और निराशा का वातावरण छा गया। ऐसा लगा मानो अंग्रेज सरकार भारत को सदा के लिए निस्तेज और निर्वीर्य बना देना चाहती हो।

ऐसी स्थिति में एक ओर जनता निस्सहाय बन गई थी, दूसरी ओर लोकमान्य तिलक जैसे उग्र नेता भी हतप्रभ थे वे सोच ही नहीं पा रहे थे कि उस बिल का विरोध कैसे किया जाय। ऐसी स्थिति के बीच एक व्यक्ति दृढ़ विश्वास और आस्था लेकर अडिग खड़ा रहा, उसने कभी असहायता नहीं महसूस की। यह व्यक्ति था महात्मा गांधी। गांधी जी ने एक मार्च को घोषणा कर दी कि यदि बिल को ऐक्ट बना दिया गया तो वे सत्याग्रह आन्दोलन शुरू कर देंगे। उनकी इस चुनौती से एक ओर जनता में तेज का संचार हुआ, दूसरी ओर देश के उग्र और नम्र नेता इस चेतावनी पर भौचक्के रह गये, वे जानते थे कि गांधी एक सावधान सदस्य है, वे उनकी

गम्भीरता में विश्वास करते थे तथा दक्षिणी अफ्रीका, चम्पारन और खेडा के उदाहरण उनके सामने थे ही।

भारतीय राजनीति मे असहयोग की यह धमकी सर्वथा एक नई घटना थी। अभी तक उग्र माने जाने वाले लोग भी ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं कर पाते थे। कांग्रेस क्रांति की दिशा मे आगे बढ रही थी। अभी एक वर्ष ही हुआ था कि कांग्रेस उग्र माने जाने वाले अपने पिता श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को पीछे छोडकर लोकमान्य तिलक के अधिक उग्र नेतृत्व म आगे बढ गई थी। एक वर्ष बाद वही कांग्रेस इतनी आगे बढ गई कि तिलक स्वय पीछे रह गये। श्रीमती बीसेन्ट तो एकदम बौखला गई। वे असहयोग की भाषा को सहन ही नही कर सकी। इसी प्रकार तिलक भी इतनी उग्रता को सहन नही कर पा रहे थे।

रौलट बिल १८ मार्च को ऐक्ट (कानून) बन गया। उसी दिन गांधी जी ने एक प्रतिज्ञा पत्र छपवाया कि देशवासी उस पर हस्ताक्षर करके प्रतिज्ञा करें कि वे सत्य और अहिंसा के द्वारा रौलट कानून का उल्लंघन करेंगे। उन्होने तय किया कि ३० मार्च को उसके विरोध में व्यापक हडताल हो, लोग उपवास करें तथा शान्त प्रदर्शन करे। बाद म यह तारीख ६ अप्रैल कर दी गई। दिल्ली ने ३० को ही प्रदर्शन किया। जुलूस का नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द जी कर रहे थे, जब गोरे फौजियो ने उन्हें गोली चलाने की धमकी दी तो उन्होने सीना खोल दिया, इस पर वे सिपाही बहुत झेपे। यहां से भारत के इतिहास के वे रोमाचकारी पन्ने प्रारम्भ होते हैं जिन्हें पढ—देखकर अतीत के चित्र सजीव हो उठते हैं, शीश श्रद्धा से उन वीर पुरुषो के चरणो म झुक जाता है जो अपने को भूलकर आजादी के लिए जूझते रहे तथा अपने देश के प्यार का प्रवाह उमड पडता है।

६ अप्रैल से जलियानवाला काण्ड तक

३० मार्च को दिल्ली के प्रदर्शन मे हडतालियो व पुलिस मे सघर्ष हो गया, परिणामस्वरूप ८ व्यक्ति मारे गये और अनेक व्यक्ति घायल हो गये। इधर ६ अप्रैल को सारे देश मे सरकार के विरोध म हडताले, जलसे व जुलूस संगठित किये गये। इन प्रदर्शनो का उल्लेख करते हुए एक कर्मचारी सर वेलन्टाइन शिरोल ने लिखा है—"इस आन्दोलन ने निश्चित रूप से ब्रिटिश-राज के विरुद्ध एक संगठित क्रान्ति का स्वरूप ले लिया है।"+

पजाब मे आन्दोलन बहुत उग्रता के साथ फैला। उन्ही दिनो अमृतसर में कांग्रेस अधिवेशन होने वाला था। डॉ० किचलू और सत्यपाल उसकी तैयारी मे लगे हुए थे। दिल्ली के दगे की सूचना गांधी जी को दी गई। उधर डॉ० सत्यपाल तथा स्वामी श्रद्धानन्द जी ने उन्हे दिल्ली आने का निमन्त्रण दिया। गांधी जी ७ अप्रैल को

+ India, 1926, p p. 207

दिल्ली के लिए चल पड़े, ८ अप्रैल को गाड़ी सवेरे जब पलवल स्टेशन पर पहुँची तो गाँधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया। एक स्पेशल गाड़ी से पुलिस उन्हे बम्बई वापिस ले गई। गाँधी जी की गिरफ्तारी के समाचार से सारे देश मे सनसनी फैल गई।

उधर १० अप्रैल को सवेरे डा० किचलू और सत्यपाल अमृतसर के जिला मजिस्ट्रेट के बगले पर बुलाय गय तथा उन्हे वहाँ से गिरफ्तार करके लापता कर दिया गया। जनता इस पर भड़क उठी। एक बहुत बड़ी भीड मजिस्ट्रेट के बगले की ओर अपने नेताओ का पता पूछने चली, इस भीड पर पुलिस ने गोली चलाई। लौटते समय जनता शहीदो की लाशो को लेकर चली। जनता ने लौटते हुए एक बैंक मे आग लगा दी और उसके सारे मैनेजर को मार डाला। उस दिन कुल पाँच अंग्रेज जान से मारे गय। इसी प्रकार १२ अप्रैल को कसूर और १८ अप्रैल को गुजरान वाला मे भारी दगा हो गया। अमृतसर मे आम हड़ताल हुई। पजाब के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर सर माइकेल ओ' डायर ने ११ अप्रैल को अमृतसर मे फौज बुलाली। १२ अप्रैल को सभाओ पर रोक लगा दी गई परन्तु उसकी घोषणा नही की गई।

१३ अप्रैल का भयावना दिन भारत के साथ खिलवाड़ करने के लिए उदय हुआ। उस शाम को जलियानवाला बाग नामक चारो ओर से घिरे हुए एक स्थान पर एक विरोध सभा की गई जिसमे देश के अनेक भागो से लोग आय, बड़ी भीड जमा थी। उस बाग मे आने-जाने का एक ही तग रास्ता था। सभा मे श्री हसराज का भाषण हो रहा था उसी समय जनरल डायर नामक सेनापति एक सैनिक टुकड़ी लेकर वहाँ पहुँचा तथा उसने उस तग रास्ते की ओर गोली बरसानी शुरू कर दी। गोली के १६०० राउन्ड फायर किय गय। लगभग एक हजार आदमी मारे गय और उससे भी अधिक घायल हुए। यह अत्याचार यही समाप्त नही हुआ। शहर की बिजली पानी के कनेक्शन काट दिय गय। राहगीरो को छाती के बल पर सड़को पर चलाया गया। खुलेआम सडको पर बैंत लगाय गय, ५१ आदमियो को फासी दे दी गई, ५०० विद्यार्थियो और प्राध्यापको को गिरफ्तार कर लिया गया। बलिदान की वह दर्दनाक कहानी बहुत लम्बी है। सरकार ने डायर के कारनामो की जाँच की और उसे निर्दोष घोषित कर दिया। इतना ही नही दुष्ट डायर को बीस हजार पौड की थैली भेंट की गई तथा उसे भारत मे 'ब्रिटिश शासन का रक्षक' कहकर सम्मानित किया गया। परन्तु यह समझना अ ग्रेजो की अहकार मिश्रित मूर्खता का चिन्ह था क्योंकि दुष्ट डायर का यह अत्याचार भारत के लोगो को भुलाय भी न भूला तथा वे अ ग्रेजी शासन के कट्टर शत्रु बन गय। देश के गली-कूचे मे बच्चे बच्चे की जबान पर यह गीत गूज उठा।

रे! क्या भूले हो जलियान वाला, दुष्ट डायर का इतिहास काला,
गोलियो की लगी जब झड़ी थी नीव आजादी की तब पड़ी थी,
याद हो गर तुम्हे खू मे नहाना, तो यह झण्डा न नीचे झुकाना।

इसने क्या क्या न हमसे कराया, पेट के बल था हमको रेंगाया,
लाखो बच्चो को दर दर डुलाया मा बहनो को घर घर रलाया,
याद हो तुम्हे गर वो फिसाना, तो यह भण्डा न नीचे भुकाना।
प्राण मित्रो भले ही गवाना, पर यह भण्डा न नीचे भुकाना॥

जलियान वाले बाग मे देश के अमर शहीदो के खून से रगी हुई पवित्र मिट्टी देश के कोने-कोने मे गई और लोगो ने प्रतिज्ञा की—

'इसी से छिडा यह तराना, कि होना आजाद या मिट ही जाना।
सब कहेगे कि सर है कटाना, पर यह भण्डा न नीचे भुकाना॥

असन्तोष के इतने प्रबल प्रदर्शन के हो चुकने पर गांधी जी ने २१ जुलाई को सत्याग्रह स्थगित कर दिया और उन्होने हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा स्वदेशी के कार्यक्रम पर जोर दिया।

खिलाफत का प्रश्न—युद्ध काल मे मुसलमानो का सहयोग लेने के लिए ब्रिटिश प्रधान मत्री ने यह घोषणा की थी कि टर्की से थ्रेस और एशिया माइनर के प्रदेश नही छीने जायेंगे। परन्तु युद्ध मे विजय के पश्चात् ब्रिटेन अपने इस वायदे को भूल गया तथा थ्रेस यूनान को भेंट मे दे दिया गया और एशिया माइनर फ्रास व ब्रिटेन के आधीन कर लिया गया। इस प्रकार ससार के मुसलमानो के एकमात्र धार्मिक नेता टर्की के खलीफा (सुलतान) से उसका राज्य छीन लिया गया। इस घटना ने मुसलमानो को अप्रसन्न कर दिया। उनके मन मे अंग्रेजो का विश्वास समाप्त हो गया। महात्मा गाधी ने खिलाफत के प्रश्न पर असहयोग आन्दोलन चलाने की बात रखी। मौ० मोहम्मदअली व शौकतअली ने असहयोग के विचार का समर्थन किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता तेजी से आगे बढती सी दिखने लगी, यहा तक कि स्वामी श्रद्धानन्द मस्जिदो मे भाषण देते थे।

मिंटो-मार्ले सुधार और १९१९ का भारत शासन अधिनियम—इधर देश में राजनीतिक बेचैनी बढ रही थी, उधर सरकार शासन को सुधारने की चेष्टा कर रही थी। मिंटो मार्ले सुधार के नाम से एक योजना प्रकाशित की गई जिसके आधार पर भारत के लोगो को शासन सचालन मे भाग देने की बात कही गई। ये सुधार आशा से बहुत कम थे। कांग्रेस का रुख आरम्भ मे इन सुधारो के पक्ष में था। १९१९ के अमृतसर अधिवेशन मे लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी दोनो उस योजना से सहयोग करना ठीक समझते थे। परन्तु गाधी जी बाद म बदल गय और उन्होने असहयोग का नारा उठाया। लोकमान्य गांधी जी की इस नीति के विरुद्ध थे। जो लोकमान्य कांग्रेस में उग्रतम थे, कांग्रेस ने उन्हे अपनी उग्रता मे ठीक वैसे ही पीछे छोड दिया जैसे उसने श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को छोड दिया था। लोकमान्य ब्रिटिश-सरकार के साथ असहयोग की बात पूरी तरह स्वीकार नही कर सके। परन्तु खेद है कि वे १ अगस्त १९२० को, जब असहयोग आन्दोलन शुरू होने वाला था, तभी बहुत सवेरे चिरनिद्रा की महागोद मे सदा के लिए सो गये।

असन्तोष और असहयोग

सितम्बर १९२० मे कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन कलकत्ता मे हुआ जिसके सभापति ला० लाजपतराय थे। उन्होने अपने भाषण मे व्यापक असन्तोष का उल्लेख करते हुए कहा कि—"इस तथ्य की ओर से आख मूंदने का कोई लाभ नही है कि हम एक क्रान्तिकारी काल मे से गुजर रहे है।" प्रवृत्ति और परम्परा से हम क्रान्ति के लिए अनुकूल नही है। परम्परा से हम मन्द-गति लोग है, परन्तु जब हम आगे बढना तय कर लेते हैं तब हम तेजी से बढते है और बहुत तेजी से आगे जाते हैं। कोई भी सजीव संगठन अपने अस्तित्व काल मे क्राति को पूर्णत नही टाल सकता।"

इस अधिवेशन मे असहयोग का प्रस्ताव गाधी जी ने रखा और कहा कि जब तक सरकार पंजाब के अत्याचारो और खिलाफत के प्रश्न पर खेद प्रकट नही करती तब तक हम असहयोग करते रहेंगे। आरम्भ मे ला० लाजपतराय जैसे क्रान्तिकारी भी असहयोग के पक्ष मे न थे, उनके अतिरिक्त प० मोतीलाल नेहरू भी उसे नहीं चाहते थे। परन्तु अन्त मे ये दोनो सहमत हो गये। तीसरे विरोधी श्री चितरंजनदास भी थोडे समय बाद दिसम्बर मे नागपुर अधिवेशन के समय प्रस्ताव के पक्ष मे आ गये। केवल पंडित मदनमोहन मालवीय अभी तक विरोध करते रहे। नम्रदल के लोग तो कांग्रेस छोड ही चुके थे, वे कभी उसमे वापिस नही लौटे। वे १९१९ के सुधारो को चाहते थे तथा उन्होंने उनके क्रियान्वित करने मे भाग लिया। नये कानून के अन्तर्गत होने वाले चुनावो म कांग्रेस सम्मिलित नहीं हुई।

अहिंसात्मक असहयोग का कार्यक्रम इस प्रकार बनाया गया—

१. सरकार द्वारा दी गई उपाधियो, पदवियो और पदो तथा नामाकित स्थानो का परित्याग अर्थात् बहिष्कार,
२. विदेशी माल का बहिष्कार,
३. वकीलो द्वारा अदालतो का बहिष्कार,
४. विद्यार्थियो द्वारा सरकारी शिक्षा सस्थाओ व परीक्षाओ का बहिष्कार,
५. सरकारी सेना व कर्मचारियो द्वारा मेसोपोटामिया मे अंग्रेजो की ओर से लडने से इन्कार,
६. कर्घे और चर्खे का प्रचार व खादी का प्रयोग,
७. १९१९ के सुधारो के अन्तर्गत काउन्सिलो तथा वोट के अधिकारो का बहिष्कार,
८. सरकारी उत्सवो व सभाओ का बहिष्कार।

इस कार्यक्रम पर देश के बडे भाग ने अमल किया तथा यह सिद्ध कर दिया कि कांग्रेस को देश का समर्थन प्राप्त है। कांग्रेस के लोग विधान सभाओ के लिए खडे हुए और आश्चर्यजनक बात यह है कि ८० प्रतिशत मतदाता वोट देने के लिए ही नही आये।

दिसम्बर मे काग्रेस का अधिवेशन नागपुर मे हुआ जहा श्री जमनालाल बजाज स्वागताध्यक्ष बने। यहा असहयोग के कदम पर खूब चर्चा हुई। श्री मुहम्मदअली जिन्ना यहीं से काग्रेस से अलग होकर प्रतिक्रियावादी बने।

आन्दोलन और दमन—आन्दोलन बहुत तेजी से आगे बढा। महात्मा गाधी ने स्वय अपना सरकारी सम्मान चिन्ह् कैसरे हिन्द सरकार को लौटा दिया। विश्व कवि गुरदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जलियान वाले बाग के हत्याकाण्ड के समय ही अपनी उपाधिया लौटा कर असहयोगी बन चुके थे। श्री चितरजनदास, पं० मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, ला० लाजपतराय, विट्ठल भाई व वल्लभ भाई पटेल, सी० राजगोपालाचार्य, डा० अन्सारी, मौ० अबुलकलाम आजाद, डा० राजेन्द्रप्रसाद आदि अनेक प्रतिष्ठित लोग वकालत और दूसरे धन्धे छोडकर काग्रेस के मच से असहयोगी बने। स्वदेशी का प्रचार हुआ और खद्दर राष्ट्रीय पोशाक बन गया।

इसी समय १२ नवम्बर १९२१ को प्रिन्स आफ वेल्स भारतवर्ष आये। एक वर्ष पूर्व भी वे आने वाले थे परन्तु राजनीतिक वातावरण क्षुब्ध होने के कारण नही आये थे। इस बार राजनीतिक वातावरण और भी अधिक क्षुब्ध था। काग्रेस ने उनका भी बहिष्कार किया। जिस दिन युवराज बम्बई पहुँचे उस दिन बडे जोरो से अग्रेजी कपडो की होली जलाई गई और एक भारी हंगामा हुआ। स्वय गाधीजी और श्रीमती सरोजिनी नायडू भीड के बीच मे घुसे तब दगा शान्त हुआ। इस दगे से दुखी होकर गाधी जी ने सात दिन का उपवास किया। उससे देश मे हिंसा के प्रति विरक्ति आ गई। युवराज जिधर जाते, उन्हे आदमी का दर्शन न होता, वे सुनसान सडको पर से गुजरते, उनके सम्मान मे आयोजित सरकारी और भोजो मे किराये के आदमी इकट्ठे किये जाते। जहा वे गये वही गिरफ्तारिया हुई। देशबन्धु चितरजनदास, त्यागमूर्ति पडित मोतीलाल नेहरू, मौ० अबुलकलाम आजाद, श्री जवाहरलाल नेहरू सभी चोटी के नेता जेलो मे ठूस दिये गये। स्वय युवराज ने कहा कि—'मैं परेशान (Puzz'ed and perplexed) हूँ।" कलकत्ते मे युवराज के विरुद्ध एक विराट सार्वजनिक प्रदर्शन हुआ।

दिसम्बर १९२१ मे काग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद मे हुआ, वहा बहुत जनता भी आई तथा सबके लिए नीचे बैठने का प्रबन्ध हुआ और अग्रेजी की जगह हिन्दी का प्रयोग किया गया। इस अधिवेशन मे लोग बहुत क्रोध मे थे। वे अग्रेजी सरकार को मिटा देना चाहते थे। हसरत मोहानी ने पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव रखा परन्तु गाधी जी ने अभी समय अनुकूल न समझ कर उसका विरोध किया और वह रद्द हो गया।

उधर गोरखपुर के चौरी चौरा थाने मे ५ फरवरी १९२२ मे एक जुलूस मे पुलिस ने बाधा डाली, इस पर जनता क्रोध मे आ गई, पुलिस के सिपाहियो को थाने मे सदेह्वर थान को घेर लिया गया और उसमे आग लगा दी गई जिसके परिणामस्वरूप २२ सिपाही जिन्दा जल मरे। इस घटना के बाद सरकार का रुख बहुत कडा हो

गया, उसने चौरी चौरा को गोले बारूद से बर्बाद कर दिया, भयंकर रक्तपात और सम्पत्ति का विनाश हुआ।

हिंसा फूट पड़ने से गाँधी जी को भारी सदमा पहुँचा और उन्होंने १२ फरवरी को कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक में आन्दोलन बन्द करने की घोषणा कर दी। कांग्रेस के बहुत लोगों को यह अच्छा नहीं लगा। श्री सुभाषचन्द्र बोस ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संग्राम' में लिखा है "ऐसे समय जब कि जनता का उत्साह चरम बिन्दु पर पहुँच चुका था पीछे लौटने का अर्थ राष्ट्रीय विपत्ति से कुछ कम न था। महात्मा जी के सभी प्रमुख शिष्य देशबन्धु चितरंजनदास प० मोतीलाल जी, लाला लाजपतराय आदि इस पर क्षुब्ध थे। मैं उन दिनों देशबन्धु के साथ जेल में था, इस घटना पर दुख से उनका बुरा हाल हुआ।"

यह आन्दोलन जन साधारण तक पहुँचा था। स्वयं वाइसराय ने भारत मंत्री को लिखा था कि, "शहरों की आम जनता पर असहयोग का बहुत प्रभाव पड़ा है। भारत सरकार इतिहास में अभूतपूर्व भयानक परिस्थितियों का सामना कर रही है और इस बात को छिपाकर नहीं रखना चाहती कि संभावनाएं बहुत भयानक है।" स्थिति यह हो गई थी कि देहातों से ५ प्रतिशत लगान भी वसूल नहीं हो पा रहा था, सरकार परेशान थी।

गाँधी जी की गिरफ्तारी—सरकार ने जब यह देखा कि कांग्रेस के नेता गाँधी जी से अप्रसन्न है और आन्दोलन बन्द होना गाँधी जी की व्यक्तिगत हार है तो उसने उस परिस्थिति का लाभ उठा कर गाँधी जी को गिरफ्तार करके ६ वर्ष की सजा घोषित कर दी।

स्वराज्य पार्टी—काउन्सिल प्रवेश के प्रश्न को लेकर कांग्रेस में दो दल हो गये-परिवर्तनवादी (Changers) और अपरिवर्तनवादी (No changers)। पहले दल के नेता देशबन्धु चित्तरंजन दास और पंडित मोतीलाल नेहरू थे तथा दूसरे के सी० राजगोपालाचारी। पंडित मोतीलाल जी का कहना था कि कांग्रेस के लोगों के काउन्सिलों से बाहर रहने के कारण उनमें सरकार के पिट्ठू घुस गये हैं और वे काउन्सिलों की योजना को सफल बना रहे हैं। अतः कांग्रेस यदि काउन्सिलों के कार्य-क्रम को असफल करना चाहती है तो उसे काउन्सिलों में जाना चाहिए तथा वहाँ बैठ कर सरकार का विरोध करना चाहिए। श्री राजा जी महात्मा गाँधी के अनुयायी थे और उनका कहना था कि हमारी असहयोग की नीति चलनी चाहिए तथा काउन्सिलों का बहिष्कार होना चाहिए। उनका विश्वास था कि महात्मा जी द्वारा दिये गये रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा ही देश अधिक व्यापक आन्दोलन के लिए तैयार हो सकता है।

दोनों दलों में कोई समझौता नहीं हो सका तथा परिवर्तनवादी लोगों ने कांग्रेस की परवाह न करके 'स्वराज्य-पार्टी' नाम से एक दल बना लिया। देशबन्धु दास और पंडित मोतीलाल जी ने इलाहाबाद में स्वराज्य पार्टी का अधिवेशन बुलाया

तथा मार्च १९२३ मे उसका संविधान व कार्यक्रम निर्धारित किया गया। कांग्रेस के गांधीवादियो और स्वराज्य पार्टी के लोगो मे गहरा मतभेद पैदा हो गया, इस कारण स्थिति को स्पष्ट करने के लिए सितम्बर १९२३ मे दिल्ली मे कांग्रेस का अधिवेशन बुलाया गया, वहाँ कांग्रेस के सदस्यो को स्वराज्य पार्टी मे शामिल होकर चुनाव लडने और काउन्सिलो मे जाने की छूट मिल गई परन्तु यह कह दिया गया कि उनके इस काम के लिए कांग्रेस उत्तरदायी नही होगी। अब स्वराज्य पार्टी निश्चिन्त हो गई और उसने मध्यप्रदेश व बंगाल मे पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया, दूसरे प्रान्तो मे भी उनकी स्थिति बहुत अच्छी थी। केन्द्रीय विधान सभा मे भी उन्हे ४५ स्थान प्राप्त हो गय।

स्वराज्य पार्टी ने सरकार के साथ इतना तो सहयोग किया कि उसने विधान मडलो मे जाना स्वीकार कर लिया परन्तु काउंसिलो के भीतर जाकर वे निरंतर असहयोग करते रहे। वहाँ वे सरकार द्वारा बजट को अस्वीकार कर देते या उसमे कटौती कर देते तथा सरकारी विधेयको को जब तब हरा देते थे। परन्तु इससे सरकार का काम नही रुकता था क्योकि गवर्नर जनरल अपनी विशेष शक्तियो के प्रयोग के द्वारा सरकार मनमाने ढग से चलाय जा रहा था और देश तनिक भी स्वराज्य की दिशा मे नही बढ रहा था। १९२६ मे स्वराज्य पार्टी की लोकप्रियता कम हो गई और वह उन चुनावो मे बहुत स्थान प्राप्त नही कर सकी।

गांधी जी की बीमारी और रिहाई—महात्मा गाधी पूना जेल मे बीमार पड गय। सारे देश ने और विधान सभा ने उनकी मुक्ति की माँग की परन्तु तत्कालीन वाइसराय लार्ड रीडिंग ने इस पर कोई ध्यान नही दिया। बाद मे अस्पताल ले जाकर उनका अपेन्डिसाइटिस का ऑपरेशन किया गया। ५ फरवरी १९२७ को गाँधीजी जेल से छोड दिय गय। उनकी रिहाई के बाद पं० मोतीलाल नेहरू महात्मा जी से जुहू मे मिले और उनसे स्वराज्य पार्टी के लिए समर्थन की माँग की, परन्तु गांधी जी अपने निश्चय पर अटल रहे। उन्होने कह दिया कि वे स्वय तो रचनात्मक कार्यक्रम मे लगेंगे परन्तु स्वराज्य पार्टी अपनी इच्छा के अनुसार देश की राजनीतिक गतिविधि का संचालन सम्हाल सकती है।

गांधी जी ने खादी और हिन्दू-मुस्लिम एकता के दो प्रश्न हाथ मे उठा लिये। खादी के लिए उन्होने पूरी शक्ति लगाई और अखिल भारत चर्खा संघ का व्यवस्थित संगठन किया गया। १९२३ व २४ मे अनेक हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए थे, उससे गांधीजी को बहुत कष्ट पहुँचा और उन्होने प्रायश्चित्त करने के लिये तीन सप्ताह का अनशन (उपवास) किया। सितम्बर १९१४ मे एकता सम्मेलन का आयोजन किया गया, सम्मेलन ने साम्प्रदायिक एकता के लिए प्रस्ताव पास किया परन्तु उससे बिगडती हुई स्थिति सुधर नही पाई। टर्की मे मुस्तफा कमाल पाशा ने सुधारो की भाडू हाथ मे लेकर वहाँ के खलीफा को साफ कर दिया, इससे खिलाफत का प्रश्न ही समाप्त हो गया और भारतीय मुसलमान असहयोग आन्दोलन की ओर से हटकर मुस्लिम संग-

ठनो की ओर मुड़ने लगे।

साइमन कमीशन—१९१९ के भारत शासन अधिनियम के अनुसार भारत की राजनीतिक जागृति और स्थिति का अध्ययन करने तथा उसके आधार पर भारत को उपनिवेश पद की ओर ले जाने के हेतु अगले कदम का सुझाव देने के लिए १९२१ मे सुधारो के लागू होने के उपरान्त प्रति १० वर्ष पर एक कमीशन की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी। पहले कमीशन की नियुक्ति १९३१ मे होनी चाहिए थी परन्तु लार्ड इर्विन ने उसकी नियुक्ति १९२७ मे ही कर दी। इसमे तो कोई हर्ज नही था परन्तु उसमे किसी भी भारतीय सदस्य की नियुक्ति नही की गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि देश का प्रत्येक वर्ग और दल उससे उमड़ पड़ा। कांग्रेस ने तो कमीशन के बॉयकॉट की घोषणा कर ही दी परन्तु कमीशन के सात सदस्यो मे से एक भी भारतीय न होने के कारण भारत का जो अपमान उसके द्वारा हुआ उसको ध्यान मे लेकर उदार दल (Liberal Party) ने भी कमीशन की निन्दा की। सरकार इस पर बहुत परेशान हुई परन्तु वह कुछ करने को तैयार न थी।

कमीशन का बहिष्कार बड़े पैमाने पर हुआ। वह जहां-जहां गया जनता ने साइमन वापिस जाओ (Simon go back) नारा लगाया। इस बहिष्कार आन्दोलन मे भारत को एक बहुत बड़े देशभक्त, राजनीतिज्ञ और लोकनायक का बलिदान देना पड़ा। लाला लाजपतराय लाहौर में साइमन-बहिष्कार-जुलूस का नेतृत्व कर रहे थे, उनकी छाती मे पुलिस की लाठियो और सुपरिन्टेन्डेन्ट सॉन्डर्स की बन्दूक से भारी चोट लगी और वे पन्द्रह दिन के भीतर ही अस्पताल म दिवगत हो गये। स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर यह एक बड़ा भारी और कीमती बलिदान था, जिसकी जगह भारत कभी भी पूरी नही कर सका। क्रांतिकारियो ने इस निमम हत्या का बदला १५ दिसम्बर १९२८ को सायकाल चार बजे सॉन्डर्स को गोलियां से मार कर ले लिया।

नेहरू रिपोर्ट—साइमन कमीशन का जब देश मे विरोध हो रहा था तभी लार्ड बर्कन हैड ने ब्रिटिश ससद मे भारत को चुनौती दी कि भारत के नेता भारत के लिए एक सर्वसम्मत सविधान तैयार करके संसद के सामने पेश करें। यह चुनौती भी थी, एक विचार भी था। भारतीय राजनीतिज्ञो को यह बात बहुत जची और फरवरी १९२८ मे एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया गया जिसने सर्वसम्मति से पंडित मोतीलाल जी के नेतृत्व मे एक समिति नियुक्त की और उसको यह काम सौंपा कि वह देश के लिए एक सविधान की रूपरेखा तैयार करे। इस समिति मे विभिन्न दलों के प्रतिनिधि थे। पं० नेहरू के अतिरिक्त समिति मे सर अली इमाम, सर तेजबहादुर सप्रू, श्री सुभाष चन्द्र बोस, श्री अणे, सैयद कुरैशी और जी० आर० प्रधान थे। इस समिति ने बड़े परिश्रम से और तेजी से काम किया तथा इसके द्वारा तैयार की गई विधान की रूपरेखा अगस्त १९२७ मे लखनऊ के सर्वदलीय सम्मेलन मे पेश की गई। इस सम्मेलन की अध्यक्षता कांग्रेस के अध्यक्ष डा० अन्सारी कर रहे थे। समिति की रिपोर्ट के कई अंश सर्वसम्मति मे स्वीकृत हुए, परन्तु मो० मुहम्मद

अली तथा कुछ अन्य मुसलमानो ने सयुक्त निर्वाचनो वाले अ श का विरोध किया । इस रिपोर्ट मे औपनिवेशिक स्वराज्य से भी कम की माग की गई थी । यह बात जाहिर है कि इस विधान का लक्ष्य सरकार पर यह प्रभाव डालना था कि भारत बहुत कम शासकीय सत्ता से ही सतुष्ट हो सकता है ।

जवाहरलाल नेहरू—१९२७ के अन्त मे जवाहरलाल नेहरू लगभग डेढ वर्ष तक यूरोप का दौरा करने के बाद भारत लौटे और सीधे मद्रास काग्रेस मे सम्मिलित हुए । इस अधिवेशन मे गाधी जी नही आये थे । वहा जवाहरलाल जी और सुभाष बाबू का जोर था और उन्होने काग्रेस मे पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार करा लिया । ये दोनो ही काग्रेस के मन्त्री बने । इधर प० मोतीलाल जी ने नेहरू रिपोर्ट पेश की थी जो औपनिवेशिक शासन से भी कम की माग करती थी उधर उनके जवान बेटे जवाहरलाल जी ने पूर्ण स्वराज्य का नारा ऊचा किया । बाप बेटे के बीच की यह राजनीतिक खाई चौडी हो गई । जवाहरलाल जी पूर्ण स्वराज्य से कम कुछ भी लक्ष्य स्वीकार करने को तैयार नही थे ।

कलकत्ता काग्रेस और गाधी जी—दिसम्बर १९२८ मे कलकत्ता अधिवेशन प० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता मे हुआ । उसमे गाधी जी ने काग्रेस की स्वीकृति के लिए नेहरू रिपोर्ट पेश की । श्री जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचन्द्र बोस ने गाधी जी का कडा विरोध किया और कहा कि काग्रेस का लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य होना चाहिए । श्री मोतीलाल जी उसके लिए तैयार नही थे । गाधी जी बीच मे पडे और उन्होने बाप और बेटे को इस बात के लिए सहमत कर लिया कि यदि सरकार ३१ दिसम्बर १९२९ तक नेहरू रिपोर्ट को अमल मे नही ले आती तो उसके पश्चात् काग्रेस नेहरू-रिपोर्ट की सिफारिशे मानने के लिए बाध्य नही होगी तथा वह पूर्ण स्वराज्य को अपना लक्ष्य घोषित कर देगी ।

अगले अधिवेशन के लिए महात्मा गाधी को काग्रेस का अध्यक्ष चुना गया परन्तु गाधी जी ने अपने स्थान पर जवाहरलाल नेहरू को नामजद किया और उनके बारे मे कहा कि—'देश प्रेम म उनसे बढ़कर कोई भी नही है । वे (जवाहरलालजी) वीर और भावुक हैं । इस समय इन गुणो की बहुत आवश्यकता है । परन्तु, यद्यपि वे भावुक और सघर्ष मे दृढ निश्चयी हैं तथापि उनके पास एक राजनीतिज्ञ की बुद्धि भी है । वे अनुशासन के मानने वाले हैं । उन्होने उन निर्णयो को मानने की व्यवहारिक योग्यता प्रदर्शित की है जिनसे वे सहमत नही हैं । वे इतने गम्भीर और व्यवहारिक हैं कि वे उग्रता नही दिखायेगे । उनके हाथो मे राष्ट्र पूर्णतया सुरक्षित है ।"

कुछ लोगो का ऐसा मानना है कि गाधी जी ने सरकार को एक वर्ष का समय देकर भूल की, उन्हे तुरन्त आन्दोलन छेड देना चाहिए था । ऐसे लोग सत्याग्रह को प्रभावकारी शक्तियो से तथा उसके प्रभावोत्पादक एव नैतिक नियमो से अपरिचित होने के कारण वैसा कहते हैं । जहा सरकार ने एक वर्ष म दमन की पूरी तैयारी कर ली, वही गाधी जी और काग्रेस ने सारे देश को सघर्ष के लिए तैयार कर लिया ।

वाइसराय की अक्टूबर घोषणा—वाइसराय ने ३१ अक्टूबर १९२९ को घोषणा की कि भविष्य में किसी समय भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य (ब्रिटिश सम्राट के नीचे स्वराज्य) दिया जा सकता है। इस घोषणा के लिए नेताओं ने उन्हें धन्यवाद दिया और उस पर अमल करने मे जल्दी करने का तकाजा किया। यहा यह बात समझनी चाहिए कि कांग्रेस ३१ दिसम्बर १९२९ तक की अवधि मे औपनिवेशिक स्वराज्य की घोषणा चाहती थी तथापि उसके पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य मे कोई अन्तर नही आया था।

पूर्ण स्वराज्य का सकल्प

मई १९२९ मे ब्रिटिश ससद के चुनाव हुए उनमे मजदूर दल की भारी विजय हुई और उसने उदार दल के साथ मिलकर सरकार बनाली। इस मन्त्रिमण्डल के प्रधान मन्त्री श्री रैमसे मैकडॉनॉल्ड बने तथा वेजवुड बेन भारत मन्त्री। श्री मैकडॉनॉल्ड कुछ वर्ष पहले ही इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अध्यक्ष बनाए जाने वाले थे परन्तु कतिपय कारणो से वैसा न हो सका था साथ ही वेजवुड बेन कांग्रेस के एक अधिवेशन मे भारत के मित्र के रूप मे भाषण दे चुके थे। इन कारणो से कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार से बहुत आशायें हो गई, परन्तु शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो गई कि जहा तक साम्राज्यवादी आकाक्षाओ का प्रश्न है। प्रत्येक अग्रेज उस मामले मे एक सा ही था, कोई भी इस बात के लिए तैयार न था कि भारत को स्वराज्य या उपनिवेश पद दिया जाय।

मजदूर सरकार के बनते ही वाइसराय लार्ड इरविन को इग्लैण्ड बुलाया गया, वे वहा जून से अक्टूबर तक रहे तथा भारत लौटने पर उन्होने ३१ अक्टूबर १९२९ को एक घोषणा की जिसका सार इस प्रकार है—

'ब्रिटिश सरकार की ओर से मुझे यह घोषणा करने का अधिकार दिया गया है कि उसकी (सरकार की) दृष्टि मे १९१७ की घोषणा मे यह बात मौजूद है कि भारत की सावधानिक प्रगति का लक्ष्य औपनिवेशिक पद (Dominion status) की प्राप्ति है।'

इस घोषणा के अगले दिन ही गाधी जी व कांग्रेस के दूसरे नेता दिल्ली मे इकट्ठे हुए और उन्होने सरकार को इस घोषणा पर बधाई दी एव अपनी ओर से सहयोग का आश्वासन देकर सरकार से माग की कि वह देश मे सदभावना के निर्माण के लिए शीघ्र ही राजनीतिक बन्दियो को जल से छोड दे तथा गोलमेज परिषद् (Round Table Conference) बुलाए।

गाधी-इरविन भेंट—ब्रिटिश ससद मे भारत के मित्र समझे जाने वाले भारत मन्त्री वेजवुड बेन ने एक वक्तव्य मे कहा कि भारत व्यवहार मे तो औपनिवेशिक स्वराज्य पा ही चुका है, उसमे कोई कमी नही है अत उसे अब और क्या चाहिए यह वे नही समझते थे। इस भाषण ने भारत के नेताओं के मन मे सरकार के रुख

के प्रति शंका पैदा कर दी और महात्मा गाधी, पडित मोतीलाल नेहरू, पं० मदन-मोहन मालवीय तथा श्री विट्ठल भाई पटेल २३ दिसम्बर को वाइसराय से मिले जिसमें उन्होंने वाइसराय से बन्दियो की रिहाई व औपनिवेशिक पद की प्राप्ति के लिए गोलमेज परिषद् की घोषणा का आग्रह किया, परन्तु वाइसराय उन्हे कोई आश्वासन नही दे सके। सरकार की नीयत जाहिर हो गई कि वह भारत को कुछ भी देने को तैयार नही थी, इस प्रकार गाधी जी खाली हाथो लाहौर काग्रेस मे पहुँचे।

पूर्ण-स्वराज्य का लक्ष्य घोषित—दिसम्बर १६२६ के अन्तिम दिनो मे काग्रेस का अधिवेशन लाहौर म रावी नदी के तट पर हुआ, उसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे। ३१ दिसम्बर की आधी रात तक का समय सरकार को दिया गया था, सरकार चुप थी, उसने औपनिवेशिक स्वराज्य की घोषणा नही की और काग्रेस ने अपने वीर नेता जवाहरलाल के नेतृत्व म पूर्ण स्वराज्य की प्रतिज्ञा रावी के तट पर ली।

काग्रेस ने स्वराज्य की परिभाषा कर दी और घोषित कर दिया कि अब वह भारत को अग्रेजो के किसी प्रकार के प्रभुत्व में रखने के लिए तैयार नही है। इस समय काग्रेस की आयु के चवालीस वर्ष पूरे हो चुके थे और वह ४५ वें वर्ष मे प्रवेश कर रही थी, अत पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य बच्चो का हठ नही था, वह एक प्रौढ भारत का सकल्प था और उस संकल्प के पीछे उसके दृढ नेताओ की शक्ति काम कर रही थी।

जिस समय जवाहरलालजी ३१ दिसम्बर १६२६ की आधी रात की उस पुण्य घडी म पूर्ण स्वराज्य की प्रतीक तिरगी राष्ट्रीय पताका लहरा रहे थे, उसका वर्णन करना सम्भव नही है। देश के नेतृत्व की नस-नस मे स्वराज्य का जोश था और उन्हे अपनी जिम्मेदारी का भी पूरा ज्ञान था।

एक प्रस्ताव मे यह निर्णय किया गया कि सारे देश मे २६ जनवरी १६३० को स्वतन्त्रता दिवस मनाया जाए तथा काग्रेस द्वारा निर्धारित प्रतिज्ञा पत्र पढा जाए। इस प्रकार देश को स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा के लिए प्रेरित किया गया। इस अधिवेशन में यह भी निर्णय किया गया कि ऑल इण्डिया काग्रेस कमेटी जब उचित समझेगी, सत्याग्रह शुरू कर सकेगी।

लाहौर काग्रेस देश के इतिहास मे एक निर्णायक घटना थी। उसने देश के प्रयत्नों की दिशा तो बदल ही दी, भारत के भीतर एक नई आशा व एक नई निर्भीक-कर्म प्रेरणा भी पैदा कर दी। देश मे स्वराज्य और स्वतन्त्रता की चर्चा होने लगी, उसके लिए बलिदान की तैयारी शुरू हुई और अग्रेजो के साथ पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद का सकल्प पैदा हुआ। १६३० की इस पहली घडी से लेकर १५ अगस्त १६४७ तक का भारतीय इतिहास इतना रोमाचकारी है कि यदि उसका सही अध्ययन किया जाता रहे तो उसकी प्रेरणाएं इतनी सबल सिद्ध होंगी कि भारत फिर कभी दास नही बनाया जा सकेगा। हमे विश्वास है कि भारत की भावी पीढ़िया इस १७ वर्ष के इतिहास की एक-एक घटना को पढकर गर्व से सिर तो ऊँचा करेंगी ही, उनका हृदय

देश प्रेम और राष्ट्रीय गरिमा से भी भरा रहेगा।

पुन असहयोग के पथ पर—पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य तो घोषित हो चुका था परन्तु कोई कार्यक्रम सामने न था। 'तब तक हम भविष्य के बारे मे अस्पष्ट थे। कांग्रेस अधिवेशन मे उत्साह और जोश के बावजूद किसी को भी यह नही सूझता था कि देश किसी कार्यक्रम के प्रति क्या रख अपनायगा। हमने अपनी नावें जला डाली थी तथा हम वापिस नही लौट सकते थे परन्तु हमारे सामने का क्षेत्र हमारे लिए सर्वथा अपरिचित तथा अज्ञात प्रदेश की भाति था।"+

कांग्रेस के पास एक ही कार्यक्रम था—"गाधी की आवाज," और जहा तक गाधीजी का सवाल है उनसे यदि कोई कार्यक्रम पूछता तो वह एक ही उत्तर देते कि हम सत्याग्रही हैं, सत्याग्रही एक-एक कदम आगे बढता है, अहिंसा के संघर्ष मे बहुत लम्बे कार्यक्रम नही बनाये जा सकते और वे अपनी प्रिय अंग्रेजी कविता का उद्धरण देते थे जिसमें कहा गया है—"वन स्टेप ऐनफ फॉर मी—मेरे लिए एक ही कदम काफी है, मै दूर का दृश्य देखना नही चाहता हूँ, भगवान् मेरा मार्गदर्शन करे।"

कांग्रेस ने सरकार के साथ पूर्ण असहयोग करने के लिए समूचे देश का आवाहन किया तथा गाधीजी को यह काम सौंप दिया कि वे सविनय अवज्ञा-आन्दोलन (Civil Disobedience Movement) चलायें जिसमे कर बन्दी आन्दोलन (No tax-campaign) भी शामिल था। गाधीजी ने देश से अपील की कि वह अहिंसा को किसी भी स्थिति मे न छोड़े, तथापि उन्होने यह घोषणा भी कर दी कि इस बार एक भी सत्याग्रही जीवित रहने तक सत्याग्रह चलेगा तथा चौरी-चौरा जैसी घटनाओ के कारण उसे बन्द नही किया जायगा।

सरकार को एक और मौका—महात्मा गाधी ने असहयोग आरम्भ करने से पहले सत्याग्रह-शास्त्र के नियमानुसार सरकार को अपना इरादा बता दिया और सरकार के सामने प्रस्ताव रखा कि यदि सरकार कुछ शर्तों को मान ले तो असहयोग टल सकता है। य शर्तें इस प्रकार हैं—

(१) नशीली वस्तुओं का सम्पूर्ण निषेध।
(२) एक रुपय का मूल्य १ शिलिंग चार पैंस के बराबर मानना।
(३) लगान कम से कम आधा कर दिया जाए और उसे विधान सभा के आधीन किया जाय।
(४) नमक कर उठा लिया जाय।
(५) युद्ध का खर्च प्रारम्भिक तौर पर आधा कर दिया जाये।
(६) लगान की कमी को देखते हुए बड़ी-बड़ी नौकरियों के वेतन कम से कम आधे कर दिये जायें।
(७) विदेशी कपडो के आयात पर निषेधात्मक कर लगाया जाये।

+ Jawahar Lal Nehru, 'Autobiography'. pp 202

(८) भारतीय समुद्र तट को केवल भारतीय जहाजो के लिए सुरक्षित करने के लिए कानून बनाया जाये।

(९) राजनीतिक बन्दियों को छोडा जाय, देश निकाले की सजाएँ वापिस ली जायँ और दमनकारी कानून रद्द किये जायँ।

(१०) गुप्तचर-पुलिस विभाग या तो तोडा जाय या उसे विधान सभा के अधिकार मे रखा जाय।

(११) आत्म-रक्षा के लिय सबको हथियार रखने का लाइसेन्स मिले, अथवा इस विषय को भी विधान सभा के हाथ मे दिया जाय।

सरकार तनिक भी समझौते के पक्ष मे नही थी, अत उसने इन शर्तों पर कोई ध्यान नही दिया। परिणाम यह हुआ कि गाधीजी ने युद्ध का बिगुल बजाया और फरवरी तक विधान सभाओ मे से कांग्रेसी सदस्यो ने इस्तीफे दे दिये और गिरफ्तारिया शुरू हो गई। श्रद्धेय सुभाष बाबू ग्यारह साथियों सहित अपने जन्म दिन पर अर्थात् २३ जनवरी को गिरफ्तार हो गय।

डाडी अभियान : नमक सत्याग्रह—गाधीजी ने घोषणा की कि सबसे पहले वे स्वय सत्याग्रह करेंगे। यह घोषणा १४, १५, १६ फरवरी को साबरमती आश्रम मे कार्य समिति की बैठक मे की गई। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि वे नमक बना कर सत्याग्रह शुरू करेगे। महात्मा जी ने अपने इस निर्णय की सूचना २ मार्च को वाइसराय को भी दे दी और वह युग-पुरुष १२ मार्च १९३० को साबरमती आश्रम को सदा के लिए छोडकर अपने ७९ साथियो सहित दांडी नामक स्थान की ओर चला जहा समुद्रतट पर उसे नमक बनाकर सरकारी कानून तोडना था। मार्ग मे यात्रा बहुत नाटकीय ढग से चली। हर पडाव पर गाधीजी भाषण देते थे। यह यात्रा किसी लश्कर के कूंच से कम न थी, रास्ते मे अनेको देशी-विदेशी पत्रकार गाधीजी से भेंट करते थे, उनकी कूच के चित्र और सिनेमा-रील लिये जाते थे। हजारो लाखो मनुष्य इस महान् मानव और अमर सेनानी के दर्शन और उसके भाषण सुनने के लिए दूर दूर से इकट्ठे होते थे। एक अग्रेज पत्रकार ब्रेस फोल्ड ने दांडी अभियान को क्रांति की प्रारम्भिक अवस्था कहकर उसका मजाक उडाया और उसने इस विचार को मूर्खता पूर्ण बताया कि "समुद्र के पानी को कढाई मे उबालने से ब्रिटिश सम्राट पदच्युत हो जायेगा।"

परन्तु गांधीजी निश्चिन्त भाव से अपने दृढ पाँव समुद्र की ओर बढाते रहे। ५ अप्रैल को अहिंसा का यह सेनानी दांडी पहुंच गया। ६ अप्रैल से १२ अप्रैल तक जलियान वाला बाग की स्मृति म राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाता था। उसके पहले दिन अर्थात् ६ अप्रैल को बापू ने कढाई मे समुद्र का पानी उबालकर ब्रिटिश साम्राज्य के कानून को तोडा। गांधीजी के नमक बनाने का समाचार बिजली की तरह सारे देश म फैल गया और सेनापति का सकेत मिलते ही सारे तरुण भारत मे जहाँ-जहाँ नमक बनाया जा सकता था वहाँ खुले आम नमक बनाकर कानून तोडा गया। जहा

खारा पानी नहीं मिलता था वहां दूसरे कानून तोड गए। अग्रेजी माल का बहिष्कार शराब की दूकानों पर धरना देना, जुलूस निकालना तथा अग्रेज सरकार के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता का नारा ऊँचा करना, यह एक आम कार्यक्रम बन गया। विद्यार्थी शिक्षा छोड़कर आन्दोलन में कूद पड़े शिक्षक डाक्टर, वकील सभी बड़ी संख्या में अपने अपने धन्धे छोड़कर आन्दोलन में आए। सरकारी नौकरों ने नौकरी छोड़ी और महात्माजी की पुकार पर कुलीन परिवारों की परदे के पीछे रहने वाली सम्भ्रान्त महिलायें घर की चाहर दीवारी और पर्दे की जेल तोड़कर देश की आजादी के लिए बाहर निकली। बहनें अब शराब की और विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना देने के लिए टोलियां में चलती थी तो ऐसा लगता था मानो लक्ष्मीबाई अनेक शरीर धारण करके भारत की स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर वीरता के जौहर दिखाने जाती हो। ——इन्दिरा गान्धी

एक ओर स्वतन्त्रता का यह नशा था, दूसरी ओर अग्रेजी सरकार के जुल्म और दमन का दौर खुलकर चल रहा था। इलाहाबाद की सड़कों पर हमारे हृदय सम्राट जवाहरलाल की वीर प्रसू जननी वन्दनीया स्वरूपरानी-नेहरू महिलाओं के जुलूस का नेतृत्व करती हुई और क्रान्ति के स्वर को उन्नत करती हुई आग बढ़ी तभी अंग्रेज सिपाही घोडों पर चढ़कर आते हैं और उनकी टापों के नीचे उस वीरांगना को घायल कर देते हैं यह समाचार क्षण भर में देश के इस कोने से उस कोने तक जवानों स्त्रियों और बूढ़ों के तन मन को चीरता हुआ फैल गया। देश में क्रोध और लाचारी का एक तूफान सा उमड पड़ा।

गांधीजी बन्दी बना लिये गये—दाडी में गांधीजी नमक बनाते रहे परन्तु सरकार ने उन्हें गिरफ्तार नहीं किया, इस पर गांधीजी ने घोषणा की कि वे धरसना के सरकारी गोदाम पर धावा बोलकर नमक के गोदाम पर कब्जा करेंगे। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार हवा और पानी पर सबका अधिकार है उसी प्रकार नमक पर सबका अधिकार है, यदि सरकार ने नमक इकट्ठा कर रखा है तो वह अन्याय है। निश्चय ही यह धावा अहिंसात्मक ढंग से होने वाला था।

गांधीजी ने धरसना पर धावा बोलने से पहले वाइसराय को अपने कार्यक्रम की सूचना दे दी। इस पर सरकार घबरा गई और उसने गांधीजी को ५ मई को १ बजकर १० मिनट पर पकड़ कर बन्दी बना लिया।

गांधीजी के बाद धरसना पर धावा करने के लिए वृद्ध नेता अब्बास तैयबजी चुने गये। वे भी पकड़ लिए गए और उनके बाद श्रीमती सरोजनी नायडू सामने आईं और वे भी पकड़ी गईं। उसके बाद धरसना और दूसरे नमक के गोदामों पर स्वयं सेवकों के धावे होने लगे, सरकार लाठी चार्ज करती थी और गोली चलाती थी परन्तु उत्साह कम नहीं होता था।

गांधीजी के बाद जवाहरलालजी भी गिरफ्तार हो गए, उन्होंने कांग्रेस की बागडोर अपने पिता पंडित मोतीलालजी को सौंप दी। मोतीलालजी भी गिरफ्तार

हुए और उन्होने कांग्रेस की बागडोर सरदार वल्लभभाई पटेल को सौंप दी, इस प्रकार आन्दोलन आगे बढने लगा।

२० मई को लन्दन के डेली हेरॉल्ड के प्रतिनिधि मि० जार्ज सोलोकोम्ब गाँधीजी से मिले और उन्होंने बताया कि गांधीजी निम्न शर्तो पर सत्याग्रह स्थगित करने को तैयार थे—

(१) गोलमेज सम्मेलन मे भारत को स्वराज्य के मूल तत्व दिए जायें।
(२) नमक कानून उठा लिया जाये।
(३) शराब और विदेशी वस्त्र का निर्यात बन्द किया जाये।
(४) राजनीतिक बन्दियो को छोडा जाय।

सरकार ने इस पर कोई ध्यान नही दिया वरन् दमन को और भी तेज कर दिया। समाचार पत्रो पर प्रतिबन्ध लगाया गया तथा लाखो लोगो को गिरफ्तार कर लिया गया।

सप्रू-जयकर के सन्धि प्रयास—जुलाई १६३० मे देश के दो उदारदलीय नेता सर तेजबहादुर सप्रू और श्री एम० आर० जयकर ने सरकार और कांग्रेस के बीच सन्धि की चर्चा शुरू की। इस सम्बन्ध मे प० मोतीलाल नेहरू, जवाहरलालजी और डा० सैयद महमूद यरवदा जेल में गाधीजी से मिलाये भी गये, परन्तु उसका कोई परिणाम नही निकला। उसके बाद क्वेकर कार्यकर्ता होरेस अलेक्जेन्डर ने भी सन्धि चर्चा चलाने की चेष्टा की परन्तु कोई लाभ नही हुआ।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन—भारत मे सविनय अवज्ञा-आन्दोलन (Civil Disobedience Movement) तेजी से चल रहा था, उधर ब्रिटिश सरकार गोलमेज सम्मेलन की तैयारी कर रही थी। कांग्रेस की नीति स्पष्ट थी वह इस सम्मेलन म तब तक भाग लेने को तैयार नही जब तक स्वराज्य का विधान बनाने का वचन सरकार न देती। गाधीजी आत्म-निर्णय के प्रश्न पर डटे हुए थे, परन्तु सरकार उसके लिय तैयार नही थी। इधर देश मे आन्दोलन और दमन चलता रहा, उधर इंग्लैड म १२ नवम्बर से १६ जनवरी १६३१ तक गोलमेज सम्मेलन चलता रहा जिसम ब्रिटेन के १३ प्रतिनिधि भारतीय राजाओ के १६ प्रतिनिधि तथा भारत की ब्रिटिश सरकार के ५७ मनोनीत प्रतिनिधि सम्मलित हुए।

गोलमेज सम्मेलन के बाद सरकार का रुख बदला और उसने महात्मा गाधी व कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यो को २६ जनवरी १६३१ के दिन जेल से छोडकर उनसे सहयोग की माग की।

कार्यसमिति की बैठक और प० मोतीलाल नेहरू की मृत्यु—३१ जनवरी को प० मोतीलालजी की शैय्या के पास कार्यसमिति की बैठक शुरू हुई। पडितजी बीमार थे परन्तु देश के लिए बहुत चिन्तित थे। कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हो रही थी और उधर देश मे सत्याग्रह चल रहा था और गिरफ्तारिया हो रही थी। इसी बीच ६ फरवरी को पंडित मोतीलाल नेहरू देश को भगवान भरोसे छोडकर इस ससार से

चले गये। सारे देश मे हाहाकार मच गया। गाधीजी और काग्रेस के नेताओ ने कलेजे पर पत्थर रखकर उस कडी घडी में चर्चाएँ जारी रखी। इसी बीच सर तेजबहादुर सप्रू और श्री श्रीनिवास शास्त्री लन्दन से लौटे और उनके द्वारा तय हुआ कि महात्माजी १७ फरवरी को लार्ड इरविन से भेंट करें।

गांधी-इरविन संधि—गाधीजी और लार्ड इरविन मे लम्बी बातचीत चली। परिणामस्वरूप ५ मार्च १९३१ को गाधी-इरविन सन्धि पर दोनो के हस्ताक्षर हो गये।

सन्धि से काग्रेस की नैतिक प्रतिष्ठा तथा राष्ट्रीय चेतना मे वृद्धि हुई। सन्धि की शर्तों मे से मुख्य शर्तें इस प्रकार थी।

(१) सत्याग्रह बन्द होगा,

(२) गोलमेज सम्मेलन मे काग्रेस के प्रतिनिधि लिये जायेंगे,

(३) शराब और विदेशी वस्त्रो पर वैधानिक धरना चालू रहेगा,

(४) सरकार दमन बन्द करेगी,

(५) राजनीतिक बन्दी छोड दिये जायेंगे और जुर्माने माफ कर दिये जायेंगे,

(६) मुकदमे वापिस ले लिये जायेंगे,

(७) जब्त की हुई जायदादें वापिस कर दी जायेगी,

(८) जहाँ नमक बन सकता है वहा अपने और गाव के लिए नमक बनाया जा सकेगा।

(९) काग्रेस की कार्यवाही पर से पाबन्दी हटा ली जायेगी।

वास्तव मे आन्दोलन का विदेशी वस्त्र के बहिष्कार का कार्यक्रम बहुत ही सफल हुआ था। लकाशायर की मिलो मे कपडे का ढेर लग गया था और हाहाकार मचा हुआ था। सरकार ने मजबूर होकर यह सन्धि की थी।

कराची अधिवेशन में सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में काग्रेस ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन—लार्ड इरविन के स्थान पर लार्ड विलिंगटन वाइसराय बनकर भारत आय। उन्होने गाधी-इरविन सधि की शर्तो को भग करना शुरू कर दिया और साथ ही काग्रेस पर यह आरोप लगाया कि वह शर्तें तोड रही है। स्थिति यहा तक बिगडी कि गाधीजी ने गोलमेज सम्मेलन में भाग लने के लिए लंदन जाने से इन्कार कर दिया, इस पर वाइसराय ने गाधीजी को बात करने के लिए शिमला बुलाया। वहा वाइसराय के सद्भावना प्रदर्शन करने पर वे काग्रेस के एक-मात्र प्रतिनिधि के रूप म गोलमेज सम्मेलन में जाने के लिये तैयार हो गय। वाइसराय के आग्रह पर पं० मदन मोहन मालवीय और श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गाधीजी के साथ गये।

गोलमेज सम्मेलन मे गाधीजी बुलाय तो गये, पर सरकार की नीयत इसमें अच्छी नही थी, उनको व काग्रेस को नीचा दिखाने के लिए भारत के सम्प्रदायवादी

नेताओं को भी वहा बुलाया गया। गाधीजी लन्दन में सम्मेलन आरम्भ होने के ५ दिन पश्चात् १२ दिसम्बर १६३१ को पहुचे। ब्रिटिश सरकार मे रूढ़िवादी दल का बहुमत था जिसके कारण सम्मेलन का वातावरण मैत्रीपूर्ण नही बन सका। सम्मेलन भारत के वैधानिक प्रश्न को सुलझाने के लिए बुलाया गया था पर हुआ इसका उल्टा साम्प्रदायिक प्रश्नो को उठाकर मामला और भी उलझा दिया गया तथा सम्मेलन मे से एक नई व्याधि उत्पन्न हो गई जिसे 'साम्प्रदायिक निर्णय' या कम्यूनल अवार्ड कहा गया। गाधीजी ने सम्मेलन में यह बात जाहिर कर दी कि वे कम्यूनल अवार्ड को मानने के लिए किसी भी स्थिति मे तैयार नही थे। वे चाहते थे कि यूरोप मे भारत की स्थिति के बारे मे थोडी जानकारी देते हुए भारत लौटा जायें परन्तु देश से अच्छे समाचार उन्हे नही मिल रहे थे अत वे तुरन्त १ दिसम्बर को लन्दन से चलकर २८ दिसम्बर को भारत लौट आयें।

फिर से सत्याग्रह—गाधीजी ने स्वदेश लौटने पर देखा कि बगाल मार्शल लॉ (फौजी शासन) के नीचे कराह रहा है, सीमाप्रान्त में लालकुर्ती दल को कुचला जा रहा है, उसके नेता खान अब्दुल गफ्फार खा और उनके भाई डा० खान को जेल मे डाल दिया गया है तथा उत्तरप्रदेश में प्रान्तीय कांग्रेस लगानबन्दी आन्दोलन चला रही है।

गाधीजी जिस समय बम्बई बन्दरगाह पर पहुचने वाले थे उस समय श्री जवाहरलाल नेहरू और श्री शेरवानी उनसे मिलनेके लिए इलाहाबाद से चले। उन्हे रास्ते मे ही गिरफ्तार कर लिया गया। इससे गाधीजी का हृदय बहुत दुखी हुआ और उन्होने वाइसराय को लिखा कि वे उनसे मिलना चाहते है, परन्तु वाइसराय ने यह कहकर बात टाल दी कि वे सयुक्तप्रान्त, सीमाप्रान्त और बगाल मे जारी किये गये अध्यादेशो के बारे मे चर्चा करने के लिए तैयार नही है। इस पर गाजीजी ने वाइसराय से तार द्वारा पूछा कि वे मैत्री चाहते है या नही। वाइसराय ने रूखा सा उत्तर दे दिया कि वे अपने निर्णय बदलने को तैयार नही हैं।

बम्बई में कांग्रेस कार्यसमिति गाधीजी से मिलने के लिए तैयार थी ही। वाइसराय के इस उत्तर पर उसने प्रस्ताव पास किया कि यदि सरकार रुख बदलने को तैयार नही होगी तो कांग्रेस सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने के लिए बाध्य हो जायेगी।

सरकार चौकन्नी हो चुकी थी, वह इसबार कांग्रेस को आन्दोलन चलाने का अवसर नही देना चाहती थी अत उसने गाधीजी से लेकर कांग्रेस के साधारण कार्यकर्ता तक सबको गिरफ्तार कर लिया। इससे आन्दोलन फूट पडा और पहले चार मास मे लगभग ८०,००० गिरफ्तारिया हुई, इनमे ६ हजार से भी अधिक महिलायें थी। अप्रैल १६३३ तक कुल १ लाख २० हजार व्यक्ति पकडे गये। देशभर में सरकार ने आतंक फैलाने की चेष्टा की। इन दिनो आतकवादी आन्दोलनकारियो ने भी खुलकर काम किया, उसका वर्णन उपयुक्त स्थान पर करेंगे।

१९३२ मे सरकार की पूरी सावधानी के बावजूद कांग्रेस अधिवेशन दिल्ली मे घटाघर के नीचे सम्पन्न हुआ, उससे आन्दोलन में तेजी आई। अगला अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इसी बीच १७ अगस्त १९३१ को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) की घोषणा करदी जिसमे सबसे भयंकर बात यह थी कि हरिजनो को हिन्दुओ से अलग करने के लिए उनको पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन (Separate Electorates) का अधिकार दिया गया।

उपवास और पूना-सन्धि—गाधीजी ने सर सेम्युअल होर को एक पत्र लिखकर अपना विरोध प्रकट किया और घोषणा करदी कि यदि हरिजनो को हिन्दुओ से इस प्रकार अलग किया गया तो वे जान की बाजी लगा देंगे। सरकार पर इसका कोई प्रभाव नही पडा और १८ अगस्त को गाधीजी ने २० सितम्बर से आमरण अनशन करने की तारीख घोषित कर दी। इस घोषणा से सारा देश बेचैन हो उठा चारो ओर से गाधीजी पर दबाव डाला गया कि वे उपवास न करे।

परन्तु गाधीजी अडिग रहे, उपवास शुरू हुआ, उपवास तोडने की एक ही शर्त थी कि सरकार हरिजनों को पृथक निर्वाचन द्वारा हिन्दुओ से अलग करने की घोषणा वापिस ले। सरकार चुप रही। पडित मदनमोहन मालवीय ने, जो जेल से तभी छूटे थे, बम्बई मे इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एक सम्मेलन बुलाया। परिणाम-स्वरूप उस सम्मेलन ने पूना में अपनी बैठक करके यह निर्णय किया कि हरिजनो को ७१ के स्थान पर १४८ सीट मिले परन्तु चुनाव सभी हिन्दुओ के संयुक्त (Joint election) हो। यह निर्णय २४ सितम्बर को हुआ और ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने २६ सितम्बर को अपनी १७ अगस्त की घोषणा वापिस लेली व पूना-निर्णय को स्वीकार कर लिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन की गति इस समय धीमी पड गई थी। इसी समय गाधीजी ने अचानक आत्म शुद्धि और हरिजन उद्धार के लिए २१ दिन का उपवास करने की घोषणा की। ८ मई १९३३ को उनका उपवास आरम्भ हुआ और सरकार ने उन्हे उसी दिन जेल से छोड दिया। जेल से छूटते ही उन्होने कांग्रेस के अध्यक्ष से ६ सप्ताह के लिए आन्दोलन बन्द कर देने को कहा। इस समाचार से श्री विट्ठलभाई पटेल और श्री सुभाषचन्द्र बोस ने, जो वियना मे इलाज करा रहे थे, एक वक्तव्य दिया कि गाधीजी अब स्वतन्त्रता संग्राम चलाने योग्य नही हैं। परन्तु कांग्रेस गाधीजी के पीछे रही। २९ मई को उपवास कुशलतापूर्वक समाप्त हुआ और १२ जुलाई को स्थानापन्न कांग्रेस अध्यक्ष श्री एम० एस० अणे ने नेताओ का एक सम्मेलन बुलाकर सामूहिक सत्याग्रह बन्द कर दिया तथा व्यक्तिगत सत्याग्रह की इजाजत दे दी।

गांधीजी ने फिर सत्याग्रह किया—गाधीजी ने अपने साबरमती आश्रम को तोड दिया और स्वय रास नामक गाव की ओर सत्याग्रह करने के लिए चले जहा वे पकड लिये गये परन्तु शीघ्र ही छोड दिये गये। उन्हे आदेश दिया गया कि वे यरवदा ग्राम मे हटकर पूना चले जायें। उन्होंने इस आदेश का पालन नही किया, इस पर

उन्हे पकडकर एक वर्ष की सजा दी गई। यरवदा जेल मे उन्होने हरिजन कार्य करने की छूट सरकार से मागी। सरकार ने मना कर दिया और गाधीजी ने २० अगस्त १९३३ को पुन अनशन चालू कर दिया और वे २३ अगस्त को जेल से छोड दिये गये। रिहाई के बाद एक वर्ष तक उन्होंने हरिजन-उद्धार के लिए सारे देश का दौरा किया, वे इसी दौरे मे भूचाल से पीडित बिहार की सेवा के लिए भी पहुँचे। कुछ समय बाद उन्होने व्यक्तिगत सत्याग्रह भी बन्द कर दिया।

३० अगस्त को जवाहरलालजी भी छूट गये थे। वे भी बिहार के भूकम्प से पीडित जनता की सहायता करने गये और वही से कलकत्ता चले गये जहां उन्होने क्रान्तिकारियो और सरकार के आतंकवाद की निन्दा की। उन्हे फिर पकड कर दो साल की सजा दी गई।

१८, १९ मई १९३४ में पटना मे ऑल इण्डिया काग्रेस कमेटी की बैठक बुलाई, और उसने एक ओर तो गाधीजी की सिफारिश पर सत्याग्रह बन्द करने की घोषणा की दूसरी ओर उसने एक काग्रेस ससदीय मडल (Congress Parliamentary Board) की नियुक्ति की जिसे संसदीय कार्यवाही सौपी गई।

ल **फर से विधान मण्डलो मे**—विधान मण्डलो मे जाने के कार्यक्रम का समर्थन विशेष जडा० अन्सारी, डा० विधानचन्द्रराय, श्री जमनादास मेहता और श्री केलकर करते ह । १९३४ की पटना बैठक में ऑल इण्डिया काग्रेस कमेटी ने उसे स्वीकृति दे र बार स्वराज्य पार्टी के बजाय काग्रेस ससदीय मंडल ने उस कार्यक्रम का संची लि किया। १२ जून तक सरकार ने काग्रेस संगठन पर लगाये सभी प्रतिबन्ध वा कि लिये। १९३४ के निर्वाचनो मे काग्रेस पजाब को छोडकर अन्य सभी प्रान्तो मे भारी बहुमत से विजयी हुई तथा उसने यह प्रमाणित कर दिया कि सरकार के दमन और आतंक के बावजूद भी देश काग्रेस के पीछे है। विधान मडलो में काग्रेस के प्रतिनिधियो ने अपनी योग्यता का बहुत अच्छा परिचय दिया।

गांधीजी का कांग्रेस त्याग—अक्तूबर १९३४ मे बम्बई मे डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता मे काग्रेस का अधिवेशन हुआ, इसमें काग्रेस के विधान मे कुछ महत्वपूर्ण संशोधन कर दिये गये तथा इसी समय महात्मा गाधी ने काग्रेस को छोड दिया। उन्होने कहा कि काग्रेस के अधिकाश लोग अहिंसा मे निष्ठा नही रखते अत उनके लिए यह सम्भव नही है कि वे ऐसी स्थिति में काग्रेस के भीतर रह सकें। गाधीजी का यह काग्रेस त्याग एक प्रकार मे औपचारिक था। वास्तव मे गाधीजी ने ही १९४७ तक एकाधिकारपूर्वक उसका मार्गदर्शन और सचालन किया।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन—सन् १९३२ मे १७ नवम्बर से २४ दिसम्बर तक जब काग्रेस लोहे के सीखचो के पीछे बन्द थी तथा देश अंग्रेजी सरकार के दमन के नीचे कराह रहा था, तृतीय गोलमेज सम्मेलन लन्दन में हुआ इसमें केवल वे ही लोग ले जाये गये थे जो ब्रिटिश सरकार के बहुत विश्वासपात्र थे। इस सम्मेलन में ब्रिटिश लेबर दल भी सम्मिलित नही हुआ था क्योकि वह ब्रिटिश रूढिवादी दल की नीतियों

से असन्तुष्ट था।

इस सम्मेलन की चर्चाओ के आधार पर सरकार ने एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया जिसमे एक संयुक्त संसदीय समिति (Joint Parliamentary committee) ने काट छाँट करके १९३५ के 'भारत शासन अधिनियम' (Government of India Act 1935) के रूप म पारित किया।

मुस्लिम लीग : पाकिस्तान की माग—पीछे कहा जा चुका है कि खिलाफत आन्दोलन के पश्चात् मुस्लिम नेता कांग्रेस से दूर हटकर साम्प्रदायिक राजनीति मे फसते जा रहे थे। दिसम्बर १९३० म सर मुहम्मद इकबाल के सभापतित्व मे इलाहाबाद मे मुस्लिम लीग का जो अधिवेशन हुआ था उसमें सबसे पहली बार पाकिस्तान की योजना रखी गई। आगे चलकर यह नारा बहुत सबल हो गया और इसी के आधार पर देश का १९४७ में विभाजन हुआ। साम्प्रदायिक निर्णय से मुसलमान भी बहुत प्रसन्न नही थे।

मुस्लिम लीग का सबसे सक्रिय युग १९३४ से आरम्भ हुआ। उस वर्ष ४ मार्च को दिल्ली में लीग का एक जल्सा हुआ जिसमे उसके सभापति अब्दुल अजीज बैरिस्टर ने अपना पद छोड दिया और मुहम्मद अली जिन्ना उनके स्थायी सभापति हो गये।

१९३६ और १९३७ की हलचल—१९३५ के सुधारो की घोषणा के पश्चात् कांग्रेस मे सबसे बडा प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ कि १९३५ के भारत शासन अधिनियम को स्वीकार किया जाये या नही। १९३६ मे कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ म श्री जवाहरलालजी की अध्यक्षता मे हुआ जिसमें नेहरू जी ने बताया कि कांग्रेस का ध्येय गरीबी मिटाना व किसानो की उन्नति करना है। इस अधिवेशन मे १९३५ के एक्ट मे दिय हुए शासन सुधार की तीव्र निन्दा की गई। यह भी कहा गया कि भारत का विधान भारतीयो द्वारा ही बनाया जाय तथा उसके लिए विधान सम्मेलन बुलाने की माग की गई। यहा यह भी तय किया गया कि अगले चुनावो मे भाग लिया जाये। इस कांग्रेस अधिवेशन के आरम्भ होने से पूर्व ८ अप्रैल को ही श्री सुभाषचन्द्र बोस जब विदेश से लौटकर बम्बई पहुचे तो उन्हे वही गिरफ्तार कर लिया गया जिसके कारण इस अधिवेशन मे बहुत बेचैनी महसूस होती रही।

१९३६ के २७, २८ दिसम्बर को महाराष्ट्र के फैजपुर नामक गाव मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें अध्यक्षता जवाहरलालजी ने की। उन्होने फासिज्म के खतरे से देश को सावधान किया तथा समाजवाद का समर्थन किया। यहा भी चुनावो के निश्चय का समर्थन किया गया परन्तु यह निर्णय नही किया जा सका कि कांग्रेस मन्त्रिमडल बनायगी या नही।

१९३७ के निर्वाचन और प्रान्तों मे उत्तरदायी शासन—कांग्रेस द्वारा निन्दा किए जाने के बाद भी ब्रिटिश सरकार ने १९३५ के अधिनियम के उस अश को लागू करने का निश्चय कर लिया जिसम प्रान्तो मे उत्तरदायी शासन की स्थापना की

व्यवस्था की गई थी। काग्रेस ने अपने निर्णय के अनुसार प्रान्तीय विधान मडलो के निर्वाचनो म १९३७ म भाग लिया और सयुक्त प्रान्त (U P), उडीसा, मध्यप्रान्त, मद्रास, विहार और बम्बई मे उसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। आसाम बगाल और सीमा प्रान्त मे वह विधान मडल मे सबसे बडा दल था परतु उसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही था। पजाब और सिंध म उसे अधिक स्थान नही मिले थ। परन्तु दूसरा कोई राजनीतिक दल उतना सगठित नही था। विधान मडलो मे जाते ही काग्रेस ने अपन को कठोर अनुशासन म बाध लिया। काग्रेस के प्रत्यक विधायक (M L A) के लिय यह अनिवाय था कि वह काग्रेस हाई कमाण्ड के हर आदेश का पालन करे। हाई कमाण्ड मे गाधीजी नेहरूजी और सरदार पटेल थे।

काग्रेस के सामने विधान मडलो मे जाकर विधान की असफलता के लिए काम करने का लक्ष्य था। विधान मडलो मे काग्रेस की स्थिति क्या हो, इस बारे मे दो विरोधी मत थे—नेहरूजी और बोस का विचार था कि क्रान्ति की ज्वाला को प्रज्वलित रखने के लिए काग्रेस को मन्त्रिमडल नही बनाने चाहिये। वे चाहते थे कि बहुमत का उपयोग मत्रिमडल बनाने मे न होकर प्रातीय सरकारो के काम मे अड गा लगाने के लिय हो। इसके विपरीत सर्व श्री वल्लभभाई पटेल राजाजी और राजेन्द्र बाबू का मत था कि काग्रेस को मत्रिमडल बनाना चाहिय और स्वतन्त्रता सग्राम की दिशा मे काग्रेस की स्थिति को सुदृढ बनाना चाहिय।

काग्रेस को इस उलझन मे फसा देखकर गाधीजी उठे और उन्होने १३ मार्च १९३७ को ऑल इण्डिया काग्रेस कमेटी से यह प्रस्ताव पास कराया कि यदि विधान मडलो मे काग्रेस दल के नेता सावजनिक रूप से यह आश्वासन दे सकें कि मत्रियो के कार्यो मे गवनर हस्तक्षेप नही करेग तथा उन्हे हर प्रकार से समाधान हो जाय तो मत्रिमडलो का निर्माण हो सकेगा।

काग्रेस की शर्त—काग्रेस को जिन प्रान्तो मे बहुमत प्राप्त था उन प्रान्तो के गवर्नरो ने काग्रेसी नेताओ को मन्त्रिमडल निर्माण करने के लिय निमत्रित किया परन्तु वे इस शर्त पर मत्रिमडल बनाने के लिये तैयार थे कि गवर्नर उन्हे यह आश्वासन दें कि वे अपनी शक्तियों का प्रयोग नही करेंग। इस शर्त के कारण एक सघर्ष छिड गया। गवर्नर तब तक अपनी शक्तियाँ छोडने को तैयार नही थे जब तक सविधान मे सशोधन नही होता। दूसरी ओर गाधीजी का कहना यह था कि ब्रिटिश सांविधा निक परम्परा के अनुसार गवर्नर केवल वैधानिक शासक अर्थात औपचारिक शासक है अत उसे अपने अधिकार स्वय प्रयोग न करने की परम्परा डालनी चाहिए।

पजाब, बगाल, सिंध और सीमा प्रान्त के बहुमत दलो ने काग्रेस के जैसी कोई शर्त नही लगाई अत वहा १ अप्रैल १९३७ को मत्रिमडलो का निर्माण हो गया। जिन प्रान्तो मे काग्रेस का बहुमत था वहा भी गवर्नरो ने अन्तरिम मत्रिमडलो का निर्माण कर लिया था।

सरकार कांग्रेस की शर्त स्वीकार करती है—२१ जून को लार्ड लिनलियगो

(वाइसराय) ने एक घोषणा करके निम्न बातें साफ कर दी—

१ प्रांतीय स्वायत्त शासन के अन्तर्गत मंत्रिमंडल की शक्तियों के मामले में गवर्नर साधारणतया अपने मंत्रियों के परामर्श को स्वीकार करेंगे।

२ मन्त्रिमंडल ब्रिटिश संसद के प्रति नहीं वरन् प्रान्तीय विधान मंडलों के प्रति उत्तरदायी होंगे।

३ मन्त्रियों का यह कर्तव्य होगा कि वे अपने क्षेत्र के सभी कार्यपालिका विषयों पर गवर्नर को अपना परामर्श दें तथा गवर्नर को वह मंत्रणा स्वीकार करनी ही होगी यदि वह उनके उत्तरदायित्वों के प्रतिकूल न हो।

४ भारत में संसदात्मक शासन की परम्परायें स्थापित करने की भरसक चेष्टा की जायगी।

गवर्नर-जनरल की इस घोषणा से कांग्रेस को एक अवसर प्राप्त हो गया और जहां उसका बहुमत था वहां मन्त्रिमंडल बनाने के लिए वह तैयार हो गई। इस समय कांग्रेस के सामने दो लक्ष्य थे—(१) भारत को स्वतन्त्रता की दिशा में ले जाना और (२) उन सुधारों को क्रियान्वित करना जिनका वायदा उसने निर्वाचन घोषणा पत्र में किया था। "कांग्रेस के लिए १९३५ के अधिनियम को इस दृष्टि से भी स्वीकार करना असम्भव था कि उसे भारतीय प्रश्न का तात्कालिक हल मान लिया जाय। वह स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए तथा अधिनियम को असफल बनाने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध थी। फिर भी (कांग्रेस के) बहुमत ने प्रान्तीय स्वराज्य (Provincial Autonomy) को क्रियान्वित करने का निर्णय किया। इस प्रकार इसकी नीति दोहरी थी—(१) स्वतन्त्रता के संघर्ष को जारी रखना और (२) सुधारों को विधान मंडलों के द्वारा क्रियान्वित करना। गांवों के खेती के प्रश्न पर तुरन्त ध्यान देने की आवश्यकता थी।" "विधान मंडलों में कांग्रेस दल किसानों और मजदूरों की भलाई के लिए जल्दी से जल्दी किसी संकट के आने से पूर्व ही विधि-निर्माण कर देना चाहते थे। भावी गति-अवरोध की भावना हमेशा रही ही है वह उस परिस्थिति में स्वाभाविक और सहज ही था।" +

कांग्रेसी मन्त्रिमंडल—जुलाई १९३७ में छ कांग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों में अन्तरिम-मन्त्रिमंडल समाप्त करके कांग्रेसी मन्त्रिमंडल बनाये गये। कांग्रेस ने भारत की असाधारण परिस्थिति को देखते हुए दूसरे दलों के साथ मिलकर मन्त्रिमंडल बनाने का विचार भी मान्य किया। 'फिर भी, सरकार के काम में अधिक से अधिक लोगों को शामिल करना वांछनीय था। संयुक्त मन्त्रिमंडल हमेशा ही मूलतः गलत नहीं माने जा सकते, अतः उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त और आसाम में संयुक्त मन्त्रिमंडल बनाने की आज्ञा कांग्रेस ने दे दी।' ×

\+ Jawahar Lal Nehru, 'The Discovery of India' 1947, pp. 307–8

× उपरोक्त, पृष्ठ सं० ३०८।

काग्रेसी मन्त्रिमडल बनने से सरकारी ढाचे मे कोई बडा परिवर्तन होने वाला नही था। वास्तविक सत्ता तो वाइसराय और गवर्नरो के हाथो मे ही रही परन्तु उससे देश मे एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पैदा हुआ, देश मे नई चेतना की एक लहर सी आ गई। ऐसा लगता था मानो लोगो के कन्धो पर से कोई दबाव और दमन उठा लिया गया हो। सर्वत्र एक लोकशक्ति का उन्मुक्त प्रवाह दिखाई देता था। जनता मे आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता का विचार पैदा हुआ। आम आदमी को भी हजारो वर्षो बाद ऐसा लगा कि उसका भी महत्व है और उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। सरकार की कुर्सियो पर ऐसे लोग बैठे जो जनता के बीच मे उसके साथ रहे थे अत सरकार का आतक भी उठ गया। उन सचिवालयो मे, जहा आम आदमी घुस नही पाता था, आम जनता घूमने लगी, मानो वह अपनी प्रभुता को महसूस कर रही हो। मंत्रियो की वेशभूषा और उनका रहन-सहन साधारण नागरिक जैसा था अत यह पहचानना कठिन होता था कि मंत्री कौन है। पजाब और बगाल मे, जहा काग्रेसी मन्त्रिमडल नही थे, यह परिवर्तन अनुभव नही हुआ, वहा शासन का पुराना ढर्रा ही चलता रहा।

मुस्लिम लीग की स्थिति—इन निर्वाचनो मे मुस्लिम लीग ने भी पूरी तैयारी के साथ भाग लिया था परन्तु उसे कोई विशेष सफलता नही मिली। सिन्ध, पंजाब, सीमाप्रान्त और बगाल मे, जहा वह अपना जोर समझती थी, उसे बहुत करारी हार मिली। सिंध की ३३ मुस्लिम सीटो मे लीग को ३ मिली, पजाब की ८४ मे से १, सीमाप्रान्त की ३६ मे से एक भी नही, और बगाल की ११७ मे से केवल ३६। लीग को कुल मुस्लिम सीटो मे से चौथाई भी प्राप्त नही हुई।

लीग इस पर भी निराश नही हुई और उसने पैतरा बदलना शुरू कर दिया। उसके अध्यक्ष मुहम्मद अली जिन्ना ने यह कहना शुरू किया कि भारत मे लोकतंत्र नही होना चाहिए। इस प्रकार लीग ने अंग्रेजो की गोद मे बैठने का ढंग ढूढ लिया और भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता से वह विमुख हो गई। उसने भारत को दो राष्ट्र मानना आरम्भ कर दिया।

युद्ध का प्रश्न और कांग्रेस द्वारा पदत्याग—१६३६ में काग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन के अध्यक्ष श्री सुभाषचन्द्र बोस चुने गये। उधर ससार मे नाजी और फासी शक्तिया हिटलर व मुसोलिनी के नेतृत्व में तथा जापानी सैन्यवादी अपना सिर उठा रहे थे, इन्होने जनतन्त्र के लिए एक बडा सकट पैदा कर दिया था। श्री सुभाषबाबू जर्मनी, इटली व जापान की शक्तियो के समर्थक बन गये और वे सोचने लगे कि इन शक्तियो की सहायता से भारत से ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नष्ट कर दिया जाये। परन्तु काग्रेस गाधीजी के नेतृत्व मे पूरी तरह लोकतान्त्रिक बनी रहना चाहती थी। अत उसने श्री सुभाष बाबू को त्याग पत्र देने के लिए विवश कर दिया।

काग्रेस ने अपने प्रस्तावो के द्वारा नाजीवाद, फासीवाद और जापानी सैन्यवाद की निन्दा करनी शुरू कर दी। परन्तु उसकी स्थिति बिलकुल दोहरी थी। एक ओर

वह लोकतन्त्रात्मक देशो के पक्ष मे और तानाशाही के विरुद्ध थी, दूसरी ओर वह युद्ध मे अग्रेजो के साथ तब तक भाग लेने को तैयार नही थी जब तक कि भारत को स्वतंत्रता न दी जाती। वास्तव मे यह बात बहुत सही थी। भारत के लिए स्वाधीनता के बिना युद्ध मे अग्रेजो की मदद करना एक तर्कहीन बात होती, उसका अर्थ यह होता कि भारत उस ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रक्षा के लिए लडाई लडता जिसे मिटाने के लिए वह स्वय दीर्घकाल से संघर्ष कर रहा था और बलिदान दे रहा था। कांग्रेस का दृढ विश्वास था कि केवल स्वतंत्रता ही उस लोक शक्ति को जाग्रत कर सकती थी जिसके बिना युद्ध मे सक्रिय भाग नही लिया जा सकता था।

कांग्रेस इस बात पर डट गई कि जनता की इच्छा के बिना भारत को युद्ध मे नही घसीटा जाना चाहिये। जनता की यह इच्छा विधानमंडलो के लिए प्रतिनिधि के द्वारा जानी जा सकती थी। उसका कहना था कि बिना इस लोक सहमति के सरकार को देश से बाहर भारतीय सेनाएं नही भेजनी चाहिये। भारत के लोगो को इस बात की शिकायत थी कि हमारी सेनाएँ विदेशो मे दमन के लिए भेजी जाती थी, कभी-कभी वे ऐसे देशो पर आक्रमण करने के लिए प्रयोग की जाती थी जिनसे हमारा कोई विरोध नही था, वरन् हमारे मन मे जिनके प्रति सहानुभूति होती थी। एक बार एक मिस्र निवासी ने व्यंग के साथ कहा था कि भारत के लोगो ने केवल अपनी ही स्वतंत्रता नही खोई है, वे दूसरो को गुलाम बनाने मे अंग्रेजो की मदद भी करते है। केन्द्रीय विधान-सभा ने भी यह प्रस्ताव सरकार के सामने रखा कि हमारी सेनाएँ बिना हमारी इच्छा के युद्ध क्षेत्र मे न भेजी जायें।

१९३९ के मध्य मे भारतीय सेनाएं सिंगापुर व मध्य-पूर्व में भेज दी गई और जब कांग्रेस ने इसका विरोध किया और कहा कि जनता के प्रतिनिधियो से पूछे बिना वैसा नही करना चाहिय था तो सरकार ने वह कहकर प्रश्न को टाल दिया कि सेनाओ का आवागमन सामरिक दृष्टि से गुप्त रखना होता है। साथ ही, ब्रिटिश संसद ने भारत की शासन-व्यवस्था मे इस प्रकार का संशोधन कर दिया कि युद्ध की स्थिति मे सारी शक्ति केन्द्रीय सरकार मे केन्द्रित हो सकेगी। कांग्रेस ने इस सशोधन को विश्वासघात बताया और केन्द्रीय विधान-सभा के अपने सदस्यो को अगली बैठक में अनुपस्थित रहने का आदेश दिया।

३ सितम्बर १९३९ को महायुद्ध छिड गया और १४ सितम्बर को कांग्रेस ने प्रस्ताव पास करके जाहिर किया कि यद्यपि भारत तानाशाही के विरुद्ध है और वह लोकतन्त्रात्मक स्वतंत्रता की विजय चाहता है परन्तु वह युद्ध मे तब तक शामिल नहीं हो सकता जब तक कि उसे स्वयं को स्वतंत्रता प्राप्त न हो। यदि युद्ध का लक्ष्य साम्राज्यवाद की रक्षा करना है तो भारत उस युद्ध से कोई वास्ता नही रखना चाहता यदि ब्रिटेन लोकतंत्र की रक्षा और उसके विस्तार के लिए लड रहा है तो उसे अपने आधीन देशो मे से साम्राज्यवाद को समाप्त करना चाहिय। स्वतंत्र भारत प्रसन्नता-पूर्वक युद्ध मे भाग लेकर लोकतंत्र और स्वतंत्रता की रक्षा करेगा।

यहा यह कह देना उचित होगा कि गाधीजी को कांग्रेस का यह प्रस्ताव मजूर नही था वे सक्रिय सशस्त्र लडाई की अपेक्षा भारत से केवल नैतिक समर्थन देने की बात चाहते थ अत व कांग्रेस के प्रति उदासीन हो गय ।

उधर सरकार ने कांग्रेस प्रस्तावो को रद्दी की टोकरी म फक दिया । वाइसराय ने तुरन्त यह घोषणा करदी कि भारत युद्ध म अग्रेजो का साथ देगा तथा भारतीय सेनाएँ बाहर भेजनी चालू कर दी । ऐसी स्थिति म प्रातीय मत्रिमडलो की स्थिति बडी विचित्र हो गई । गवनर उन पर विश्वास नही करते थ तथा दैनिक प्रशासन मे उन्होंने अडगा लगाना शुरू कर दिया । अत कांग्रेस ने तय किया कि आठो प्रातो मे काग्रसी मत्रिमडल तुरन्त त्याग पत्र दे दे । गवनरो ने तुरत त्यागपत्र स्वीकृत कर लिय और उन्होने विधान सभाओ को तोडने के बजाय उन्हे निलम्बित (Suspend) कर दिया इसका कारण यह था कि वे काग्रस की लोकप्रियता के कारण नय चुनाव करा कर फिर से सर दद मोल नही लेना चाहते थे । बगाल के मत्रिमडल को भी त्यागपत्र देना पडा और सिंध के मत्रिमडल को वाइसराय ने बर्खास्त कर दिया । इस प्रकार सारा देश एकात्मक शासन के नीचे आ गया ।

वाइसराय ने ५०-६० भारतीयों से बातचीत करके यह घोषणा कर दी कि युद्ध का लक्ष्य ससार में शान्ति स्थापित करना है । सरकार भारत को धीरे धीरे औपनिवेशिक स्वराज्य देना चाहती है, भारत को तुरन्त स्वतन्त्रता देना सम्भव नही है । वाइसराय न युद्ध मे सहायता देने के लिए एक परामशदात्री परिषद बनाने की बात भी कही । इस घोषणा पर खिन्न होकर गाधीजी ने कहा कि यदि अग्रेजों का वश चले तो भारत म कभी भी लोकतन्त्र की स्थापना नही हो सकती ।

कांग्रेस द्वारा सहयोग का प्रस्ताव—द्वितीय महायुद्ध की स्थिति गम्भीर होती जा रही थी । फ्रान्स को हिटलर ने जीत लिया था । इस घटना न काग्रस को परेशान कर दिया और ७ जुलाई १९४० को पूना म उसने यह प्रस्ताव पास किया कि यदि ब्रिटिश सरकार यह आश्वासन दे कि भारत को युद्ध के पश्चात पूर्ण स्वाधीनता दे दी जायगी तथा तत्काल कन्द्र म भारतीय ससद के प्रति उत्तरदायी शासन की स्थापना कर दी जाय तो काग्रस युद्ध म अग्रेजो की मदद कर सकती है ।

वाइसराय ने कांग्रेस के इस प्रस्ताव के उत्तर म ८ अगस्त १९४० को एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसे अगस्त घोषणा के नाम से पुकारा जाता है । वाइसराय ने इस वक्तव्य म घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार युद्ध की समाप्ति पर यथाशीघ्र *भारत मे औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना करने को उत्सुक है तथा युद्धोपरात वह* भारतीय राष्ट्रीय जीवन क प्रमुख अगो के प्रतिनिधियो को लकर एक सविधान निर्मात्री परिषद की स्थापना करेगी जो भारत की भावी शासन-व्यवस्था की रूपरेखा निर्धारित करेगी । ब्रिटिश प्रधानमत्री चर्चिल ने भी यही घोषणा की । यह घोषणा सर्वथा मौलिक होने के बावजूद भी नितात निर्दोष न थी । ब्रिटिश सरकार ने प्रथम बार भारतीयो के लिए आत्मनिर्णय का सिद्धान्त स्वीकार किया था परन्तु उसके साथ

अनेक शरारतपूर्ण वाक्य जोडकर उसकी पवित्रता तथा गम्भीरता को विनष्ट कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार भारत की सुरक्षा सधि, देशी राजाओ व लोक सेवाओ के अधिकार के मामले म सरक्षण रखना चाहती थी तथा उसने इस घोषणा म अल्पसख्यको के हितो की रक्षा का प्रश्न उठाकर तत्काल सत्ता हस्तान्तरित करने से इन्कार कर दिया।

काग्रेस ने इस वक्तव्य को अस्वीकार कर दिया तथा उसे यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश सरकार किसी भी स्थिति म भारत को स्वराज्य देने को तैयार नही है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने उसका वणन करते हुए लिखा है कि 'अब अचानक मैने यह अनुभव किया कि जब तक इग्लैड पूरी तरह से नही बदल जाता तब तक हमारे लिए कोई सम्मिलित माग नही है। हम भिन्न मार्गों को अपनाना होगा।' +

व्यक्तिगत सत्याग्रह—काग्रेस बराबर यह महसूस कर रही थी कि वह सरकार का साथ नही दे सकती थी और वह बराबर सत्याग्रह का चिन्तन कर रही थी। मार्च १९४० म रामगढ (बिहार) अधिवशन के सभापति मौ० अबुल कलाम आज़ाद बने। उसी समय यह निर्णय कर लिया गया था कि सविनय अवज्ञा के अतिरिक्त देश के सामने और कोई मार्ग नही है तथा उसने जनता को उसके लिए तैयार रहने के लिए कहा।

समझौते के लिए किय गय सारे प्रयत्न असफल हो जाने के बाद गाधीजी फिर से मच पर आय और उन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह का कायक्रम देश के सामने रखा। गाधीजी ने सामूहिक प्रदशनो की मनाही कर दी। सत्याग्रहियो को कहा गया कि व भाषण देन की स्वतत्रता का उपयोग करें और युद्ध विरोधी प्रचार करें। प्रथम सत्याग्रही महर्षि विनोबा भाव थ। सरकार ने उन्हे और उनके बाद लगभग ६० हजार सत्याग्रहिया को जल म ठूँस दिया।

इसी बीच वाइसराय ने अपनी कार्यकारिणी म पाच अतिरिक्त भारतीय सदस्यो की नियुक्ति की परन्तु उन्हे वित्त सुरक्षा, गृह आदि कोई महत्वपूर्ण विभाग नही सौंपे। साथ ही उन्होने एक युद्ध-परामर्शदात्री परिषद का सगठन भी किया। अचानक सरकार न १९४१ के अन्त म समस्त सत्याग्रहियो को जल से छोड दिया। उधर जापान न मित्र राष्ट्रा क विरुद्ध युद्ध छेड दिया था तथा वह तेजी से भारत की ओर बढ रहा था, इस कारण देश म भय और आशका की स्थिति पैदा हो गई थी। १९४५ के २६ जनवरी को सुभाष बाबू अचानक फरार हो गय और व जर्मनी होते हुए जापान पहुच गय थ।

काग्रेस न ऐसी स्थिति म सरकार की ओर सहयोग का हाथ बढाना चाहा। इसके लिए उसन दिसम्बर म सत्याग्रह बन्द कर दिया और गाधीजी को नेतृत्व से मुक्त कर दिया। परन्तु सरकार पर कोई प्रभाव नही पडा, वह जरा भी झुकने को

+ 'Discovery of India,' 1947 pp 369

तैयार नही थी ।

साम्यवादी दल सरकार के साथ—२२ जून १९४१ को जर्मनी ने अचानक रूस पर धावा बोल दिया । भारत के कम्यूनिस्ट इस समय तक युद्ध का विरोध कर रहे थे परन्तु रूस और ब्रिटेन की सधि होते ही उन्होने युद्ध का समर्थन शुरू कर दिया और राष्ट्रीय आन्दोलन की निन्दा करने लगे । उसी कारण उन्हे कांग्रेस से निकाल दिया गया । कम्यूनिस्टों ने यह सिद्ध कर दिया कि वे अपने देश की अपेक्षा रूस के प्रति अधिक भक्ति रखते थे तथा उसके लिये वे देश की आजादी की माग को छोड सकते थे । कम्यूनिस्ट सरकार का साथ देने लगे ।

क्रिप्स-मिशन—सिंगापुर का पतन हो चुका था तथा बर्मा के पतन की आशा बनी हुई थी । दूसरी ओर ससार में यह विचार प्रबल हो उठा था कि भारत को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जाये । इसी समय ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री विन्सटन चर्चिल ने ११ मार्च १९४२ को घोषणा की कि ब्रिटिश ससद के एक सदस्य सर स्टेफोर्ड क्रिप्स ब्रिटिश सरकार के प्रस्ताव लेकर भारत आयेंगे । सर क्रिप्स २२ मार्च को दिल्ली पहुँच गये तथा उन्होने वाइसराय व भारतीय नेताओं से चर्चा शुरू कर दी । उन्होंने ब्रिटिश सरकार की ओर से जो प्रस्ताव पेश किये उनका सार इस प्रकार है—

(१) युद्ध की समाप्ति पर सविधान सभा की स्थापना होगी ।

(२) सविधान सभा मे देशी राज्य सम्मिलित रहेगे ।

(३) ब्रिटिश सरकार उस सभा द्वारा निर्मित विधान को इस शर्त पर लागू करेगी कि—

(अ) जो प्रान्त उसे स्वीकार न करें उन्हे अलग रहने का अवसर तथा बाद मे सम्मिलित होने की छूट मिले । ऐसे प्रान्तो मे नये सविधान द्वारा भारतीय सघ के समान स्वतन्त्रता दी जावे ।

(ब) सत्ता का हस्तान्तरण (Transfer) ब्रिटिश सरकार और संविधान सभा के मध्य होने वाली एक सधि द्वारा हो जिसके हितों की रक्षा का समुचित प्रबन्ध हो ।

(४) युद्ध काल मे ब्रिटिश सरकार भारत की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी होगी, इस दायित्व की पूर्ति मे भारतीय नेताओं और जनता का ठीक-ठीक सहयोग प्राप्त होना चाहिये ।

क्रिप्स-योजना अस्वीकृति—श्री क्रिप्स ने भारतीय नेताओ से एक लम्बी बात-चीत की परन्तु उनके प्रस्ताव कांग्रेस और दूसरे राजनीतिक दलों को मजूर नही हुए। गाधीजी ने इन प्रस्तावो को प्रश्न टालने का एक ढग (Post dated cheque) बताया । कांग्रेस ने इन प्रस्तावो पर निम्न दलीलें दी—

(१) भारतीय राज्यो के प्रतिनिधि राजाओ द्वारा भेजे हुए न होकर जनता द्वारा निर्वाचित हो । (२) प्रान्तो को संघ से अलग होने का अधिकार देने का अर्थ

है भारत को खंडित करना यानी पाकिस्तान की माग स्वीकार करना। (३) कांग्रेस तब तक देश से युद्ध मे भाग लेने के लिय नही कह सकती जब तक कि भारत को स्वशासन न मिले। स्वतन्त्र भारत के नागरिक ही स्वतन्त्रता की रक्षा के निमित्त बलिदान हो सकते हैं। एक पराधीन देश संसार की स्वतन्त्रता के लिए युद्ध में सम्मिलित हो, यह एक मजाक जैसी है। कांग्रेस ने माग की कि वाइसराय की स्थिति औपचारिक सम्राट जैसी हो तथा परिषद के सदस्यो को मत्री की स्थिति प्रदान की जाये।

सरकार इन प्रस्तावो को मानने के लिए बिलकुल भी तैयार नही थी अत चर्चा समाप्त हो गई और सर क्रिप्स एकदम वापिस लौट गये। यह नाटक किस प्रयोजन से रचा गया था यह जाहिर नही हो सका, शायद ब्रिटिश सरकार के मन में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका पर यह प्रभाव डालने की बात हो कि उसकी कोशिश के बावजूद भी भारतीय नेता समझौते के लिए तैयार नही हैं।

सारे देश म एक बेचैनी फैल रही थी, जापान हमारे पूर्वी द्वार की चौखट पर बैठा हुआ गुर्रा रहा था और यह भय हो गया था कि वह किसी भी समय देश मे घुस सकता है। डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी मृत्यु-शैया से जो विचार व्यक्त किये थे वे साकार होते से मालूम होते थे—

"भाग्य का चक्र किसी दिन अग्रेजो को अपना भारतीय साम्राज्य छोडने के लिए विवश कर देगा। परन्तु वे किस प्रकार का भारत अपने पीछे छोडकर जायेंगे, वह कैसी भयकर बर्बादी होगी? जब उनके सैकडो वर्षों के शासन की धारा सूख जायेगी तो उनके पीछे भारत म कैसी कीचड और गन्दगी का ढेर रह जायगा? एक समय मैने यह आशा लगाई थी कि योरुप के हृदय से सभ्यता की धारा फूट कर बहेगी, परन्तु आज जबकि मैं इस ससार से विदा ले रहा हूँ, मेरी वह निष्ठा पूरी तरह समाप्त हो चुकी है।"

सी० राजगोपालाचारी की सलाह—भारतीय राजनीति के भीष्म और बुजुर्ग नेता सी० राजगोपालाचारी ने कांग्रेस की इलाहाबाद बैठक म यह सलाह दी कि कांग्रेस को मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माग स्वीकार करके उसके साथ एक संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे का निर्माण करना तथा अग्रेजो के साथ असहयोग करना चाहिये। राजाजी की बात कांग्रेस ने नही मानी और वे इस प्रश्न पर कांग्रेस छोडकर अलग हो गय।

गांधीजी फिर से नेता—कांग्रेस जब चारो ओर से निराश हो गई और अपने रास्ते से हटकर हिंसा और युद्ध के गीतो मे भी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को प्रसन्न करने मे असफल हो गई तो वह पुन उसी महान नेता की शरण म आई जो स्वाधीनता का मसीहा बनकर भारत का मार्ग-दर्शन हर सकट की घडी मे कर रहा था। गाधीजी के लेखो का रुख बदल गया और वे खुले आम असहयोग की चर्चा करने लगे। कांग्रेस ने गाधीजी को फिर से अधिनायक (Dictator) मान लिया तथा १४ जुलाई १९४२ को कांग्रेस कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव द्वारा घोषणा करदी कि यदि

तुरन्त भारत को स्वतन्त्रता न दी गई तो शीघ्र ही भारत अपना अन्तिम स्वतन्त्रता सग्राम छेड देगा।

७ और ८ अगस्त को बम्बई म काग्रेस की बैठक हुई और ८ अगस्त को अन्त म असहयोग का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। गाधीजी ने स्वय 'भारत छोडो' प्रस्ताव रखा था। उन्होंने भारत की जनता को "करो या मरो" (Do or Die) का नारा दिया। यह स्वतन्त्रता की आखिरी लडाई थी और पूर्ण स्वराज्य यानी 'अग्रेजो भारत छोडो' के व्यापक लक्ष्य को लेकर लडी गई प्रथम लडाई थी। गाधीजी चाहते थे कि सत्याग्रह के नियमानुसार भारत छोडो-प्रस्ताव वाइसराय को भेजा जाये, उस पर चर्चाएँ हो तथा सरकार यदि अपना रुख न बदले तो लडा जाय।

गाधी जी की यह इच्छा पूरी न हो सकी और उन्हे इतना समय न मिल सका कि वे देश के सामने अपना कार्यक्रम रख सकते। सारे देश के भीतर ९ अगस्त को सवेरे ही बडे से लेकर छोटे से छोटे काग्रेस कार्यकर्ता को सरकार ने नजरबन्द कर लिया। गाधीजी को आगाखा महल पूना मे रखा गया। कार्यसमिति के सदस्यो को बिना कुछ बताये अहमद नगर के किले मे नजरबन्द कर दिया तथा देश को उनके बारे मे कोई सूचना नही दी।

आन्दोलन गाधीजी के बजाय सरकार ने शुरू कर दिया, सारा देश क्रोध की आग मे जलने लगा। चारो ओर से करो या मरो की पुकार आने लगी। १८५७ से भी भयंकर दृश्य देश मे पैदा हो गया। भारत पागल हो गया था, उसने अग्रेजी साम्राज्य को नष्ट करने मे अपनी पूरी शक्ति उडेल दी। यह काग्रेस का आन्दोलन नही था, यह भारत की कोटि-कोटि जनता के जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था और उसने बिना किसी सगठन, बिना किसी नेता तथा बिना किसी बाहरी मदद के इस युद्ध का सचालन किया। एक ओर सरकार का दमन चरम सीमा पर था, दूसरी ओर जनता का भीषण क्रोध था। सरकार ने जलियानवाला हत्याकाड की सैकडो हजारो पुनरावृत्तियाँ की परन्तु जब सरकार की मशीनगनें आग उगलती थी, भारत के जवान और बूढे उस आग मे प्राणो का मोह छोडकर कूद पडते थे।

बलिदान की यह कहानी बहुत रोमाचकारी है, इसका वर्णन करने के लिए कम से कम एक हजार पृष्ठो की आवश्यकता होगी जो यहा सम्भव नही है। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि यह युद्ध भारत की आम जनता का युद्ध था, इससे दो वर्ग अलग रहे, एक थे कम्यूनिस्ट और दूसरे थे रईस व जमीदार। देश की आजादी की लडाई मे ये ही अवरोधक तत्व बने परन्तु देश उससे विचलित नही हुआ, गुमराह नही हुआ और उसने तनिक भी यह परवाह नही की।क महा-युद्ध पर राष्ट्रीय संग्राम का क्या प्रभाव होगा। उसे इतनी फुर्सत ही नही थी कि वह रूस और ब्रिटेन की आजादी की चिन्ता करे, वह अपनी आजादी के लिए जान की बाजी लगाकर अन्तिम प्रयत्न कर रहा था। मरता क्या न करता। भारत की आम जनता के बारे मे दावा किया जा सकता है कि उसकी राजनीतिक समझ संसार के किसी भी देश की शिक्षित

जनता से कही अधिक है। उसने भली प्रकार समझ लिया था कि इस संघर्ष की विफलता का अर्थ है भीषण गुलामी लाचारी, अत्याचार और अपमान। अत उसने अपनी पूरी शक्ति आन्दोलन मे उडेल दी। जेलें ठसाठस भरी हुई थी और बात की बात मे गोलियो के सामने निर्दोष जनता बिछ जाती थी उसका एक ही दोष था कि वह अपने लिए आत्म-निर्णय का अधिकार चाहती थी उसी आत्म-निर्णय का, जिसकी रक्षा के लिए रूस, ब्रिटेन और अमेरिका युद्ध लड रहे थे और भारत को भी अपनी पूछ से बाधकर घसीटे ले जा रहे थे।

श्वेतपत्र और बापू का उपवास—सरकार ने एक श्वेत पत्र प्रकाशित करके काग्रेस और गाधीजी पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने देश म हिसा और बर्बादी को प्रोत्साहन दिया है और वे इसके लिए जिम्मेदार है। गाधीजी ने वाइसराय के साथ पत्र-व्यवहार करके अपनी स्थिति साफ करनी चाही परन्तु सरकार मूर्खतापूर्ण बातें करती रही। इस पर गाधीजी ने यह जाहिर कर दिया कि अहिंसा पर अपना विश्वास प्रगट करने के लिए मै २१ दिन का पूर्ण उपवास करूगा। उपवास ६ फरवरी १९४३ को आरम्भ हुआ।

सकट की वे घडिया देश के लिए एक नई मुसीबत का पैगाम बनकर आई, परन्तु इससे आन्दोलन बहुत तीव्र हो गया। सरकार ने उपवास के दौरान मे गाधीजी को पूरी आजादी दे दी कि वे डाक्टरो और सबधियों से मिल सकें। ७३ वर्ष की आयु मे बापू अपने दुर्बल शरीर से उपवास करेंगे वह भी २१ दिन लम्बा, यह एक कष्टदायक समाचार था देश बेचैन हो गया। जब यह समाचार जेलो के सीखचो के पीछे पिंजरो मे बन्द हम लोगो को मिला तो बबसी और लाचारी से हमारी क्या स्थिति हुई यह कहने मे नही आ सकती उसका एक ही उपाय हमारे पास था कि जेलो म पडे हुए लाखो लोग बापू के साथ उपवास रखकर सरकार को परेशान करे, परन्तु इसके लिए बापू का सख्त आदेश था कि दूसरा कोई भी उपवास न करे। फिर भी हम मे से कुछ ऐसे निकले ही जिन्होंने बापू के प्रेम के कारण ही बापू के आदेश का उल्लघन किया।

किसी तरह ईश्वर की कृपा स सकट की वे घडिया कुशलतापूर्वक पार हो गयी। गाधीजी के अनशन से प्रभावित होकर वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य सर्व श्री होमी मोदी, एम० एम० अणे और नलिनीरजन सरकार ने सरकार से असहयोग करके अपने पदो को छोड दिया। इससे भारत म बहुत सन्तोष हुआ।

यहा यह कह दना उचित होगा कि जब बापू ने १४ अगस्त के पत्र म वाइसराय की घोषणा का प्रतिवाद किया तभी उनके निजी सचिव श्रद्धेय महादेव भाई देसाई समझ गए कि वाइसराय नही मानेगा और बापू अवश्य उपवास करेंगे। इस विचार ने उनके मस्तिष्क को एक दम दबोच लिया और वे १५ अगस्त १९४२ के दिन बिना एक दिन भी बीमार रह चन्द क्षणो मे मर गये। बापू का यह उपवास इतना दर्दनाक था कि उनकी धर्म पत्नी राष्ट्र माता कस्तूरबा उससे घबडा गई और

१६४४ के आरम्भ मे, जब उन्हे फिर ऐसे लक्षण दिखाई पडे कि कही बापू उपवास न कर बैठें, तभी वे खटिया से लग गई और आखिर २२ फरवरी १६४४ को वे भी मर गयी। इन दोनो महावीरो की समाधिया आज भी आगा खा महल के आगन मे भारतीय स्वाधीनता के यज्ञ म पडी हुई दो महान आहुतियो की याद दिलाती है और बरबस हमारा सिर उनके सामने झुक जाता है तथा हमारे मन म एक ही प्रार्थना उठती है कि हम उस ज्योति शिखा को प्रज्वलित रख सके जो उन्होने अपने जीवन में जलाई तथा इस प्यारे भारत देश के निर्माण एव रक्षण के लिए अपना सर्वस्व लुटाने के लिए हर दम तैयार रह सकें।

गाधीजी छूट गये—गाधीजी का स्वास्थ्य डा० सुशीला नायर की पूरी देखभाल के बाद भी निरन्तर गिरता जा रहा था। इसी बीच उनकी स्थिति काफी खराब हो गई। सरकार नही चाहती थी कि गाधीजी जल मे मरें क्योकि वह जानती थी गाधी जी ने जिस तूफान को मजबूती से रोके रखा है वह उनकी मृत्यु पर फूट पडेगा तथा वह हिन्दुस्तान म एक क्षण भी न टिक सकेगी। वह भारत के लोगो को वह अवसर नही देना चाहती थी। अत उसने मई १६४४ मे गाधीजी को छोड दिया। जेल से छूटने पर गाधीजी आन्दोलन के बारे मे चिन्तित रहे परन्तु लाड वेवल का रुख बहुत कडा था और वे भारत छोडो आन्दोलन वापिस लेने पर बल दे रहे थे। गाधीजी ने कह दिया कि वे अकेले कुछ नही कर सकते थे काग्रेस कार्यसमिति से मिल कर ही वे कुछ कह सकते थे परन्तु वाइसराय लार्ड वेवल कार्य समिति के सदस्यो को छोडने के लिए तैयार नही थे अत मामला ज्यो का त्यो रहा।

चर्चा, विभाजन और स्वराज्य
(१६४५ से १६४७)

गाधी-जिन्ना भेंट—१६४४ के अगस्त में सेवाग्राम लौटने पर बापू ने चर्चा के लिए सी० राजगोपालाचारी को बुलाया उस समय श्री भूलाभाई देसाई और श्रीमती सरोजिनी नायडू भी वहा आ गये थे। राजाजी ने गाधीजी को इस बात के लिए तैयार कर लिया कि मुस्लिम लीग के अध्यक्ष मुहम्मदअली जिन्ना के सामने यह प्रस्ताव रखा जाय कि यदि वे स्वतत्रता के मामले मे काग्रेस का साथ दें तो काग्रेस इस बात के लिए तैयार हो जायगी कि मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तो मे स्वतत्रता के बाद लोक-निणय (Plebiscite) करा लिया जाए और यदि लोक निर्णय पाकिस्तान के पक्ष मे हो तो उसकी स्थापना कर दी जाय।

श्री राजाजी ने यह प्रस्ताव रखा और गाधीजी स्वय जिन्ना साहब के मकान पर जाकर उनसे मिले और हर प्रकार से अपने प्रेम का परिचय दिया परन्तु वे तो टस से मस भी नही हुए और वही पुराना राग अलापते रहे कि बिना लोक निर्णय के ही पाकिस्तान बनाया जाय। यह बात गाधीजी को नही जची और इस प्रकार यह बातचीत असफल हो गयी।

शिमला सम्मेलन—लार्ड वेवल जब वाइसराय बनकर भारत आये तो उन्होंने सबसे पहला काम गाधीजी को जेल से छोडने का किया। ब्रिटिश सरकार के सामने युद्ध समाप्त होने के पश्चात् ब्रिटिश ससद के चुनाव आ रहे थे। श्री चर्चिल चाहते थे कि भारत के प्रश्न पर उससे पहले कुछ निर्णय हो जाये तो उनकी स्थिति अपने चुनावो में ठीक रहेगी। अत उन्होने वाइसराय लार्ड वेवल को चर्चा के लिए लन्दन बुलाया। वहा से लौटने पर १४ जून १६४५ को लार्ड वेवल ने रेडियो से एक योजना देश के सामने रखी, ठीक उसी दिन वैसी ही घोषणा भारत मत्री श्री एमरी ने ब्रिटिश लोक-सभा में की।

इस योजना पर विचार और चर्चा के लिए सरकार ने १६ जून १६४५ को कांग्रेस कार्य समिति के सदस्यो को छोड दिया। योजना पर चर्चा करने के लिए वाइसराय ने २५ जून को शिमला मे एक सम्मेलन बुलाया जिसमें सरकार ने वही नीति बरती कि उसने राष्ट्रवादी और प्रतिक्रियावादी सभी दलो के नेताओ को आमन्त्रित किया क्योकि उसे मालूम था कि इस प्रकार के किसी भी सम्मेलन मे अडंगा लगाने के लिये प्रतिक्रियावादी शक्तियो की उपस्थिति अनिवार्य है।

शिमला-सम्मेलन तो एक ढोंग था, आखिर मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की रट नही छोडी और कांग्रेस उसे स्वीकार नही कर सकी। सम्मेलन असफल रहा तथा देश के नेता शिमला से निराश होकर लौटे, अभी तक ऐसे प्रत्येक सम्मेलन का यही परिणाम हुआ था।

ब्रिटेन मे श्रम-दल की जीत : भारत में चुनाव—जुलाई १६४५ के ब्रिटिश चुनावो मे रूढ़िवादी दल (Conservative Party) परास्त हो गया और श्रम-दल (Labour Party) विजयी हुआ। श्रमदल की सरकार बनते ही वाइसराय ने भारत में चुनावों की घोषणा की। साथ ही यह भी घोषणा की गई कि भारत में एक संविधान निर्मात्री परिषद् (Constituent Assembly) का संगठन किया जाएगा जो भारत के लिए नया संविधान बनायेगी। चुनाव की यह घोषणा कुछ ऐसे शब्दो मे की गई थी जिसमे ऐसा लगता था मानो निर्वाचन परिणाम पर ब्रिटिश सरकार अगला कदम उठायेगी।

कांग्रेस ने चुनावो म भाग लेने की घोषणा करदी तथा कहा कि वह अपने ८ अगस्त १६४२ के "भारत छोडो" प्रस्ताव पर डटी हुई है और उसी लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त चुनाव लड रही है। कांग्रेस चुनाव म भारी बहुमत प्राप्त करने मे सफल हुई। उसे एक करोड नब्बे लाख मत प्राप्त हुए इसका अर्थ यह है कि मतदाताओ का विशाल बहुमत "भारत छोडो" प्रस्ताव का अनुमोदन कर रहा था। परन्तु मुस्लिम मतो में से उसे केवल ५ लाख ही मिले जब कि लीग को १५ लाख। इन चुनावों मे दो परिणाम स्पष्ट रूप से नजर आने लगे कि—(१) भारत की जनता स्वाधीनता चाहती है, और (२) भारत के मुसलमान पाकिस्तान चाहते हैं।

चुनाव के परिणामस्वरूप पंजाब मे यूनियनिस्ट दल का मत्रिमंडल बना, सिंध

और बगाल मे मुस्लिम लीग का तथा शेष प्रान्तो मे कांग्रेस का। यह उल्लेखनीय है कि इस बार कांग्रेस को सीमाप्रान्त म भी स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ था। यह प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता खान अब्दुल गफ्फारखां का प्रभाव था।

आजाद हिन्द फौज और नौसैनिक विद्रोह—इस बीच दो बडी घटनाएँ हुई। भारत के प्रसिद्ध वीर नेता और हृदय सम्राट श्री सुभाषचन्द्र बोस ने जापान मे २१ अक्तूबर १९४३ को भारत के एक दूसरे क्रान्तिकारी नेता श्री रासबिहारी घोष के नेतृत्व मे सगठित आजादहिन्द फौज का पुनर्गठन किया। ७ जनवरी १९४४ को इसका कार्यालय रगून मे आ गया। इस फौज मे ५० हजार सिपाही थे। जापान की पराजय के साथ आजाद-हिन्द फौज भी पराजित हुई। श्री सुभाष बाबू एक हवाई उडान मे दिवगत हो गये और ब्रिटिश सरकार आजाद-हिन्द फौज के भारतीय सैनिको को पकडकर भारत में ले आई, इन पर उसने खुली अदालत में मुकदमे चलाये। श्री जवाहरलाल नेहरू ने स्थिति को ताड लिया और वे तुरन्त वकील का चोगा पहनकर लाल किले मे होने वाले उस मुकदमे की पैरवी के लिए खडे हो गये। कांग्रेस ने श्री भूलाभाई देसाई को इसका जिम्मा सौंपा। आजाद हिन्द फौज के संगठन ने देश की राजनीति को बहुत अधिक प्रभावित किया। सब भारतीय सेनाएँ इस उदाहरण से विद्रोही हो गई। स्वय सरकार यह समझ गई और उसने भारतीय सेना पर विश्वास करना छोड दिया। इससे अंग्रेजी सरकार के पावो के नीचे की जमीन खिसक गई और भारत की जनता की राष्ट्रीयता बहुत उन्नत एव आक्रमक हो गई।

इसी समय एक दूसरी महान घटना यह हुई कि १८ फरवरी १९४६ में बम्बई मे "तलवार" नामक जहाज के भारतीय प्रशिक्षार्थियो को गोरे कमांडर किंग ने कुत्ते का बच्चा, कुली का बच्चा आदि अनेक अपमानजनक शब्द कहे। १८ फरवरी को उन्हे बहुत खराब नाश्ता मिला। इस पर उन्होंने हड़ताल कर दी तथा १९ फरवरी को सारी नौसेना के भारतीय सैनिको व अधिकारियो ने हडताल कर दी, इसमे १२० जहाजों के लगभग २० हजार नौ-सैनिक शामिल हुए। जहाजो पर तिरगा झडा लहरा दिया गया। अगले दिन बम्बई की सडको पर हडतालियो ने जुलूस निकाला। २१,२२ फरवरी को स्थिति भयकर हो गई और दोनो ओर सशस्त्र युद्ध चालू हो गया। कराची मे भयकर युद्ध हुआ। अन्त म सरदार पटेल बीच में पडे और उन्होने सम्मानपूर्वक मामले को निपटवाया।

इस सब ने अंग्रेजी सरकार को घबडाहट मे डाल दिया। एक बात बहुत साफ थी कि अंग्रेज लोग अंग्रेजी सैनिको के बूते पर भारत मे शासन नहीं कर सकते थे। भारतीय सेनाएँ ही उनकी वास्तविक शक्ति थी। जिस समय कांग्रेस देश मे स्वतन्त्रता का सघर्ष कर रही थी, सुभाष बाबू ने अंग्रेज की इस शक्ति मे बारूद लगाया। फौजें बिगड गई और अंग्रेज का बात करने का ढंग बदल गया क्योंकि वे लोग सैनिक भाषा अधिक भली प्रकार समझते थे।

केबिनेट-मिशन—सैनिक विद्रोह ने रातो-रात अंग्रेज सरकार की नीद लन्दन

में हड़ताल कर दी। १८ फरवरी को विद्रोह हुआ और १९ फरवरी को ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री एटली ने ब्रिटिश संसद मे घोषणा की कि शीघ्र ही वे एक केबिनेट मिशन भारत भेज रहे हैं जो भारत के प्रश्न को हल करेगा तथा "भारतीय नेताओ के साथ मिलकर भारत में पूर्ण-स्वराज्य की स्थापना की दिशा में" काम करेगा।

यह मिशन मार्च १९४६ मे भारत आया, इसमें भारत मन्त्री लार्ड पैथिक लारेंस, बोर्ड आफ ट्रेड के अध्यक्ष सर स्टेफर्ड क्रिप्स तथा लार्ड एडमिराल्टी अलेक्जेंडर, ये तीन सदस्य थे। इस मिशन की चर्चाओ का विस्तृत वर्णन हम सांविधानिक विकास के संदर्भ में अगले खण्ड मे करेंगे। यहां इतना कहना पर्याप्त होगा कि इस मिशन के आने पर अंग्रेज सरकार और कांग्रेस दोनो ही लीग की ढिठाई के बावजूद भारत के प्रश्न को हल करने पर तुल गये थे। हल तो निकला पर बटवारे की शर्त पर, कांग्रेस ने जब यह देखा कि उसे पाकिस्तान या पराधीनता में से किसी एक को चुनना है तो वह पाकिस्तान की मांग को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गई और आखिरकार १५ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्रता का पर्व बहुत प्रतीक्षा और बलिदान के पश्चात् आ ही गया।

अन्तरिम सरकार की स्थापना—केबिनेट मिशन योजना के आधार पर २ सितम्बर १९४६ को एक अन्तरिम सरकार की स्थापना की गई। प्रारम्भ मे इसमें केवल कांग्रेस के ही सदस्य थे, बाद मे २६ अक्तूबर को लीग के पांच प्रतिनिधि भी इसमे शामिल हो गये। इसी बीच मे लीग सीधी कार्यवाही शुरू करके देश में साम्प्रदायिक दंगों को जन्म दे चुकी थी। अन्तरिम सरकार के उपाध्यक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू थे।

संविधान निर्मात्री परिषद्—योजना के अनुसार प्रांतीय विधान सभाओं ने कुछ प्रतिनिधियो का चुनाव किया तथा ये प्रतिनिधि ९ दिसम्बर १९४६ को दिल्ली में संविधान निर्मात्री परिषद् के रूप से संगठित हुए। इसकी प्रारम्भिक अध्यक्षता वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ श्री सच्चिदानन्द सिन्हा ने की और उसी समय डा० राजेन्द्रप्रसाद को परिषद् का स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित कर लिया गया। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इस अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए कहा था कि यह परिषद् एक प्रभुता सम्पन्न संस्था है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि अब कोई शक्ति हम भारत का संविधान बनाने से नहीं रोक सकती।

भारत-विभाजन की घोषणा—ब्रिटिश सरकार बहुत तेजी के साथ भारत को छोड़कर भाग जाना चाहती थी। उसने लार्ड वेवल को वापिस बुला लिया और राजघराने के उदार व्यक्ति लार्ड माउन्टबेटन को वाइसराय बनाकर भारत भेज दिया। उन्होंने ३ जून को घोषणा कर दी कि भारत का विभाजन होगा तथा भारत को स्वतन्त्रता दे दी जायेगी। कांग्रेस आखिरकार झुक गई और गांधीजी का हृदय बहुत दुखी हुआ परन्तु विभाजन का यह निर्णय नियति का विधान बन कर हमारे ऊपर सवार हो गया तथा हम उसका प्रतिरोध न कर सके।

१५ अगस्त १९४७—भारत की स्वतंत्रता का यह पुनीत दिन इतिहास में अमर रहेगा, यदि हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा रक्त से भी अधिक अपने माथे के पसीने से कर सकें तो।

इस दिन हम न भूलें भारतीय स्वाधीनता के सबल प्रहरी महर्षि अरविन्द को, जिनका जन्म-दिन इसी दिन पडता है, तथा उस मेधावी महापुरुष श्री महादेवभाई देसाई को जिसने गाधी को हमारा नेतृत्व करने में शक्ति और सामर्थ्य प्रदान की और जो १९४२ में इसी दिन भारतीय स्वाधीनता की बलि वेदी पर क्रूर आगाखाँ महल की जेल के सीखचो के पीछे चुपचाप शहीद हो गया था।

हम यह भी न भूलें कि जब यह पवित्र दिवस आया तब हमारे राष्ट्रपिता और स्वातन्त्र्य समर के अमर नायक बापू हमारे बीच मे न थे, वे अपनी प्यासी आखों से लालकिले की प्राचीरो मे तिरगे राष्ट्रध्वज की उठती हुई, उगती हुई झाकी न देख सके। शान्ति का वह मसीहा उस घडी मे साम्प्रदायिक आग में झुलसी हुई नोआखाली के कलेजे पर करुणा का मरहम लगा रहा था, नगे पाव एकाकी वह ऋषि अहिंसा की साधना कर रहा था।

भारतीय राजनीति पर महात्मागाँधी का प्रभाव

ऐसे व्यक्ति के लिए जो भारत में भारतीय प्रजा के निकट सम्पर्क में न रहा हो महात्माजी के आश्चर्यजनक प्रभाव को समझना प्राय असम्भव है। उन्होने मध्यम वर्ग के हृदय मे देश भक्ति की भावना को उत्कट बना दिया तथा सबसे बडी बात यह थी कि भारतीय राष्ट्रीयता को वे जनता के हृदय तक ले गये। गाधीजी जिस समय भारतीय राजनीति मे घुसे उस समय तक कांग्रेस एक प्रेशर-ग्रुप (दबाव डालने वाला दल) के रूप मे काम कर रही थी। उन दिनो वह बातचीत, प्रस्ताव आदि के साधनो को लेकर काम करती थी। उस जमाने में कांग्रेस पूर्णतया चन्द शिक्षित लोगों तक सीमित थी। महात्मा गाधी ने भारत के ग्राम के पढ़े लिखे मजदूर, किसानो, दुकानदारो और साधारण नागरिकों में राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय भावना भर दी तथा कांग्रेस को एक लोकतन्त्रीय जन-सगठन बना दिया।

गांधीजी ने कांग्रेस मे प्रवेश करते ही उसके विधान मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करा दिया। उसकी सदस्यता का आधार विस्तृत कर दिया गया, जिसमे मध्यम वर्ग के साथ ही किसान-मजदूर भी शामिल हो गये। गाधीजी ने कांग्रेस को निष्क्रिय से एक सक्रिय सगठन बना दिया। उस सक्रियता का आधार हिंसा न होकर शान्ति था तथा शान्ति के बावजूद भी गाधीजी ने अन्याय और अत्याचार को चुपचाप सहन करने के खिलाफ आवाज उठाई। एक ओर वे यह मानते थे कि हम राजनीति में वैधानिक और शान्तिमय उपायों को काम में ले, दूसरी ओर उनकी मान्यता थी अन्याय को तिल भर भी सहन न किया जाए।

खुली राजनीति—गाधीजी ने भारतीय राजनीति को आदि से अन्त तक

परिवर्तित कर डाला। उन जैसा निर्भय पुरुष स्वामी विवेकानन्द के सिवाय दूसरा कोई नहीं हुआ। उन्होंने राष्ट्र को भी निर्भय बनाया। उन्होंने हमें सिखाया कि राजनीति नाली का गन्दा पानी नहीं है वरन् वह पवित्र गंगाजल है। उसमें डरने, छिपने और गुप्त ढंग से काम करने की कोई आवश्यकता नहीं है। राजनीति को गांधीजी ने सत्य के आधारों पर खड़ा किया और लोकतन्त्र की आत्मा को पहचान कर उन्होंने विचार परिवर्तन का मार्ग चुना विरोधी के विरुद्ध हिंसात्मक शक्ति प्रयोग करने का रास्ता नहीं। उन्होंने एक ओर धर्म को मानवीय आधारों पर प्रतिष्ठित करके उसमें से साम्प्रदायिक संकीर्णता का दंश निकालने की चेष्टा की दूसरी ओर राजनीति में से कूटनीति निकाल कर उसको आध्यात्मिक आधारों पर प्रतिष्ठित किया। भारतीय राजनीति को गांधीजी ने आतंक और डकैती से ऊपर उठाकर खुलकर खेला जाने वाला एक खेल बना दिया। उन्होंने देश के आम आदमी की राष्ट्रीय भावना को चुनौती देकर उसे जाग्रत और प्रखर बना दिया। देश के लिए कष्ट उठाना, जेल जाना और मर जाना गांधी ने आम जनता को सिखाकर उसे ऐसे विशाल और बली साम्राज्य के खिलाफ खड़ा कर दिया जो शस्त्र-बलपर शायद सौ साल तक भी हमारी छाती पर से नहीं हट सकता था।

रचनात्मक कार्य—गांधीजी ने हमें विदेशी शासन के खिलाफ ही खड़ा नहीं किया उन्होंने केवल अंग्रेजी शासन के मिथ्याचार के विरुद्ध ही अनशन और सत्याग्रह किया हो वैसा नहीं है उन्होंने हमें हर बुराई से लड़ने के लिए ललकारा, वे स्वयं अपने समाज के दोषों के विरुद्ध भी लड़े उनसे असहयोग किया उनके विरुद्ध भी सत्याग्रह और अनशन उन्होंने किये। गांधीजी एक योग्य सेनानी थे युद्ध के मैदान में उनके दो नारे थे—एक तो यह कि बुराई के साथ असहयोग करो चाहे वह बुराई विदेशी शासन के रूप में प्रगट हो छुआछूत के रूप में या साम्प्रदायिकता के रूप में। उनका दूसरा नारा यह था कि भलाई की शक्तियों को रचनात्मक कार्यों द्वारा पुष्ट करते चलो। एक ओर वे विदेशी वस्त्र की होली जलवाते थे, दूसरी ओर वस्त्र की पूर्ति के लिए चर्खा चलवाते थे। गाँधीजी एक विध्वंसात्मक राजनीतिज्ञ नहीं थे उनकी दृष्टि एकदम रचनात्मक या विधायक थी।

अहिंसा—भारतीय राजनीति को गांधीजी की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने राजनीतिक निर्णय करते समय गुस्सा छोड़कर शान्त रहने का मंत्र हमें दिया। राजनीति का प्रभाव कोटि कोटि जनता के जीवन पर पड़ता है अतः उसमें हमको बहुत अधिक शान्त और स्थिर मस्तिष्क तथा साफ दिल से निर्णय करने चाहिये। गांधीजी जानते थे कि राजनीति में यदि कुछ बहुत घृणित और घिनौनी बात है जिसके बुरे परिणाम आम जनता को उठाने पड़ते हैं, वह है राजनीतिज्ञों के बीच का पारस्परिक वैमनस्य और व्यक्तिगत राग द्वेष। उन्होंने व्यक्तिगत कड़ुवाहट पैदा किये बिना राजनीति में भाग लेने का और विरोधी के साथ भी व्यक्तिगत जीवन में तथा सार्वजनिक प्रदर्शन में प्रेम के निबाहने का आदर्श उदाहरण हमारी आंखों के सामने

रखा। श्री जवाहरलालजी ने भारत के अहिंसात्मक संघर्ष का वर्णन इन शब्दों में बहुत सुन्दर ढंग से किया है "कांग्रेस १९२० से ही एक वैधानिक राजनीतिक दल से बहुत कुछ अधिक थी, और स्पष्टतः या अस्पष्टतः इसके चारों ओर क्रान्तिकारी वातावरण रहता था जिसके कारण प्रायः इसे गैरकानूनी घोषित कर दिया जाता था। वह इस कारण कम क्रान्तिकारी नहीं मानी जा सकती कि उसकी कार्यवाही हिंसा, कपट और षड्यन्त्र से, जो प्रायः क्रान्तिकारी कामों के अनिवार्य अंग माने जाते हैं, सम्बन्धित नहीं थी। वह कार्यवाही सही थी या गलत और प्रभावशाली थी या नहीं यह बात विवादास्पद हो सकती है परन्तु यह स्पष्ट है कि उसमें उच्चकोटि का शान्तिपूर्ण साहस और सहनशीलता निहित थी। केवल अपने विचार के आग्रह (सत्याग्रह) पर जीवन की प्रत्येक वस्तु को बलिदान कर देने तथा इस प्रकार दिनों महीनों और वर्षों तक कुर्बानी करते रहने की अपेक्षा क्षणिक हिंसक जोश में जान भी दे डालना, शायद आसान है। इस कसौटी पर कहीं भी बहुत कम लोग खरे उतर सकते हैं, परन्तु यह आश्चर्यजनक बात है कि भारत में बहुत लोग इस कसौटी में सफल रहे हैं।"+

हृदय-परिवर्तन—गांधीजी बहुत कुशल राजनीतिज्ञ थे इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने कभी भी किसी की मुसीबत का लाभ नहीं उठाया। वे स्वयं कष्ट सहते रहे परन्तु विरोधी को लेश मात्र भी कष्ट नहीं देना चाहा। हो सकता है कि कुछ लोग इसे राजनीति न कह कर महात्मापन कहें, परन्तु हमारा विश्वास है कि सच्ची राजनीति यही है और यदि हम संसार की शांति और उसमें लोकतंत्र की स्थापना तथा सफलता का स्वप्न देखते हो तो हम सिर फोड़ने के बजाय सिर बदलने की कला सीखनी होगी दिल तोड़ने के स्थान पर दिल जोड़ने की विद्या सीखनी पड़ेगी।

जन-सम्पर्क—गांधीजी ने भारत के राजनीतिज्ञों को आराम कुर्सी से उठाकर खड़ाकर दिया और उन्हें आम जनता के पास सम्पर्क स्थापित करने, उसकी स्थिति व आवश्यकता जानने तथा उसके साथ अपने आपको आत्मसात करने के लिए भेजा। श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस बारे में लिखा है—"गाँधीजी विलक्षण भारतीय हैं, वे राजनीति से दूर हटकर चुपचाप बैठ जाने के घोर विरोधी हैं। वे शक्ति व सक्रियता में दानव सरीखे हैं वे व्यस्ततावादी हैं तथा वे केवल अपने आपको ही नहीं, दूसरों को भी संचालित करते हैं। उन्होंने हमें देहातों में भेजा तथा हमारे देहात सक्रियता के नये मंत्र के अगणित सन्देशवाहकों के कार्यों से गूंज उठे। किसान को उन्होंने हिला डाला और वह अपने तटस्थ घोंघे में से बाहर निकला। इन यात्राओं के द्वारा हमने अपने भारतीय अर्थशास्त्र को पुस्तकों तथा विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों की अपेक्षा कहीं अधिक समझा।"$ इस प्रकार गांधीजी ने एक ऐसे नेतृत्व का देश में निर्माण किया जो भारतीय दशाओं से परिचित हुआ और जिसने इस देश के दुख-दर्द को समझा,

---

+ The Discovery of India, 1947, pp 30~.

$ The Discovery of India, 1947, pp 302

महसूस किया और जो उससे बेचैन हुआ। दुनिया की राजनीति म सब जगह राजनीतिक नेता जनता से अलग ऊचा जीवन-स्तर रखते हैं। गाधी आया और भारत के ग्राम देहाती आदमी के साथ एकाकार हो गया। इसने महात्मापन के लिए नही वरन् भारत के साथ एकाकार होने के लिए लगोटी बाध ली, पाखाना साफ किय, चर्खा चलाया और सड़कें साफ की और यह सब उसने भारत के देहातों से लेकर बकिंघम महल तक किया। वह बडे नगरों की ऊची अट्टालिकाओं म नहीं रहा, सुदूर देहात के कच्चे झोपडो में उसने बसेरा किया, वह प्रथम श्रेणी और वातानुकूलित रेल-डिब्बा म नही चला, उसने हमेशा तीसरे दरज के डिब्बे म यात्राएं की।

इन सब कामों से गाधीजी ने भारतीय राजनीति को नया मोड दिया। इसका अर्थ यह था कि नेता जनता का अफसर नहीं सेवक होता है, शोषक नही मित्र होता है तथा वह ग्राम जनता के जैसे स्तर पर जीवन जीता है। यह था गाधी जी का समाजवाद। हम इस कसौटी पर कितने खरे उतरते हे यह कसौटी हम स्वयं ही अपने ऊपर लागू करें।

'मेरा भारत'—गाधीजी ने भारतीय राजनीति के सामन नय निर्माणकारी लक्ष्य रख—"मैं ऐसे भारत के लिए काम करूगा जिसमे, जो आज सबसे अधिक निर्धन हैं, वे भी यह महसूस करेंगे कि भारत उनका देश है जिसके निर्माण मे उनका प्रभावशाली पथ है उस भारत के लिए जिसम सब जातिया प्रमपूर्वक रहेगी उस भारत के लिए जिसमे जनता के बीच ऊच-नीच का भेदभाव नही होगा। ऐसे भारत मे छुआछूत या नशील पेय और पदार्थो के अभिशाप के लिए कोई स्थान नही होगा तथा स्त्रिया पुरुषो के समान अधिकार भोगेगी। मेरे स्वप्न का भारत ऐसा है।"

राष्ट्र-जागरण—सर परसीवल ग्रिफिथ्स ने 'माडर्न इण्डिया' में लिखा है कि जब वे (सर ग्रिफिथ्स) पहली बार १६२२ में भारत आय उस भारत की देहाती जनता केवल यह जानती थी कि वह अमुक गाव या जाति की सदस्य है परन्तु दूसरे महायुद्ध के समय तक गाधी ने सारी स्थिति बदल डाली। मुसलमान और अछूत भी काग्रेस के साथ विरोध के बावजूद इस बात पर कटिबद्ध थे कि भारत स्वतन्त्र होना ही चाहिए। गाधी के प्रयत्न से भारतीय राष्ट्रीयता वास्तविक बन गई और राष्ट्रवाद का विचार लोगो के मन म सर्वोपरि हो गया।

भारतीय राजनीति को गाधीजी ने पूरे २५ वर्ष तक अपने रग में रगा और उसी का परिणाम यह है कि जब तक गाधी युग के कार्यकर्ता और नेता मौजूद हैं, देश हिंसा, रक्तपात, घृणा और घातक-विग्रह के मार्ग पर यथासम्भव नही जायगा।

विकेन्द्रित समाज राज्य और अर्थ-प्रबन्ध की व्यवस्था के विचार भी गाधीजी ने भारतीय राजनीति को दिय ह, उनका उल्लेख भी यथासमय किया जायगा। कुल मिलाकर गाधी ने भारतीय राजनीति को एक नैतिक क्रान्ति की ओर उन्मुख कर दिया जिसमे न दबने के लिए स्थान है न दबाने के लिए। आज तो हम शायद गाधीजी को भूलते जा रहे हैं शायद ठोकर खाकर उन्हे फिर से याद करन

लग जायें।

भारतीय राजनीति में हिंसक क्रांति के तत्व

मिले सब भारत सन्तान, एक तान मन प्राण, गाओ भारतेर यश गान;
भारत भूमिर तुल्य आछे कौन स्थान ? कौन आद्रि हिमाद्रि समान ?
होक भारतेर जय, जय भारतेर जय, गाओ भारतेर जय।
कि भय, कि भय, गाओ भारतेर जय ।।

यह गीत बंगाल के हिन्दू मेले में १८६७ के चैत्र मास में श्री सत्येन्द्रनाथ ठाकुर ने गाया था। इससे यह बात जाहिर होती है कि उस समय बंगाल के कवि बंग का नही, भारत का यश गान कर रहे थे। भारत मे सबसे पहले बंगाल मे भारतीय राष्ट्रीयता का उदय हुआ क्योंकि बंगाल ने ही अंग्रेज के शासन का दबाव सब से अधिक अनुभव किया था। बंगाल लम्बे समय से शक्ति का उपासक रहा है अत उसकी नसो म गर्म खून खौलता है, वह शान्ति और अहिंसा को इतना नही समझ पाता जितना हिंसा को।

बंगाल मे किस प्रकार शक्ति का आह्वान किया गया इसका एक उदाहरण यहा प्रस्तुत है। एक बंगाली पत्र ने एक बार लिखा—"मुट्ठी भर विदेशी डाकुओं का गिरोह भारत की सम्पत्ति लूटकर भारत के करोडो लोगो को बर्बाद कर रहा है। गुलामी की चक्की मे पिसकर असंख्य लोगो की पसलिया टुकडे-टुकडे हो गई है। इस बात की बेहद कोशिश की जा रही है कि यह महान राष्ट्र अपनी गुलामी के परिणामस्वरूप अपनी भौतिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्ति, अपनी सम्पत्ति, अपनी आत्म-निर्भरता और अपने दूसरे समस्त गुणो को छोडकर भार ढोने वाला पशु बन जाये या बिल्कुल नष्ट ही हो जाय।" ' क्या ऐसी स्थिति मे शक्ति के बंगाली उपासक-रक्त गिराने से घबडायेंगे ? भारत मे अंग्रेजो की संख्या डेढ लाख से अधिक नही है और हर एक जिले मे अंग्रेजो की कितनी कम संख्या है। यदि तुम अपने निर्णय मे दृढ हो जाओ तो तुम एक ही दिन मे अंग्रेजी शासन को समाप्त कर सकते हो। अपना जीवन दे डालो परन्तु उससे पहले एक जान ले लो। देवी की पूजा पूर्ण नही होगी, यदि तुम स्वतन्त्रता के मन्दिर मे बिना शत्रु का रक्त गिराये ही अपने जीवन की बलि चढा देते हो।"

हिंसक क्रान्ति के प्रणेता—भारत के इतिहास का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होता है कि बंगाल के बाद भारत मे दो बड़ी जातिया-पंजाबी और मराठा-हिंसा मे विश्वास रखती थी। इन तीनो ने मिलकर भारत मे अंग्रेजो के खिलाफ एक हिंसक क्रान्ति का सूत्रपात किया। तथापि भारत मे सशस्त्र-क्रान्ति का आरम्भ वहाबी नेताओं अब्दुल्ला और शेरअली ने क्रमश जस्टिस नॉरमन और भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड मेयो की हत्या से किया। लार्ड मेयो की हत्या शेरअली ने ८ फरवरी १८७२ को उनके अण्डमन द्वीप के दौरे के समय की। अंग्रेजो के प्रति क्रोध को प्रगट करने

की यह महान सशस्त्र चेष्टा थी।

भारत म हिंसक-क्रान्ति की सगठित चेष्टा बग-भग मे शुरू हुई। इसका सगठन आरम्भ मे महर्षि अरविन्द के भाई श्री बारीन्द्र घोष और महर्षि विवेकानन्द के भाई श्री भूपेन्द्रनाथदत्त ने किया। यह एक विचित्र सयोग की बात है कि जिन माताओ की कोख से आध्यात्मिकता के दूत अरविन्द और विवेकानन्द का जन्म हुआ, उन्ही ने भारत की सशस्त्र क्रान्ति के नेताओ को भी जन्म दिया।

सशस्त्र-क्रान्तिकारी अपनी निष्ठा म लग रहे। उन्होने दो बार पूर्वी बगाल के अत्याचारी गवर्नर सर बैम फील्ड फूलर को मारने की चेष्टा की। एक बार उनकी रेलगाडी पटरी से उतर गई और वे बालबाल बच गय। मुजफ्फरपुर मे अत्याचारी किंग्सफोर्ड को दमन करने के लिए नियुक्त किया गया। उसे मारने के लिए जो षडयन्त्र हुआ उसम उनके बजाय ३० अप्रैल १९०८ को श्रीमती केनेडी व उनकी पुत्री मारी गयी। किंग्सफोर्ड की हत्या के लिए श्री खुदीराम बोस और श्री प्रफुल्ल चाकी बगाल से आय थे, इनमे से श्री चाकी ने तो आत्महत्या करली और श्री खुदीराम बोस को फासी दी गई। इन्ही शहीद खुदीराम बोस की फासी को लोकमान्य तिलक ने अपने अखबार "केसरी' म जारशाही कहकर कोसा था जिसके कारण उन्हे छ वर्ष की जेल की सजा मिली थी।

मुजफ्फरपुर षडयन्त्र के बाद २ जून १९०८ को पुलिस न कलकत्ता के मानिकतल्ला मे एक बम के कारखाने का पता लगाया। इस प्रसग म श्री बारीन्द्र घोष और श्री अरविन्द घोष गिरफ्तार हुए। इस मामल मे नरेन्द्र गोस्वामी नामक व्यक्ति मुखबिर हो गया जिसे कन्हाईलाल और सत्येन्द्र ने जल म पिस्तौल मगाकर मार डाला। बाद म इन दोनो को फासी हो गई और शेष लोगो पर अलीपुर षडयन्त्र के नाम से मुकदमा चलाया गया तथा उन्हे काले पानी की सजा मिली। इस मुकदमे के सरकारी वकील श्री आशुतोष विश्वास को २४ फरवरी १९०९ को मार डाला गया। डी० एस० पी० को भी मार डाला गया। इसी बीच मद्रास के दो राष्ट्रीय कार्यकर्ताओ श्री चिदम्बरम् पिल्लै (जो श्री उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'शेष-अशेष' के एक प्रमुख पात्र हैं) तथा श्री सुब्रह्मण्य शिव को काले पानी की सजा दी गई।

उधर महाराष्ट्र मे भी सरकार का दमन बढ रहा था। ९ जून १९०९ को गणेश दामोदर सावरकर को 'लघु अभिनव भारत मेला' नामक काव्य-ग्रन्थ लिखने पर काले पानी की सजा दी गई। रैंड हत्याकाड का वर्णन हमने पीछे लोकमान्य तिलक के प्रसग मे किया है, उस समय से ही सरकार श्री गणेश दामोदर सावरकर के भाई श्री विनायक दामोदर सावरकर (वीर सावरकर) और श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा के पीछे पडी हुई थी। श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा यह देखकर भारत से लन्दन चले गय। वहा उन्होंने इण्डिया होमरूल लीग बनाकर बहुत महत्वपूर्ण काम किया। श्री विनायक सावरकर पढने के लिए लन्दन गय और वहा श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा के सम्पर्क म आय। श्री वर्मा के एक शिष्य मदनलाल धींगरा ने १ जुलाई १९०९ को

सर कर्जन वाइली नामक एक अंग्रेज कर्मचारी को उसके भारतीय विद्यार्थियो के पीछे गुप्तचर का काम करने का बदला लेने के लिय, गोली मार दी। श्री धीगरा को फासी हुई जिसे बडी वीरतापूर्वक उन्होने स्वीकार किया। इधर वीर सावरकर के दल ने नासिक के मजिस्ट्रेट जैक्सन को मार डाला और इस अपराध मे उन्हे काले पानी की सजा मिली।

कलकत्ते में क्रान्तिकारियो का आतक हो गया था, अत वहा से राजधानी दिल्ली लाई गई पर आतकवादी तो उनके पीछे छाया की तरह लगे हुए थे। एक वर्ष भी चैन से न बीत पाया था कि २३ दिसम्बर १९१२ को वाइसराय लार्ड हार्डिज के ऊपर उस समय बम फेका गया जब वे शाही ठाट बाट के साथ जुलूस म हाथी पर निकल रहे थ वे तो बच गय पर उनका अङ्ग रक्षक मारा गया। स्वय हार्डिज मूछित हो गए थे। इस षडयत्र म मास्टर अमीरचन्द्र अवध बिहारी, बालमुकुन्द तथा वसन्तकुमार को फासी दी गई। इनके नेता श्री रासबिहारी बोस फरार हो गए और बाद म जापान जाकर वहा भारतीय स्वतन्त्रता के लिए चेष्टा करने लगे।

श्री रासबिहारी बोस के दल के लोग उत्तर भारत म ।हसक क्राति का सगठन करते रहे। उनके प्रमुख साथी शचीन्द्र नाथ सान्याल थे दूसरे साथी दिल्ली मे फासी पर चढ चुके थे। बगाल म अनुशीलन समिति काम कर रही थी, कलकत्ते मे श्री यतीन्द्र मुखर्जी का दल सक्रिय था। विदेशो मे लाला हरदयाल एम० ए० ने गदर-पार्टी का निर्माण किया। देश भर म क्रान्तिकारी गुप्त समितिया बना रह थे, इन्होंने शस्त्र इकट्ठे किय और बम के कारखाने चलाय। इनके सामने धन का बडा सकट था जिसे य चन्दे से और सरकारी खजाना लूटकर दूर करते थ। भारत से बाहर काम करने वालो म लाला हरदयाल के अतिरिक्त राजा महेन्द्रप्रताप और श्री बरकतुल्ला आदि अनेक देशभक्त थे। राजा महेन्द्रपाल आजकल ससद के सदस्य है। अमेरिका और जर्मनी म भी भारतीय क्रातिकारी सगठन बनाकर भारत के क्रातिकारियो के लिए शस्त्र इकट्ठे कर रहे थे। इनमें श्री चम्पक रमण पिल्ले प्रमुख थे।

काकोरी षडयन्त्र—उत्तर भारत म श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल सगठन कर रहे थ, उन्हे अपने काम म श्री सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य, श्री मन्मथनाथ गुप्त, अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल, श्री राजेन्द्र लाहिडी, श्री विष्णुशरण दुबलिश, श्री दामोदरप्रसाद सेठ का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। इस काम म श्री योगशचन्द्र चटर्जी की बहुत मदद रही। दल ने शस्त्र इकट्ठे कर लिय और धन के लिए लखनऊ के पास काकोरी स्टेशन से कुछ दूर पर आठ डाउन पैसेंजर को रोक कर सरकारी खजाना लूट लिया। इस डकैती की कहानी बहुत ही रोमाचकारी है। इस प्रसग म जिन लोगो पर मुक-दमा चला उनकी रक्षा के लिए एक समिति बनाई गई जिसमे पडित मोतीलाल नेहरू और श्री जवाहरलाल नेहरू भी सदस्य थे। प० गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री चन्द्रभानु गुप्त तथा श्री मोहनलाल सक्सेना ने षडयन्त्रकारियो की ओर से वकालत की। इस सब के बावजूद क्रान्तिकारियो के ही नही, भारत के प्राण प० रामप्रसाद बिस्मिल को,

श्री राजेन्द्र लाहिड़ी, श्री रोशनसिंह और श्री अशफाकुल्ला को फांसी दे दी गई तथा कुछ क्रांतिकारियों को काला पानी और लम्बी सजाएं दी गयीं। शहीद बिस्मिल की ये पंक्तियां भारत के हर राष्ट्रप्रेमी ने सरकारी जेलों में घुमते समय वर्षों तक गुनगुनाई—

खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं।'

सरदार भगतसिंह—जनरल साँडर्स की बन्दूक की मार से भारत के महान देशभक्त लाला लाजपतराय ने १७ नवम्बर १९२८ को अस्पताल में दम तोड दिया। देश इस चोट से तिलमिला उठा। क्रान्तिकारियों के दिल में आग लग गई। सरदार भगतसिंह और श्री चन्द्रशेखर आजाद ने १५ दिसम्बर को शाम के चार बजे उस दुष्ट साडर्स को गोलियों से धराशायी कर दिया जिसने भारत की आजादी का एक वीर सिपाही और सेनापति हमसे छीन लिया था। साइमन कमीशन के सब सदस्यों को एक साथ मारने के लिए बनारस से श्री मनमोहन गुप्त, मार्कण्डेय सिंह तथा श्री हरेन्द्र शक्तिशाली बम लेकर चले परन्तु भाग्य की बात कि मनमाड के स्टेशन पर ही एक बम फट गया और स्वयं श्री मार्कण्डेय वहाँ शहीद हो गये तथा शेष दोनों पकड़ लिये गये।

अब संगठन का काम सरदार भगतसिंह पर आ पड़ा। उन्होंने केन्द्रीय असेम्बली में, उस समय, जब दमन और अत्याचारों के लिए सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक पर सभापति श्री विट्ठल भाई पटेल अपना निर्णय सुनाने जा रहे थे, एक भयंकर बम फेंका जिससे सर जार्ज सूस्टर को थोड़ी चोट आई। सरदार भगतसिंह व श्री बटुकेश्वर दत्त पकड़े गये, उन पर मुकदमा चला और २३ मार्च १९३१ को कराची कांग्रेस के समय उन्हें, उनके साथियों के साथ, फांसी पर लटका दिया गया। भारत बहुत रोया और आखिर में उसने यह कहकर सन्तोष की सांस ली—

शहीदाने वतन के खूने नाहक से जो सत निकले।
उसके ज़र्रे ज़र्रे से भगतसिंह और दत्त निकले॥

शहीद यतीन्द्रनाथ दास—जनरल साडर्स की हत्या से सम्बन्धित लाहौर षड्यंत्र केस के एक वीर देशभक्त श्री यतीन्द्रनाथ दास ने लाहौर जेल में राजनीतिक कैदियों के लिए विशेष व्यवहार की मांग को लेकर अनशन किया और उन्होंने ६२ दिन का अनशन करके १३ दिसम्बर को जेल के सीखचों के पीछे भारत की स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। भारत के कोने-कोने में हाहाकार मच गया। बड़े बलिदान हुए हैं हमारी आज़ादी के लिये न जाने हमारे नौजवान इस आज़ादी की रक्षा करने और इसके सही उपयोग के लिए नये बलिदान कर सकेंगे या नहीं। इस प्रश्न के उत्तर पर ही भारत का भविष्य निर्भर है।

शहीद यतीन्द्रनाथ दास के शव का दर्शन करने के लिए भारत की लाचार जनता बेचैन हो उठी। लाश जनता को दे दी गई और उनकी शव यात्रा लाहौर से आरम्भ होकर कलकत्ते तक हुई जहाँ उनकी अन्तिम यात्रा में कलकत्ते और देश के

विभिन्न भागो से उनके ६ लाख देशवासी श्मशान तक गये। इस बालक ने भारत की नींद को झकझोर दिया, काश, हमारे आज के बालक भी देश को इतना ही प्यार कर सकते।

चन्द्रशेखर आजाद—सरदार भगतसिह के गिरफ्तार हो जाने पर हिंसक क्रान्ति की जिम्मेदारी प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री चन्द्रशेखर आजाद के कन्धो पर आ गई और उन्होंने उस जिम्मेदारी को इतनी गम्भीरता से उठाया कि वे सरदार भगतसिह की फासी से पहले ही शहीद हो गये।

श्री आजाद ने वाइसराय लार्ड इरविन की गाडी के नीचे बम बिछाये परन्तु भाग्य की बात ऐसी कि वाइसराय का डिब्बा निकल गया, एक सेकेन्ड की देर हो गई तथा तीसरे डिब्बे पर विस्फोट हुआ। बाद म वे २७ फरवरी को इलाहाबाद के हाइडपार्क म पुलिस से घिर गय, वे तब तक गोली चलाते रहे जब तक उनकी पिस्तौल मे एक भी गोली रही, अन्तिम गोली उन्होंने अपने लिए रखी। २७ फरवरी को वे शहीद हो गय।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस—इस यशस्वी देशभक्त की कहानी बहुत लम्बी है, इसम से कुछ हम पीछे दे चुके हैं। यहा इतना कहकर ही हम इनके प्रति अपनी श्रद्धा-जलि अर्पित करेगे कि भारत से निकल कर जर्मनी, वहाँ से जापान जाना इनके साहस और देश प्रेम का उज्ज्वल प्रमाण है। घर पर बैठी मा रोती रही, उधर बेटा आजाद हिन्द फौज का सगठन कर रहा था। जब देशद्रोही आराम से मौज उडा रहे थे, यह देशभक्त मुसीबतें झेल रहा था। यहा वे शब्द याद आते है जो अचानक एक दिन किसी शहीद के मुंह से निकले थे—

हम भी आराम उठा सकते थे घर पर रहकर,
हमको भी मा-बाप ने पाला था दुख सहकर,
वक्ते रुख्सत + इतना भी न आये कहकर—
गोद मे आसू जो टपकें रुख × से बहकर—
तिफ्ल S उन्होने ही समझ लेना जी बहलाने को।

देश की आजादी की बलिवेदी पर हुए बलिदानो मे यह बलिदान बहुत कीमती रहा। काश, वे आज होते, हमारा मार्गदर्शन करते, हम उनका प्यार मिलता और हम उनके सहारे ऊँचे उठते। देखना है कि भारतमाता की कोख से वह नर-रत्न फिर कब जन्म लेता है।

भले ही कोई हिंसा की निन्दा करे, आतंक को बुरा माने परन्तु यह मानना ही होगा कि हमारे ये क्रान्तिकारी शहीद उच्च कोटि के निर्भीक देशभक्त थे, वे देश की खातिर जिये, देश की खातिर मरे, उनके सामने हमारा सिर अनायास ही श्रद्धा से अभिनत हो जाता है। क्या ही अच्छा हो कि हम भी इन महान पुरुषो की तरह देश के

+ बिदाई, × चेहरा, S बच्चा।

लिए जीवन भर जी सकें और देश के लिए ही मर सके, नई रचना और नव निर्माण के पथ म ।

भारतीय राजनीति मे साम्प्रदायिकता का विष

भारत म साम्प्रदायिक समस्या (Communal Problem) से हमारा प्रयोजन अल्पसख्यको के विभिन्न दावो को मान्यता देने और उन्हे बहुमत के कार्यों से पर्याप्त सरक्षण प्रदान करने की समस्या से है। योरप की भांति भारत म प्रजातीय या राष्ट्रीय अल्पसख्यक नहीं हैं जिनका आधार नस्ल पर हो। भारत म अल्पसख्यकों की समस्या एक प्रकार से धर्म पर आधारित है। अग्रेजों के आने से पहले भारत म धर्म ने राजनीति को बहुत ही कम प्रभावित किया था साथ ही यह भारत की अपनी विशेषता है कि यहा के लोग धार्मिक मामलो मे बहुत ही उदार और सहनशील हैं। अग्रेजो के आने के बाद यहा धर्म के नाम पर सकीर्ण साम्प्रदायिकता ने राजनीति के क्षितिज पर धूल उछालनी शुरू की।

भारत ने इस विषैली साम्प्रदायिकता का अनुभव अग्रेजो के आने से पहले कभी नही किया। यहा हिन्दू और मुस्लिम रियासते अवश्य थी उनम युद्ध भी होते थे परन्तु उन युद्धों ने कभी हिन्दू-मुस्लिम सघर्ष का रूप नही लिया। मुसलमान शासकों के यहा हिन्दू और शिवाजी जैसे जागरूक हिन्दू के यहाँ मुसलमान राज्य कर्मचारी प्रतिष्ठित पदो पर काम करते थे। अग्रेजो के आने के बाद भी भारतीय देशी राज्यों में साम्प्रदायिक समस्या प्राय नगण्य रही, वह मुख्यत ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत प्रान्तो तक ही सीमित रही वहा भी आरम्भ में वह शिक्षित शहरी जनता तक ही सीमित थी। साइमन कमीशन ने इस समस्या के बारे म लिखा है—"ब्रिटिश भारत में एक पीढी पहले सामाजिक शान्ति के लिए खतरा पैदा करने वाला साम्प्रदायिक सघर्ष अत्यन्त अल्परूप म था।' इससे सिद्ध होता है कि यह प्रश्न भारत म अग्रेजो के शासन के साथ-साथ जड जमाता चला गया।

भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यहा एक बहुत बडी मात्रा म धार्मिक उदारता और सहनशीलता मौजूद थी तथा यहाँ हमेशा धार्मिक व जातीय आधारो पर सगठित अल्पसख्यकों को प्रोत्साहन मिला है एव उन्हे धार्मिक, शैक्षणिक व सांस्कृतिक स्वतत्रता दी गई है। इस मामले म हमें पश्चिमी जगत से कुछ भी सीखने को नही है जहा का इतिहास इस प्रकार के जातीय और वर्गीय सघर्षो से भरा पडा है। इतना ही नही भारत म राज्य की ओर से एव सामाजिक तथा धार्मिक सगठनो की ओर से सदा यह प्रयत्न रहा है कि देश म एक सास्कृतिक समन्वय स्थापित किया जाए तथा धार्मिक साधना व्यक्तिगत विषय माना जाय।

फूट डालो और राज्य करो (Divide et impera)—भारत म अग्रेजो की शासन-नीति का वर्णन कीजिए? यह प्रश्न उस वर्ष एम० ए० की परीक्षा में पूछा गया था जब प्रसिद्ध देशभक्त ला० हरदयाल ने एम० ए० की परीक्षा दी। उन्होंने

एक ही पंक्ति में उत्तर लिखा—Divide and Rule फूट डालो और राज्य करो।

सन १८२१ में 'कार्नेटिकस' नाम से एक ब्रिटिश अधिकारी ने लिखा था कि—'राजनीतिक नागरिक व सैनिक क्षेत्रों में हमारे भारतीय प्रशासन का मुख्य मन्त्र "फूट डालो और राज्य करो" होना चाहिए।' + इसी प्रकार मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश) के कमान्डेन्ट ले० कर्नल कोक ने १९वी शताब्दी के मध्य में लिखा था कि—'हमें यह चेष्टा करनी चाहिए कि हम (भारत के) विविध धर्मों और नस्लों के बीच पृथकता की भावना को पूरी तरह से पोषित करें तथा उनमें एकता स्थापित करने की चेष्टा न करें। भारत सरकार का सिद्धान्त 'फूट डालो और राज्य करो" होना चाहिये।'

सर जॉन स्ट्रैची ने जो भारत के मामले में विशेषज्ञ माने जाते थे, अपनी पुस्तक 'इण्डिया' में १८८८ में लिखा था कि—'साफ तौर पर सत्य तो यह है कि धर्मों में विरोध का होना भारत में हमारी राजनीतिक स्थिति की दृढ़ता का सूचक है।" रैमसे मैकडॉनल्ड ने मुस्लिम लीग के प्रसंग में लिखा है—"ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग ३० दिसम्बर १९०६ को स्थापित की गई। लीग के प्रयत्नों को जो सफलता प्राप्त हुई है वह इतनी बड़ी है कि उससे यह सन्देह होता है कि इस मामले में शैतानी प्रभावों ने काम किया है तथा मुस्लिम लीग के नेता कुछ ऐंग्लो इण्डियन अधिकारों से प्रेरित हुए हैं। इन अधिकारियों ने शिमला और लन्दन में प्रचार किया तथा पूर्व-नियोजित दुर्भावना के साथ उन्होंने मुसलमानों के प्रति विशेष पक्षपात का व्यवहार करके हिन्दू और मुस्लिम जातियों के बीच भेद का बीज बो दिया। $

ब्रिटिश नौकरशाही निरन्तर हिन्दू और मुसलमानों के बीच तनातनी पैदा करने की चेष्टा कर रही थी। कांग्रेस और दूसरे राजनीतिक दलों ने आपस में मिल कर साम्प्रदायिक प्रश्नों को हल करने की चेष्टा की। कुछ सफलता भी उन्हें प्राप्त होती थी परन्तु एक बुनियादी कठिनाई हमेशा रही और वह कठिनाई यह थी कि भारत में एक अंग्रेज सरकार थी जो जातीय और साम्प्रदायिक द्वेष को अधिक उग्र बनाने में ही अपना हित देखती थी। लार्ड ऑलीवियर ने भारत मन्त्री पद छोड़ने के पश्चात १९२६ में 'दा टाइम्स' नामक पत्र में लिखा था—'भारतीय मामलों से जिसे निकट परिचय है वह कभी भी इससे इन्कार नहीं कर सकता कि भारत में ब्रिटिश कर्मचारियों के मन में मुस्लिम जाति के पक्ष में बहुत अधिक झुकाव है, अंशत यह झुकाव निकट सहानुभूति पर आधारित था परन्तु प्रधानत वह हिन्दू राष्ट्रीयता के

+ The Asiatic Review, May 1821 Quoted by R Palme Dutta—'India Today', Peoples Publishing House Bombay, 1947 pp 371

$ The Awakening of India, 1910 pp 283–4

विरुद्ध संतुलन की एक योजना का स्वरूप था।"

'फूट डालो और राज्य करो" की ब्रिटिश नीति राष्ट्रीय आन्दोलन के समानान्तर चलती गई और १९०६ मे पृथक-निर्वाचन के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम संबधो मे जो दरार डाली गई थी वह आगे जाकर उन्हे पूरी तरह तोड डालने में कामयाब हो गई और १९४७ मे भारत का विभाजन उसी नीति का परिणाम था।

१९०६ म कुछ मुसलमान नेता सरकारी प्रेरणा पाकर तत्कालीन वाइसराय लार्ड मिन्टो से मिले और उन्होने उनसे चुनावो मे विशेष स्थिति और अधिकारो की माँग की। उनको जो उत्तर लार्ड मिन्टो ने दिया उससे अंग्रेजी सरकार की शरारत साफ जाहिर होती है। उन्होने कहा—"आपका यह दावा उचित है कि आपकी स्थिति का अन्दाज केवल आपकी जनसंख्या के आधार पर ही नही किया जा सकता वरन् वह आपकी जाति (सम्प्रदाय) की राजनीतिक महत्ता तथा साम्राज्य के प्रति आपकी सेवाओ के आधार पर होना चाहिये। इस मामले मे मैं पूर्णत आपके साथ हूँ।"†

मुसलमानो को अंग्रेजो ने किस प्रकार जीता और उन्हे किस प्रकार प्रलोभन दिखाकर हिन्दुओ से अलग किया गया उस सब की कहानी बहुत प्रगट है फिर भी उसका उल्लेख यहा ठीक होगा। मुसलमानो को सरकार ने केवल पृथक निर्वाचन ही नही दिया वरन् विधान सभाओ म अनुपात से कही अधिक सुरक्षित स्थान दिये। १९०९ के भारत शासन अधिनियम के अन्तर्गत मतदाता (वोटर या निर्वाचक) बनने के लिए गैर-मुस्लिम जातियो के लोगो के लिए ३ लाख रुपये वार्षिक पर आयकर देने वाला होने की शर्त रखी गई जबकि मुसलमानो के लिए केवल ३ हजार रुपये पर, या गैर-मुस्लिम को ग्रेजुएट बने ३० वर्ष होने आवश्यक थे परन्तु मुसलमान के लिए केवल ३ वर्ष की ही शर्त थी।

१९३५ के विधान मे केवल मुसलमानो को ही नही, सिखो, आग्ल-भारतीयो, भारतीय ईसाइयो, अछूतो यूरोपियनो जमीदारो तथा वाणिज्य-व्यवसाय के प्रतिनिधियो को भी सुरक्षित स्थान दिये गए। सघ-विधान सभा में २५० से से ८२ सीटें अर्थात् लगभग एक तिहाई स्थान मुसलमानो को दिए गए थे जब कि उनकी जनसंख्या एक चौथाई से भी कम थी। बहुसख्यको के लिए कुल १०५ सीटें रखी गई थी जिन मे से १९ सीटें अनुसूचित जातियो के लिए सुरक्षित थी। सरकार का यह बहाना कि मुसलमानो को जनसख्या के अनुपात मे अधिक सीटें देकर अल्पसंख्यक हितो की रक्षा की गई थी, एकदम झूठ है। वास्तव मे सरकार मुसलमानो के साथ पक्षपात का व्यवहार करके उन्हे अपनी ओर मिलाने के लिए यह षड्यन्त्र रच रही थी। उसके कुछ उदाहरण हम यहा प्रस्तुत कर सकते हैं। बगाल मे मुसलमानो का बहुमत था तथापि दूसरे प्रातो मे अनुपात से अधिक सीटें उसे देने की नीति वहा भी अपनाई गई,

† Mentioned by John Buchan in his 'Life of Lord Minto' 1925 pp 314.

जबकि होना यह चाहिये था कि हिन्दुओ को, जो वहा अल्पसख्यक थे, अनुपात से अधिक सीट मिलनी चाहिये थी। बगाल मे ५५ प्रतिशत मुसलमान थे पर उन्हे ११७ सीटे मिली जबकि ४३ प्रतिशत हिन्दुओ को केवल ७८ सीट दी गयी जिनमे से भी ३० अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित थी, हिन्दुओ को केवल ४८ सीट ही दी गई। हिन्दुओ को जिस आधार पर ७८ सीट दी गई थी उसी आधार पर मुसलमानो को अधिक से अधिक १०० सीटें दी जा सकती थी। परन्तु इस सबके पीछे राजनीतिक चाल थी कि किसी प्रकार मुसलमानो को साम्राज्यशाही का पिट्ठू बनाये रखा जाय।

यहा यह उल्लेख करना उचित होगा कि मुसलमान दो भागो मे बँटे हुए थे। एक ओर प्रतिक्रियावादी मुस्लिम लीग थी जिसकी नीतिया सरकार की इच्छाओ पर, आधारित होती थी, दूसरी ओर राष्ट्रीय मुसलमान थे जो जमीयतुल उलेमा, मोमिन सभा, बंगाल म कृषक सभा खाकसार, आजाद मुस्लिम कॉन्फ्रेंस आदि मे सगठित थे। इनके अतिरिक्त स्वय कांग्रेस मे मुसलमानो की एक बडी सख्या थी। हिन्दुओ के साम्प्रदायिक सगठनो म हिन्दू-महासभा का नाम उल्लेखनीय है, आरम्भ मे यह राष्ट्रीय सस्था थी परन्तु धीरे-धीरे यह प्रतिक्रियावादी होती चली गई।

हम यह स्वीकार करना होगा कि साम्प्रदायिक प्रश्न को हल करने म कांग्रेस ने कुछ बुनियादी भूले की जिन्हे आगे जाकर सुधारा ही नही जा सकता था। १९१६ म लखनऊ अधिवेशन के समय कांग्रेस और लीग के बीच जो समझौता हुआ उसमें एक प्रकार से भारत की बुनियादी एकता की बलि चढा दी गई थी। पृथक-निर्वाचनो को स्वीकार कर लेने पर पृथक-राष्ट्रीयता के सिद्धान्त से इन्कार नही किया जा सकता था। उसके बाद भी कांग्रेस ने लीग के साथ बहुत चर्चाएँ करने की चेष्टा की, इसका परिणाम् यह हुआ कि लीग लोगो की निगाह मे आती चली गई तथा वह सरकार की निगाह मे तो बहुत ही चढ गई। कांग्रेस अगर लीग की सर्वथा उपेक्षा कर देती और सीधे अ ग्रेज से ही लडती या चर्चा करती तो लीग का हौसला इतना न बढता। अ ग्रेज ने तो लीग को बीच मे खडा ही इसलिये किया था कि कांग्रेस उस से उलझ जाए। वही हुआ, कांग्रेस शायद उस चाल के परिणामो को ठीक से समझ नही पायी। गाधीजी जिन्ना साहब को बहुत ऊँचा चढाते रहे, वे उन्हे कायदे आज़म कहते थे, एक बार तो उन्होने जिन्ना साहब को मुसलमानो का एकमात्र प्रतिनिधि कह दिया था। इस सब का परिणाम यह हुआ कि लीग के दिमाग चढते गये, उसे अ ग्रेज का सहारा था ही, आखिर भारत के दो टुकटे अनिवार्य हो गय और कांग्रेस को उसे स्वीकार करना ही पडा।

दो राष्ट्रो का सिद्धान्त—मुस्लिम लीग ने धीरे-धीरे हिन्दू और मुसलमानो को अलग-अलग राष्ट्र मानना आरम्भ कर दिया। हिन्दू राष्ट्रवाद का नारा हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ की ओर से उठाया गया तथा मुस्लिम राष्ट्रवाद का मुस्लिम लीग द्वारा। वास्तव मे १९०६ मे जब मुस्लिम लीग की स्थापना की गई

थी तभी भारत के हितो से मुसलमानो को अलग करने की नीयत सरकार की थी। एक अग्रेज अधिकारी ने उस समय वाइसराय लार्ड मिन्टो को लिखा था कि—"मेरा कर्तव्य है कि मै श्रीमानजी को उस बहुत-बहुत बडी घटना के बारे म एक पक्ति लिखकर भेजू जो आज हुई है। यह एक ऐसी राजनीतिक कुशलता का काम है जो भारत और भारतीय इतिहास को अनेको दीर्घ वर्षो तक प्रभावित करेगा। इस प्रकार ६ करोड २० लाख मुसलमानो को क्रान्तिकारी एव विरोधी पक्ष (काग्रेस) मे प्रवेश करने से पीछे खीच कर रोक लिया गया है।" +

उपरोक्त उद्धरण से सिद्ध होता है कि आरम्भ से ही मुसलमानो को भारतीय हितो से पृथक करने का षडयत्र रचा गया था। दो राष्ट्रो का वह सिद्धान्त आखिरकार अग्रेज द्वारा विधिवत् मान लिया गया। ठीक ३० वर्षो के बाद जब काग्रेस अपने चरम उत्कर्ष पर थी एव जब उसे अपने चिर प्रतीक्षित लक्ष्य की रोशनी दिखाई दी तब उसने देखा कि वह उस जाल मे पूरी तरह उलझ चुकी है जिसम उसने १९१६ म अपना पैर डाला था और भारत के दो टुकडे हो चुके हैं—एक ओर भारत है दूसरी ओर पाकिस्तान। यह सब कुछ काफी कडवाहट के बाद हुआ, दोनो ओर हृदय फट चुके थे। रक्त की नदिया बहाई गई, लाखो लोग अपने घरो से उजड गय और बर्बादी हुई। उस घडी मे आजादी की देवी आई हम उस मुस्कराहट से उसका स्वागत न कर सके जो हमारे होठो पर होनी चाहिय थी। गाधीजी उस स्वतत्रता से खिन्न हो गय जिसके लिए भारतमाता के टुकडे करना आवश्यक हो गया और वे उस दिन (१५ अगस्त १९४७ को) लाल किले पर झडा फहराने का उत्सव मनाने के बजाय नोआखाली की सकरी पगडडियो पर अकेले नगे पाव चलकर पीडित मानवता के आसू पोछने चले गय। वहा से वे कलकत्ते लौटे, उपवास किया और वहा की पगली जनता को सन्मति प्रदान की। दिल्ली आय, उपवास किया और वहा भी आग बुझाने की चेष्टा की। आग बुझाय बुझ नही रही थी, बापू शायद समझ गये कि अब उनके रक्त के सिवाय और किसी चीज से आग नही बुझेगी।

तीन गोली : रक्त की धार · आग बुझ गई—मुसलमान पाकिस्तान से पागल हो उठा था, हिन्दू मे भी प्रतिक्रिया हुई, उसे भी क्रोध आ गया पर हिन्दुओ का सारा इतिहास ही यह है कि वे विरोधी को तो कुछ कह नही पाते, अपने घर को ही जला लेते हैं। ठीक वही इस बार हुआ। बापू की प्रार्थना सभा मे बम फेंका गया, पीछे की दीवार टूट गई, बापू बच गय। पर कितने दिन के लिए, आखिर ३० जनवरी १९४८ की सध्या आ गई, बापू प्रार्थना सभा के मच की ओर बढे, सामने से आत्मघाती हिन्दू के रिवाल्वर से तीन गोली चली धाय-धाय धाय, बापू की पवित्र छाती से रक्त की लाल धारा बह उठी, जीवन का दीपक बुझ गया, अहिंसा का दूत हिंसा के हाथो

+ India, Minto and Morley, 1934, pp 47 by Lady Minto Quoted by R. Palme Dutt in India Today.

शहीद हो गया और साम्प्रदायिकता की आग मे जो इस महात्मा के पावन लहू की धारा जाकर पडी तो वह धधकती हुई ज्वाला भी सहम गई, बस बुझ गई। गांधीजी जिस लिय जिये, उसी लक्ष्य पर काम आये, उनका जीवन धन्य हो गया। जब हमे उनकी सबसे अधिक जरूरत थी, हमने उन्हे अपने बीच से, अपने ही लोहे के हाथों से, हटा दिया, वे तो शायद जीना चाहते थे, हम उन्हे जीने देते तो वे हमे नई रोशनी देते। हमारा भाग्य और विधाता की इच्छा, हम उस रोशनी से वंचित हो गए, पर हम उस इन्सान को ही मारने के बाद देवता बनाकर पूज रहे हैं। मानव जाति ने यह मूखता अनेको बार की है। हमारी यह मूर्खता भी वरदान सिद्ध हो सकती है यदि हम बापू के रक्त को याद रखें, कभी भी साम्प्रदायिक संकीर्णता में न फंसें और हमेशा देश और राष्ट्र के लिए मर मिटने को तैयार रहे।
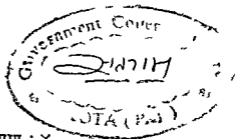
अध्याय : ४

स्वाधीनता के पश्चात्

[१९४८ से १९६०]

"भारत की जनता ब्रिटिश साम्राज्यशाही द्वारा भारतीय समाज मे फैलाये गये नये तत्वो का लाभ तब तक नही प्राप्त कर सकेगी जब तक कि स्वय ब्रिटेन के भीतर वर्तमान शासक वर्ग का अन्त वहाँ का औद्योगिक श्रमिक वर्ग नही कर देता या जब तक भारत के लोग स्वय इतने मजबूत नही हो जाते कि वे अग्रेजी शासन के जुए को अपने कन्धो से बिल्कुल उतार कर फेक सकें।
— कार्ल मार्क्स +

१८५३ मे कार्ल मार्क्स ने भारत की स्वाधीनता के बारे मे जो भविष्यवाणी की थी वह ठीक ९४ वर्ष बाद १९४७ मे अक्षरश: सत्य सिद्ध हुई। उन्होंने भारत की स्वाधीनता के बारे में दो ही शर्तें रखी थी–एक तो यह कि ब्रिटेन म रूढिवादी दल के स्थान पर मजदूर दल की सरकार बने और दूसरी यह कि भारत स्वय इतना मजबूत हो जाय कि वह अग्रेजी सरकार के जुए को अपने कन्धे से स्वय उतार कर फेंक सके। भारत का यह सौभाग्य मानना चाहिय कि १९४७ मे य दोनो शर्तें एक साथ पूरी हो गयी। उधर ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार जुलाई १९४५ के चुनावो मे विजयी हो गई और उसने अपना मन्त्रिमण्डल बनाने के बाद भारत के बारे मे सहानुभूतिपूर्वक सोचना आरम्भ कर दिया, इधर महात्मा गाँधी के नेतृत्व मे देश पूरी तरह से विद्रोही बन चुका था तथा अग्रेजी सरकार भली भांति यह समझ चुकी थी कि अब भारत को और अधिक समय दास बना कर नही रखा जा सकता था। इस प्रकार भारत को उस चिर प्रतीक्षित स्वतन्त्रता का दर्शन हुआ जिसके लिये वह पिछले ९० वर्षों से जूझ रहा था।

स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद देश के सामने अनेक नये प्रश्न पैदा हो गये। सबसे बडा प्रश्न भारत की प्रादेशिक अखडता को बनाय रखने का था। अग्रेज भारत छोड तो रहे थे परन्तु जाते-जाते वे देश को टुकडे-टुकडे करके छोड जाना चाहते थे, एक ओर उन्होने अपनी मुंह लगी मुस्लिम लीग की इच्छा की पूर्ति के लिए पाकिस्तान

+ दा फ्यूचर रिजल्ट्स ऑफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया—न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून ८ अगस्त १८५३।

के नाम से भारत के दो सीमान्तो पर दो प्रदेश उसे देना स्वीकार कर लिया था। दूसरी ओर देशी रियासतो का सवाल था, अ ग्रेजी सरकार उन पर एक प्रकार की विशिष्ट सर्वोपरि सत्ता रखती थी जब अ ग्रेजो ने भारत छोडना तय किया तो उन्होने इन रियासतो के ऊपर अपनी सर्वोपरि सत्ता भारत को हस्तान्तरित करने के बजाय उन्हे स्वतन्त्र कर दिया। अ ग्रेजो के अनुसार भारत की स्वतन्त्रता का अर्थ था अंग्रेजी-भारत अर्थात केवल अ ग्रजी-प्रातो की स्वतन्त्रता। यह भारत के साथ अंग्रेज का आखिरी और सबसे अधिक घातक विश्वासघात था। भारत ने उस समस्या को धीरज, राजनीति और गम्भीरता के साथ हल किया।

भारत और पाकिस्तान के बीच प्रादेशिक-क्षेत्र, सरकारी कार्यालय, कर्मचारी, सेना, कोष, सामान, ऋण, प्रजा आदि के बंटवारे का जटिल प्रश्न था। यह वह घडी थी जब विदेशी शासक से मुक्ति पाकर देश स्वय अपनी सही स्थिति का अन्दाज भी नही कर पाया था, उसे अपने बारे मे स्वय कोई बडा ज्ञान नही था कि इसी समय दो भाइयो के बीच बटवारा होना अनिवार्य हो गया, वे हमेशा-हमेशा के लिए अलग रहने का निश्चय करके एक दूसरे से कटुतापूर्वक विदा हो रहे थे। बंटवारे का यह काम आसान नही था क्योकि दोनो ओर घोर अविश्वास काम कर रहा था तथा खास तौर पर पाकिस्तान के नेता पाशविक शक्ति के बल पर भारत से अधिकाधिक सम्पत्ति हड़प लेना चाहते थे। किसी प्रकार से भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड माउन्टबेटन की मदद से उस कठिन काम को हमने पूरा किया हालाकि आज तक भी हमारे अनेक झगडे हल नही हो सके हैं और बराबर उस दिशा मे प्रयास चलता रहता है कि हमारे आपसी मामले तय हो जायें।

देशी राज्यों का प्रश्न बहुत टेढा था। भारत के लौह पुरुष सरदार पटेल के मार्गदर्शन मे भारत ने उस ओर कदम बढाया। ज्यो ही सफलता के चिन्ह प्रगट होने को थे, देश के पेट मे पीडा आरम्भ हुई, हैदराबाद मे मुसलमान रजाकारो ने घोषणा कर दी कि हैदराबाद एक स्वतन्त्र राज्य है तथा उन्होने हिन्दुओं को मारना काटना आरम्भ कर दिया। सरदार इसे सहन न कर सके, वे भारत सरकार के गृह मंत्री थे, उन्होंने चुपचाप भारतीय सेनायें वहा भेज दी और हैदराबाद को भारत मे मिला लिया। यह एक बहुत बडा पाठ था और भारतीय क्षेत्र के समस्त राज्य भारत मे सम्मिलित हो गय। काश्मीर के तत्कालीन शासक ने कोई निर्णय नही किया था कि उस पर पाकिस्तान की सेनाओ ने आक्रमण कर दिया और जब गर्दन पर गिद्ध का पंजा आ गिरा, उस सकट की घडी मे काश्मीर ने भारत मे मिलने की घोषणा की व भारत से सैनिक सहायता माँगी, सहायता दौडाई गई तथा पाकिस्तान को आगे बढने से रोका गया। जितना क्षेत्र वह ले चुका था वह आज भी उसके पास है। इस प्रकार काश्मीर भी भारत का अङ्ग बन गया, बाद को काश्मीर मे एक विधान सभा निर्वाचित की गई, राजतन्त्र को समाप्त करके जनतन्त्रात्मक सरकार बनाई गई तथा निर्वाचित विधान सभा ने यह घोषणा की कि काश्मीर भारत का अङ्ग है।

सरदार पटेल ने स्वाधीनता के बाद आने वाली कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए १८ जनवरी को लखनऊ मे भाषण करते हुए कहा था कि—"हमने १५ अगस्त को सत्ता अपने हाथ मे ली। अभी ज्यादा दिन नही हुए है, सिर्फ चार महीने हुए हैं। चार महीने मे हमने क्या किया उसकी फेहरिस्त बताऊ, तो आप ताज्जुब मे पड जायेंगे, कि इस टूटी हुई सरकार ने क्या कुछ किया। बहुत से लोग इसे नही समझते है और कहते है कि अभी तक सभी कुछ पुराने ढग से चलता है। अभी तक वही पुराना राज है कोई फर्क नही पडा। लेकिन वे देखते नही है कि आजादी के साथ मुल्क के दो टुकडे हुए। दो बडे प्रात थे बगाल और पजाब, उनके भी टुकडे किये गये। यह भी बडी बात है। फिर सरहद को ठीक करना भी खतरे की बात थी। भली बुरी वह भी हमने कर ली।" उससे पहले ही दिन उन्होने बम्बई मे चौपाटी पर एक विशाल जनसमूह के सामने भाषण देते हुए कहा था कि—(अंग्रेज) 'सल्तनत जब चली गई तो कह कर गई कि भारत मे जो सार्वभौम सत्ता थी वह खत्म हो गई और जो पैरामाउन्सी थी वह हवा मे उड गई। तो हमारे मुल्क मे पाच सौ राजा पडे है क्योकि यहा इतनी रियासते है। इनमे से बहुत से लोगो को लगा कि अब क्या होगा, अंग्रेज तो चले गये। बहुत से सोचने लगे कि राजस्थान बनाओ और उसमे काफी कोशिश हुई। अगर अलग राजस्थान बन जाता तो वह पाकिस्तान से भी बुरी चीज थी। हमने तो हिन्दुस्तान गवाया ही इस कारण से कि अलग अलग राज्य एक नही हो सकते थे। अब हमे फिर से उसे नही गवाना है। इसलिए साथ-साथ तो चार महीने में यह भी काम करना था कि हिन्दुस्तान को सगठित करके सब राजाओ को साथ ले चलें। आप देखते है कि हमने यही काम कर लिया, दो-तीन राज्यो के साथ झगडा चलता है उसका भी फैसला हो जायगा। उसमे मुझे कोई शका नही है। लेकिन जब मैंने यह काम किया तो कई लोग कहने लगे कि भई यह तो राजाओ का दोस्त हो गया है। २४ घटा मे चालीस रियासते मैंने खत्म की तब वे लोग कहने लगे कि यह क्या चीज बनी। तो काम दिमाग से होता है और जिस समय मौका आता है उस समय काम होता है।

बटवारे के साथ ही देश पर अचानक एक बडा काम यह आ गया कि वह पाकिस्तान से खदेडे गये हिन्दू निष्क्रमणार्थियो के निवास, भोजन और रोजगार का प्रबन्ध करे। इसके अलावा भारत मे रह जाने वाले चार करोड मुसलमानो की रक्षा हिन्दुओ के क्रोध से करने का काम भी बडा था। इस काम मे तो हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को अपने प्राणो से हाथ धोना पडा और यह स्वय अपने मे राष्ट्र के लिये इतना बडा धक्का था कि गाधीजी की हत्या के समाचार मात्र से सारे देश मे हाहाकार मच गया और क्षण भर को तो हम किकर्तव्यविमूढ ही हो गये।

उधर एक बहुत बडा प्रश्न देश की गरीबी का था। आजादी की लडाई जब लडी जा रही थी तो जनता को यह कहा गया था कि आजादी आने के बाद देश मे खुशहाली आयगी। काग्रेस सरकार बनाने के बाद उस चिन्ता मे फस गई। खुशहाली का तो

प्रश्न ही नही था, अग्रेज जब यहा से गया तो वह देश मे अकाल की स्थिति छोडकर गया था । सारे देश को खिलाने का सवाल बडा जबर्दस्त था, सरकार को तुरन्त ही उत्पादन के प्रश्न को भी सुलझाना था । इस काल को हम राष्ट्रीय सकट का काल कह सकते है, परन्तु खेद इस बात का है कि ऐसे नाजुक और ऐतिहासिक मौके पर देश के समाजवादी और साम्यवादी दलों ने अपनी शक्ति सरकार का साथ देने के बजाये विरोध करने मे लगानी शुरु कर दी । कम्यूनिस्टो ने तो उस मौके पर चारो ओर मजदूरो की हडतालो का ताता लगाना शुरू कर दिया, समझ मे नही आता कि यह उनकी कौनसी देशभक्ति थी कि संकट मे पडे हुए देश की अर्थ-व्यवस्था को वे तहस-नहस करने मे लग गय । इस समय पर कांग्रेस ने बडी बुद्धिमानी का काम यह किया कि उसने कम्यूनिस्टो द्वारा प्रभावित ट्रेड यूनियन कांग्रेस के विरोध मे इडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नाम से एक राष्ट्रीय मजदूर संगठन का सूत्रपात किया जिसका लक्ष्य उत्पादन के प्रश्न पर राष्ट्रीय हित की दृष्टि से चिन्तन व संगठन करना था ।

यो तो केन्द्र म कांग्रेस को सत्ता प्राप्त हुई थी परन्तु कांग्रेस ने सकुचित दृष्टि से न सोचकर राष्ट्रीय सरकार बनाने की कोशिश की और सरकार मे कई गैर-कांग्रेसी नेताओ को भी शामिल किया, इनमे डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, श्री षणमुखम् चेट्टी, श्री भाभा, श्री बलदेवसिह जी का नाम लिया जा सकता है । परन्तु धीरे-धीरे एक ओर तो सरकार स्थिर होती चली गई तथा दूसरी ओर यह अनुभव आया कि विभिन्न विचारो के लोग लम्बे समय तक एक साथ मत्रिमंडल मे काम नही कर सकते अत शुद्ध कांग्रेसी मन्त्रिमडल बनाने की दिशा मे कदम उठाया गया ।

ये सारे प्रश्न तो एक ओर देश और सरकार को चुनौती दे ही रहे थे, एव सब से महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने अपने स्वतन्त्र देश के स्वतन्त्र सविधान के निर्माण का था । उस काम को करने के लिये एक सविधान-निर्मात्री सभा की स्थापना की गई जिसने २२ नवम्बर १९४९ को अपना काम पूरा किया । इसका विस्तृत विवरण हम आगे प्रस्तुत करेंगे ।

नये सविधान ने देश को एकात्मक के स्थान पर संघात्मक स्वरूप प्रदान किया और राज्यो का शासन कांग्रेस सरकारे सुचारु रूप से चलाने लगी, उनको भी अनेक प्रश्नो का सामना करना पडा जिनम साम्प्रदायिक द्वेष का दमन और शान्ति व्यवस्था बनाये रखने का काम बहुत बडा था । राज्यो की सरकार १९३९ मे जिस समय त्याग-पत्र देकर हटी थी, उस समय उनके हाथो मे बहुत से विधेयक थे, इस बार १९४७ में पद सम्हालने के बाद उन्होने उन विधेयको को उठाया, इनमे सबसे महत्वपूर्ण विधेयक भूमि-व्यवस्था के सुधार से सम्बन्धित थे । कांग्रेस किसानो के सहारे अग्रेज के विरुद्ध लडी थी, वह उनके साथ कुछ क्रान्तिकारी सुधारो के लिये वचनबद्ध थी जिनमे जमींदारी मिटाने की बात भी थी । साथ ही कांग्रेस लोकतात्रिक एव व्यापक अर्थ मे समाजवादी थी अत स्वाभाविक रूप से उसके सामने शोषण और उत्पीडन मिटाने

का प्रश्न प्रमुख रूप से था ही।

इस प्रकार हमारा यह पुराना देश नय रास्तो और नई दिशाओ की ओर अपनी शक्ति व हिम्मत बटोर कर आग बढा, उसके शत्रु भी कम न थे लेकिन वह उनकी परवाह किय बिना ही आग बढा और निरन्तर अनवरत रूप से अपनी प्रगति की दिशा मे बढता जा रहा है।

काग्रेस के लक्ष्यो का विकास

काग्रेस के राष्ट्रीय चरित्र और उसके तत्वावधान में होने वाले राष्ट्रीय स्वाधीनता सग्राम का विस्तृत वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। हमारी वह महान काग्रेस १५ अगस्त १९४७ के दिन ऐतिहासिक दृष्टि से समाप्त हो गई। उस दिन उसका लक्ष्य पूरा हो गया और उसका काम समाप्त। उसने जिस साहस और दूरदर्शिता क साथ राष्ट्रीय स्वाधीनता सग्राम का नेतृत्व किया वह ससार के इतिहास मे अनुपम और अनूठा है। उस महान सस्था को, जिसके मच पर राष्ट्र का प्रत्यक व्यक्ति आया और अपनी आजादी क लिए लडा हम विनीत भाव से प्रणाम करके ऐतिहासिक विवचन म आग बढते ह तो हमें ज्ञात होता है कि काग्रेस नाम की सस्था १५ अगस्त १९४७ के बाद भी चालू रही। यह दखकर हमारे इस कथन पर सन्दह हो सकता है कि काग्रेस उस दिन समाप्त हो गई थी। इसमें भ्रम की कोई गु जाइश नही है आज हमे जो काग्रेस दिखाई देती है वह उस पुरानी महान काग्रेस से सर्वथा भिन है। यद्यपि उसका नाम वही पुराना है और उसमे जो लोग हैं वे भी बहुत स पुरान ही ह तथापि वे भिन्न ह और उन दोनो की भिन्नता दोनो के लक्ष्यो और चरित्र पर आधारित है। महान काग्रेस का लक्ष्य भारत का स्वतन्त्रता प्राप्त करना था इस लक्ष्य का निर्धारण १९३० की सबसे पहली घडी मे रावी नदी के किनारे हुआ था। आज जो काग्रेस दल हम दिखाई देता है वह एक राजनीतिक दल है जिसका लक्ष्य स्वतन्त्र भारत मे सत्ता के माध्यम से एक विशेष प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण करना है, वह भले ही राष्ट्रीय हित का प्रतिनिधित्व करती हो परन्तु यह दावा नहीं किया जा सकता वह भारत की एकमात्र राष्ट्रीय सस्था है। १८८५ से १९४७ की महान काग्रेस के बारे मे यह दावा किया जा सकता है कि वह भारत की एकमात्र राष्ट्रीय सस्था थी तथा उसके महान मच पर समूचे राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्तिया इकट्ठी हुई थी वह एक दल नही थी वरन् वह एक मोर्चा था जिसके पीछे सारा राष्ट्र खडा था। इस बात के प्रमाण मे हम यह कहना चाहेग कि उस समय काग्रेस के अध्यक्ष को राष्ट्रपति कहा जाता था तथा चर्खे के चिन्ह वाले तिरग झण्डे को राष्ट ध्वज कहा जाता था। आज भी काग्रेस दल का झण्डा वही है परन्तु उसको आज कोई राष्ट्र ध्वज मानने को तैयार नहीं होगा, न उसके अध्यक्ष को राष्ट्पति ही।

१९४७ मे काग्रेस दल का आरम्भ हुआ और उसका लक्ष्य सत्ता के माध्यम

से देश के शासन का संचालन निर्धारित किया गया। जैसा हम पीछे कह चुके हैं कि अपने बाह्य रूप रंग और सदस्यता की दृष्टि से यह कांग्रेस-दल पुरानी महान कांग्रेस के समान ही है, या एक तरह से उसका ही विस्तार प्रतीत होता है, उसके नेता पुराने ही हैं अन्तर केवल यह हो गया है कि जो कल तक राष्ट्रीय नेता थे वे ही आज दलीय नेता बन गये हैं, जो कल तक राष्ट्रीय झण्डा था वही आज दलीय झण्डा बन गया है। इतना ही नहीं जैसे किसी पुरानी व्यापारी कम्पनी की साख नये उत्तराधिकारियों के काम आती है वैसे ही महान कांग्रेस के उज्ज्वल इतिहास का लाभ भी कांग्रेस पार्टी को मिला है हालांकि जो लोग आजादी के बाद उससे अलग हो गये दूसरे दलों में चले गये उन्होंने कम बलिदान देश की खातिर नहीं किये थे। यह सब उल्लेख करने में हमारा प्रयोजन कांग्रेस पार्टी की प्रतिष्ठा को कम करना नहीं है वरन यह विश्लेषण एक वैज्ञानिक के नाते करना हमारा धर्म है जिससे कि हमारे भावी नागरिक सही स्थिति को समझ सकें। महान कांग्रेस के किसी यश के लिए वर्तमान कांग्रेस दल को ही एकमात्र उत्तराधिकारी मानना गलत है, वह यश समूचे राष्ट्र की पवित्र धरोहर है और उसमें सारे राष्ट्र का भाग है, ठीक इसी प्रकार उस महान कांग्रेस की भूलों और उसके दोषों के लिए वर्तमान कांग्रेस-दल को ही अकेले दोष देना भी गलत होगा उसकी जिम्मेदारी भी सारे राष्ट्र पर है, जिसे हमें भूल जाना ही श्रेयस्कर है।

यहां हम वर्तमान कांग्रेस दल के लक्ष्यों के विकास का उल्लेख करेंगे। आरम्भ में ही कांग्रेस का वर्णन करना इसलिये आवश्यक है कि यदि हम स्वाधीनता के पश्चात देश की राजनीति को समझना चाहते हैं तो हमें सबसे पहले कांग्रेस दल को समझना होगा क्योंकि स्वतन्त्रता की देवी ने इस दल के हाथ में ही राष्ट्र की सत्ता को सौंपा और तब से आज तक वह सत्ता इसी दल के हाथों में है। इस दल ने पिछले १३ वर्षों में राष्ट्र के समूचे जीवन सूत्र का संचालन किया है इसकी नीतियों ने देश के भाग्य का निर्माण इस काल में किया है तथा यही आज भी देश का नेतृत्व कर रही है। कांग्रेस-दल को अपनी पूर्ववर्ती महान कांग्रेस से एक धरोहर मिली, वह थी अनिश्चितता की नीति। महान कांग्रेस में विविध विचारों के लोग थे जो एक बात में तो सहमत थे कि भारत स्वतंत्र हो जाना चाहिये परन्तु जहां तक स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का प्रश्न है, उसके बारे में सबके मत भिन्न भिन्न थे। स्वतन्त्रता के पश्चात शीघ्र ही समाजवादियों ने कांग्रेस को छोड़ दिया, साम्यवादियों को उसने पहले से ही बहिष्कृत कर दिया था, १९५० में दूसरे कुछ महत्वपूर्ण नेताओं ने कांग्रेस को छोड़ दिया। इस सबके बावजूद कांग्रेस अपनी कोई स्पष्ट नीति नहीं तय कर पा रही थी। इसका प्रधान कारण यह था कि कांग्रेस के सामने व्यवहारिक परिस्थितियां हैं, उसके हाथों में संसार का एक महान् देश है जिसका निर्माण उसे करना है, अतः वह सैद्धान्तिक-सूत्रों (डॉगमेटिक या एब्सट्रैक्ट आइडियॉलॉजी) के चक्र में न फंसकर अत्यन्त व्यवहारिक और लचीले मार्ग का अनुसरण करने की चेष्टा कर रही

है। एकदम वह कोई लक्ष्य निर्धारित नही कर सकी है, उसके लक्ष्यों का विकास हुआ। यह विकास धीरे-धीरे नही, बहुत तेजी से हुआ है। गत तेरह वर्षों म वह लक्ष्यहीनता से समाजवाद के निश्चित लक्ष्य पर पहुँची है तथा उसके कदम राष्ट्रीय विकास के साथ-साथ उठे है। यद्यपि हमने पीछे कहा है कि वर्तमान कांग्रेस पुरानी महान कांग्रेस से सर्वथा भिन्न है, तथापि निकट से आकर देखने पर ऐसा लगता है कि इसकी प्रगति की रीति-नीति वही पुरानी है और यह दल अपनी नीतियो का निर्धारण देश की व्यवहारिक परिस्थितियो के सदर्भ में तथा देश की आवश्यकता का ध्यान रखकर करता है, आज भी इसकी चेष्टा यही है कि यह राष्ट्र को साथ लेकर चले। वास्तव मे एक प्रकार से पिछले तेरह वर्षों का कांग्रेस का इतिहास इस देश की गति और प्रगति का इतिहास है।

अवाडी अधिवेशन और समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना का सकल्प—संविधान लागू होने के बाद से कांग्रेस यद्यपि पचवर्षीय योजनाओ के द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना के लिये चेष्टा कर रही थी तथापि वह स्पष्ट शब्दो में समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित नही कर पा रही थी। सारा देश इस बात को समझ रहा था कि कांग्रेस चुपचाप समाजवाद की दिशा म जा रही है। देश में उद्योगो के राष्ट्रीयकरण तथा निजी व सार्वजनिक क्षेत्र की चर्चाएँ आरम्भ हो गई थी। ऐसे मौके पर कांग्रेस ने यह उचित व आवश्यक समझा कि वह अपने लक्ष्यो की स्पष्ट घोषणा करे। १९५५ का कांग्रेस अधिवेशन अवाडी म हुआ। वहा निश्चित रूप से यह घोषणा कर दी गई कि कांग्रेस का लक्ष्य समाजवाद तो नही परन्तु समाजवादी ढग का समाज बनाना है। जैसा हम पीछे कह चुके हैं, कांग्रेस विकासशील सस्था रही है, वह कभी सैद्धान्तिक शब्द-जाल मे नही फसी, उसने हमेशा धीरे-धीरे अपने कदम देश की स्थिति और मानसिक दशा के हिसाब से बढाय है। बडी सावधानी से समाजवादी ढग का समाज बनाने के लक्ष्य की घोषणा की गई और कहा गया कि कांग्रेस जनता के उन्नत-जीवन के लिये प्रयत्न, और कम सुविधा प्राप्त लोगों की सहायता करना चाहती है। वह समाजवादी ढग के समाज की स्थापना लोकतात्रिक पद्धति से करना चाहती है। इस प्रकार का समाज वह शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक तरीको से बनाना चाहती है। उसने योजनाबद्ध ढग मे देश की आर्थिक-प्रगति मे अपना विश्वास प्रकट किया।

अवाडी से अमृतसर—१९५६ मे कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर मे हुआ। वहा कांग्रेस कार्यकर्ताओ के सामने रचनात्मक कार्य रखा गया तथा देश से कहा गया कि वह राष्ट्रीय एकता को मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक दृष्टि से अधिक सुदृढ बनाय, जाति और सम्प्रदाय की उपेक्षा करे तथा राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानकर नय देश का निर्माण करे।

इन्दौर अधिवेशन और समाजवाद की घोषणा—१९५७ मे कांग्रेस का अधिवेशन इन्दौर मे हुआ और वहा यह घोषणा की गई कि कांग्रेस का लक्ष्य भारत मे

एक समाजवादी सहराज्य की स्थापना करना है, जिसे अंग्रेजी भाषा मे सोशलिस्ट को-ऑपरेटिव कामनवैल्थ कहा गया। इस अधिवेशन म कांग्रेस ने १९५७ के चुनावो मे जनता के सामने रखने के लिय एक निर्वाचन घोषणा पत्र भी स्वीकार किया। आमतौर पर निर्वाचन घोषणा पत्र पर सदस्यो द्वारा विवाद और मतदान नही किया जाता था परन्तु इस बार यह आवश्यक समझा गया क्योंकि कांग्रेस का उच्च नेतावर्ग दल को अधिक लोकतान्त्रिक आधारो पर सगठित करना चाहता था तथा यह भी चाहता था कि दल के अधिक से अधिक सदस्य घोषणा पत्र पर विचार करें और उस पर चर्चा करके यह महसूस करे कि वह उनके द्वारा तैयार किया गया है और वे उसे अधिक ईमानदारी से उठावें।

इन्दौर अधिवेशन मे नैतिक मूल्यो की ओर भी देश का ध्यान खीचा गया तथा कहा गया कि मनुष्य केवल एक भौतिक पदार्थ नही है उसके जीवन के नैतिक और मानवीय व आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक पक्षो का भी बहुत बडा महत्व है अत उनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात जो कही गई वह यह थी कि कांग्रेस समाजवाद के लक्ष्य की प्राप्ति केवल लोकतान्त्रिक पद्धति स करेगी उसे दमन और हिंसा में विश्वास नही है उसकी मान्यता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सम्मान होना चाहिए तथा उसकी रक्षा की जानी चाहिय। इसके आगे यह भी कहा गया कि देश के भीतर एक सामाजिक लोकतन्त्र स्थापित किया जाना चाहिय, जिसका अर्थ यह है कि सामाजिक प्रतिष्ठा सम्पत्ति, जाति कुल या रग और धर्म पर आधारित नही होनी चाहिय, मनुष्यो का मूल्याकन उनके उत्पादक और समाजोपयोगी परिश्रम के आधार पर होना चाहिय। समाज को स्वय अनुशासन कठोर परिश्रम और सहकारी ढङ्ग से काम करने की आदत पैदा करनी चाहिय सरकार को शक्ति जनता मे प्राप्त होती है अत जनता को मजबूत होना चाहिय। इस प्रकार चुनाव घोषणा-पत्र ने एक बार फिर इस बात पर जोर दिया कि भारत मे जनता का राज्य है और वही सत्ता की सच्ची स्वामिनी है। समाजवाद के बावजूद लोकतन्त्र के इस बुनियादी सिद्धान्त म कांग्रेस की निष्ठा की यह घोषणा सिद्ध करती है कि वह लोकतन्त्र के बारे मे बहुत सतर्क है और किसी भी मूल्य पर उसे छोडने को तैयार नही है।

घोषणा-पत्र मे सहकारिता, शोषण के निवारण, आय की क्रमागत समानता बडे पैमाने के उद्योगो ग्रामोद्योग, केन्द्रीयकरण व यथासम्भव विकेन्द्रित व्यवस्था राष्ट्रीय व निजी उद्योगो के पृथक क्षेत्र, सघन सहकारी कृषि, विकास योजनाओ तथा भूमि-व्यवस्था के सुधार का भी उल्लेख किया गया था। जहा सहकारी खेती के बारे मे सिफारिश की गई थी वही यह स्पष्ट कर दिया गया था कि सहकारिता स्वेच्छा पर आधारित होगी उसके लिय किसी को मजबूर नही किया जायगा।

नागपुर मे सहकारी-कृषि का निश्चय—जनवरी १९५९ मे कांग्रेस का अधिवेशन श्रीमती इन्दिरा गाधी की अध्यक्षता म हुआ तथा उसमे सहकारी-कृषि का

कार्यक्रम बहुत जोर से रखा गया। इस प्रश्न पर कांग्रेस उग्र हो गई तथा यह निर्णय कर लिया गया कि जो लोग सहकारी-खेती के निश्चय से सहमत नही है वे कांग्रेस छोड सकते है। इस बार एक अवसर आया जब यह बात प्रकट हो गई कि कौन प्रगतिशील है और कौन प्रतिगामी। इस प्रश्न पर अनेक लोग कांग्रेस छोड गये तथा उन्होने श्री राजगोपालाचारी के नेतृत्व मे स्वतन्त्र 'दल नाम से अलग सगठन का निर्माण कर लिया। इस दल का मुख्य उद्देश्य सहकारी खेती का विरोध करना है।

इस प्रकार कांग्रेस प्रगति की राह मे एक-एक कदम उठाती चली जा रही है वह इस बारे मे सावधान है कि उसकी घोषणाओ और उसके कामो के बीच अन्तर न हो होना चाहिए। उसके लिए ऐसा सोचना अत्यन्त आवश्यक भी है क्योकि यदि वह दल जो सत्ता मे है, बहुत ऊचे आदर्श जनता के सामने रख देता है जिन्हे वह पूरा नही कर सकता तो इसका परिणाम यह होगा कि वह अपनी लोकप्रियता खो बैठेगा। उसे तो वे ही आदर्श जनता के सामने घोषित करने चाहिये जिन्हे वह समझता है कि देश की ताकत और स्थिति के हिसाब से पूरा करना सम्भव व व्यवहारिक होगा।

विदेश-नीति— कांग्रेस की विदेश-नीति के बारे मे भी दो शब्द कहना उपयुक्त होगा। उसने आरम्भ से ही इस मामले मे तटस्थता की नीति बरती है। इस नीति के मार्गदर्शक तत्वो का सबसे अच्छा परिचय पचशील म मिलता है जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। वह सैनिक-सन्धियो तथा गुटबन्दियो के विरुद्ध है तथा ससार के दो शक्ति गुटो के बीच भारत को तटस्थ रखना चाहती है। उसने यह भी घोषणा की है वह भारत के लिए प्रसार की नीति (पॉलिसी ऑफ एक्सपान्शन) मे विश्वास नही रखती। सयुक्त राष्ट्र मे वह भारत की सक्रियता की समर्थक है तथा वह भारत सरकार से अपेक्षा करती है कि वह ससार के सभी राष्ट्रो को सघ मे प्रवेश दिलाने की पूरी चेष्टा करे।

इसके अतिरिक्त वह इस पक्ष मे है कि देश कॉमनवैल्थ ऑफ नेशन्स का सदस्य बना रहे। इस प्रकार भारत का यह प्रधान राजनीतिक दल देश की नीतियो का मार्गदर्शन कर रहा है।

अन्य राजनीतिक दलो की स्थिति

सत्ता ज्यो-ज्यो निकट आती जा रही थी कांग्रेस अपने भीतर काम करने वाले विविध दलो के प्रति असहनशील होती जा रही थी। उसका कारण यह था कि एक दल के रूप मे कार्य करने के लिय यह आवश्यक था कि दल के प्रति वफादारी प्रकट करने वाले दल के तमाम सदस्य दल की रीति-नीति, और दल के नेताओ मे विश्वास रखें तथा उनकी सार्वजनिक आलोचना न करें। कांग्रेस का राष्ट्रीय स्वरूप समाप्त होकर वह एक दल मे रूपान्तरित हो रही थी अत उसके लिए यह कठिन हो रहा था कि वह विविध विरोधी विचारो के लोगो को साथ लेकर चल सके। उधर कांग्रेस के भीतर गांधीजी ही एक ऐसे व्यक्ति थे

जिनके व्यक्तित्व के चारो ओर विरोधी विचारो के लोग भी इकट्ठे हो जाते थे, सत्ता आने के साथ ही कांग्रेस की नीतियों मे जो अचानक परिवर्तन आये उनसे गाधीजी थोडे खिन्न थ और वे कांग्रेस के प्रति उदासीन हो गये, इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस, जो अब तक एक सम्मिलित मच या मोर्चा थी, एक दलीय सगठन का सकीर्ण स्वरूप लेने लगी। गाधीजी की मृत्यु के बाद तो यह निश्चय ही हो गया कि दूसरे दल जो अब तक कांग्रेस के भीतर काम कर रहे थे, उसम नही रह सकेंगे। सरदार पटेल इस मामले म बहुत सख्त हो गये और १६४८ मे गाधीजी की हत्या के थोडे समय बाद ही फरवरी के अन्तिम दिनो मे कांग्रेस ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि कांग्रेस के सदस्य दूसरे किसी दल के सदस्य नही रह सकते। यहा से भारत के राजनीतिक क्षितिज मे नये दलो का स्वतन्त्र अस्तित्व आरम्भ होता है।

कांग्रेस भारत छोडो आन्दोलन का विरोध करने और अंग्रेजो का साथ देने के कारण १६४५ में ही कम्यूनिस्टो को अपने भीतर से बहिष्कृत कर चुकी थी। उपरोक्त प्रस्ताव पास होते ही मार्च १६४८ के नासिक अधिवेशन मे समाजवादी कार्यकर्ता कांग्रेस छोड कर अलग हो गये और समाजवादी दल के अलग झण्डे के नीचे अपना सगठन खडा करने मे लग गये। १६५१ तक देश के भीतर चार प्रकार के राजनीतिक दलो का पृथक पृथक् सगठन हो चुका था—पहले वर्ग म ऐसे दल हैं जो भारतीय सविधान मे उल्लिखित लोकतात्रिक और धर्म निरपेक्ष राज्य रचना मे विश्वास रखते हैं, जैसे कांग्रेस, समाजवादी दल और किसान मजदूर प्रजा पार्टी, दूसरे वर्ग मे वे राजनीतिक दल है जो ससदात्मक लोकशाही को हटाकर सोवियत और चीनी नमूने पर देश की पुनर्रचना करना चाहते है, जैसे कम्यूनिस्ट दल व क्रातिकारी समाजवादी दल तीसरे वर्ग मे वे दल ह जो राज्य के वर्तमान स्वरूप को मिटा कर देश के भीतर हिन्दू-व्यवस्था की स्थापना करना चाहते ह, जैसे जनसघ, हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद इनके अतिरिक्त एक चौथा वर्ग भी बना जो आज तक मौजूद है, इसे हम सविधान के प्रति उदासीन तथा साम्प्रदायिक और सकीर्ण जातीय, वर्गीय व प्रादेशिक हितो का हिमायती कह सकते है इसम अकाली दल, परिगणित जाति सघ, झारखड पार्टी आदि के नाम गिना सकते ह।

कम्यूनिस्ट पार्टी—कम्यूनिस्ट तो स्वतन्त्रता मिलते ही देश के मजदूरो के सगठन म लग गये और उन्होंने बिना ही यह देखे कि देश की नव प्राप्त स्वतन्त्रता पर उनके कामो का कितना बुरा प्रभाव होगा, मजदूरो की हडतालो का सगठन करके देश के आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त करना तथा तोड फोड की नीति अपनानी शुरू कर दी। सरकार इस पर सावधान हो गई और एक ओर तो उसने अपनी पूर्व निर्धारित नीति के आधार पर मजदूरो के हितो से सम्बन्धित कानून बनाने शुरू कर दिये, दूसरी ओर कांग्रेस स्वय इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस बनाकर मजदूर सगठन मे घुस गई, तीसरे सरकार ने तोड-फोड की नीति क विरुद्ध कडा रख अपनाया और जनता ने उसकी निन्दा की। इधर देश मे योजनाबद्ध निर्माण शुरू हुआ। इन

सब कारणो से कम्यूनिस्टो के लिये सिवाय इसके कोई मार्ग ही नही रहा कि वे वैधानिक साधनो को अपनाते। आखिरकार अनेक वर्षों के बाद उन्होंने अपने अमृतसर सम्मेलन में वैधानिक साधनो और चुनाव के द्वारा साम्यवाद की स्थापना करने की नीति में विश्वास प्रकट किया। इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि केरल राज्य में १९५७ के निर्वाचनो मे उन्हे स्पष्ट बहुमत तो नही मिला पर कुछ स्वतन्त्र सदस्यों की सहायता से वे सरकार बनाने में कामयाब हो गये परन्तु वह सरकार टिक नही सकी। जनता को ऐसा लगा कि यद्यपि साम्यवादी दल के नेता लोकतन्त्र की दुहाई देते हैं परन्तु सरकार चलाने म वे चीन और रूस द्वारा प्रयोग किये जाने वाले अधिनायकवादी तरीको को प्रयोग करने लग गये है इस पर वहा की जनता ने बहुत प्रबल आन्दोलन किया जिसको कांग्रेस और समाजवादियो का सहयोग भी प्राप्त था और उसके परिणामस्वरूप अगस्त १९५९ मे राष्ट्रपति ने राज्यपाल की सूचना और समाधानकारक तथ्यों के आधार पर, वहा सांविधानिक शासन के भंग होने और सकटकालीन स्थिति पैदा होने की घोषणा करके साम्यवादी मंत्रिमडल को भग कर दिया। अब वहा नये सिरे से चुनावो की तैयारिया हो रही हैं देखिये ऊंट किस करवट बैठता है। दूसरे राज्यों म उनकी स्थिति बहुत कमजोर है ससद में उनके चोटी के नेता जैसे श्री गोपालन और श्री डागे चुने जा सके हैं जिसके कारण वहा वे सरकारी नीतियो की आलोचना भली प्रकार कर पाते है। उनके बारे मे सबसे खेदजनक और दुर्भाग्य की बात यह है कि आज तक भी वे अपने आप को उत्कट राष्ट्रीयता से सुसज्जित नही कर सके हैं। द्वितीय महायुद्ध मे सोवियत सघ के अग्रेजो की शरण मे आते ही वे भारत की आजादी के प्रश्न को मझधार में छोडकर अग्रेजो के पिट्ठू बनने म तनिक भी नहीं शर्माये, उन्होंने खुले आम देश की आजादी के भारत छोडो आन्दोलन का विरोध किया। अभी हाल में ही चीन ने भारत की उत्तरी सीमा पर आक्रमण किया, इस घटना ने सारे देश के भीतर राष्ट्रभक्ति की लहर पैदा कर दी तथा सारा देश क्रोध से उबल पडा परन्तु ऐसे नाजुक मौके पर भी वे बेशरमी के साथ चीन की कम्यूनिस्ट सरकार के कामो का दबा दबा समर्थन करते रहे, एक बार भी उन्होंने कडे शब्दो म चीन के आक्रमण की निन्दा नही की तथा यह घोषणा नही की कि यदि चीन पीछे नही हटता है तो हम उसको अपने देश की सीमाओ म से खदेड देंगे, जो साम्यवादी देश के भीतर जरा-जरा सी बात पर दगा करा देते हैं, बसें और ट्राम जला डालते हैं, वे ही देश के आक्रमण के समय मौन होकर बैठ गये इतना ही नहीं श्री डागे ने जब चीन के आक्रमण की निन्दा की तो साम्यवादी दल ने उनके इस काम के लिये उन्हे अपने मेरठ सम्मेलन में बहुत बुरा भला कहा। वहा उन्होंने भारत के लोकमत के दबाव मे आकर चीन के आक्रमण के बारे म एक प्रस्ताव दबे-दबे शब्दो म पास किया परन्तु उससे उनकी राष्ट्रीयता तनिक भी प्रमाणित नही होती। वास्तव म यह दल सोवियत सघ और चीन के साम्यवादी नेताओ का शिष्य है और उसकी प्रेरणा के लिये उनकी ओर ही मुह उठाकर देखना पडता है, अत सहज ही उनके

मन मे उन देशों के प्रति भक्ति और निष्ठा है। "भारत के साम्यवादियो ने अपना मस्तिष्क बन्द कर लिया है और वे अपना समय तथा अपनी शक्ति भूतकाल के कुछ नारे याद करने मे खर्च कर रहे है, वे भारत की वर्तमान स्थिति में असमर्थ रहे हैं। वीर और महान कान्तिकारी साम्यवादी महान प्रतिक्रियावादी बन गये हैं।—मैं समाजवाद या साम्यवाद के विरुद्ध नही हूँ। मैं भारत और भारतीय जनता मे सबसे अधिक दिलचस्पी रखता हूँ। भारत के साम्यवादी समझते हैं कि क्रान्ति का अर्थ आदर्शों का बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयोग न होकर यह खोजने म है कि ५००० मील दूर क्या हो रहा है।' *(श्री जवाहरलाल नेहरू, २६ दिसम्बर १९५५ को त्रिचुर म्युनिसिपल* कार्उन्सिल के सामने भाषण, उद्धृत इकनॉमिक रिव्यू १ जनवरी १९५६)। ये प्रादेशिक सीमाओं से परे की निष्ठाये (एक्स्ट्रा टैरीटोरियल लॉयल्टी) देश के लिये बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकती हैं और यदि हम तनिक भी असावधान हुए तो हमारे देश में ठीक उसी प्रकार अवैधानिक ढग से विदेशी सेनाओं की मदद द्वारा साम्यवाद लादा जा सकता है जिस प्रकार चीन पर वह थोपा गया है। यह हमारी लोकतांत्रिक परम्पराओ और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लिये घातक होगा। समाजवाद हमे बनाना है लेकिन हम उसकी स्थापना अपने संविधान के अन्तर्गत और लोकतात्रिक साधनो से करें यह नितान्त वाछनीय है। हमे सार्वजनिक जीवन मे से हिंसा और दमन का उन्मूलन करने के लिये कटिबद्ध रहना होगा। इस देश में यदि किसी को भी किसी प्रकार की मजबूरी महसूस होती है और वह अपने आपको किसी ढाचे में जबर्दस्ती पाता है तो वह हमारे देश के *लिये दुर्भाग्य की बात होगी।*

प्रजा समाजवादी दल—हमारे देश मे समाजवादी दल की स्थापना कांग्रेस के भीतर १९३४ मे हुई *थी।* यह दल मार्च १९४८ मे विधिवत ढग से कांग्रेस से अलग हुआ। उधर कांग्रेस के भीतर अनेक कारणो मे, जिनमे आचार्य कृपलानी की कांग्रेस अध्यक्ष पद के लिये हार भी शामिल है, कांग्रेस के भीतर एक डैमोक्रेटिक फ्रन्ट की स्थापना की गई। यह एक और संघर्ष और वियोग का आरम्भ था। आखिर यह दल कांग्रेस से १९५१ मे अलग हो गया। इसके नेता आचार्य कृपलानी ने १७ मई १९५१ को कांग्रेस छोड दी और १६–१७ जून को पटना में होने वाले सम्मेलन में किसान मजदूर प्रजा पार्टी की स्थापना कर ली गई। १९५२ के निर्वाचनो में समाजवादी दल और किसान मजदूर प्रजा पार्टी के बीच एक प्रकार का ढीला-ढाला समझौता हो गया परन्तु वह टिक नही सका। समाजवादी दल बराबर यह चाह रहा था कि किसान मजदूर प्रजा पार्टी और उस के बीच स्थायी सम्बन्ध हो जायें परन्तु आचार्य कृपलानी समाजवादी दल के कार्यक्रम से अधिक प्रभावित और उत्साहित नही हो पा रहे थे। १९५२ के निर्वाचन-परिणाम बहुत निराशाजनक थे। लोकसभा मे कांग्रेस को ३६२ स्थान मिले परन्तु किसान मजदूर प्रजा पार्टी को केवल ६ और समाजवादी दल को १२ स्थान मिले। यह बात और भी अधिक आश्चर्यजनक थी कि साम्यवादी दल को इस में २३ स्थान प्राप्त हुए और वह लोकसभा का सबसे बडा विरोधी दल

था। इस चुनाव से दोनो दल यह समझ गये कि कांग्रेस का विरोध करने के लिये उन्हें आपस में मिल जाना चाहिये।

सितम्बर १९५२ में समाजवादी और किसान मजदूर प्रजा दोनो दल लम्बी चर्चा और सन्धि के बाद एक दूसरे में विलीन हो गये तथा संयुक्त दल का नाम 'प्रजा समाजवादी दल' रखा गया। इस प्रकार देश में एक नये शक्तिशाली दल का उदय हुआ परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि यह दल अभी तक देश की दृष्टि को पकड नहीं सका है तथा यह प्रमुख विरोधी दल का स्थान नही ले सका है।

समाजवादी दल की एकता बहुत दिनों तक बनी न रह सकी। १९५५ में प्रसिद्ध समाजवादी नेता डा० राममनोहर लोहिया ने अपने साथियों के साथ प्रजा समाजवादी दल को छोडकर नये सिरे से समाजवादी दल के नाम से एक नये दल की स्थापना कर ली। उनकी नीतियां प्रजा समाजवादी दल की अपेक्षा कुछ उग्र हैं वे स्थायी तौर पर सत्याग्रह की नीति में विश्वास करते हैं। श्री जयप्रकाशनारायण ने उनके साथ प्रजा समाजवादी दल की सन्धि कराने की बहुत चेष्टा की परन्तु वे इसमें कामयाब न हो सके।

हिन्दू राजनीतिक दल—यहां हमें जनसंघ हिन्दू महासभा और रामराज्य परिषद जैसे हिन्दू दलों का वर्णन भी करना चाहिये। इनमें हिन्दू महासभा सबसे पुराना दल है। इसकी स्थापना १९०७ में मुस्लिम सम्प्रदायवाद का सामना करने के लिये की गई थी धीरे-धीरे यह संस्था प्रतिक्रियावादी होती गई और बजाय मुस्लिम लीग का विरोध करने के यह उसकी शिष्या बन गई अर्थात जिस प्रकार लीग यह कहती थी कि हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं ठीक उसी प्रकार हिन्दू महासभा भी यही राग अलापने लगी और वह उग्र हिन्दू राष्ट्रवाद की प्रतीक बन गई। भारतीय साम्प्रदायिक समस्या की जिम्मेदारी जो लोग अकेले लीग पर ही नही डालना चाहते वे उसके साथ ही सभा का नाम भी जोडना पसन्द करते हैं और वैसा करना बिल्कुल गलत नही होगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात सभा लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सकी है उसका प्रधान कारण यह तो है ही कि महात्मा गांधी के पवित्र रक्त की बूंदों ने भारत में साम्प्रदायिकता की आग को बुझा दिया इसके अलावा यह भी है कि हिन्दू राष्ट्रवाद का नारा उठाने के लिये भारतीय जनसंघ और रामराज्य परिषद नाम के दो दूसरे दल और बना लिए गए तथा इनमें से जनसंघ के भीतर राष्ट्रीय स्वयं सेवक के अनेक नौजवान कार्यकर्ता सम्मिलित हो गये जो शिक्षित हिन्दू राष्ट्रवाद का अधिक कुशल प्रतिनिधित्व करते हैं।

रामराज्य परिषद इनमें सबसे अधिक रूढिवादी दल है। इसकी स्थापना हिंदू सन्यासी स्वामी करपात्रीजी ने की थी और वे ही इसके प्रधान नेता और संरक्षक हैं। भारतीय जनसंघ की स्थापना डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने १९५१ में भारतीय राष्ट्र अर्थात् अखण्ड भारत के नारे के साथ की। कहा तो यह गया था कि जनसंघ सब

धर्मो के लिय खुला होगा परन्तु वास्तव मे डा० मुखर्जी की यह इच्छा पूरी नही हो सकी उसका कारण यह था कि आरम्भ म ही राष्टीय स्वयसेवक सघ के लोगो ने जनसघ पर अपना अधिकार कर लिया था तथा उनके बारे में यह बात साफ तौर पर जाहिर ही थी कि वे हिन्दू राष्ट्रवादी ह और विशपकर मुसलमानो के प्रति उनके मन मे प्रेम नही है। इस सब के बावजूद जनसघ नगरो म काफी लोकप्रिय हो रहा है उसका कारण यह है कि उसके कायकर्ता शिक्षित हैं, उनम सामाजिकता है और वे अपने आपको नगरो के समृद्ध वर्गो के साथ आत्मसात करने मे सफल हुए हैं।

अन्य छोटे और महत्वहीन दलो का वर्णन यहा व्यर्थ होगा। भारत की दलीय राजनीति के बारे म यहा यह उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा कि अब देश के भीतर से धीरे धीरे सकीर्ण साम्प्रदायिकता घट रही है और राजनीतिक दलो का आधार आर्थिक बनता जा रहा है। काग्रेस और समाजवादी दल आम तौर पर लोकतात्रिक समाजवाद के हिमायती बन गय हं साम्यवादी दल सोवियत ढग की अर्थ और समाज व्यवस्था के स्वप्न देख रहा है तथा जनसघ व हिन्दू महासभा आम तौर पर निहित स्वार्थो अर्थात विशप सुविधा प्राप्त वर्गो के हितो के प्रतिनिधि बनते जा रहे है। हाल मे ही भारत की राजनीति के भीष्म चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने स्वनत्र पार्टी के नाम से एक नय दल की स्थापना की है जो भारत मे ब्रिटिश रूढिवादी दल के समान काम करेगा। आजकल वह काग्रेस की सहकारी कृषि की नीति का विरोध कर रहा है। अभी वह दल बहुत नया है अत उसके बारे मे इस समय कुछ भी कहना कठिन होगा तथापि यह तो कहा ही जा सकता है कि यदि स्वतन्त्र दल मजबूत बनता है तो जनसघ की स्थिति कमजोर हो जायगी तथा वह भारत म रूढिवादी दल की आवश्यकता की पूर्ति करेगा।

निम्न तालिका मे हम १९५७ के चुनावो म भारत के प्रमुख राजनीतिक दलो की स्थिति का एक चित्र प्रस्तुत करने की चेप्टा करेंगे।

दल का नाम	लोकसभा मे प्राप्त स्थान	राज्य विधान सभाओ मे प्राप्त स्थान
काग्रेस	३६६	२,०२६
प्रजा समाजवादी	२०	२०५
साम्यवादी	२७	१७१
जनसघ	४	४६
दूसरे दल	३७	२६७
स्वतन्त्र सदस्य	४२	४१४

राष्ट्रीय राजनीति

स्वाधीनता के बाद भारत की राजनीति के अपने इस अध्ययन मे हमे देश की राजनीतिक अवस्था के अतिरिक्त उसकी प्रगति का एक सक्षिप्त चित्र भी प्रस्तुत

करना होगा। स्वतन्त्रता के मिलने के समय भारत को औपनिवेशिक पद प्राप्त हुआ था। २६ जनवरी १९५० को जब हमने नया सविधान लागू किया उस समय यह घोषणा की गई कि भारत एक स्वतन्त्र लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है। यहा से संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रो के बीच हमारा देश खडा हुआ। स्वतन्त्रता के बाद हमारे सामने कई महत्वपूर्ण प्रश्न आये जिनमे से अनेक का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। यहा हम भारतीय राज्यो के पुनर्सङ्गठन का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। काग्रेस ने कई बार इस प्रकार का आश्वासन देश को दिया था कि भारत को अग्रेजो ने अपनी प्रशासकीय सुविधा और राजनीतिक महत्व की दृष्टि से प्रान्तो मे विभाजित किया है अत स्वतन्त्र देश को भाषा के आधार पर नव सिरे से नये प्रदेशो या राज्यो मे विभाजित किया जायेगा। स्वतन्त्रता के पश्चात् स्वाभाविक रूप से उस ओर सरकार का ध्यान गया। काग्रेस ने यह सिद्धान्त १९२० से ही स्वीकार कर लिया था और उसी समय से प्रान्तीय काग्रेस समितिया भाषावार प्रदेशो के आधार पर चल रही थी। दूसरे दलो ने भी काग्रेस की इस भाषावार सगठन की नीति का अनुसरण किया था।

राज्य पुनर्गठन—१९५० में नये सविधान की घोषणा के बाद भारत सरकार इस बारे मे मौन हो गई इस पर देश के कुछ हिस्सो म आदोलन होने लगा और बात यहा तक बढी कि १९५२ के अन्तिम महीनो म अलग आध्र बनाने के लिए सत्याग्रह शुरू हो गया और वहा के एक महात्मा श्री रामलू स्वामी ने अनशन करके अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये। यह कोई मामूली दुर्घटना नही थी, काग्रेस इससे सहम गई और वह समझ गई कि देश म राज्यो के पुनर्गठन का प्रश्न बहुत गम्भीर बन गया है। वह जागी और भारत सरकार ने श्री रामलू की मृत्यु के तुरन्त बाद मद्रास प्रात से तेलुगु भाषा वाले प्रदेश को अलग करके नया आध्र राज्य बनाने की माग स्वीकार कर ली। श्री रामलू के बलिदान के ठीक एक वर्ष बाद अक्तूबर १९५३ म नय आध्र राज्य का निर्माण कर दिया गया, तथा १९५४ मे सरकार ने राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना कर दी जिसने अक्तूबर १९५५ म अपनी रिपोर्ट ससद के सामने पेश कर दी। इस आयोग के अध्यक्ष श्री फज़ल अली और सदस्य श्री हृदयनाथ कुजरू व श्री के० एम० पन्निकर थे। आयोग की सिफारिशो पर ससद में विचार विमर्श हुआ तथा आखिरकार भारत को १४ राज्यो और कुछ सघीय प्रदेशो मे सगठित कर दिया गया। इनमे से एक राज्य पर बहुत झगडा मचा, हुआ यह कि बम्बई नगर के ऊपर झगडा होने के कारण महाराष्ट्र और गुजरात को अलग-अलग न करके बम्बई नाम से एक द्विभाषी राज्य बना दिया गया। यह निर्णय महाराष्ट्रियो तथा गुजरातियो दोनो को अप्रिय लगा अत इसके विरोध मे अहमदाबाद, बम्बई और पूना आदि नगरो में भयकर दगे हुए जिनमें पुलिस की गोलियो और दंगाइयो के पत्थरो से बहुत से व्यक्ति मारे गये, परन्तु संसद अपना निर्णय बदलने को तैयार नही थी। १९५७ के चुनाव इसी परिस्थिति में हुए, उनके परिणामो को देखकर काग्रेस थोडी चिन्तित हुई और

१६५८ मे काग्रेस की अध्यक्षा बनने के बाद श्रीमती इन्दिरा गाधी ने इस दिशा में प्रयत्न आरम्भ किये कि बम्बई को पुन दो राज्यो मे विभाजित कर दिया जाये। यह लगभग निश्चित ही सो गया है कि अब शीघ्र ही बम्बई राज्य को तोड कर महाराष्ट्र और गुजरात नाम के दो राज्यो मे बाट दिया जायेगा। अभी ससद के सामने ये प्रस्ताव नही रखे गये हैं, उस बारे मे सम्बिन्धित नेताओं से बातचीत की जा रही है।

छुआछूत का निवारण—काग्रेस महात्मा गाधी के नेतृत्व में निरन्तर भारत के उज्ज्वल मस्तक पर छुआछूत का कलक मिटाने और देश के प्रत्येक नागरिक को समान भूमिका पर खडा करने के लिए प्रयत्न करती रही। उसके इस प्रयास मे सारे राष्ट्र का समर्थन था। सविधान के द्वारा छुआछूत को मिटा दिया गया और संविधान की धाराओ को अधिक प्रभावशाली ढग से लागू करने के लिए ससद ने एक कानून बनाकर छुआछूत को अवैधानिक घोषित कर दिया। हालाकि यह बात स्वीकार करनी होगी कि छुआछूत जैसी सामाजिक कुरीतिया कानून के द्वारा नही मिटाई जा सकती तथापि इसमे सन्देह नहीं किया जा सकता कि कानून इस मामले में तिरस्कृत जातियो को बडप्पन के नशे में रहने वाली जातियो के अत्याचार के विरुद्ध रक्षण प्रदान करता है तथा उनको सामाजिक न्याय का आश्वासन देता है। इस समस्या के कई कारण हैं जिनमें कुछ सामाजिक हैं, कुछ शिक्षा से सम्बन्धित, कुछ राजनीतिक और कुछ आर्थिक। यह आशा की जा सकती है कि देश के भीतर ज्यो-ज्यो शिक्षा का प्रसार होगा, अछूत जातियो के होनहार बालक शिक्षा लेकर निकलेंगे, सरकार और समाज में ऊचे पद प्राप्त करेगे, तथा उनकी आर्थिक दशा व काम की दशायें सामूहिक रूप से बदलेंगी त्यो-त्यो हमारे माथे से यह पाप धुलता जायेगा। इस दिशा मे सरकार ने बडा काम किया है, इन्हे राजनीतिक सरक्षण देने के अलावा सरकारी नौकरियों में प्राथमिकता दी जाती है, स्थान सुरक्षित किये जाते हैं, विद्यार्थियो को छात्रवृत्तिया दी जाती है तथा नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। हमे यह जानकर गर्व हो सकता है कि हमारे देश का सविधान जिस प्रारूप समिति ने तैयार किया था उस समिति के अध्यक्ष हमारे देश के प्रतिभाशाली विधान शास्त्री श्री डा० अम्बेदकर इसी जाति के सदस्य थे बाद मे तो वे बौद्ध हो गय थे।

भूमि-व्यवस्था मे क्रातिकारी कदम—आजादी की लडाई के जमाने मे भारत की यह आकाक्षा प्रकट हो गई थी कि भारत अग्रेजो द्वारा स्थापित की गई जमीदारी व जागीरदारी की व्यवस्था को मिटाकर ऐसी भूमि-व्यवस्था की स्थापना करना चाहता है जिसम किसान अपनी जमीन का स्वामी और वह अपनी उपज का एकमात्र अधिकारी हो। जमीदार लोग यह बात जानते थे और आजादी की लडाई मे चन्द देशभक्त जमीदारो को छोडकर वे लोग आम तौर पर अग्रेजो के पिट्ठू बने रहे और कांग्रेस के प्रयत्नों का विरोध करते थे। आजादी के बाद इन १३ वर्षों के भीतर देश के कोने-कोने मे से भूमि पर से इस दोहरे भार को हटा दिया गया है तथा

किसान सीधे अपनी भूमि के साथ सम्बन्धित हो गया है। जमींदारी और जागीरदारी के उन्मूलन के अलावा देश के विविध राज्यों में भूमि की अधिकतम जोत की सीमा निर्धारित करने, चकबन्दी करने, सिंचाई, मेड़बन्दी आदि की चेष्टा की गई है। हर सम्भव प्रकार से यह चेष्टा की जा रही है कि भारत का किसान शोषण से मुक्त हो सके, उसकी आर्थिक स्थिति सुधर सके, उसे जीवन के उन्नत साधन उपलब्ध हो सकें, और इसके साथ ही साथ देश की बढ़ती हुई आबादी को दोनों समय पेट भर कर भोजन प्राप्त हो सके। जमींदारी मिटाने के लिए सारे देश में करोड़ों रुपया जमींदारों को प्रतिधन के रूप में दिया गया है।

इस प्रसंग में हमें मोह होता है कि हम अपने विद्वान् पाठकों का ध्यान भूदान यज्ञ आन्दोलन की ओर खींचें। इस आन्दोलन का विचार हमें महात्मा गांधी के शिष्य महर्षि विनोबा भावे ने दिया है। उनका कहना है कि भूमि माता है और हम सब उसकी सन्तान हैं। अतः हम में से कोई भी उसका मालिक नहीं, उसका मालिक तो समाज देवता है, और हम में से प्रत्येक को यह अधिकार है कि यदि वह खेती करना चाहता है तो उसे भूमि प्राप्त हो सके। उनका आग्रह है कि देश के भीतर से भूमि की निजी मालकियत मिटनी चाहिए तथा गांव-गांव में उसका समान वितरण होना चाहिए इसे वे ग्रामदान कहते हैं। इस विचार के आधार पर वे देश में नये प्रकार की व्यवस्था खड़ी करना चाहते हैं जिसे हम सर्वोदय व्यवस्था कहते हैं। श्री विनोबा जी अपने इस विचार को लेकर काश्मीर से कन्या कुमारी तक निरन्तर घूम रहे हैं। उनकी यह यात्रा पैदल ही चल रही है। कांग्रेस ने और देश के दूसरे सभी राजनीतिक दलों ने उनके विचार को पसन्द किया है और जहां तक वे उनका साथ दे सकते हैं देने का वायदा भी करते हैं।

योजनाबद्ध प्रगति—हमारे देश में जब राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था उस समय हमारा मस्तिष्क बन्द नहीं था, दुनिया के दूसरे देशों में क्या हो रहा है, यह हम बराबर देखते रहे और अपने देश के विकास के लिये चिन्तन भी करते रहे। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ अपनी योजनाओं के द्वारा प्रगति के पथ पर आगे बढ़ रहा था यह देखकर नेताओं के मन में उत्साह पैदा हुआ। १९३० में जब अनेक प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमंडल बने तब कांग्रेस के सामने लड़ाई से मुश्किल निर्माण का काम आया और वह उस काम को पूरी शक्ति और ईमानदारी के साथ करने में जुट गई। १९३८ के अन्त में कांग्रेस ने एक राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना की। इस समिति में प्रान्तीय सरकारों और सहयोगी देशी राज्यों के प्रतिनिधियों के अलावा पन्द्रह सदस्य थे। इन सदस्यों में देश के प्रमुख उद्योगपति, पूंजीवादी, अर्थशास्त्री, प्राध्यापक, वैज्ञानिक, तथा ट्रेड यूनियन कांग्रेस व ग्रामोद्योग संघ के प्रतिनिधि थे। बंगाल, पंजाब और सिन्ध की गैर-कांग्रेसी प्रान्तीय सरकारों और हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, त्रावनकोर व भोपाल के देशी राज्यों ने भी समिति को सहयोग दिया। भारत सरकार ने इसमें कोई भाग नहीं लिया और उसका रुख बराबर असहयोगपूर्ण बना

रहा। यह समिति इस प्रकार काफी प्रतिनिधि समिति हो गई थी जिसमे सब प्रकार के सरकारी और गैरसरकारी प्रतिनिधियो ने भाग लिया। श्री जवाहरलाल नेहरू इस समिति के अध्यक्ष बने। समिति के संगठन को देखकर बडा अजीब लगता था कि यह विचित्र समिति किस प्रकार काम कर सकेगी। भारत सरकार तो सहयोग कर ही नही रही थी, प्रान्तीय सरकारें भी गहरी दिलचस्पी नही ले रही थी, कांग्रेस मे भी अनेक प्रभावशाली लोग समिति को बेकार की मुसीबत समझते थे, जहा तक पूंजीपतियो का प्रश्न है, वे योजना के काम को शंका की दृष्टि से देखते थे परन्तु वे यह सोचकर समिति मे आ गये थे कि उनके लिये बाहर रहने की अपेक्षा भीतर रहकर अपने हितो की रक्षा करना सरल रहेगा।

समिति यह महसूस करने लगी कि योजना बनाने के लिये एक स्वतंत्र सरकार का होना बुनियादी शर्त है, फिर भी समिति ने काम शुरू किया। एक दूसरी बडी कठिनाई यह थी कि योजना समिति जो योजना बनाती वह तुरन्त लागू नही की जा सकती थी अत यह बात साफ थी कि योजना भविष्य के लिये बनाई जा रही है, इस भावना ने समिति के काम को और भी अधिक नीरस बना दिया था। फिर भी समिति ने सद्भावना के साथ काम शुरू किया। जवाहरलालजी ने लिखा है कि वे नियोजन के काम के प्रति बहुत सजग और निष्ठावान थे। समिति जिन निष्कर्षों पर पहुँची वे बहुत ज्ञानवर्धक हैं। उसने कहा कि देश की आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिये राष्ट्रीय आय को ५०० से ६०० प्रतिशत तक उठाना होगा, अत उसने दस वर्षों की योजना बनाई और उस समय के भीतर देश की आय को २०० से ३०० प्रतिशत तक बढाने का लक्ष्य अपने सामने रखा। उसकी कुछ प्रमुख कसौटिया ये मानी गई कि प्रत्येक वयस्क काम करने वाले नागरिक को २४०० से २८०० इकाई तक कैलोरी मूल्य देने वाला भोजन, ३० गज कपडा, और कम से कम १०० वर्ग फीट का मकान मिलना चाहिये। उसमें खेती और उद्योगो के उत्पादन मे वृद्धि, बेरोजगारी में कमी, प्रति व्यक्ति आय मे बढोतरी, शिक्षा का प्रसार, तथा स्वास्थ्य व चिकित्सा की सुविधा के लक्ष्यो का उल्लेख किया गया। इस योजना में सब से प्रमुख बात यह थी कि इसमें आर्थिक जीवन के नियमन और नियंत्रण की बात की गई थी। निजी स्वामित्व के उद्योगो को एक सीमित स्थान दिया गया था, बुनियादी उद्योगो के बारे में कुछ लोगो को छोडकर आम राय यह थी कि उन्हे राज्य के नियत्रण मे रखा जाना चाहिये। खेती के क्षेत्र मे सहकारिता की सिफारिश की गई। उस समिति के काम के बारे मे समिति के अध्यक्ष और हमारे प्रधान मत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने डिस्कवरी ऑफ इंडिया में लिखा है कि—"केवल समिति मे ही नही, विशाल भारत देश में हमारी रचना जिस प्रकार की थी उसके संदर्भ में हम समाजवादी योजना नही बना सकते थे। तथापि मुझे यह साफ दीखता है कि योजना जिस प्रकार विकसित हुई वह हमें समाजवादी ढांचे के कुछ बुनियादी तत्वो की स्थापना की ओर ले जा रही थी। वह समाज मे स्वार्थी तत्व को नियन्त्रित कर रही थी तथा एक तीव्रता से फैलने वाले

सामाजिक ढांचे के मार्ग की बाधाओं को दूर करके उसको आगे की राह दिखा रही थी। वह इस प्रकार के आयोजन पर आधारित थी जिसका लक्ष्य साधारण मनुष्य को लाभ पहुँचाना, उसके जीवन स्तर को बहुत ऊंचा उठाना तथा सोई हुई प्रतिभा और शक्ति को बड़ी मात्रा मे जाग्रत करना होता है।...यदि हम लोकतन्त्रात्मक राज्य-रचना से चिपटे रहते हैं तथा सहकारी कार्य कलाप को प्रोत्साहित करते हैं तो शक्ति के केन्द्रीयकरण और घोर नियन्त्रणवाद के खतरो से बचा जा सकता है।" --योजना के बुनियादी मुद्दों पर सदस्यों मे आम सहमति थी। समिति अपना काम पूरा न कर सकी। जवाहरलालजी और दूसरे सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये तथा उसके बाद इस काम के लिये आजादी आने तक फुर्सत ही न मिली।

यहा हमने इस प्रयास का विस्तृत वर्णन केवल यह प्रदर्शित करने के लिये किया है जिससे हम भली प्रकार यह समझ सकें कि स्वतंत्रता के बाद जो योजनायें बनी वे एकदम नई नही थी, उनकी बुनियादें बहुत पहले डाल दी गई थी, केवल उनके निर्माण की देरी थी जो स्वतत्र देश की राष्ट्रीय सरकार के जिम्मे रहा। इस वर्णन से यह बात भी जाहिर हो जायेगी कि कांग्रेस के लिये समाजवाद का विचार नया नही था, वह शुरू से ही उस दिशा में सोच रही थी।

स्वतंत्रता के पश्चात नया सविधान लागू होने पर मार्च १९५० म भारत सरकार ने एक नियोजन आयोग (प्लानिंग कमीशन) की नियुक्ति की जिसको कहा गया कि वह उन साधनो की खोज करे जिनके द्वारा संविधान का यह आदेश पूरा किया जा सके, "जनता के जीवन स्तर मे देश के साधनो का समुचित उपयोग करके तीव्र उन्नति को प्रोत्साहन देना, उत्पादन बढाना तथा लोगो को समाज के उपयोगी कामो में रोजगार प्राप्त करने का अवसर प्रदान करना।" आयोग से यह अपेक्षा की गई कि वह देश के साधनो का अनुमान लगाये, उनके अत्यन्त प्रभावशाली और सतुलित उपयोग की योजना तैयार करे, योजना के क्रियान्वित करने म प्राथमिकताओं और क्रमो को निश्चित करे, योजना को लागू करने के लिये विभाग की स्थापना करे उसके लागू करने मे प्रगति का पता लगाय तथा सरकार के सामने आवश्यक सिफारिशें पेश करे। एक वर्ष के परिश्रम के बाद अप्रैल १९५१ से मार्च १९५६ तक के पाच वर्ष के समय के लिये एक योजना स्वीकार कर ली गई।

यहा यह बात जानना लाभदायक होगा कि एशिया के प्रत्यक देश म किसी न किसी प्रकार की योजना बना कर काम किया जा रहा है। जापान की योजना सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के आर्थिक ढाचे के नमूने पर आधारित है, बर्मा म भी—कॉम्प्रिहैन्सिव रिपोर्ट ऑन इकानॉमिक एन्ड इन्जीनियरिंग डेवेलेपमेन्ट—नाम से एक योजना है, लका मे भी छःवर्षीय योजना है, पाकिस्तान भी कभी-कभी योजना की दृष्टि से सोचने लगता है। परन्तु भारत में यह योजना सार्वजनिक जीवन का मुख्य केन्द्र बन गई है और वह एक राष्ट्रीय निष्ठा और देशभक्ति का सूत्र बन चुकी है। भारतीय सविधान के अनुच्छेद ३९ मे देश के समाजवादी लक्ष्य का उल्लेख मिलता है, यद्यपि

उसम समाजवाद का नाम नही लिया गया परन्तु उसमे समाजवाद के मूल तत्वो की घोषणा की गई है। जैसा हम पीछे कह चुके हैं, नियोजन आयोग की स्थापना सविधान की इस धारा का पालन करने के लिए ही की गयी है।

इस सीमित स्थान पर योजना के ब्यौरे में प्रवेश नही किया जा सकता, यहा इतना कहना पर्याप्त होगा कि योजनाबद्ध प्रगति की दिशा मे इस महान देश ने जो मजबूत कदम उठाए हैं वे स्थिरता के साथ गति ग्रहण करते जा रहे हैं और आगे बढते जा रहे हैं। पहली योजना दिसम्बर १९५२ मे प्रकाशित हुई परन्तु उसे अप्रैल १९५१ मे ही, जब वह बन रही थी, लागू करना शुरू कर दिया गया था। १९५६ के अप्रैल में देश मे दूसरी पचवर्षीय योजना लागू हो गई जिसपर देश इस समय काम कर रहा है। तीसरी पचवर्षीय योजना का निर्माण शुरू हो गया है जो अप्रैल १९६१ म लागू होगी।

योजनाओ में देश के आर्थिक जीवन का क्रमिक और व्यवस्थित विकास दृष्टि म रखा गया है। योजनाओ के अन्तर्गत खेती, उद्योग, बाध, नहर, पुल, सडक, स्टील की भट्टिया, स्कूल, बिजलीघर, ग्राम विकास, महिला व बाल विकास इत्यादि अनेक कामो को एक साथ उठाया गया है। द्वितीय पचवर्षीय योजना म नियोजन के लक्ष्यो को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"प्रगति की दिशा निर्धारित करने के लिये बुनियादी सिद्धान्त के तौर पर व्यक्तिगत मुनाफे को नही वरन् सामाजिक लाभ को ध्यान म रखना होगा एवं विकास का वह ढाचा व सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धो का वह ढग इस प्रकार तय किया जाना चाहिए कि उसके परिणामस्वरूप केवल राष्ट्रीय आय मे वृद्धि ही नही होनी चाहिए, वरन् आय और सम्पत्ति का अधिक समान वितरण भी होना चाहिए। आर्थिक विकास के लाभ समाज के अपेक्षाकृत कम सुविधा प्राप्त वर्ग को अधिक स अधिक उपलब्ध होने चाहियें तथा आय, सम्पत्ति और आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण मे निरन्तर कमी होती जानी चाहिए।" इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारे समाजवाद का अर्थ सामाजिक न्याय और समानता है तथा वह अनिवार्य तौर पर लोकतान्त्रिक है, उसकी तुलना सोवियत पद्धति से कदापि नही की जा सकती। हमारी व्यवस्था मे सार्वजनिक क्षेत्र के विकास की बात कही गई है परन्तु उसम कही भी वर्तमान पूजीपति वर्ग की सम्पत्ति को राज्य द्वारा छीन लेने की बात नही कही गई है। जहा-जहा राज्य किसी उत्पादन के क्षेत्र को अपने आधीन करना तय करता है, वहा उस क्षेत्र मे चालू उत्पादन के साधनो को राज्य उसके निजी मालिको से दाम देकर मोल लेता है, अपहरण नही करता। जहा तक राष्ट्रीय आय के समान वितरण का प्रश्न है उसे उन्नीसवी शताब्दी मे भले ही समाजवादी कार्यक्रम माना जाता हो, आज तो वह पूजीवादी माने जाने वाले राष्ट्रो का भी लक्ष्य बन गया है। आज अमेरिका मे भी जब चुनाव होते हैं तो गणतन्त्रवादी दल पर जनतन्त्रवादी दल यह आक्षेप लगाता है कि वह पूजीपति हितो का प्रतिनिधित्व करने वाला दल है, और गणतन्त्रवादी उस आक्षेप का उत्तर इस

कार देते हैं कि उनके शासन काल मे राष्ट्रीय आय के भीतर कर्मचारियों का अश ६७ प्रतिशत से बढकर ६६ प्रतिशत हो गया है। एक ओर हमारी व्यवस्था पू जीवादी ढग से इस प्रकार भिन्न है कि हम उसके द्वारा व्यक्तिगत मुनाफे के प्रयोजन के स्थान पर सामाजिक लाभ की प्रेरणा निर्माण करने की चेष्टा कर रहे हैं, दूसरी ओर हमारी सोवियत सघ की पद्धति से भी भिन्न है, क्योकि हम उस प्रकार के शासन और प्रशासन का निर्माण कर रहे है जिसका उद्देश्य जनता की सेवा करना है न कि उस पर अपना निरकुश प्रभुत्व स्थापित करके उसके जीवन को हर क्षेत्र मे पूर्णत नियंत्रित करना। इस प्रकार हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे ही नही वरन् अपनी सामाजिक और आर्थिक पुनर्रचना के मामले मे भी दोनो व्यवस्थाओं से भिन्न और दोनो के बीच मे होकर मार्ग बनाने की चेष्टा कर रहे हैं, यह हमारे लिय बहुत स्वाभाविक भी है, हमारे सामने दोनो व्यवस्थाओ के दोप हैं और हम उनसे बच कर एक नया मार्ग बनाना है, भारत की समन्वयकारी प्रवृत्ति इसके लिए बहुत कुछ जिम्मेदार है। यहा हमे अपनी व्यवस्था पर महात्मा गाधी के प्रभाव को भी स्वीकार करना होगा, उन्होंने राजनीति विज्ञान को सबसे बडी देन यही दी है कि लोकतन्त्र और समाजवाद के बीच एक ऐसा समन्वय पैदा किया जाय जिसमे शोषण और अधिनायकवाद दोनो दोषो का निवारण किया जा सके तथा दो व्यवस्थाओ के लाभो को एक साथ प्राप्त किया जा सके।

यहा सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की औद्योगिक व्यवस्थाओं का उल्लेख करना उचित होगा। द्वितीय योजना के प्रारम्भ मे कहा गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र को तेजी के साथ बढाया जाना है तथा निजी क्षेत्र को देश द्वारा निर्धारित व्यापक योजना के अन्तर्गत अपना काम करना है। साथ ही उसमें यह भी कहा गया है कि एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था म, जो तेजी से चारो दिशाओ म फैल रही हो, सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के एक साथ विकास के लिये पर्याप्त गु जायश रहती है तथा समाजवादी समाज को कोई निश्चित या रूढिग्रस्त साचा नही समझना चाहिये, वह किसी वाद या सिद्धान्त मे जकडा हुआ नही है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम—महात्मा गाधी ने ज्यो ही भारतीय राजनीति मे प्रवेश किया त्यो ही उनका ध्यान भारत के दीन दरिद्र देहातो की ओर गया और उन्होंने कहा कि, "अगर देहातो को जीना ही नही, मजबूत व समृद्ध बनाना है तो हिन्दुस्तान मे गावो की दृष्टि से ही सोचना ठीक होगा। यह एक ज्वलन्त सत्य है कि हमारा यह प्यारा देश गावो का देश है तथा इसकी जनसख्या का ८० प्रतिशत से भी अधिक बडा अंश देहातो मे रहता है।" इस देश की आजादी का अर्थ है, हमारे देहातो की उन्नति और प्रगति। यह बहुत ही सही था कि स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद भारत सरकार ने सबसे पहले देहातो के बारे में सोचना शुरू किया। जहा उनकी भूमि-व्यवस्था को सुधार कर उसमे से बीच के दलालों अर्थात् जमींदारो और जागीरदारो को हटाया गया, वही उनके जीवन के बारे मे सक्रिय चिन्तन भी हुआ तथा

उसको सुधारने के प्रयास हुए। सरकार ने समझा कि उसके कोष मे अधिकाश राजस्व देहातो की प्रजा के पुरुषार्थ का ही फल है, अत उसने निश्चय किया कि वह उनके जीवन की दशाओ को उन्नत बनाने की दिशा मे सक्रियता के साथ काम करेगी व सहयोग देगी। निश्चय ही यह काम बहुत बडा है और कोई भी सरकार अकेली उसे नही उठा सकती है, फिर भी उसकी आवश्यकता अनुभव करके सरकार ने उसे इस आशा से उठा लिया कि उसम जनता और गैर सरकारी लोक-सेवको का सहयोग उसे मिलेगा, और उसकी यह आशा पूरी हुई भी।

पचवर्षीय योजना ने गावो के विकास का काम हाथ मे लिया और उसके लिये दो योजनायें बनाई —सामुदायिक विकास योजना (कम्यूनिटी डेवेलपमेण्ट प्रोग्राम) और दूसरी राष्ट्रीय विस्तार योजना (नेशनल ऐक्सटेन्शन सर्विस)। सामुदायिक विकास योजना का आरम्भ राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के जन्मदिन २ अक्टूबर १९५२ को किया गया तथा दूसरी योजना उसके ठीक एक वर्ष बाद उसी दिन शुरू की गई।

प्रथम पचवर्षीय योजनाकाल म देश की लगभग चौथाई जनता को विकास योजना के अन्तर्गत लाने का सकल्प किया गया था और वह सकल्प पूरा हुआ। उस अवधि में देश के भीतर १२०० ब्लॉक अथवा खण्ड बनाये गये। प्रत्येक ब्लॉक मे लगभग १०० गाव रखे गय थे। इनमे से ७०० खण्डो मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम चलाया गया। इस सारे काम पर प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुल ५२.४ करोड रुपया व्यय हुआ।

इस काम को द्वितीय योजना मे और भी अधिक बढाया गया है तथा इसके अन्तर्गत यह आशा रखी गई है कि १९६१ में सारा भारत राष्ट्रीय विस्तार योजना का लाभ उठा सकेगा एव इसका चालीस प्रतिशत सामुदायिक विकास के अन्तर्गत आ सकेगा। यह माना गया है कि इन दस वर्षो मे खेती की उपज पहले की अपेक्षा दोगुनी हो जायगी। इस योजना के तीन अ ग हैं—(१) स्थायी सुधार, जैसे चक-बन्दी, सिंचाई और नई भूमि तोडना। (२) खेती के ढग और साधनो में सुधार, व (३) स्थानीय सुधार, जैसे सडकें, कुए, स्कूल आदि का निर्माण और उनकी मरम्मत। इन योजनाओ को पूरा करने के लिय चार साधन माने गए हैं—गाव का श्रम व सामग्री, राज्य सरकार के अनुदान, सघ सरकार के अनुदान, विदेशी सहायता, जैसे फोर्ड फाउन्डेशन आदि से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता।

योजना म इस कार्यक्रम का लक्ष्य इस प्रकार बताया गया है—

(क) प्रत्येक परिवार को अधिक उत्पादन (बच्चो का नही वस्तुओ का) और रोजगार की अपनी योजना बनानी है, उसके लिये उसे सहायता मिलेगी।

(ख) योजना का मुख्य उद्देश्य यह है कि प्रत्येक परिवार को सहायता दी जाय जिससे कि वह स्वतन्त्र रूप से सहकारी समिति का सदस्य बन सके।

(ग) प्रत्येक परिवार को सामुदायिक निर्माण कार्यों के लिये अपने समय का एक भाग स्वेच्छा श्रम के लिये देना चाहिये।

(घ) गाव के तरुणो, तरुणियो और नारियो को भी विकास कार्यों मे भाग लेना चाहिये।

इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये देश मे कुछ कृषि अनुसन्धानशालायें नई खोली गई हैं व कुछ पुरानी शालाओ का पुनर्गठन किया गया है, जैसे इण्डियन एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट पूसा, दिल्ली, सेण्ट्रल राइस इन्स्टीट्यूट कलकत्ता, आलू अनुसन्धानशाला पूना, गन्ना अनुसन्धानशाला कानपुर वन अनुसन्धानशाला देहरादून, पौधा उद्योग अनुसन्धानशाला इन्दौर, कपास उद्योग अनुसन्धानशाला बम्बई व लाख अनुसन्धानशाला रांची।

समाज कल्याण—भारत के आम आदमी की स्थिति लम्बी पराधीनता और स्वयं भारतीयो की अपनी उपेक्षा के कारण इतनी खराब हो गई कि गाँधीजी को अपना लक्ष्य दरिद्र सेवा बनाना पडा, उन्होने अपने भगवान को एक नया नाम दरिद्र-नारायण दिया। गाधीजी से पहले महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि महापुरुषो ने भी समाज कल्याण के काम मे अपने जीवन का बडा भाग लगाया था। गाधीजी के मित्र दीनबन्धु सी० एफ० एन्ड्रयूज का नाम भी इस प्रसंग में सम्मानपूर्वक लिया जा सकता है। गाधीजी ने स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान मे भी निरतर देश के कार्यकर्ताओ के सामने समाज कल्याण के कामो का महत्व रखा और आज स्वतन्त्रता के बाद बापू हमारे सामाजिक कल्याण के कामो के पीछे एक महान प्रेरणा के स्रोत और मार्गदर्शक के रूप मे मौजूद हैं।

स्वतन्त्रता के बाद भारत सरकार ने समाज कल्याण के काम की ओर ध्यान दिया और योजना मे उसको भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। इस कार्यक्रम मे मुख्य बातें इस प्रकार हैं—प्रसूति गृह खोलना और चलाना, शिशु गृह चलाना, प्रौढ शिक्षा, महिला कल्याण केन्द्र चलाना जिनमे महिलाओ को शिक्षा, उद्योग और जीवन की आवश्यक बातें सिखाई जायें ग्रामीण चिकित्सा सेवायें खोलना, हरिजनो और पिछडी जातियो के उत्थान के लिए आवश्यक प्रबन्ध करना, भिखारियो के लिए उद्योगशालायें चलाना, अपाहिजो के और निराश्रित बच्चो व बूढो के लिए आश्रय स्थान खोलना, बेमकान व्यक्तियो के लिए रैनबसेरे चलाना, सामाजिक बीमा इत्यादि।

युवा सगठन—भारत के नौजवान बच्चो के भीतर अनुशासन लाने, उन्हे शस्त्र चलाने व सैनिक जीवन का प्रशिक्षण देने तथा रचनात्मक काम मे उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए देश मे नेशनल कैडेट कोर और ए० सी० सी० की स्थापना की गई है। इनके द्वारा युवक-युवतियो को उपयोगी शिक्षा दी जा रही है, केवल इतनी ही कमी है कि इस प्रकार प्रशिक्षित युवक-युवतियो की सख्या बहुत कम है, एक या डेढ लाख की संख्या नार्वे या स्वेडन जैसे देशो के लिए पर्याप्त हो सकती है परन्तु भारत जैसे ४० करोड की लोक-संख्या वाले देश के लिये यह बहुत कम

मानी जायेगी ।

राष्ट्रीय सीमाओ का प्रश्न—विभाजन के बाद भारत को पाकिस्तान के साथ अपनी सीमाओ की रक्षा के लिए काफी सघर्ष करना पडा । सन्तोष का विषय है कि जनरल अयूबखा द्वारा सत्ता लेने के बाद से हमारे सम्बन्ध इस बारे मे उनके साथ सुधरे हैं। अग्रेजो के जाने के बाद देश मे दो विदेशी बस्तिया रह गई थी जिनमे से फ्रान्सीसियो ने पाडेचेरी भारत को दे दी है परन्तु पुर्तगालियो ने गोवा के मामले मे हठ पकड रखी है और वे उसे छोडना नही चाहते है । गोवा के लिए भारत के अनेक देशभक्तो और गोवानी जनता ने बहुत सा बलिदान दिया है और भारत सरकार ने इस मामले मे काफी शान्ति से काम लिया है तथापि पुर्तगाल की सरकार अडी हुई है और गोवा को अपने शासन म रखने की असम्भव कोशिश कर रही है । निश्चय ही निकट भविष्य मे हम गोवा को भारत का अभिन अङ्ग बनता हुआ देख सकेंगे, ऐसी हमे आशा है ।

काश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण का उल्लेख हम पीछे कर चुके है । काश्मीर का एक बडा अंश अभी तक पाकिस्तानी आक्रमणकारियो के पास है, जो भाग भारत की ओर है उसका भावनात्मक और वैधानिक रूप से भारत के साथ एकीकरण हो गया है । काश्मीर भारत का अङ्ग बन चुका है, पाकिस्तान अधिकृत प्रदेश को मुक्त कराने का काम हमारे सामने है । हमे यह काम अपनी परम्परागत शान्ति की नीति से करना होगा । हमारी उत्तर-पूर्व सीमा पर बसने वाली नागा जाति एक वीर और सास्कृतिक जाति है, परन्तु दुर्भाग्यवश नागा पहाडियो मे रहने वाले कुछ लोग हिंसा पर उतर आय भारत सरकार ने उस विद्रोह को साहसपूर्वक कुचल दिया है । भारत सरकार ने स्वीकार किया है कि नागा जातियो को अपने सास्कृतिक जीवन और परम्परा-परिपाटियो के मामले मे दूसरे प्रदेशो के निवासियो की तरह ही पूरी स्वतंत्रता है । आशा है कि नागा जातिया भारत के विशाल परिवार के स्वतन्त्र और सन्तुष्ट नागरिक सदस्य बनेंगे ।

भारत की उत्तरी सीमाओ के बारे मे हम बहुत निश्चित और आश्वस्त रहे हैं, हमने हिमाचल को उत्तर मे अपने देश की प्राकृतिक सीमा माना है और उसके साथ हमारा भावनात्मक और आध्यात्मिक सम्बन्ध रहा है । खेद की बात है कि एक ऐसे देश ने, जिसके साथ एक लम्बे समय से हमारी दोस्ती रही है तथा जिसको सयुक्त-राष्ट्र सघ में स्थान दिलाने के लिए हम अथक चेष्टा करते रहे हैं, हमारी इस पवित्र सीमा का उल्लघन करने का दु साहस किया है । यह दुर्घटना चीन के लिए ही नही समूचे एशिया के लिए दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हो सकती है । चीन का सामना करने के लिए देश की सभी शक्तिया सरकार के पीछे हैं, केवल कुछ लोग भारत का अन्न-जल खाने-पीने के बाद भी इस मामले मे चीन के साथ सहानुभूति रखते हैं, शायद वे सोचते हो कि वे इस प्रकार चीन की फौजो की मदद से भारत को विजय करके इस देश मे साम्यवाद की स्थापना वैसे ही कर सकेंगे जैसे चीनी साम्यवादियो ने रूसी

सेनाओ की मदद से अपने देश मे किया। ('चीन के साम्यवादियो ने सोवियत संघ के द्वारा दी गई सहायता के लिए उसके प्रति निरन्तर कृतज्ञता प्रगट की। माओ ने कहा कि यह कहना असत्य है कि उनके दल की विजय अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के बिना सम्भव हो सकती थी। उन्होने कहा—'उस युग में जिसमे साम्राज्यवाद अभी जीवित है, किसी देश की वास्तविक जनता की क्रान्ति के लिए अपनी विजय अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी शक्तियो (Forces-सेनाओ) की अनेक प्रकार की सहायता के बिना प्राप्त करना असम्भव है विजय प्राप्त कर लेने पर उसे सुदृढ करना तो प्राय असम्भव ही है।'.. .. उन्होने खुले आम बार-बार घोषित किया कि वास्तविक और भरोसे के योग्य सहायता केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी शक्तियो की ओर से ही प्राप्त हो सकती है जिनका नेतृत्व समाजवादी सोवियत सघ करता है।"—के० पी० करुणाकरन—इण्डिया इन वर्ल्ड अफेयर्स ऑक्सफोर्ड १९५२, पृष्ठ ९७।) यह दुर्भाग्य की बात है, आशा की जा सकती है कि भारत की लोकतात्रिक शक्तिया इस मामले मे दृढता से काम लगी तथा विदेशी सेनाओ को पीछे खदेड कर भारत की पवित्र भूमि को उनके और उनके भारतीय दोस्तो के अपवित्र इरादो से बचा सकेगी।

घातक प्रवृत्तिया—हमारे देश म विचारो की अभिव्यक्ति और प्रचार की स्वतनता का किस प्रकार दुरुपयोग हो सकता है उसका एक खेदजनक उदाहरण यह है, कि उत्तर पश्चिम मे पजाब प्रदेश के अकाली नेता मास्टर तारासिंह भारत की एकता को चुनौती देकर पजाबी सूबे की माग करते है और उसके लिय शान्ति भग करने तक पर उतारू हो जाते हैं, इसी प्रकार दक्षिण मे द्रविड कजगम नेता श्री रामास्वामी नायकर बेधडक होकर द्रविडस्तान की माग रखते है तथा भारतीय सस्कृति के मूल तत्वो पर बेहूदा आक्रमण करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्तियो को हमारी राष्ट्रीय सरकार कठोरतापूर्वक नही दबाती, यह कुछ बहुत ठीक नही लगता। देश के राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और भावनात्मक एकीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होने के बाद इस प्रकार की घातक प्रवृत्तियो को राष्ट्र के अस्तित्व के प्रति विद्रोह और विश्वासघात माना जाना चाहिये तथा इनका कड दड के साथ दमन करना चाहिय ताकि ये अपना सिर उठा कर भारत के अस्तित्व के लिय सकट पैदा न कर सकें। यह प्रसन्नता की बात है कि ये देशद्रोही आन्दोलन स्वय अपनी ही मौत मर रहे हैं।

राष्ट्रीयकरण—समाजवादी लक्ष्य की दिशा मे हमारी यात्रा तेजी के साथ बढ रही है इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। यहा यह कहना अनिवार्य होगा कि भारत उत्पादन के साधनो और पू जीगत उद्योगो के राष्ट्रीयकरण की दिशा मे तेजी से बढ रहा है। गत वर्षों म जहा अनेक उद्योग राज्य की ओर से आरम्भ किय गय हैं वही जीवन बीमा उद्योग और स्टेट बैंक ऑफ इंडिया का राष्ट्रीयकरण इस दिशा में एक महत्वपूर्ण घटना है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य मे भारत सरकार ऐसे अन्य उद्योगो का राष्ट्रीयकरण भी करेगी जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक जीवन की बुनियादी आवश्यकताओ से है और जिनमें सार्वजनिक धन का उपयोग हो रहा है।

गत १३ वर्षों में यह महान राष्ट्र प्रगति के पथ पर इतनी तेजी से दौडा है कि उसका सही चित्र देना बहुत कठिन है, फिर उसकी प्रगति जीवन के ऐसे विविध क्षेत्रो में से होकर गुजर रही है जिनका मूल्याकन करना सदा सरल नही होता, जैसे साहित्य और सस्कृति के क्षेत्र, कला और सूक्ष्म भावनाम्रो के क्षेत्र। भारत की इस महान हलचल में एक सबसे बडी विशेषता यह है कि यह केवल सरकार के सहारे नही हो रही है, इसका एक बडा अ श ऐसी सार्वजनिक सस्थाए सचालित कर रही हैं जो स्वाधीनता से बहुत पहले से राष्ट्र की सेवा का व्रत लेकर काम कर रही थी। यहा भारत के उगते हुये राष्ट्रवाद की विशेषता का उल्लेख कर देना भी उपयुक्त होगा। भारत की राष्ट्रीयता दूसरे राष्ट्रो से भिन्न प्रकार की है, यहा विदेशियो के प्रति किसी प्रकार की कटुता का भाव नही है। न हमारे भीतर अहंकार है, न हम दूसरो का अहंकार सहन कर पाते है। स्वयं उस विदेशी जाति के साथ हमारे सम्बन्ध बहुत मधुर हैं जिसने हमें तबाह और बर्बाद करने में कोई कसर नही छोडी जिसने हम से हमारे भगतसिह, बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाष बाबू, लाला लाजपतराय और इन जैसे ही अगणित वीर राष्ट्र पुरुषो को छीन कर हमे कंगाल कर देना चाहा, पर वीर प्रसू भारत भूमि की कोख पर जो पत्थर न रख सकी। क्षमाशील भारत ने उन्हे भी क्षमा किया और सबके साथ मित्रता का प्रण निबाहा। आज भी अ ग्रेज भारत मे इस प्रकार आते हैं मानो वे अपने घर मे ही लौट रहे हो। हमारी राष्ट्रीयता विध्वंसात्मक न होकर विधायक और रचनात्मक है हम विदेशियो को सन्देह की दृष्टि से नही देखते है, बस इतना ही है कि वे हम अपमानित न करें, उनके मु ह से प्रशंसा सुनने की इच्छा हम नही है क्योकि भारत के लोग अपने कामो को अपनी आखो से देखना और जांचना जानते व पसद करते हैं, परन्तु दूसरो से अपनी निन्दा सुनना भी उन्हे पसद नही है। हमे अपनी स्वतंत्रता से प्रेम है, हमारी स्वतन्त्रता चन्द सैनिको के बलिदान से प्राप्त नही हुई है, इसके लिय हमारे आम आदमी का खून बहा है, हमारी आजादी आम आदमी की आजादी है और यही कारण है कि आम आदमी इस देश की आजादी मे दिलचस्पी लेता है तथा उसकी रक्षा करने के लिय जीवन का सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार है। हमने नम्र बने रहने का निर्णय कर लिया है परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि हम कमजोर है तथा अपने देश की लूट को हम एक क्षण भी सहन करने को तैयार हो सकेंगे। भारत अपने विकास और सुख-सुविधा से कही ज्यादा अपनी आजादी से प्रेम करता है और उसका उल्लंघन किसी भी परिस्थिति मे सहन नही कर सकेगा। तिलक और गांधी ने इस देश के भीतर से भय और कायरता को सदा के लिए निकाल दिया है और हम फिर एक बार इस दुनिया के बहादुर और निर्भय लोग हैं। श्री जवाहरलालजी ने कहा है कि भारत शान्ति चाहता है लेकिन उसे अपनी और दूसरे सब की आजादी से बहुत प्रम है तथा उसके लिए यदि लडना ही पडे तो वह इसके लिए हर समय तैयार है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

स्वतन्त्रता से पहले से ही कांग्रेस ने यह चेष्टा आरम्भ कर दी थी कि विदेशों के साथ उसके अच्छे सम्बन्धों का निर्माण हो। यद्यपि महात्मा गाधी और कांग्रेस स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए किसी प्रकार की सक्रिय विदेशी सहायता की अपेक्षा नही करते थे क्योंकि उनका लक्ष्य अहिंसा के द्वारा स्वराज्य लेना था, और वे इस बात मे विश्वास करते थे कि अपने प्रयास से प्राप्त की गई स्वतन्त्रता ही टिकाऊ और वास्तविक होती है तथापि यह सत्य है कि उन्होने दूसरे देशो का नैतिक समर्थन अपने पक्ष में प्राप्त करने की पूरी चेष्टा की और उसमे वे सफल भी हुए। इसके अलावा भारत स्वाधीनता से पहले भी संसार के पराधीन और पिछड़े हुए देशों के पक्ष में अपनी आवाज उठाता रहा। श्री जवाहरलालजी स्वय विदेशों मे गये और उन्होंने भारत का पक्ष लोगों के सामने रखने की चेष्टा की।

वास्तव में तो विदेशों म भारत की आत्मा का प्रथम दूत हम स्वामी विवेकानन्द को मानेंगे, जिन्होने विदेशों में जाकर भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रचार किया। विशेषकर अमेरिका को भारत का पहला परिचय पूज्य स्वामीजी ने ही दिया।

ब्रिटिश शासन काल में भी भारत को एक विशेष अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति प्राप्त थी। वह ससार के अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो का सदस्य था। भारत राष्ट्र सघ, (लीग ऑफ नेशन्स) का प्रारम्भिक सदस्य था, इसके अतिरिक्त वह ब्रिटिश कॉमनवैल्थ का एक महत्वपूर्ण सदस्य था। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भी उसे स्थान प्राप्त था। परन्तु उस समय वह ब्रिटेन की नीतियों का अनुगामी था और अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं रख पाता था। सयुक्त राष्ट्र सघ मे भी भारत आरम्भ से ही है।

स्वतन्त्रता के बाद स्थिति में परिवर्तन आया। इस परिवर्तन की झलक १९४६ के अन्त मे श्री जवाहरलालजी नेहरू के विदेश मन्त्री बनने के बाद ही दिखाई देने लग गई, उन्होंने इस प्रसग में कहा कि, "पूर्ण स्वाधीनता की शीघ्र प्राप्ति के उद्देश्य से हम सरकार मे आये हैं और हम इस प्रकार काम करने को सोचते हैं जिससे कि हम उस स्वतन्त्रता को व्यवहारिक रूप मे अपने आतरिक और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे क्रम से प्राप्त कर सकें। हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो मे एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नाते अपनी स्वतन्त्र नीतियो के साथ भाग लेंगे, किसी दूसरे राष्ट्र के पिट्ठू की तरह नहीं।" नीति का यह परिवर्तन शीघ्र ही दिखाई देने लगा और उसके आधार पर आस्ट्रेलिया के विदेश मंत्री श्री एच० वी० ईवाट ने २६ फरवरी १९४७ को अपने देश की ससद के प्रतिनिधि सदन के सामने भाषण करते हुए कहा कि—

"अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में भारत ने स्वाधीन राष्ट्रीय पद की प्राप्ति कर ली है, यह बात आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उसके सक्रिय भाग लेने से सिद्ध होती है।"

स्वाधीनता मिलते ही भारत ने यह चेष्टा आरम्भ कर दी कि वह संसार के समस्त देशो के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करे। इस काम के लिए श्री जवाहरलाल जी के प्रतिनिधि के नाते श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने अनेक देशों का दौरा किया तथा १५ अगस्त १६४७ के बाद अनेक देशो के साथ दौतिक सम्बन्धों की स्थापना की गई। २६ जनवरी १९५० को *गणराज्य की घोषणा होने के बाद भी भारत सरकार* ने निर्णय किया कि भारत को कॉमनवेल्थ ऑफ नेशन्स का सदस्य बने रहने दिया जाये। इसमे कई कठिनाइया थी, जिनमे सबसे बडी कठिनाई इसके नाम के बारे में थी। उस समय तक इसे ब्रिटिश कॉमनवेल्थ कहा जाता था। गणराज्य बन जाने के बाद भारत ब्रिटेन का उपनिवेश नही रहा था, अतः यह उसके सम्मान के विपरीत था कि वह ब्रिटिश कॉमनवेल्थ का सदस्य बना रहे। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कॉमनवेल्थ के सदस्यो ने मिलकर यह निर्णय किया कि उसके नाम के पहले से ब्रिटिश शब्द को छोड दिया जाय और अब वह सगठन कॉमनवेल्थ ऑफ नेशन्स कहलाने लगा। देश के दूसरे दलो ने, जिनमे समाजवादी दल भी हैं, कॉमनवेल्थ की सदस्यता बनाय रखने का विरोध किया। संयुक्त राष्ट्र सघ ने यह स्वीकार कर लिया कि भारत उसका सदस्य बना रहेगा तथा विविध अन्तर्राष्ट्रीय समितियो में भारत के प्रतिनिधि अपने अधिकार पत्र प्रस्तुत करेंगे।

भारत की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे मे यह बात स्मरणीय है कि जो बुनियादी नीति इस बारे मे स्वतन्त्रता के विहान में १९४६ मे निर्धारित की गई थी वही आज तक हमारा मार्गदर्शन कर रही है। भारत सदा से शान्ति के पक्ष में खडा रहा है, *उसने अपनी आजादी की लडाई भी शान्ति के मार्ग का अनुसरण करके प्राप्त* की है। स्वतत्र होने के बाद भारत की विदेश नीति शान्ति की बुनियादो पर खडी की गई। जिस समय हम स्वतत्र हुए तो हमने देखा कि हमारे सामने एक ससार खडा है जो दो शिविरो मे बंटा हुआ है तथा किसी भी क्षण ये दोनो शिविर एक दूसरे के विरुद्ध शस्त्र का प्रयोग करके ससार को सकट मे डाल सकते हैं, उस समय हमने शाश्वत सिद्धान्तो और नैतिक मानदण्डो की शरण ली और हमने *दुनिया* को साफ तौर पर अपनी यह नीयत जाहिर कर दी कि हम उन दोनों शिविरो मे से किसी में भी शामिल होने वाले नही हैं। हम सबके साथ हैं और सबके मित्र हैं परन्तु हम न किसी के विरुद्ध हैं न किसी के शत्रु। हमारी इस घोषणा पर संसार के बहुत से समझदार लोग हँसे, हमारे देश के कुछ समझदार लोग भी हसे परन्तु शीघ्र ही हमारे अन्तर्राष्ट्रीय *व्यवहार ने यह सिद्ध कर दिया कि हम सच्चे हैं और वास्तव में जगत के* भीतर निष्पक्ष हैं और इस बात की परवाह किये बिना अपनी नीति पर अडिग खडे हैं कि हम बिल्कुल अकेले हैं। एक ओर हमने अपने देश की पवित्र भूमि पर *सोवियत* सघ के भाग्य विधाता ख्रुश्चेव का अनन्य स्वागत किया, दूसरी ओर हमने पूंजीवादी जगत के नेता सयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहोवर का स्वागत भी उसी तत्परता और उष्णता के साथ किया। हम सं० रा० अमेरिका से आर्थिक सहायता

लेते रहे मगर अपनी नीति का हमने उसकी खुशी पर बलिदान नहीं किया, वह साम्यवादी चीन के संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश के रास्ते में अड़चन डालता रहा और हम उसकी अप्रसन्नता की परवाह किये बिना चीन के पक्ष का समर्थन करते रहे। इतना ही नहीं, आज जब चीन हमारी उत्तरी सीमाओं पर आक्रमण किये हुए है तब भी हम संयुक्त राष्ट्र में उसके प्रवेश का समर्थन कर रहे हैं, क्योंकि हम इस बात को सही समझते हैं। सही बात चाहे हमारे शत्रु के हित में ही क्यों न हो, हमने उसका समर्थन किया है और यही कारण है कि आज संसार में हमारी आवाज़ का वज़न है। यह हमारी निष्पक्ष नीति का ही प्रभाव है कि सोवियत संघ, जो हर मामले में चीन का समर्थन करता रहा है, भारत के मामले में नहीं बोल सका, वह जानता है कि भारत एक ईमानदार देश है और उसका विरोध करने का अर्थ है संसार में से अपनी प्रतिष्ठा को खो देना।

स्वतंत्रता के समय हमारा देश आर्थिक विकास की दृष्टि से बहुत अविकसित और पिछड़ा हुआ था, हमारे सामने संसार की राजनीति में विध्वंसकारी प्रवृत्तियों का समर्थन करने का प्रश्न ही नहीं था, हमारे सामने एक ही मार्ग था और है, कि हम भारत को विकास के पथ पर अग्रसर करें, इस देश में संसार की आबादी का पांचवां भाग रहता है, यदि हम इस विशाल जनसंख्या के जीवन की आवश्यकताओं की तुष्टि का कोई प्रबन्ध करने के लिये आगे न आते तो सारे संसार के सामने एक बड़ा संकट खड़ा हो जाता। भारत सरकार ने संसार और अपने देश की इस मांग का अनुभव किया और उसने निर्णय किया कि वह निर्माण के पथ पर बढ़ेगा। निर्माण का प्रश्न उठते ही अनेक समस्यायें हमारे सामने मुंह फाड़कर खड़ी हो गई। हमारे सामने पूंजी का सवाल था, वैज्ञानिक ज्ञान और कुशल कारीगरों के अभाव का सवाल था। इन सवालों को हल करने के लिये हमें संसार के सभी विकसित देशों से मदद लेनी थी। इस सहायता की प्राप्ति के लिये हमारे लिये सबसे अधिक व्यवहारिक राजनीति यही थी कि हम संसार में तटस्थ देश बन जायें। हमारी अपनी निष्पक्षता के बूते पर संसार के दोनों विरोधी शिविरों के देशों ने हमारी मदद पूरे मनोयोग और अपनत्व के भाव के साथ की है। जहाँ एक ओर अमेरिकन पूंजी हमारे देश के नव-निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य पूरा कर रही है, वहां दूसरी ओर सोवियत संघ के कुशल शिल्पी और इंजीनियर हमारे देश में इस्पात के कारखानों को खड़ा करने में जुटे हुए हैं। इस प्रकार यह हमारी तटस्थता की नीति का एक चित्र है।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत साम्राज्यवाद के शत्रु के रूप में अवतरित हुआ और उसने संसार के पराधीन देशों के स्वाधीनता आन्दोलन का समर्थन किया तथा विशेषकर एशिया के राष्ट्रों को अपनी नैतिक शक्ति प्रदान की। इसके अतिरिक्त भारत ने स्पष्ट रूप से वर्णभेद की नीति का विरोध किया और उसे इस प्रसंग में दक्षिणी अफ्रीका की सरकार के विरुद्ध आवाज उठानी पड़ी।

भारत के प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की मेज के चारों ओर बैठकर

अणुशस्त्रो पर प्रतिबन्ध लगाने की माग की तथा नि शस्त्रीकरण की दिशा में परिश्रम किया, जिसका परिणाम यह हुआ है कि ससार के शक्तिशाली देश भी भारत की बात का महत्व समझ कर इन प्रश्नो पर चर्चा करने लगे हैं, और आज ससार मे एक ऐसा वातावरण बना है कि ससार के विरोधी लोग एक साथ बैठकर समस्याओ और विरोधो को हल कर सकें।

ब्रिटेन के साथ भारत की मित्रता है, तब भी जिस समय ब्रिटेन ने स्वेज प्रश्न पर अपनी सेनायें मिस्र मे भेजी तो भारत ने उसका विरोध किया और मिस्र की स्वाधीनता का सम्मान करने की अपील ससार के सब देशो से की। उसका बहुत अच्छा प्रभाव आया और स्वेज का प्रश्न शाति के साथ हल हो गया।

आज भारत सयुक्त राष्ट्र संघ की विविध प्रवृत्तियो मे सक्रिय भाग लेता है और उसका विश्वास है कि ससार मे शान्ति की स्थापना की दिशा मे उसके मच से बडा काम हो सकता है। यह भारत के लिये गौरव की बात है कि भारत की प्रतिभाशाली प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पडित सयुक्त राष्ट्र सघ की अध्यक्षा बनी, *यह और भी अधिक गर्व की बात है कि वे सघ की प्रथम महिला अध्यक्षा थी।*

हमारी राजधानी मे सारे ससार के विविध देशो के प्रतिनिधि रहते हैं और उस महानगरी ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर लिया है। हमारे प्रतिनिधि भी ससार के प्राय सभी छोटे-बड़े देशो मे हमारे हितो का प्रतिनिधित्व करते हैं और ससार मे सद्भावना तथा मैत्री के निर्माण की दिशा में सलग्न हैं।

अपनी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसग मे यहा पचशील का उल्लेख न करना अनुचित होगा। पचशील भारत की नीति का प्रतीक है, इसमे वे सिद्धान्त सन्निहित हैं जिनके आधार पर हम ससार मे शान्ति और सद्भावना का निर्माण करना चाहते हैं। ये पाच सिद्धान्त इस प्रकार है —

(१) एक दूसरे देश की प्रभुता और राज्य की सीमाओ का आदर करना।
(२) दूसरे देशो पर आक्रमण न करने की नीति।
(३) आर्थिक, राजनीतिक अथवा सैद्धान्तिक कारणों से एक दूसरे के मामले मे हस्तक्षेप न करना।
(४) समानता और पारस्परिक हित।
(५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

पचशील के इन सिद्धान्तो को संसार के बहुत से राष्ट्रो ने स्वीकार किया है। २६ जून १६५४ को तिब्बत सन्धि के बाद भारत और चीन के प्रधान मन्त्रियो ने पचशील के सिद्धान्तो के पालन पर जोर दिया। २४ सितम्बर १६५४ को हमारे प्रधान मत्री श्री नेहरूजी ने इन्डोनेशिया के प्रधान मन्त्री डा० अली शास्त्रमिजोयो के स्वागत समारोह में इन सिद्धान्तो की चर्चा करते हुए कहा कि इन्डोनेशिया के पान्च शिला (राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, परामर्श, समृद्धि और ईश्वर में आस्था) के समान ही भारत ने पंचशील के सिद्धान्तो की खोज की है। २४ दिसम्बर १६५४ को

यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने भी यूगोस्लाविया की ओर से पंचशील को स्वीकार किया।

दिल्ली में होने वाले एशियाई सम्मेलन ने १० अप्रैल १९५५ को एक प्रस्ताव द्वारा पचशील को पूरी तरह स्वीकार करने की घोषणा की। उसके बाद बाण्डुग में हुए एशियाई-अफ्रीकी सम्मेलन ने पचशील में पाच और सिद्धान्तो को जोड़कर उसे और भी व्यापक बना दिया तथा वहा उन्तीस राष्ट्रो ने उस पर अपनी स्वीकृति दे दी। ३० अप्रैल १९५५ को हमारे प्रधान मन्त्री ने लोकसभा मे कहा कि, "जब पंचशील का उदय हुआ तब दुनिया के विभिन्न भागो का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। पचशील में काफी दिलचस्पी ली गई और उसका काफी विरोध भी किया गया। इन पाच सिद्धान्तो मे पारस्परिक सम्बन्धो के उन नियमो का सार भरा पड़ा है, जो विश्व-शान्ति और सहयोग के पक्ष को मजबूत बनायेंगे। हमने यह कभी नही कहा कि पचशील कोई दैवी आदेश है अथवा उनके पीछे कोई दैवी अधिष्ठान (डिवाइन सैक्शन) है। उनका सार तो उनके भाव मे है और उसका समावेश बाण्डुंग घोषणा-पत्र मे मौजूद है।"

१३ जून १९५५ को श्री नेहरू जी ने अपनी रूस-यात्रा के समय सोवियत-संघ के प्रधान मन्त्री श्री बुल्गानिन के साथ संयुक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर किये जिसमे सोवियत-संघ ने पंचशील को स्वीकार किया। इसी के आधार पर २७ जून १९५५ को पोलैण्ड ने भी पचशील का अनुमोदन किया। अगस्त १९५५ मे नेपाल और चीन के बीच हुई सन्धि मे भी पचशील को स्वीकार किया गया।

२१ सितम्बर को लाओस के युवराज ने भी घोषणा की कि लाओस और भारत के पारस्परिक सम्बन्धो मे पंचशील का पालन किया जायेगा। दिसम्बर १९५५ के प्रथम सप्ताह मे सऊदी अरब के शाह ने अपनी भारत सद्भावना-यात्रा के समय बिना किसी शर्त के पचशील को स्वीकार करने की घोषणा की।

१३ दिसम्बर १९५५ को सोवियत प्रधान मन्त्री बुल्गानिन, सोवियत प्रेसीडियम के सदस्य ख्रुश्चेव और भारत के प्रधान मन्त्री नेहरू ने दिल्ली में जो सयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया, उसमे पचशील का फिर से समर्थन और अनुमोदन किया गया। उसमे उन्होंने सिफारिश की कि पचशील ससार के सभी देशो के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का आधार बन जाना चाहिये तभी ससार के विभिन्न राष्ट्रो के बीच सह-अस्तित्व और शान्ति सम्भव है।

हमारी विदेश-नीति के बारे में बोलते हुए सोवियत-सघ के प्रधान मन्त्री ने भारत में कहा था कि—"भारत की प्रतिष्ठा मे वृद्धि होने का केवल यही कारण नही है कि ससार का एक महानतम देश है वरन् यह भी कि उसने सदा शान्ति के पक्ष का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया है।"

इसी प्रकार सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति श्री आइजन हॉवर ने १० दिसम्बर १९५९ को भारतीय ससद के सामने भाषण करते हुए कहा कि—"दस साल

पहले भारत ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, भारत साहस और संकल्प से सम्पन्न है परन्तु उसके सामने जो समस्यायें थीं उनकी सख्या और मात्रा इतनी अधिक थी कि जिसका आधुनिक इतिहास म दूसरा उदाहरण बहुत कठिनाई से मिलेगा। बहुत आशावादी दर्शक भी यह आशा नही कर सकता था कि आप वैसी सफलता प्राप्त कर लेंगे जैसी आपने प्राप्त की है। आज भारत ससार के दूसरे राष्ट्रों के साथ बहुत महान निश्चय के साथ बात करता है और उसकी आवाज बहुत महान आदर के साथ सुनी जाती है। भारत की सफलता इतनी महान है कि उसके सामने ससार की पिछले दस वर्षों की असफलतायें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। भारत ने दूसरे महाद्वीपो के लोगो को भी गति प्रदान की है उन्हे उत्साहित किया है और प्रेरणा दी है। इन दस वर्षों के कारण ही आज हमारे पाव उस सडक पर स्थिर हुए हैं जो मानव जाति को श्रेष्ठ जीवन की दिशा म ले जाती है।"

आज जब य पक्तिया लिखी जा रही हैं, देश मे एक रोष है और देश क्रुद्ध है क्योकि चीन ने भारत के मारे मैत्रीपूर्ण व्यवहार और पचशील की घोषणा के बावजूद भी भारत की सीमाओ का उल्लघन किया है। परन्तु ऐसे अवसर पर हमें यह नही भूल जाना चाहिये कि हम इस प्रकार के सकट का सामना क्रोध मे नही, शान्ति से करना होगा और यह भी कि हमारी तटस्थता और शान्ति की नीति का यह अर्थ हर्गिज भी नही है कि हम अपने देश की पवित्र सीमाओ पर आक्रमण को चुपचाप सहन कर लेंगे। भारत ने यह कभी नही कहा कि वह लडेगा नही। अपनी आजादी की रक्षा के लिए यदि हमे किसी दूसरे देश के विरुद्ध शस्त्र उठाना पडा तो वह हमारी घोषणाओ के तनिक भी विपरीत नही होगा। हा, हम स्वयं अपनी ओर से किसी देश की सीमाओ का उल्लघन नही करेंगे और किसी देश को अपना आधीन देश बनाने के लिये नही जायेंगे।

हमारी विदेश नीति का वर्णन हम भारत के प्रसिद्ध कवि श्री रामधारीसिंह दिनकर की इन पक्तियो मे मिलता है —

'लेकर नूतन जन्म पुरातन-व्रत हम साध रहे हैं।
युग की नींव क्षमा करुणा मुदिता पर बाध रहे हैं॥'

इस महान कार्य मे हमारे पीछे जो बल है उसका उल्लेख कवि इस प्रकार करता है —

'अगम साधना की घाटी यह और मनुज दुर्बल है।
किन्तु बुद्ध, गाधी, अशोक का साथ न कम सम्बल है॥'

खण्ड २

भारत का सांविधानिक विकास

अध्याय : ५

भारत की सांविधानिक परम्परा

दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यो चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥७६॥
चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानाम संकरे ।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानाम कुतो भये ॥७७॥
—शान्तिपर्व अ. ७०

दण्डनीति (संविधान) का व्यवहार ठीक-ठाक प्रकार चारों वर्णों को अपने-अपने काम मे लगाये रखता है तथा इस नीति का प्रयोग करने वाले तथा सत्ता के स्वामी को भी उसके ठीक-ठीक कर्तव्यो के पालन मे लगाये रखता है । चारो वर्ण (सारी प्रजा) अपना-अपना काम करते हैं, मर्यादा का उल्लंघन नही करते तथा प्रजा सुख और सुरक्षा के साथ निर्भयतापूर्वक रहती है ।"

भारत संसार के अति प्राचीन देशों मे से एक है । उसकी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था प्राचीन-काल मे बहुत श्रेष्ठ और उन्नत थी । सारा ससार उसकी ओर विचारो और व्यवस्थाओ के लिए मुह उठाकर देखता था । ऊपर हमने महाभारत के शान्ति पर्व से एक अंश दिया है जिसमे मर्यादाओ की रक्षा करने वाली प्रजा को निर्भय बनाने वाली दण्ड-नीति का वर्णन किया गया है । वर्तमान काल मे जिसे हम सविधान कहते है, प्राचीन-काल मे राज्य-संचालन के वैसे नियम मौजूद थे।

भारतीय समाज को हमेशा से विधान बनाकर वैधानिक पद्धति से काम करने की आदत रही है । हिन्दू धर्म मे ईश्वर के जिन तीन स्वरूपों का वर्णन किया गया है उसमे हमे इस ससार को चलाने वाली परम सत्ता का सविधान पूरी तरह से मिलता है । ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन परमेश्वर हैं । इनमे ब्रह्मा को हम विधि या विधाता भी कहते हैं और यह माना जाता है कि विधाता का विधान पत्थर की लकीर के समान दृढ और निश्चित होता है । विष्णु का काम ब्रह्मा के बनाये हुए विधान का पालन कराना है । महेश या शिवजी ब्रह्माण्ड की सर्व-सत्ता सम्पन्न सरकार के सर्वोच्च-न्यायाधीश हैं । इन तीनों के मध्य जिस प्रकार के सम्बन्धों का वर्णन

शास्त्रो में किया गया है वह बहुत रोचक और ज्ञानवर्धक है, उससे हमे प्राचीन भारतीय सांविधानिक परम्परा का अच्छा ज्ञान मिल सकता है, परन्तु स्थान की मर्यादा को देखकर उसका विस्तृत वर्णन यहाँ सम्भव नही है।

पुस्तक के प्रथम अध्याय मे हमने वैदिक कालीन-राजव्यवस्था का एक अत्यन्त संक्षिप्त विवरण दिया है। ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में तथा यजुर्वेद की संहिताओ में इस विषय की पर्याप्त सामग्री मिलती है। वैदिक काल मे राज्य होता था और उसकी शासन-व्यवस्था किन्ही निश्चित निर्धारित नियमों के अनुसार चलती थी। जिस प्रकार आजकल संविधान का प्रहरी (up holder) सर्वोच्च-न्यायालय होता है उसी प्रकार उस प्राचीन काल म संविधान या राजनीति का प्रहरी राज-पुरोहित होता था। बाद के समय मे राज-पुरोहित को वशिष्ठ नामक पद दिया गया और वशिष्ठ-सत्ता राज्य के भीतर संविधान की प्रहरी बनी।

एतरेय ब्राह्मण मे आठ प्रकार के संविधानो का उल्लेख मिलता है—

शासन पद्धति	सर्वोच्च-शासक का पद	कहाँ प्रचलित था
(१) साम्राज्य	सम्राट	पूर्व भारत मे
(२) भौज्य	भोज	दक्षिण ,,
(३) स्वाराज्य	स्वराट्	पश्चिम ,,
(४) वैराज्य	विराट्	उत्तर मद, उत्तर कुरु
(५) राज्य	राट्	कुरु-पाचाल
(६) पारमेष्ठ्य	परमेष्ठि	कुरु-पाचाल से उत्तर की दिशा मे
(७) माहाराज्य	महाराज	
(८) आधिपत्य	अधिपति	

इन शासन-विधानो को मोटे तौर पर दो भागो में विभाजित किया जा सकता है—जनतंत्रात्मक एवं राजतन्त्रात्मक (Democratic and Monarchical)। जनतन्त्र मे प्रजा की तथा राजतन्त्र में राजा की सत्ता सर्वोपरि रहती थी। राजा कई प्रकार के होते थे, कही वे प्रजा के प्रतिनिधियो द्वारा चुने जाते थे, कही वंशक्रम से गद्दी पर बैठते थे। प्रजा के प्रतिनिधियो द्वारा निर्वाचित राजा के अधिकार सीमित रहते थे और किसी समिति व सभा की सहायता से शासन-व्यवस्था चलानी होती थी। भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य जनतन्त्रात्मक विधान थे तथा साम्राज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य आधिपत्य राजतन्त्रात्मक।

प्राचीन साहित्य मे इनके अतिरिक्त और भी कुछ प्रकार के संविधानो का उल्लेख मिलता है, जैसे—(१) राष्ट्रिक, जिसमें समाज के नेताओ द्वारा शासन होता था, इन्हे हम आज की भाषा मे राष्ट्रीय-लोकतन्त्र कह सकते हैं, (२) पेत्तनिक, यह राष्ट्रिक का उल्टा है, सम्राट अशोक के लेखो से ज्ञात होता है कि पश्चिम भारत मे ऐसे राज्य थे, (३) द्वैराज्य, जिसमे एक साथ दो शासक होते थे, ऐसे राज्य अवन्ती

और नेपाल मे पाये जाते थे; (४) अराजक, जिसमें राजा नही होता था, सब लोग मिलकर नियमो का निर्माण और पालन कर लेते थे। आज के युग मे प्रसिद्ध अराजकवादियो बाकुनिन, कोपॉटकिन, तालस्ताय, गाधी, विनोबा और साम्यवादी मार्क्स व ऐंगिल्स भी इसी प्रकार के राज्य की कल्पना करते है जिसमे शासक और शासित का भेद ही मानव समाज मे से समाप्त हो जाय, (५) उग्रराज्य—वैदिक साहित्य मे इस प्रकार के राज्य का वर्णन आया है, ऐसा माना जाता है कि केरल मे इस प्रकार का राज्य था। इस राज्य में शासन बहुत उग्र होता था, यह तथ्य बहुत ही दिलचस्प है। केरल का इतिहास राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रहा है, आज ही नही, सदा से उसने भारत म अपनी वैचारिक विशिष्टता रखी है, (६) राजन्य—यह पद्धति जैन सूत्रो म वर्णित है। य सब पद्धतिया कमोबेश जनतन्त्रात्मक थी, परन्तु इन विधानो के अन्तर्गत भी राज्याभिषेक होना अनिवार्य था इसे 'मूर्धाभिषिक्त' कहते थे, यह ऐसा ही है जैसे आधुनिक समय म पद की शपथ ग्रहण करना। विवाह म भी शपथ लेना ही होता है परन्तु उसे एक सास्कृतिक स्वरूप देकर उसका समारोह बना डाला गया है, ठीक ऐसे ही राजा के शपथ ग्रहण क समय उसका अभिषेक आदि एक प्रकार के बपतिस्मा के सरीखा था।

जैन सूत्रो मे गणराज्य, युवराज-राज्य, द्वैराज्य वैराज्य, विरुद्ध-रज्जाणि (विरुद्ध राज्य) का उल्लेख भी मिलता है। इस दिशा म कुछ महान ग्रन्थो का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे—महाभारत का शान्ति पर्व आचार्य चाणक्य (कौटिल्य) का 'अर्थ शास्त्र'। परवर्ती काल मे ५०० ई० के निकट कामदकीय नीतिसार लिखा गया, इसी समय नारद-स्मृति लिखी गई। ८वी शताब्दी क आस-पास शुक्रनीतिसार नामक ग्रन्थ रचा गया जिसम शासन-विधान की विस्तृत विवेचना मिलती है, इसमे तोप और बारूद का उल्लेख भी है। लक्ष्मीधर न ११२५ मे राजनीति कल्पतरु, देवण भट्ट ने १३०० ई० म राजनीति काण्ड चण्डेश्वर ने १३२५ म राजनीति रत्नाकर, नीलकठ ने १६२५ म नीतिमयूख तथा मित्र मिश्र ने १६५० म राजनीति प्रकाश लिखा। इन ग्रन्थो म राजनीतिक कर्मकाण्ड का उल्लेख अधिक है फिर भी इनको पढने से शासन-विधान के बारे म भारतीय चिन्तन की परम्परा का ज्ञान होता है। १६८० के आस-पास महाराजा शिवाजी के मत्री रामचन्द्र पन्त ने मराठी मे एक पुस्तक राजनीति पर लिखी, परन्तु उसम कोई विशेष बात नही थी।

यहा यह उल्लेख करने मे हमारा प्रयोजन यह सिद्ध करना है कि यह मानना एकदम गलत है कि भारत म सांविधानिक-शासन का सूत्रपात अग्रेज ने ही किया। बहुत से भारतीय विद्वान इस भ्रम के शिकार हुए हैं उसका कारण यह है कि वे भारतीय-साहित्य के सम्पर्क म नही आ सके। उन विद्वानो के प्रति पूरे आदर के साथ हम दोहराना चाहेगे कि भारत की सभ्यता और सस्कृति का मूल गुण ही व्यवस्थितपन है, यहा कुछ भी अव्यवस्थित रहा ही नहीं। हा कुछ समय हमारे इतिहास मे ऐसा अवश्य बीता जिसमे हम अपने अतीत को तो छोड बैठे और नया हमारे हाथ

कुछ लगा नही जिसके कारण हमारे समाज मे अव्यवस्था आई, परन्तु वह भारत का सनातन स्वभाव नही है। स्वभाव से भारत की दृष्टि वैधानिक रही है। यह जरूर सत्य है कि भारत की वर्तमान साविधानिक सघटना हमारे उस महान अतीत काल से बिछुड गई है व हमारे ऊपर अपनी उस महान एव दीर्घ परम्परा का कोई प्रभाव दिखाई नही देता, परन्तु यहा भी यह कहना होगा कि हम इतनी सरलता से वैधानिक पद्धति को स्वीकार कर पाय इसके पीछे हमारी उस परम्परा का बडा हाथ है जिसमे हम दीक्षित प्रशिक्षित हुए हैं। भारत की सामाजिक व राजनीतिक रचना बहुत पुराने जमाने से राजतन्त्र के बावजूद भी प्रजातन्त्रीय रही है, यहा के शासक अधिनायक नही होते थे, वे प्रजा के दैनिक और सामान्य जीवन म हस्तक्षेप नही करते थे एव यहा शासन की व्यवहारिक सत्ता का प्रयोग पचायतो के हाथो मे था। अग्रेजो के भारत आने के समय म भी जब हम पतन की चरम स्थिति को पहुँच रहे थे, हमारी यह ग्राम-पचायत व्यवस्था बहुत सबल थी।

ब्रिटिश प्रशासक एलफिन्स्टन ने १६ वी शताब्दी के आरम्भ म ग्राम-शासन के बारे मे इस प्रकार लिखा है—"प्रत्यक नगर (गाव) अपना आन्तरिक प्रबन्ध स्वयं करता है। यह राज्य को दिया जाने वाला कर अपने सदस्यो पर लगाता है तथा यह पूरी रकम के लिए सामूहिक तौर पर जिम्मेदार होता है। यह अपनी पुलिस का प्रबन्ध करता है तथा अपनी सीमाओ के भीतर लूटी गई सम्पत्ति के लिए उत्तरदायी होता है। यह अपने सदस्यो को न्याय प्रदान करता है तथा छोटे अपराधो व पहले-झगडो के मामलो मे दड देता है। यह अपने आन्तरिक खर्च के लिए कर लगाता है जिससे कुओ, मन्दिरो की मरम्मत होती है तथा सार्वजनिक यज्ञ, दान, समारोह, मनोविनोद के उत्सव व मेले आदि पर खर्च किया जाता है। इन कार्यो तथा दूसरे जन सेवा सम्बन्धी कर्तव्यो को पूरा करने के लिए आवश्यक सख्या मे राज्य-कर्मचारी नियुक्त किय जाते ह। य पूरी तरह राज्य सरकार के आधीन होते हैं परन्तु अनेक मामलो में वे अपने आप मे सगठित लोक-राज्य होते है। उनकी इस स्वतन्त्रता और उसे प्राप्त होने वाली सुविधाओ का राज्य कभी-कभी उल्लंघन कर देता है परन्तु वह उन्हे पूरी तरह से छीनता नही है। नगर-प्रबन्ध अत्याचारी शासको से प्रजा की रक्षा करता है तथा केन्द्रीय सरकार के भग हो जाने की स्थिति म भी अपनी सीमाओ के भीतर शान्ति व सुव्यवस्था बनाय रखता है।". "इन सगठनो के भीतर सक्षेप मे राज्य के सभी तत्व मिलते हैं तथा यदि दूसरी हर प्रकार की सरकार (केन्द्रीय सत्ता) को हटा दिया जाए तो य अपने सदस्यो की रक्षा करने म समर्थ हैं। शायद वे बहुत अच्छी सरकार तो नही माने जा सकते परन्तु वे खराब सरकार के दोषो से जनता को बचाने के बहुत ही उपयुक्त (श्रेष्ठ) साधन हैं, वे सरकार की लापरवाही और कम-जोरी के बुरे प्रभावो को दूर कर देते ह तथा उसके दमन और अत्याचार के खिलाफ एक प्रतिबन्ध का काम करते ह।"..."यद्यपि भारत (निकट) भूतकाल मे उन्नत प्रकार की राजनीतिक संस्थाओ का विकास नही कर सका है तथापि उसने जो अच्छे

ाम किये हैं उनका रहस्य ग्रामीण जीवन और संगठन की स्थिरता और सातत्य (Continuity) में निहित है।"

दक्षिण भारत में इन स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का बहुत वैज्ञानिक विकास हुआ था। १० वीं शताब्दी में उत्तिरामेरूर नामक गांव के संगठन का विस्तृत परिचय प्रो० एस० कृष्णास्वामी आयंगर ने अपनी पुस्तक 'ऐवोल्यूशन ऑफ हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स' में और प्रो० ए० नीलकंठ शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन चोल एडमिनिस्ट्रेशन एन्ड हिस्ट्री ऑफ दि चोलाज' में बहुत सुन्दर ढंग से दिया है। गांव में एक 'सभा' होती थी जिसे 'महासभा' भी कहते थे। यह हमारी संसद या विधानसभा के समान थी। इसके अतिरिक्त विविध कार्यों के संचालन के लिए अनेक समितियां बनाई गई थीं, जैसे—सामान्य निरीक्षण के लिए एक वार्षिक समिति 'सम्वत्सर वरीयम', तालाब समिति 'एरी वरीयम' बाढ़-समिति 'कालिंगु वरीयम' खेत-समिति 'कांझानी वरीयम', उद्यान-समिति 'थोट्टा वरीयम'। इन समितियों का निर्वाचन विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से किया जाता था। चुनाव की पद्धति वाद-विवाद के नियम तथा निर्णय करने की रीति आदि बातों का बारीकी के साथ उल्लेख मिलता है। समितियां सभा के सामने ठीक उसी प्रकार उत्तरदायी होती थी जिस प्रकार आधुनिक काल में मंत्रिमंडल संसद के प्रति होता है। सभा में सर्वोच्च प्रभुता निहित थी तथा वह गांव के प्रत्येक प्रश्न का हल ढूंढती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में सांविधानिक शासन की परम्परा बहुत पुरानी है और यह हर्गिज भी नहीं माना जा सकता कि हमें सबसे पहले अंग्रेजों ने वैधानिक शासन का पाठ पढ़ाया।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र—चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री आचार्य कौटिल्य (चाणक्य) का अर्थशास्त्र नामक महाग्रन्थ जिन्होंने पढ़ा है वे इस बात के सत्य को अवश्य स्वीकार करेंगे कि भारत के प्राचीन काल में सांविधानिक नियम केवल अलिखित ही नहीं होते थे वरन् वे लिखित रूप में भी उपलब्ध होते हैं। आचार्य कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' उसका ज्वलन्त प्रमाण है। इस ग्रन्थ में विस्तार से राज्य का संविधान दिया गया है जिसके आधार पर भारत का शासन लगभग दो सौ वर्षों तक चलता रहा तथा जो बाद में भी बहुत प्रभावशाली रहा। इस संविधान में विस्तार से राज सभा, समिति, मन्त्रिमंडल, दुर्ग, कोष सेना, नगर प्रबन्ध आदि के बारे में वैधानिक नियम दिये गये हैं।

मुस्लिम काल में सांविधानिक शासन—मुस्लिम शासन लोकतांत्रिक नहीं था, उसमें राजा की स्वेच्छाचारी सत्ता होती थी तथा यह एक प्रकार का धर्मतंत्र था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जनता को राजा की हर आज्ञा का पालन करना होता था, प्रथा, परिपाटी और परम्परा का इस काल में भी बहुत महत्व था तथा जनता और सम्राट दोनों इन परम्पराओं को निबाहते थे।†

---

† 'Democratic Government in India'—by N. Srinivasan

मुस्लिम शासन व्यवस्था भी कुछ व्यापक नियमो के आधार पर चलती थी, यद्यपि सम्राट का आदेश ही अन्तिम कानून था तथापि प्राय वैधानिक नियमो की प्रतिष्ठा की जाती थी और मुस्लिम शासक परम्पराओ को तोडना पसन्द नही करते थे। साम्राज्य को अनेक प्रान्तो (सूबो) मे बाटा जाता था, इनम से प्रत्यक मे एक सूबेदार (वाइसराय) नियुक्त होता था जिसे सम्राट की मुहर दी जाती थी। य सूबेदार प्रायः राजवश के होते थे। कभी-कभी जिस नय प्रदेश को जीतकर साम्राज्य मे मिलाया जाता था, यदि उस प्रदेश का पुराना शासक आत्म-समर्पण कर देता और सम्राट के प्रति वफादारी की शपथ लेता तो उसे ही प्रान्तीय शासक नियुक्त कर दिया जाता था।

प्रान्तो और केन्द्र मे मत्रिमडल होते थे हिन्दू काल म इन्ह नवरत्न या रत्निन कहा जाता था, मुस्लिम काल म य नौरतन (Nine gems) कहलाय। अकबर के दरबार मे बीरबल, टोडरमल, अबुलफजल अबुलफैजी आदि इन नौरत्नो मे से ही थ। य लोग प्रशासन के मामल म सम्राट को परामश दते थे और अलग-अलग विभागो का सचालन भी करते थ। कर वसूल करने के लिए अलग से व्यवस्थित विभाग था, इसी प्रकार सेना का प्रशासन भी बहुत व्यवस्थित था, उसमे अनेक पद अर्थात् ओहदे होते थे। अधिकारियो को मनसबदार कहा जाता था। सेनापति हजारी होते थे तथा जितने सैनिक उमके नीचे होते थ उसका पद उतने हजारी होता था, जैसे पच हजारी, दस हजारी आदि। सेनाध्यक्ष सम्राट स्वय होता था तथा प्रधान सेनापति को सिपहसालारजग कहा जाता था।

विदेशो मे राजदूत भेजे जाते थे तथा दरबार म विदेशो के राजदूतो का सत्कार किया जाता था। विदेशो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी अच्छे थे। न्याय की व्यवस्था सुदृढ थी, सम्राट स्वय न्याय करता था, जहाँगीर का न्याय और उसकी घटे वाली बात इस बात का प्रमाण है कि सम्राट जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझते थे। सम्राट कभी-कभी भेष बदलकर प्रजा के सुख-दुख का पता लगाने निकलते थे, अकबर के बारे म यह बात बहुत प्रसिद्ध है। सम्राट का गुप्तचर विभाग भी बहुत व्यवस्थित था। व्यवस्थित शासन को ही सावैधानिक शासन कहा जायगा।

इस अध्याय के अन्त मे हम यहा दो विद्वानो के शब्द देंगे जिनसे यह प्रमाणित होता है कि विविध कालो म भारत सावैधानिक ढग से अपना शासन चलाता रहा है। मारक्विस ऑफ जेटलैंण्ड ने बौद्ध सभाओ के बारे म लिखा है—"अनेक लोगो को यह जानकर आश्चर्य होगा कि दो हजार वर्ष से भी अधिक समय पूव भारत की बौद्ध सभाओ मे हमारी वर्तमान ससदात्मक पद्धति का पूर्वाभास मिलता है। ससद की प्रतिष्ठा की रक्षा एक विशष अधिकारी की नियुक्ति द्वारा की जाती थी जो हमारे

1954, pp 8—"The common people...rendered implicit obedience to the ruler within the limits set by custom or prudence."

स्पीकर जैसा होता था। एक दूसरा अधिकारी इस काम के लिए नियुक्त किया जाता था कि वह निर्धारित गणपूर्ति (कोरम) की व्यवस्था करे, वह हमारे प्रधान सचेतक (चीफ़ ह्विप) के समान होता था। (सभा का) कोई सदस्य जब कार्यवाही शुरू करना चाहता था तो वह एक प्रस्ताव सदन में पेश करता था जिस पर बहस होती थी। कुछ मामलों में बहस केवल एक बार होती थी, और कुछ में तीन बार। यह प्रथा भी सदन की उस परम्परा का पूर्वाभास देती है जिसके अनुसार विधि बनने से पहले किसी विधेयक के तीन वाचन अनिवार्य होते हैं। यदि चर्चाओं में मतभेद रह जाता था तो निर्णय बहुमत से होते थे, मतदान गूढ़ शलाका (बैलट) द्वारा होते थे।"‡

प्राचीन भारत के बारे में श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि, "ग्राम, विशिष्ट जाति, बड़ा संयुक्त परिवार इन सब समूहों में एक सामुदायिक जीवन था जिसमें सब लोग भाग लेते थे, इनमें समानता की भावना थी और लोकतंत्रीय पद्धति का प्रयोग होता था। अभी तक जातीय पंचायतें लोकतान्त्रिक पद्धति से काम करती हैं। एक बार मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि ग्रामीण लोग जो प्रायः अनपढ़ होते हैं, राजनीतिक या दूसरे कामों के लिए बनाई गई निर्वाचित समितियों के सदस्य बनने के लिए उत्सुक हैं। सदस्य बनने के बाद वे शीघ्र ही उसमें विधिवत् काम करने लगे, जब कभी उनके जीवन से सम्बन्धित कोई प्रश्न विवाद के लिए पेश हुआ तो उसमें वे बहुत सहायक सिद्ध हुए तथा उन्हें दबाना आसान नहीं था।"§
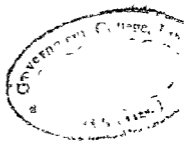
‡ Quoted by Prof. Rawlinson in 'The Legacy of India' 1937 p. XI.

§ 'Discovery of India'—1947, p. 209.

अध्याय : ६

ब्रिटिश शासन काल में भारत का सांविधानिक विकास

(१७५७ से १९०६)

"भारत मे प्रतिनिधि मूलक सस्थाओ की स्थापना नही की जा सकती। उन अनेक विचारको मे से एक ने भी जिन्होने भारतीय राजनीति के बारे मे सुझाव दिये हैं जहा तक मुझे ज्ञान है अपनी लोकतान्त्रिक विचारधारा के बावजूद भी इस सम्भावना मे विश्वास नही प्रगट किया है कि भारत को वर्तमान समय मे प्रतिनिधि शासन की सस्थाये दी जा सकती है।"

'जेम्स मिल ने बहुत अधिक जोर के साथ शुद्ध लोकतन्त्र के पक्ष मे लिखा है, परन्तु जब उनसे पिछले वर्ष एक समिति के सामने यह पूछा गया कि क्या उनके विचार से भारत मे प्रतिनिधि मूलक सस्थाओ की स्थापना व्यवहारिक होगी, तब उनका उत्तर यह था कि – यह बिल्कुल असम्भव है।"

"हमे (भारत मे) निरकुश शासन के वृक्ष पर उन वरदानो की कलम लगाना होगा जो स्वतन्त्रता क स्वाभाविक फल है।"

— टी बी मैकॉले (*ब्रिटिश लोकसभा म १० जुलाई १८३३ का भाषण*)

ब्रिटिश काल मे सावधानिक विकास का अध्ययन हम कई खण्डो म करना होगा, सबसे पहल हम प्लासी के युद्ध से १७७३ तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निरकुश शासन का अध्ययन करेंगे, उसके बाद कम्पनी पर ब्रिटिश ससद क नियन्त्रण का युग प्रारम्भ होता है जो १८५७ तक चलता है, तीसरा युग भारत मे ब्रिटिश ससद के प्रत्यक्ष शासन का है जो अपने ९० वर्ष पूरे करके १९४७ के १५ अगस्त को सदा के लिय समाप्त हो गया और भारत स्वतन्त्र हो गया। इसके साथ ही हमें अपने इस अध्ययन को एक दूसरे प्रकार से भी वर्गीकृत करना होगा, अर्थात केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो का शासन, प्रशासकीय ढाचा तथा स्थानीय स्वशासन का अलग-अलग अध्ययन करना होगा।

इस सदर्भ मे एक तथ्य को ध्यान मे रखना लाभदायक होगा कि अग्रेज किसी भी परिस्थिति में भारत को एक स्वतन्त्र गणराज्य के रूप में विकसित नही करना चाहते थे, फिर भी उन्होने जिस प्रकार भारत का शासन प्रबन्ध किया उसके द्वारा इस देश मे अनेक लोकतान्त्रिक सस्थाओ का विकास हुआ। इसका कारण यह

नही है कि अ ग्रे जो ने भारतीय जनता के हित की दृष्टि से ये सस्थायें भारत को दीं, वरन् इनके दूसरे कारण है। अ ग्रेज शासक मुगलो की तरह भारत म रहकर भारत पर शासन नही करते थे, ब्रिटिश ससद भारत से १०,७२५ मील दूर (समुद्री मार्ग से कैपटाउन होकर, स्वेज नहर बनने पर जिब्राल्टर होकर यह दूरी ६२५० मील रह गई) बैठकर अपने वैतनिक कर्मचारियो द्वारा भारत का शासन चलाती थी, अत वह भारत सरकार के सगठन अर्थात सविधान के बारे मे जो भी विधियां बनाती थी उनका लक्ष्य भारत को अच्छी सरकार देना नही होता था वरन् यह होता था कि भारत में एक मजबूत और कार्यक्षम अ ग्रेजी सरकार बनी रहे और उसका सगठन इस प्रकार का हो कि वह अधिक से अधिक समय तक टिक सके। इस दृष्टि मे ससद यह ध्यान रखती थी कि भारत मे उसकी सरकार जहा तक हो सके ऐसे काम न करे जो भारत की जनता को बहुत जल्दी अ ग्रेज का दुश्मन बना दे तथा वह बदनाम हो जाय। अपने इस अध्ययन म यह विचार हमारे सामने रहना ही चाहिय कि विविध अधिनियमो के द्वारा ब्रिटिश ससद भारत में अपने शासन को एक स्थायी बुनियाद देने की चेष्टा कर रही थी, उसे भारत के स्वराज्य और जनतन्त्र चलाने म भारतीयो को प्रशिक्षण देने म कोई दिलचस्पी नही थी और वह बहुत स्वाभाविक भी था, विदेशी सरकार से और विशेषत उस सरकार से जो व्यापारिक साम्राज्यवाद के आधार पर खडी हो, यह आशा की भी नही जा सकती कि वह आधीन देश के हितो की रक्षा की चिन्ता करेगी। साम्राज्यवाद का अर्थ ही यह है कि दूसरे देशो को अपने लिए प्रयोग करना और जहा तक बन पडे उन्हे अविकसित अवस्था म रखने की चेष्टा करना। कई लेखक साम्राज्यशाही के उस शैतान नारे से प्रभावित हुए हैं जिस मे कहा गया है कि गोरे लोग ससार के असभ्य देशो को सभ्य बनाने के लिए ही दुनिया भर मे अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए निकले और वे लेखक ऐसा मानने लगे हैं कि अ ग्रेजी शासन काल म भारत को स्वराज्य की ओर धीरे-धीरे शिक्षा देकर उन्हे अन्त मे स्वराज्य देने का लक्ष्य अ ग्रेज के सामने पहल से ही था। जिन लोगो ने पडित सुन्दरलालजी की विख्यात पुस्तक भारत मे अ ग्रेजी राज्य' का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि किस प्रकार जब भारत मे दिल्ली और आगरे के लालकिलो, ताजमहल और दूसरे विशाल भवनो का निर्माण हो रहा था जब यहा सन्त दादू और कबीर मानवता के उच्च मूल्यो का प्रतिपादन कर रहे थे जब हमारे महान देश मे अकबर, जहागीर और शाहजहा का उन्नत शासन चल रहा था, प्रजा सुख, सुशासन और समृद्धि का उपभोग कर रही थी, ढाका की विश्व-विख्यात मलमल दुनिया के बडे-बडे बादशाहो के शरीर पर चढती थी, गाव-गाव मे स्वायत्त पचायती स्वराज्य लहलहा रहा था और साहित्य, सस्कृति व कला का सन्देश लेकर भारत के दूत सारे ससार को राह दिखा रहे थे, उस समय, बहुत दूर नही केवल १६ वी और १७ वी शताब्दी मे इतिहास बताता है कि इ ग्लैंड के लोग लकडी और मिट्टी के बने हुए कच्चे झोपडो म रहते थे, लोग निहायत गन्दे थे, उनके कपडो और बिस्तरो मे

जूए भरी रहती थी, सडको पर डाकू खुले आम लूट मार करते थे, नदियो के मार्ग भी डाकुओ से आक्रान्त थे, केवल खेती ही उनका धन्धा था और वर्षा न होने पर वे भूखो मरते थे, उनके पास कोई उद्योग नही था, न डाक्टर था न जीवन की कोई मामूली से मामूली सुविधा, भूमि किसानो के पास न थी, राजा जिस धर्म को मानता था उसके अतिरिक्त किसी दूसरे धर्म का नाम लेने पर मौत की सजा दी जाती थी और सम्पत्ति छीन ली जाती थी, खुले आम गुलामो का व्यापार होता था और स्कूलो के आगनो म मिल्टन और बेंस्टर का साहित्य जलाया जाता था।

यहा हमने उस काल के इंग्लैंड की स्थिति का वर्णन किया जब वहा के सौदागर भारत के साथ व्यापार करने निकले। आसानी के साथ यह अनुमान किया जा सकता है कि ऐसे असभ्य लोगो से भारत को क्या सीखना था। कुछ समझ नही पडता कि वह कौन सी चीज अग्रेजो के पास थी जो भारत से बडी और ऊची थी तथा जिसके द्वारा वे भारत को सभ्य बनाने का दावा करते थे एव वह दावा हमारे अग्रेजी पढे लिखे देशवासियो द्वारा भी स्वीकार कर लिया जाता था। हा एक चीज उनके पास थी हिम्मत, आत्म-विश्वास और अपने देश व अपनी सस्कृति का अभिमान जिसके सहारे वे निरहकारी भारतीय जनता को पौने दो सौ साल तक दास बना कर रख सके। इस प्रकार हम नही समझ पाते कि "व्हाइट मैन्स बर्डेन" यानी 'गोरे लोगो के कालो को सभ्य बनाने के दायित्व" के नारे का प्रयोजन साम्राज्यशाही आकाक्षाओ की पूर्ति के सिवाय और क्या हो सकता है? कई बार लोग इस प्रकार भी सोचते हैं कि अग्रेज भारत मे न आते तो न जाने हम कहा होते, यह विचार कुछ ठीक दिशा में चिन्तन न करने का परिणाम है, भारत कई समय से कई बार गुजरा है, उसने विभिन्न परिस्थितियो का सामना किया है और हमारा दावा है कि यदि भारत मे अग्रेज न आये होते तो आज भारत ससार की सबसे बडी मानवीय शक्ति होता। भारत का भाग्य उजागर करने के लिए अग्रेजो की हमें तनिक भी जरूरत नही थी। उनके बिना कम से कम हमारी वह स्थिति तो न होती जिस भुखमरी और नगेपन की स्थिति मे हमें वे १९४७ म छोड कर यहा से गये। यह माना जा सकता है कि आज भारत की गति की जो दिशा है, उस पर अग्रेज का बहुत बडा प्रभाव है, वह होना तो बहुत ही स्वाभाविक है, जब वे यहा आये और उन्होंने हमारे ऊपर एक लम्बे समय तक शासन किया तो निश्चय ही उस सब का प्रभाव हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढाचे पर पडा, कुछ तो हमें मजबूरी में स्वीकार करना पडा है क्योकि हम एकदम उनके बनाये हुए ढाचे को नही तोड सकते थे, उसमें से कुछ बातें निश्चय ही अच्छी भी हैं, आखिर यह तो तय ही है कि अग्रेज कुछ भी अच्छाई किये बिना इतने लम्बे समय तक यहा टिक ही नही सकता था, उसने अपने हितो की सिद्धि के लिए जो कुछ अच्छी चीजें हमारे साधनो से की वे स्वाभाविक रूप से उनके जाने के बाद हमें मिली और उन पर हमारा हक था ही, वह उनकी देन कैसे मानी जा सकती है, यह भी समझ के परे की बात है। उनके छोडे हुए कुछ खराब

प्रभावो को मिटाने की चेष्टा भी हम कर रहे है और वह सब हमे अपने पुनर्निर्माण के साथ-साथ ही करना है क्योंकि हम एक लम्बे समय तक ससार मे एक पिछडा हुआ देश बनकर नही रह सकते, साथ ही हमारे चालीस करोड लोगो के जीवन का भी सवाल है जो अ ग्रेज के शासन काल में मच्छरो और भुनगो से ज्यादा कीमती नही था परन्तु जो हमारे लिय साध्य बन गया है और पवित्र भी ।

एक और बात भी इस सिलसिले मे याद रख लेनी लाभदायक होगी कि जिस समय अंग्रेज भारत म अपने शासन की बुनियाद डाल रहे थे, स्वय उनके अपने देश मे भी ठीक उसी मौके पर लोकतत्र की बुनियादे गहरी डाली जा रही थी, हमारे देश में उन्होंने जो लोकतत्र का ढोग रचने की चेष्टा की वह उनकी आम जनता की लोकतात्रिक आकाक्षाओ के सदर्भ मे आसानी से समझ मे आती है । परन्तु जैसा आरम्भ मे दिए हुए मैकॉले के उद्धरण से सिद्ध होता है, अ ग्रेज भारत को लोकतत्रीय सरकार हर्गिज नही देना चाहता था वह यह सहन ही नही कर सकता था कि इस देश मे उसके शासन करने के निरकुश अधिकार पर आपत्ति की जाय या अंगुली उठाई जाय । इस निरकुशता को यानी सर्वोच्च प्रभुता को बनाये रख कर भारतीयो को सुशासन की ओर ले जाने के लिय चाहे दबाव मे या सज्जनता से वे कई बार तैयार हुए लेकिन उन्हें बडी निराशा होती थी जब भारत का राष्ट्रीय लोकमत उनकी उन योजनाओ का स्वागत करने तथा उनका आभार प्रगट करने के बजाय उन पर अपना असन्तोष और रोष प्रगट करता था तथा उसके साथ असहयोग करता था । गाधी और काग्रेस इस तथ्य को १६१६ मे ही समझ गय थे कि सांविधानिक सुधारो के माध्यम से भारत अपनी आजादी सैकडो साल म भी प्राप्त नही कर सकता था, और यही कारण था कि अपनी अत्यधिक नम्रता के बावजूद भी गाधीजी भारत मे उस साम्राज्यवादी शासन के शत्रु बन गय जिसका सचालन वह देश कर रहा था जो यह दावा करता है कि उसने ससार को इस युग मे ससदात्मक लोकतत्र का मार्ग आगे चलकर दिखाया है ।

(१) ईस्ट इ डिया कम्पनी का निरकुश शासन
(१७५७ से १७७२ तक)

अंग्रेजो शासन की नीव का पत्थर भारत म सन् १७५७ म प्लासी के युद्ध में रखा गया, इस युद्ध मे अंग्रेजो की जीत एक निर्णायक ऐतिहासिक घटना थी । इग्लैंड के भाग्य विधाता यह नही जानते थे कि एक व्यापारिक कम्पनी भारत में उनके शासन की बुनियादे डालने का इतना महत्वपूर्ण काम कर रही थी जो उनके देश के भाग्य को चमकाने के लिय जिम्मेदार होगा । प्लासी के युद्ध के पश्चात कम्पनी को बगाल, बिहार और उड़ीसा पर शासन की सत्ता प्राप्त हो गई तथा उसके अतिरिक्त सबसे बडी बात यह हुई कि एक ओर तो उसका हौसला बहुत बढ गया, दूसरी ओर देश के विविध शासक यह समझ गय कि अन्ततोगत्वा उन्हें अंग्रेजो की

शरण में जाना ही होगा ।

भारत राजनीतिक दृष्टि से इस समय बिल्कुल खोखला हो चुका था। मुगल साम्राज्य लगभग पूरी तरह गिर चुका था, उसके प्रादेशिक प्रशासक स्वतंत्र-नवाब होने का दावा कर रहे थे। मराठो के अलावा दूसरे लोगो के भीतर देशभक्ति की भावना नही रह गई थी। इस बारे मे क्लाइव ने लिखा है कि, 'मुसलमान और हिन्दू आलसी, खर्चीले, अज्ञानी तथा बेहद कायर थे .। यदि उन सैनिको को सैनिक कहा जा सकता है तो वे अपने स्वामियो के प्रति तनिक भी निष्ठा नही रखते थे, जो उन्हे अधिक दाम दे सकता है वही उनसे काम ले सकता है, वे इस बात के प्रति उदासीन है कि वे किस की सेवा कर रहे है।" इन सब कमजोरियों ने अंग्रेजो को ताकत दी और वे अपनी आकांक्षाओं मे आगे बढे ।

१७६५ में बक्सर के रणक्षेत्र मे अंग्रेजी कम्पनी ने मुगल सम्राट शाह आलम के हाथो से दीवानी अर्थात् राजस्व वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। यह एक बडी बात थी, बगाल का नवाब अब नाममात्र का शासक रह गया तथा वास्तविक शक्तिया कम्पनी को मिल गई । इस समय क्लाइव ने, जो कम्पनी की ओर से सेनापति था, बहुत कुशलता से काम किया, उसने यह बात चारो ओर नही फैलने दी कि कम्पनी को इतना अधिक अधिकार प्राप्त हो गया है । उसने बगाल के नवाब की नाम मात्र की प्रभुता के आवरण को बनाये रखना राजनीतिक दृष्टि से आवश्यक समझा ।

कम्पनी द्वारा अधिकृत प्रदेश का शासन—आरम्भ मे जब तक कम्पनी केवल व्यापार तक सीमित रही तब तक शासन-सगठन का प्रश्न ही नही उठा, परन्तु ज्यो ही कम्पनी ने भारत के भू-क्षेत्र पर अधिकार जमाना शुरू किया उसके सामने शासकीय ढाचा खडा करने का प्रश्न पैदा हो गया। आरम्भ मे केवल सूरत में एक प्रेसीडेन्सी की स्थापना की गई। १६८२ मे जॉन चाइल्ड को सूरत की प्रेसीडेन्सी का प्रेसीडेन्ट और बम्बई का गवर्नर बनाया गया, १६८६ मे उन्हे कैप्टन-जनरल, एडमिरल और कम्पनी की सेनाओ का कमान्डर-इन-चीफ तथा कम्पनी के समस्त व्यापारिक मामलो का डायरेक्टर जनरल भी बना दिया गया। १६८७ मे सूरत के स्थान पर बम्बई को प्रधान कार्यालय बनाया गया, बम्बई के गवर्नर को यह भी अधिकार दिया गया कि वह बगाल और मद्रास के मामलो की देख-रेख भी करे। अगले कुछ वर्षों तक कैप्टन जनरल का कार्यालय कभी बम्बई, कभी मद्रास में रहा। १७०० में कलकत्ता (बंगाल) के लिए अलग प्रेसीडेन्ट और गवर्नर की नियुक्ति की गई। गवर्नर को मनमाने ढग से काम करने का अधिकार नहीं था, उसे अपनी परिषद् के निर्णयो को बदलने या उनकी उपेक्षा करने की शक्ति प्राप्त नही थी। कम्पनी इन सब के ऊपर लन्दन से अन्तिम सत्ता का प्रयोग करती थी परन्तु भौतिक दूरी के कारण उसका नियन्त्रण बहुत ढीला-ढाला था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में कम्पनी के कर्मचारी उच्छृंखल हो गये तथा भारत को बुरी तरह लूटने लगे, वे अपने व्यक्तिगत

लाभ के लिए कम्पनी को हानि पहुँचाने से भी नही चूकते थे ।

क्लाइव ने इस बात की बहुत चेष्टा की कि कम्पनी के कर्मचारी लूट मार न करें परन्तु वह सफल नही हुआ, काउन्सिल भी असफल रही । वास्तविकता यह थी कि कर्मचारियो से लेकर काउन्सिल के सदस्यो तक सभी लूट म हिस्सेदार थे । स्वय ब्रिटिश ससद कम्पनी की लूट म अपना हिस्सा मागती थी, उसने दो वर्षों तक हर साल कम्पनी से चार लाख पाउन्ड की माग की । उधर कम्पनी का दिवाला निकल रहा था, उसके कमचारी बेईमान थे तथा उसे प्रतिवर्ष भारत के मुगल-सम्राट, बगाल के नवाब और दूसरे राजाओ को दस लाख पाउन्ड की रकम देनी पडती थी, उस पर साठ लाख का ऋण हो चुका था । उधर भारत की लूट जारी थी, परिणाम स्वरूप १७७० म बगाल की जनता का पाचवा भाग भयकर अकाल म नष्ट हो गया । ऐसी स्थिति मे भी कम्पनी के व्यापारी आम जरूरत की चीजें महग दामो पर बेच रहे थे और कम्पनी के खजाने को पूरा रखने के लिऐ बचे हुए लोगो को मरने वालो के बदले का राजस्व चुकाने के लिए मजबूर कर रहे थ । इसी समय १७७२ मे हेस्टिंग्ज को बगाल का गवनर बनाया गया उसके अत्याचारो की कहानी लम्बी है, यहा इतना ही कहना काफी होगा कि उसके अत्याचारो ने ही ब्रिटिश ससद को इस बात के लिऐ मजबूर किया कि वह भारत मे कम्पनी के निरकुश शासन पर नियत्रण की स्थापना करे । १७७२ में ससद म यह चेष्टा की गई कि भारत के शासन में ससद हस्तक्षेप करे परन्तु वह प्रयत्न कामयाब नही हुआ, स्वय क्लाइव ने भी कम्पनी के शासन की कडी आलोचना की परन्तु उस चर्चा का यह फल हुआ कि ससद ने भारत मे कम्पनी के शासन की जाच के लिए एक आयोग की नियुक्ति कर दी । इसी साल अगस्त मे कम्पनी ने ब्रिटिश सरकार से ऋण की प्राथना की परन्तु उसी वर्ष कम्पनी साढे बारह प्रतिशत मुनाफा घोषित कर चुकी थी, इस पर सरकार को सन्देह हो गया और उसने एक गुप्त समिति को जाच का काम सौंपा । कम्पनी ने १७७३ मे ऋण की फिर से माग की । इस बार ससद ने अवसर का लाभ उठाया और ऋण के साथ ही एक अधिनियम भी पास कर दिया जिसका प्रयोजन भारत म कम्पनी के शासन को नियन्त्रित करना था ।

(२) कम्पनी के शासन पर ब्रिटिश ससद का नियंत्रण

भारत म ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन पर ब्रिटिश ससद का नियत्रण १७७३ से शुरू हुआ और वह १८५७ तक चला जबकि ब्रिटिश सरकार यह समझ गई कि भारत के शासन का सचालन एक व्यापारिक कम्पनी के हाथो म छोडने का अर्थ है अपने उस आधीन प्रदेश की लूट से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति से हाथ धोना । यहा हम यह अध्ययन करने की चेष्टा करेंगे कि ससद ने किस प्रकार कम्पनी के शासन को नियन्त्रित किया और उससे भारत के सावैधानिक ढाचे पर क्या प्रभाव पडा ?

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट—ब्रिटिश ससद ने पहले पहल १७७३ मे ईस्ट इण्डिया कपनी के भारतीय शासन का नियत्रण आरम्भ किया। १७७३ के इस अधिनियम को रेग्यूलेटिंग ऐक्ट कहते है जिसका अर्थ है नियामक-अधिनियम। इस अधिनियम द्वारा इस सिद्धान्त की स्थापना हुई कि ब्रिटिश ससद को यह अधिकार है कि वह कम्पनी के राज्य-प्रशासन सम्बन्धी मामलो का नियमन (रेग्यूलेशन) कर सकती है। साथ ही इस अधिनियम के द्वारा भारत मे कम्पनी के शासन को ब्रिटिश ससद की वैधानिक-मान्यता भी प्राप्त हो गई और इस प्रकार यह शासन एक वैधानिक-शासन बन गया जिसकी प्रभुता कम्पनी मे निहित थी तथा सर्वोपरि सत्ता (पैरामाउन्ट पॉवर) ब्रिटिश ससद मे। इस अधिनियम के द्वारा ससद ने कम्पनी के शासन मे दखल देना आरम्भ किया और इस सिद्धान्त की स्थापना की कि विदेशो मे अ ग्रेजो द्वारा स्थापित शासन पर सर्वोपरि सत्ता ब्रिटिश सम्राट म निहित होती है।

इस अधिनियम के द्वारा भारत म अ ग्रेजी सरकार का पुनर्संङ्गठन किया गया। अब तक बगाल, मद्रास और बम्बई मे से हर प्रदेश म एक गवर्नर होता था, तथा वे सब स्वतन्त्र थे। इस अधिनियम ने कम्पनी के शासन का एकीकरण कर दिया और बगाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल बनाकर दूसरे गवर्नरो को उसके आधीन कर दिया। गवर्नर जनरल के साथ ही चार सदस्यो की एक परिषद् की भी स्थापना की गई। इस प्रकार की परिषदे बम्बई और मद्रास मे भी स्थापित की गईं। ये परिषदें भारत मे अच्छे शासन के नियम बनाने के लिए बनाई गईं तथा यह कहा गया कि युद्ध, शान्ति और देशी राज्यो के साथ सम्बन्ध रखने के मामलो मे प्रान्तीय परिषदें और गवर्नर गवर्नर-जनरल तथा उसकी परिषद् के आधीन रहेगे, शेष मामलो मे उनके बनाय हुए नियमो को ससद रद्द कर सकती है। इसके अलावा वे सर्वोच्च होगी। केन्द्रीय परिषद् भी ब्रिटिश संसद के आधीन रखी गई। साथ ही उन्हे कम्पनी के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के सामने भी उत्तरदायी ठहराया गया। वास्तव मे ससद का नियंत्रण भारत सरकार पर कम्पनी के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के मार्फत ही स्थापित किया गया। गवर्नर जनरल और उसकी परिषद् पर यह जिम्मेदारी भी सौपी गई कि वे भारत मे कम्पनी की आमदनी के बारे मे पूरी जानकारी ब्रिटिश खजाने को दें तथा राजनीतिक व सैनिक मामलो की जानकारी ब्रिटिश मंत्रिमंडल के एक सदस्य (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) को दें। इस अधिनियम ने कलकत्ता में एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना भी की। इस न्यायालय मे मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त तीन न्यायाधीश और रखे गये तथा उनकी नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट द्वारा ही हो ऐसा प्रबन्ध रखा गया। इस न्यायालय के निर्णयो की अपील गवर्नर जनरल या कम्पनी के अधिकारियो के सामने नही की जा सकती थी, वरन् अपीलें सुनने का अधिकार सपरिषद् सम्राट को दिया गया था।

यह बात उल्लेखनीय है कि ब्रिटेन मे इन दिनो शासन के तीनो अंगो अर्थात् कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका को पृथक-पृथक सत्ता देने के विचार का

विकास हो रहा था, जिसका प्रतिपादन प्रसिद्ध विद्वान माटेस्क्यू ने किया। अपने उस उत्साह मे और साथ ही सुशासन के अपने अनुभवों के प्रकाश मे ब्रिटिश ससद ने निर्दोष भाव से शासन के तीनो अ गों को भारत में अलग-अलग रखने की चेष्टा की थी। गवर्नर जनरल मनमाने ढंग से बिना अपनी परिषद् की सहमति के कुछ नही कर सकता था, स्वय परिषद् को सर्वोच्च न्यायालय के सामने लाचार बना दिया गया, न्यायालय परिषद् के किसी भी कानून को लागू करने से मना कर सकता था। इस अधिनियम का उद्देश्य भारत मे एक ऐसी शासन व्यवस्था की नीव डालना था जो निरकुश न हो।

परन्तु बहुत शीघ्र ही ससद को होश आ गया और जब उसे बताया गया कि भारत मे अ ग्रेजी शासन का लक्ष्य वैधानिक-लोकतन्त्र की स्थापना नही है तथा उससे ब्रिटिश हितों की सिद्धि नही हो सकती तब उसने अपना रुख बदल लिया और उसने अपनी दिशा ही उलट दी। बहुत शीघ्र ही ब्रिटिश ससद ने फैसला कर लिया कि वह भारत को एक एक निरंकुश शासन देगी तथा उसे अपने देश व आधीन प्रदेशों के शासन को दो विभिन्न और विरोधी सिद्धान्तो पर खडा करना होगा, अपने देश मे जनता के प्रति उत्तरदायी और सीमित-लोकतन्त्र तथा आधीन प्रदेशो के लिय एकात्मक निरंकुश-शासन।

सशोधन अधिनियम १७८१—इस अधिनियम के द्वारा ससद ने भारत से व छीन लिया जो उसने १७७३ के अधिनियम द्वारा दिया था। उसने गवर्नर जनरल व उसकी परिषद को सर्वोच्च न्यायालय के नियंत्रण से मुक्त कर दिया। उसने गवर्नर जनरल व उसकी परिषद को कुछ मामलो मे सर्वोच्च न्यायालयो के निर्णयो की अपीलें सुनने का अधिकार भी दे दिया। इस अधिनियम के द्वारा भारत मे प्रचलित हिन्दू व इस्लामी कानून को न्याय का आधार मान लिया गया। १७७३ मे न्यायालय की निष्पक्षता का जो सिद्धान्त स्थापित किया गया था उसे इस अधिनियम के द्वारा उखाड फेंका गया तथा शासन को निरकुश बनाने की दिशा में कदम उठाया गया। कुछ लेखको ने कहा है कि इस अधिनियम ने १७७३ के अधिनियम के दोषो का निवारण कर दिया परन्तु हमारा मत उल्टा है और हम सोचते हैं कि इसने उसके गुणो को नष्ट करने की चेष्टा की।

पिट्स इण्डिया ऐक्ट—सन् १७८४ मे एक दूसरे अधिनियम द्वारा कम्पनी के स्वय के प्रशासन और उसके भारतीय शासन दोनो के ढांचे मे महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गय। १७८४ मे श्री पिट ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री बने, उन्होंने ससद के इस विचार से प्रभावित होकर कि भारत मे कम्पनी का शासन बहुत भ्रष्टाचारी हो गया है, अगस्त में इस अधिनियम को पास कराया।

अधिनियम के अनुसार कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के अलावा एक बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल की स्थापना की गई जिसमे ब्रिटेन के चान्सलर ऑफ एक्सचेकर (वित्त मन्त्री) एक सेक्रेटरी ऑफ स्टेट तथा चार सदस्य प्रिवी परिषद् मे से नियुक्त किये

गये। इनकी नियुक्ति सम्राट द्वारा की गई। इस बोर्ड की बैठको का कोरम (गणपूर्ति) तीन रखा गया, सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को उसका अध्यक्ष बनाया गया तथा उसे निर्णायक मत (कास्टिंग वोट) देने की शक्ति दी गई। बोर्ड को कम्पनी के विदेशी उपनिवेशो के बारे मे समस्त सैनिक और असैनिक मामलो मे पूरी शक्ति दे दी गई, बोर्ड कम्पनी के समस्त रेकार्ड देखने के लिय माग सकता था। डायरेक्टर्स द्वारा उपनिवेशो को भेजे जाने वाले समस्त आदेश बोर्ड के सामने रखे जाते थे और बोर्ड को अधिकार दिया गया कि वह उनमे सुधार, संशोधन या उन्हे रद्द कर सकता है। भारत सरकार द्वारा भेजे जाने वाले समस्त कागज भी बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सामने पेश किये जाते थे। डायरेक्टर्स मे से तीन की एक गुप्त समिति बनाई गई, उसे यह काम सौंपा गया कि बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल यदि कोई ऐसे आदेश बाहर भेजना चाहे जो वह गुप्त रखना चाहती हो तो यह समिति उन आदेशो को बिना दूसरे डायरेक्टर्स को बताये ही भेज दे। कोर्ट ऑफ प्रोप्रायटर्स (कम्पनी के मालिको की समिति) से यह अधिकार छीन लिया गया कि वह बोर्ड द्वारा स्वीकृत डायरेक्टर्स के निर्णय को रद्द कर सके या उसे बदल सके। बोर्ड को कम्पनी के व्यापारिक मामलो मे दखल देने का अधिकार नही दिया गया और कहा गया कि उन मामलो मे हस्तक्षेप होने पर कम्पनी सपरिषद् सम्राट के सामने अपील कर सकती है।

भारत सरकार के सविधान मे भी परिवर्तन किया गया। गवर्नर जनरल की परिषद् के सदस्यो की सख्या तीन कर दी गई जिनमे से एक कमान्डर-इन-चीफ होता था, उसका स्थान दूसरा रखा गया परन्तु गवर्नर जनरल की अनुपस्थिति मे वह उसका पद नही सम्हाल सकता था, यह अधिकार परिषद् के शेष दो सदस्यो मे से वरिष्ठ (सीनियर) सदस्य को दिया गया। प्रान्तो मे भी यही व्यवस्था लागू की गई और उन्हे हर प्रकार से गवर्नर जनरल के आधीन बना दिया गया।

इस अधिनियम मे एक महत्वपूर्ण बात यह कही गई कि भारत मे साम्राज्य का विस्तार और विजय की चेष्टा राष्ट्र (ब्रिटेन) की इच्छा, प्रतिष्ठा और नीति के विरुद्ध है। भारत मे अंग्रेजी सरकार को स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि वे डायरेक्टर्स या गुप्त समिति की सहमति के बिना न किसी युद्ध मे पडे और न कोई ऐसी सन्धि किसी देशी राजा से करें जिसमे ब्रिटिश सेनाओ को लडना पडे। शायद यह नीति इसलिये अपनाई गई थी कि कम्पनी राज्य विस्तार की अपेक्षा व्यापार की ओर अधिक ध्यान दे सके और युद्ध के कारण उसके व्यापारिक हितो को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। ब्रिटिश ससद या कम्पनी भारत म साम्राज्य विस्तार नही चाहते थे, ऐसा तो उनके बाद के कार्यों से सिद्ध नही होता परन्तु उनके सामने आरम्भ म व्यापारिक लाभ की दृष्टि प्रधान रूप से रहती थी, यो तो अंग्रेज भारत मे जब तक रहे आर्थिक लाभ के लिय ही रहे और ज्यो ही भारत का शासन उनके लिये अनार्थिक इकाई बन गया वे यहा से बिस्तर समेट कर चले गय। गाधीजी इस रहस्य को समझ गये थे इसी कारण उन्होने सबसे अधिक जोर विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी

के प्रचार पर दिया।

इस अधिनियम ने कम्पनी के शासन सम्बन्धी अधिकारो को प्राय समाप्त ही कर दिया, और उन पर ससद का प्रभुत्व स्थापित करने की बुनियाद डाली। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि यद्यपि बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष को, जो कि एक सेक्रेटरी ऑफ स्टेट होता था, भारत मत्री अर्थात सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इडिया नही कहा गया परन्तु यह आगे स्थापित होने वाले उस पद का आरम्भ था। धीरे-धीरे वह शक्तिशाली होता चला गया और कम्पनी के प्रदेशो के शासन की सत्ता उसके हाथो मे आती चली गई, यह एक विचित्र बात थी कि भारत मे अग्रेजी शासन के किसी भी काम के लिये वह ब्रिटिश ससद के सामने उत्तरदायी नहीं होता था।

१७८६ मे जब कॉरनेवालिस को गवर्नर जनरल बनाया गया, उस समय इस अधिनियम मे एक सशोधन पास करके ससद ने गवर्नर-जनरल को यह शक्ति दे दी कि वह चाहे तो अपनी परिषद के निर्णयो को मानने से इन्कार कर सकता है, यही शक्ति प्रान्तो मे गवर्नरो को भी उनकी परिषदो के ऊपर दे दी गयी। इस प्रकार भारत मे सगठित रूप से निरकुश ब्रिटिश शासन की नीव डाली गयी, इस काल को हम ब्रिटिश शासन के एकीकरण और सगठन का काल कह सकते है क्योकि इस काल मे राज्य विस्तार की अपेक्षा राज्य के सगठन की ओर प्रमुखत ध्यान दिया गया। ससद ने सबसे पहले इस ओर ध्यान दिया कि भारत मे अग्रेजी शासन की नीव मजबूत बने और उस पर ससद का प्रभावशाली नियत्रण स्थापित हो। यदि इस समय यह सावधानी न की जाती तो सम्भव था कि भारत का अग्रेजी शासन ब्रिटिश ससद के नियत्रण से मुक्त होकर स्वतत्र हो जाता। इस अधिनियम के द्वारा भारत का शासन वास्तव मे ब्रिटिश सरकार की एक शाखा जैसा हो गया।

चार्टर का नवीकरण १७६३—ईस्ट इडिया कम्पनी को १७७३ मे जो अधिकार पत्र दिया गया था, उसकी अवधि २० वर्ष थी और यह आवश्यक था कि हर बीस वर्ष पश्चात् उसका नवीकरण (रिन्यूअल) किया जाय, उसी कानून के अनुसार १७६३ मे यह अधिनियम पास किया गया, सावैधानिक दृष्टि से इसका विशेष महत्व नही है। सरकार के ढाचे म इसने कोई नया बदल नही किया, केवल कुछ पुरानी बातो को दोहरा भर दिया और शासन के एकीकरण पर बल दिया। इस अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल, गवर्नरो और कमान्डर-इन-चीफ की नियुक्तिया सम्राट की सहमति से ही हो सकती थी।

चार्टर अधिनियम १८१३—चार्टर का अर्थ अधिकार-पत्र होता है। हर बीस साल के बाद ब्रिटिश संसद अपने अधिनियम के द्वारा कम्पनी को भारत पर शासन करने का अधिकार देती थी। इस अधिनियम ने भी कम्पनी का कार्यकाल भारत मे २० साल के लिये और बढा दिया। चाइना और चाय के व्यापार को छोडकर दूसरे सब व्यापार पर से कम्पनी का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया और वह प्रत्येक ब्रिटिश नागरिक के लिये खुला कर दिया गया। कम्पनी को यह आदेश दिया गया कि

वह अपने व्यापारिक और शासन सम्बन्धी हिसाब किताब को अलग-अलग रखे। भारत सरकार को यह अधिकार दे दिया गया कि वह उन लोगों पर टैक्स लगा सकती है जो भारत के मुगल सम्राट द्वारा दी गई सत्ता के अन्तर्गत उसके अधिकार क्षेत्र में नही आते।

इस अधिनियम की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसने भारत सरकार के लिये यह अनिवार्य कर दिया कि उसे प्रतिवर्ष एक लाख रुपया ब्रिटिश भारत के नागरिको को विज्ञान की शिक्षा देने, साहित्य के पुनरुत्थान और सशोधन तथा भारत के विद्वान निवासियो को प्रोत्साहन देने पर व्यय करना होगा। शेष बाते लगभग पहले जैसी ही रही।

चार्टर अधिनियम १८३३—इस अधिनियम ने कम्पनी के व्यापारिक-स्वरूप को समाप्त करके उसे शुद्धत एक प्रशासकीय संस्था का स्वरूप प्रदान कर दिया। व्यापार पर से उसका एकाधिकार पूरी तरह समाप्त कर दिया गया। भारत सरकार के निरीक्षण, निर्दे ान और नियत्रण का काम गवर्नर जनरल और उसकी परिषद को सौंप दिया गया। उन्हें यह सत्ता दे दी गई कि वे चाहे तो बम्बई और मद्रास की परिषदो को तोड सकते है या उनकी शक्तिया घटा सकते हैं।

गवर्नल जनरल को 'भारत का गवर्नर जनरल' पदवी दी गई और उसकी परिषद् म चार सदस्यो की नियुक्ति की गई। चौथा सदस्य कानून-सदस्य कहलाया, सबसे पहला कानून-सदस्य लार्ड मैकॉले था। प्रान्तीय परिषदो मे दो-दो सदस्य रखे गय।

इस अधिनियम ने देश मे विधि-निर्माण की सत्ता प्रान्तों से छीनकर गवर्नर जनरल और उसकी परिषद को दे दी। गवर्नर जनरल की परिषद में कानून-सदस्य की नियुक्ति का प्रयोजन यही था कि कानून बनाने के काम को अधिक व्यवस्थित बनाया जा सके। कानून बनाने की शक्ति के इस केन्द्रीकरण के साथ ही इस अधिनियम ने विधि-निर्माण और प्रशासन के कामो को अलग-अलग रखने की दिशा मे भी कदम उठाया, विधि-सदस्य के लिए कहा गया कि वह परिषद की उन बैठकों मे ही उपस्थित रहेगा जिनमे कि कानून बनाने के बारे में विचार होने को हो, इसका अभिप्राय यही था कि विधि-निर्माण के मामले म उसको एक विशेष जिम्मेदारी दी गई तथा उसे यह अधिकार नही दिया गया कि वह गवर्नर जनरल और उसकी परिषद के प्रशासकीय निर्णयो में कोई दखल दे। मैकॉले को यद्यपि प्रशासकीय सभाओ मे भी निमन्त्रित किया जाता था तथापि वह उनमे मत इत्यादि नही देता था, केवल समस्याओ को समझने की दृष्टि से वह वहा बैठता था। परिषद को भारत के सारे ब्रिटिश प्रदेश के लिये कानून बनाने की सत्ता कुछ मर्यादाओ के भीतर उसी प्रकार दे दी गई जिस प्रकार स्वय ब्रिटिश संसद सारे ब्रिटिश प्रदेश के लिये कानून बना सकती है। उसे शक्ति दी गई कि वह निम्न विषयो के बारे में कानून बना सकती है —

(१) वह ब्रिटिश भारत मे प्रचलित किसी कानून को परिवर्तित, सशोधित

या रद्द कर सकती है।

(२) वह तमाम ब्रिटिश, भारतीय तथा दूसरे विदेशी व्यक्तियो तथा समस्त अधिकृत व अन्य न्यायालयो के लिये कानून बना सकती है।

(३) इन प्रदेशो म समस्त स्थानो और वस्तुओ के बारे मे कानून बना सकती है।

(४) देशी राज्यो मे कम्पनी के समस्त कर्मचारियो के लिये कानून बना सकती है।

(५) कम्पनी की सेवा मे रहने वाले देशी सैनिक अधिकारियो और सिपाहियो के लिये युद्ध के नियम और सैनिक न्यायालयो द्वारा प्रयोग मे आने वाले कानूनो व नियमो को बना सकती है।

परन्तु परिषद को यह अधिकार नही दिया गया कि वह संसद के अधिकार-पत्रो मे कोई परिवर्तन कर सके, या ब्रिटिश राजसत्ता अथवा ससद की सर्वोपरि-सत्ता को चुनौती दे सके। एक महत्त्वपूर्ण बात इस प्रसग म यह है कि परिषद द्वारा पास किये जाने वाले कानून यद्यपि कम्पनी के संचालकों द्वारा अस्वीकार किये जा सकते थे परन्तु उन पर ससद की स्वीकृति लेना आवश्यक नही था।

इस अधिनियम द्वारा भारतीय कानून को सहिताबद्ध (Codify) करने और उसको व्यवस्थित स्वरूप देने के लिये एक विधि-आयोग (लॉ कमीशन) की स्थापना की गई, जिसका सदस्य मैकॉले को बनाया गया।

अधिनियम ने यह भी घोषणा की कि भारतीय जनता को प्रचलित नियमो मे दी गई योग्यता रखने पर सरकारी सेवाओ म प्रवेश करने से किसी भी आधार पर नही रोका जा सकता। परन्तु यह एक बेहूदा ढोंग था, क्योंकि मुनरो, मैलकम, एल्फिन्सटन आदि के प्रयत्नो के बावजूद भी १७६३ के अधिनियम की उस धारा को नही हटाया गया जिसमे यह कहा गया था कि हेलीवरी प्रशासकीय विद्यालय मे प्रशिक्षित और अधिकृत लोगो को ही वे पद दिये जायेंगे जिनका वेतन प्रति वर्ष ५०० पौण्ड या उससे अधिक होगा। इस प्रकार यह घोषणा एक प्रकार से पाखण्डपूर्ण थी। इस बारे म सर टॉमस मुनरो ने लिखा है कि, 'उन लोगों से चरित्र की उच्चता की अपेक्षा नही की जा सकती जो सेना के क्षेत्र म सूबेदार से ऊचा पद प्राप्त नही कर सकते, तथा जो असैनिक सेवाओ म मामूली न्यायिक या राजस्व के पद से अधिक किसी ऊचे पद को प्राप्त करने की आशा नही कर सकते, इन छोटे पदो पर वे अपने अत्यन्त अल्प वेतन की कमी को पूरा करने के लिये भ्रष्ट साधनो का प्रयोग करते हैं।"

चार्टर अधिनियम १८५३—ससद १८५३ म अपने अधिनियम द्वारा जब कम्पनी को भारत पर शासन करने का अधिकार अनन्त काल के लिये दे रही थी, कौन जानता था कि इस अनन्त का अन्त केवल चार साल की दूरी पर ही बैठा हुआ राह ताक रहा है। इस अधिनियम ने कम्पनी को ब्रिटिश राजसत्ता की ओर से जो अधिकार दिया था, वह उससे १८५७ की क्रान्ति के तुरन्त बाद १८५८ में ही छीन

लिया गया।

इस अधिनियम ने कम्पनी के संचालकों की संख्या २४ से घटाकर १८ कर दी, उनमे से भी ६ सदस्यों की नियुक्ति करने का अधिकार ब्रिटिश राजसत्ता को दिया गया, दूसरे ६ सदस्यों के लिय शर्त लगाई कि वे राजसत्ता द्वारा नियुक्त सदस्यों की ही भांति कम से कम दस वर्ष तक भारत म नौकरी कर चुके हो। संचालक मंडल की सभाओं का कोरम १३ से घटाकर १० कर दिया गया, इसका एक प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि ऐसी स्थिति मे, जब सभा मे १० सदस्य ही उपस्थित हो, राजपक्ष के ६ सदस्य बहुमत का निर्माण करके मनमाने निर्णय कर सकते थे। इस सबका अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि संसद धीरे-धीरे भारत के शासन की सत्ता अपने हाथो मे केन्द्रित करने की चेष्टा कर रही थी। संचालक-मण्डल की रचना को देखकर यह भी मालूम होता है कि संसद यह अनुभव करने लगी थी कि भारत का शासन चलाने का काम ऐसे लोगो को सौंपा जाय जो अनुभवी हो, जिन्हे भारतीय परिस्थितियों का ज्ञान हो और जिनके शासन के साथ कोई व्यापारिक हित जुडे हुए न हो।

अधिनियम ने यह भी व्यवस्था की कि बंगाल के लिय एक गवर्नर या लैफ्टिनेन्ट गवर्नर और पंजाब के लिय एक प्रेजीडेन्ट या लैफ्टिनेन्ट गवर्नर की नियुक्ति की जाये, इस व्यवस्था का निर्माण क्रमश १८५४ और १८५९ म किया गया।

विधि-सदस्य को गवर्नर जनरल की परिषद का पूरा सदस्य मान लिया गया और उसे उसके प्रत्यक निर्णय मे भाग लेने का अधिकार दे दिया गया। अभी तक गवर्नर जनरल केवल कार्यपालिका सम्बन्धी मामलो मे मनमाने ढंग से अपनी परिषद की इच्छा के बिना काम कर सकता था, इस अधिनियम ने उसे विधायी मामलो अर्थात् कानून बनाने के काम मे भी निषेधात्मक शक्ति (वीटो पावर) दे दी। यद्यपि वह अपनी परिषद के विरुद्ध कोई विधि नही बना सकता था तथापि उसे यह अधिकार दे दिया गया कि वह परिषद द्वारा पास किय गय किसी विधेयक (बिल) पर स्वीकृति देने से मना कर दे अर्थात् वह ऐसे कानूनों को, जिन्हे वह पसन्द न करता हो, लागू करने से मना कर सकता था।

अधिनियम ने परिषद की रचना म भी परिवर्तन कर दिया। उसमे गवर्नर जनरल, कमांडर-इन-चीफ, चार दूसरे सदस्य, प्रत्यक लैफ्टिनेन्ट गवर्नर के प्रान्त से एक ऐसा प्रतिनिधि जो कम से कम दस वर्ष तक सरकारी सेवा मे रहा हो, बंगाल का मुख्य-न्यायाधीश तथा सर्वोच्च-न्यायालय का एक अन्य न्यायाधीश रखा गया तथा कहा गया कि यदि ठीक समझा जाये तो दो नागरिको को भी उसमे लिया जाये। नागरिकों को कभी उसमे लिया नही गया। परिषद् की कार्यवाही सार्वजनिक तौर पर होने लगी और उसे प्रकाशित किया जाने लगा।

सार्वजनिक-सेवाओं के बारे में यह तय हुआ कि आगे से सरकारी नौकरियों मे नियुक्तियाँ प्रतियोगिता के द्वारा होंगी और प्रतियोगितायें इंग्लैण्ड मे होंगी, तथा

हेलीबरी का कॉलिज बन्द कर दिया जायगा । परन्तु इस सशोधन से भारतीय विद्यार्थियो को कोई लाभ होने वाला नही था क्योकि प्रतियोगिता भारत मे न होकर इग्लैण्ड मे होने वाली थी ।

ससद का इरादा भारत म अपने जैसी ससद बनाने का नही था परन्तु हुआ यह कि परिषद के सब सदस्य अग्रेज थे । अत उन्होने अपने देश की ही तरह यहा भी सरकार की नीतियो की आलोचना करनी आरम्भ कर दी इससे सरकार और ससद दोना को बहुत निराशा हुई । आखिर १८६१ मे इस व्यवस्था को भी बदल डाला गया ।

(३) भारत मे ब्रिटिश ससद का प्रत्यक्ष शासन

१८५७ के महान वर्ष मे भारतीय राष्ट्रीयता ने साहस से एक अगडाई ली परन्तु अनेक कारणो से वह महान क्रांति असफल हो गई । उस क्रांति ने चाहे जो हो, ब्रिटिश ससद पर कम से कम यह तो छाप डाल ही दी कि आग भारत मे कम्पनी का भ्रष्ट शासन नही चल सकेगा और इसी प्रभाव के आधीन ससद ने यह तय किया कि वह तुरन्त भारत के शासन की बागडोर अपने हाथ मे सम्हाल लेगी । यहा हमे केवल सांविधानिक महत्व की घटनाओ का ही अध्ययन करना है । अत हम उस काल की राजनीति मे जाने की चेष्टा नही करेंगे । उस वणन के लिय प्रथम खण्ड को देखना चाहिय ।

१८५८ का भारत शासन अधिनियम—ब्रिटिश ससद मौका तलाश कर रही थी कि वह किसी प्रकार कम्पनी को हटा कर भारत सरकार पर अपना सीधा नियन्त्रण स्थापित कर सके, १८५७ मे कम्पनी के कुशासन के विरुद्ध भारत ने जो सघर्ष किया वह ससद को बहाने के तौर पर मिल गया और उसने एक अधिनियम द्वारा भारत मे कम्पनी के शासन को समाप्त करके सीधे अपना शासन जमा लिया । इस अधिनियम की मुख्य बातें इस प्रकार थी —

(१) भारत सरकार कम्पनी के नियन्त्रण से निकल कर ब्रिटिश सरकार के आधीन हो गई ।

(२) सचालक-मण्डल और बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल को भग कर दिया गया तथा उनके स्थान पर भारत मन्त्री के पद की स्थापना की गई । भारत मन्त्री ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का एक महत्वपूर्ण सदस्य होता था । उसकी सहायता के लिय एक परिषद की स्थापना की गई जिसम १५ सदस्य होते थ इनमे स ८ सदस्यो की नियुक्ति ब्रिटिश राजसत्ता (क्राउन) द्वारा और ७ की सचालको द्वारा होनी तय हुई । य लोग ससद के दोनो सदनो की इच्छा से हटाय जा सकत थ, इनम स अधिक सदस्यो के लिए यह आवश्यक था कि वे दस साल तक भारत म रह हो या उन्होने वहा नौकरी की हो तथा उन्हें भारत छोडे हुए १० वर्ष से अधिक न हुए हो । परिषद को केवल सलाहकार परिषद बनाया गया था । भारत मन्त्री को अधिकार दिया गया था कि

वह अपनी परिषद से सलाह मागे, स्वय परिषद किसी मामले पर विचार शुरू नहा कर सकती थी। भारत मन्त्री को परिषद का अध्यक्ष बनाया गया और उसे निर्णायक मत देने की शक्ति दी गई। उसकी अनुपस्थिति मे किये गये निर्णयो पर उसकी लिखित स्वीकृति होनी आवश्यक मानी गई, आमतौर पर वह परिषद के निर्णयो का उल्लघन कर सकता था। परिषद की बैठक सप्ताह मे एक बार रखी गई और उसकी गणपूर्ति (कोरम) के लिये ५ सदस्यो की सख्या आवश्यक मानी गई। गुप्त कागजो को भारत मन्त्री परिषद के सामने रखे जाने से रोक सकता था।

यहा यह बात स्पष्ट होनी चाहिये कि भारत मन्त्री ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होने के नाते भारत सरकार के लिये ब्रिटिश संसद के सामने उत्तरदायी होता था, जहा तक परिषद का प्रश्न है, वह एक प्रकार से विशेषज्ञो की समिति होती थी, उसकी राय का इस कारण कोई राजनीतिक महत्व नही था, वरन् उसको विशेष-ज्ञान-सम्पन्न होने का सम्मान प्राप्त था। इसीलिये भारत सरकार की सम्पत्ति के विनियोग के बारे मे इस परिषद के बहुमत की राय माननी होती थी। यह प्रतिबन्ध इसलिये लगाया गया था जिससे, कि भारत सरकार की सम्पत्ति का अज्ञानवश दुरुपयोग न होने पाये। भारत मन्त्री और उसके कार्यालय आदि का समस्त खर्च भारत सरकार को देना होता था। भारत सरकार कम्पनी के ऋणो का भुगतान करने के लिये भी जिम्मेदार मानी गई।

गवर्नर जनरल व उसकी परिषद के विधि-सदस्य की नियुक्ति करने की शक्ति राजसत्ता को दी गई और शेष नियुक्तिया भारत मन्त्री व गवर्नर जनरल के आधीन कर दी गई।

१ नवम्बर १८५८ को ब्रिटिश सरकार की ओर से महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणा की जिसमे कहा गया कि देशी नरेशो के साथ कम्पनी द्वारा की गई सन्धिया सरकार को मान्य होंगी तथा उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा ब्रिटिश सम्राज्ञी के सम्मान की भाति की जायेगी, धर्म के बारे में उदारता की नीति अमल मे लाई जायेगी, भारत के लोगो को किसी भी प्रकार सरकारी पद प्राप्त करने से नहीं रोका जायेगा तथा भारत के प्राचीन अधिकारो, प्रथाओ और परम्पराओ का सम्मान व भूमि-सम्बन्धी अधिकारो का ध्यान रखा जायेगा। साथ ही १८५७ की क्रान्ति मे सरकार का विरोध करने वाले लोगो को आम क्षमा दे दी गई।

इस समय तक ब्रिटिश सम्राज्ञी को भारत सम्राजी की पदवी प्राप्त नही हुई थी, उसके लिये १८७६ मे रॉयल टाइटिल्स ऐक्ट पास किया गया और जनवरी १८७७ में उन्हे भारत की सम्राज्ञी घोषित किया गया। इस प्रकार भारत अपनी गुलामी की जजीरो में अधिकाधिक जकडता जा रहा था।

केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान सभाएँ तथा मंत्रिमंडलात्मक शासन की छाया

ब्रिटिश सरकार भारत को प्रतिनिधि शासन देने का विचार तो स्वप्न मे भी

नही रखती थी परन्तु उसके अपने देश मे उस प्रकार का शासन स्थापित हो चुका था और साम्राज्यवादी आकांक्षाओं के बावजूद भी अंग्रेजों के रक्त म ससदात्मक पद्धति घुल-मिल गई थी और वे उसके सिवाय शासन की किसी और पद्धति को जानते ही नही थे। अत वे अनचाहे भी भारत म ससदात्मक शासन की नीव डालने लगे। १८६१ के भारतीय परिषद अधिनियम (इण्डियन काउन्सिल्स ऐक्ट) ने इस दिशा म बहुत काम किया।

१८६१, भारतीय परिषद् अधिनियम—इस अधिनियम ने पहली बार गवर्नर जनरल की परिषद् को एक मत्रिमडल का रूप प्रदान किया। इसमे गवर्नर जनरल से कहा गया कि वह वित्तीय प्रश्नों पर सलाह देने के लिय अपनी परिषद मे एक सदस्य और बढा ले। साथ ही उसे अपनी परिषद के सचालन के नियम बनाने की शक्ति भी दी गई। इस प्रकार परिषद में पाच सदस्य हो गय, विधि सदस्य पहल से ही अलग था। गवर्नर जनरल को इससे यह प्रेरणा मिली कि वह शासन के काम को अपनी परिषद् के सदस्यों मे बाट ले। लार्ड कैनिग न, जो उस समय गवर्नर जनरल थे अपनी परिषद् के सदस्यो म विविध विषय बाट दिय और इस प्रकार भारत मे पहली बार मत्रिमडलात्मक शासन की छाया स्थापित हुई।

इस अधिनियम ने केन्द्रीय सरकार म एक छाया-विधान सभा की स्थापना भी की। उसने गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया कि वह अपनी परिषद के भीतर छह से बारह के बीच मे सदस्या को मनोनीत (नॉमिनेट) करे जिनमे से कम से कम आधे गैर सरकारी होने चाहिय। गवर्नर जनरल या उसके द्वारा मनोनीति सदस्य उसका अध्यक्ष होता था और अध्यक्ष को निर्णायक मत देन का अधिकार दिया गया। यद्यपि गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया था कि सभा के सामने महत्वपूर्ण मामलों मे कोई विधेयक उसकी पूर्व अनुमति के बिना पेश नहीं किया जा सकता था, वह सभा के निणया को स्वेच्छा से रद्द भी कर सकता था, और किसी मामले को ब्रिटिश-राजसत्ता की राय के लिय भी रोक सकता था तथापि यह मानना होगा कि इस अधिनियम ने विधान सभा की स्थापना की दिशा म पहला महत्वपूर्ण कदम रखा।

केन्द्र की भांति प्रान्तो मे भी इस अधिनियम ने विधान सभाओं की स्थापना की, वहा भी कार्यकारिणी परिषदों म कुछ सदस्य नामजद किय गय। ब्रिटिश सरकार का मानना था कि य परिषदें अपनी सीमित सत्ता के क्षेत्र मे ब्रिटिश ससद के समान ही कानून बनाने की शक्ति रखती थी।

इस अधिनियम न गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करन की शक्ति भी दी, ये अध्यादेश आम तौर पर छह मास तक जारी रह सकते थ। इसके द्वारा कलकत्ता, बम्बई और मद्रास मे उच्च-न्यायालयों की स्थापना की गई और कम्पनी द्वारा स्थापित न्याय व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

कुछ लेखकों ने ऐसा माना है कि अधिनियम ने भारत के सांविधानिक विकास म एक नय युग का सूत्रपात किया और प्रतिनिधि सस्थाओं की नींव डाली थी तो

ऐसा लगता जरूर है, परन्तु वास्तव मे यह अधिनियम ब्रिटिश ससद द्वारा इस नीयत और प्रयोजन से पास नही किया गया था। इसम यह भी नही कहा गया था कि मनोनीत सदस्यो म भारतीय भी होगे, परन्तु इसका उल्लेख ससद मे हुआ अवश्य था। सरकार ने कभी यह चेष्टा नही की कि वह भारत के राष्ट्रीय विचार वाले लोगो को सभा म मनोनीत करे, और यदि वह वैसा करती भी तो उसका कोई अच्छा परिणाम नही होता क्योकि गवर्नर जनरल सभा के निणयो से बधता नही था, उसे इस बात के लिय विवश नही किया जा सकता था कि वह सदा सभा के निर्णयो से सहमत हो ही जाय।

१८९२ भारतीय विधान परिषद् अधिनियम—१८८५ म इण्डियन नेशनल काग्रेस का जन्म हुआ। काग्रेस अपने शैशव काल मे आवेदन-निवेदन की रीति से काम करती थी, उस समय वह दो बातो पर बहुत जोर दे रही थी कि—(१) सभी प्रान्तो मे विधान परिषदें स्थापित की जाये और उनके सदस्यो की सख्या बढाई जाय, तथा (२) विधानसभा के सदस्यो का जनता द्वारा निर्वाचन होना चाहिय व उन्हे प्रत्यक आर्थिक प्रस्ताव पर विचार, विवाद और निर्णय करने की अन्तिम शक्ति तथा सभी मामलो मे कार्यपालिका से प्रश्न पूछने का अधिकार मिलना चाहिय।

काग्रेस की इन मागो से ब्रिटिश ससद के एक उदार सदस्य श्री चार्ल्स ब्रेडला बहुत प्रभावित हुए, वे १८८९ मे भारत आय और काग्रेस के अधिवेशन मे सम्मिलित हुए। लदन वापिस लौटने पर उन्होने ससद के सामने एक प्रस्ताव रखा जिसम काग्रेस की मागो को उचित स्थान दिया गया था। इस पर सरकार ने स्वय ससद के सामने एक विधेयक रखा और १८९२ मे उसे भारतीय विधान परिषद अधिनियम के नाम से पास किया। इसकी मुख्य धारायें इस प्रकार है—

(१) केन्द्रीय विधान परिषद् के सदस्यो की सख्या बढाकर दस से सोलह के बीच मे कर दी गई, यह आवश्यक माना गया कि नियुक्त सदस्यो म से कम से कम १० सदस्य सार्वजनिक यानी गैर सरकारी होने चाहियें, यद्यपि उन्हे आर्थिक प्रस्तावो पर मत देने का अधिकार तो नही दिया गया परन्तु उस पर वाद-विवाद करने की शक्ति दे दी गई, तथा उन्हे सामान्य लोकहित के प्रश्न पूछने की शक्ति दे दी गई परन्तु वे पूरक प्रश्न नही पूछ सकते थे। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम ने यह व्यवस्था भी की कि केन्द्रीय विधान सभा के चार नामजद सदस्यो का निर्वाचन प्रान्तीय विधान परिषदो के गैरसरकारी सदस्यो द्वारा होने लगा।

(२) इस अधिनियम ने दूसरा परिवर्तन यह किया कि प्रान्तो मे से बम्बई, मद्रास और बगाल की विधान परिषद मे २० तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तर प्रदेश) मे १५ सदस्यो की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। इनम से कुछ सदस्यो का निर्वाचन परोक्ष पद्धति से नगरपालिकायें, जिला बोर्ड, चैम्बर ऑफ कॉमर्स तथा विश्वविद्यालयो द्वारा किया जाने लगा।

इसमे कोई सन्देह नही है कि इस अधिनियम ने यह सिद्धान्त स्वीकार कर

लिया कि भारत के केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन मे ऐसी विधान सभायें होनी चाहिये जिनमे भारत के लोगों के निर्वाचित प्रतिनिधि बैठे और जो शासन के बारे में गवर्नर जनरल और गवर्नरो से प्रश्न पूछ सकें। वास्तव मे यह बहुत अच्छा तो नही लगता है कि हम अंग्रेजो के हर काम में उनकी नीयत पर सन्देह करें परन्तु निष्पक्ष अध्ययन की दृष्टि से यह आवश्यक है कि हम उनके प्रयोजनो की थोडी समीक्षा करें। इस अधि-नियम के बारे में यह स्वीकार करना ही होगा कि इस समय भारत मे लोकमत का निर्माण हो रहा था और भारत के पढे लिखे लोग कांग्रेस के नीचे प्रतिनिधि शासन की माग करने लगे थे। सरकार चाहती थी कि किसी प्रकार वह उनका मुह बन्द कर सके और ससार के स्वतंत्र देशों विशेषकर संयुक्त-राज्य अमेरिका के सामने यह दावा कर सके कि उसने भारत में भारतीयो को उनके देश के शासन के साथ जोड लिया है। परन्तु वास्तव मे जिन लोगो को परिषदो मे लिया जाता था वे भारत के लोकमत के प्रतिनिधि न होकर सरकार के पिट्ठू होते थे और उनका परिषदो में होना न होना भारत के लिय समान ही था क्योंकि वे दबी-दबी आवाज मे बोलते थे तथा वहा बैठकर अपने यश और पद प्रतिष्ठा के लिये अधिक चिन्तित रहते थे, राष्ट्रीय हितो का चिन्तन नही करते थे। वे वहा गवर्नर या गवर्नर जनरल का रुख देखकर बोलते और उनकी हा म हा मिलाते थे। यह सब भारत को आजादी की ओर ले जाने के बजाय, उसकी गुलामी को और भी ज्यादा मजबूत बनाता रहा।

मिन्टो-मार्ले योजना और भारतीय परिषद अधिनियम १६०६—भारत में जिस प्रकार उग्र राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था तथा वह जिस प्रकार बंगाल के विभाजन के बाद और लोकमान्य तिलक के प्रयत्नो के फलस्वरूप आगे बढ रही थी, उसके संदर्भ म यह अनिवार्य हो गया था कि सरकार किसी प्रकार भारत के नम्र-वादियो और धनिक तथा भूमिपति वर्गो को प्रसन्न करके अपने पक्ष में मिलाय तथा राष्ट्रीय शक्तियो को परास्त करने की चेष्टा करे। भारत मत्री मॉर्ले ने स्वय ही यह कहा था कि हम नम्रवादी-भारतीयों को अपने पक्ष में सगठित करना चाहते हैं। २३ फरवरी १६०६ को हाउस आफ लार्ड्स म बोलते हुए विस्काउन्ट मॉर्ले ने कहा, "इस प्रकार की योजना पर विचार करते समय हमें तीन प्रकार के लोगो का ध्यान रखना होगा। एक ओर उग्रवादी हैं जो ऐसा मोहक स्वप्न देखते हैं कि किसी दिन वे हमको भारत से खदेड देंगे। एक दूसरा समुदाय भी है जो इस प्रकार के विचार नही रखता है, वरन् यह आशा रखता है कि भारत को औपनिवेशिक ढग का स्वशासन या स्वराज्य मिलेगा। इसके बाद एक तीसरा वर्ग है जो इससे अधिक कुछ नही मागता कि उसे हमारे प्रशासन में सहयोग प्रदान के लिय प्रवेश दिया जाये।" ..."मेरा विश्वास है कि सुधारों का प्रभाव यह हुआ है, हो रहा है और होगा कि यह दूसरा वर्ग जो औपनिवेशिक स्वशासन की आशा करता है तीसरे वर्ग में मिल जायेगा जो इसने से सन्तुष्ट हो जायगा कि उसे उचित और पूरे तरीके से शासन मे दाखिल कर लिया जाये।"

अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये उन्होने तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड मिन्टो के सहयोग से एक योजना बनाई जिसे भारत के लिये शासन सुधार योजना कहा गया। इसी योजना के आधार पर ब्रिटिश संसद ने १९०९ में एक अधिनियम पास किया जिसे भारतीय परिषद अधिनियम कहा गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय विधान परिषद् के भीतर कार्यकारिणी परिषद के छह सदस्यों के अतिरिक्त, कमान्डर इन-चीफ, जिस प्रान्त मे उसकी बैठक हो रही हो उसका गवर्नर या लेफ्टीनेन्ट गवर्नर और ६० अन्य सदस्य रखे गये। इन ६० सदस्यो मे २८ सरकारी कर्मचारी और ५ गैर-सरकारी सदस्यो को सरकार मनोनीत करती थी, १३ सदस्य प्रान्तीय विधान परिषदो द्वारा निर्वाचित होते थे, ६ जमीदारो द्वारा, ५ बडे प्रान्तो के मुसलमानो द्वारा, १ मुसलमान जमीदारो द्वारा तथा २ चैम्बर ऑफ कॉमर्स द्वारा।

प्रान्तों की विधान परिषदों के केवल गैर-सरकारी सदस्य ही केन्द्रीय विधान-परिषद् के सदस्यो के निर्वाचन मे भाग ले सकते थे। केन्द्रीय विधान परिषद् के सदस्यो को यह अधिकार दे दिया गया कि वे प्रश्नो के अलावा पूरक-प्रश्न भी पूछ सकते थे, प्रस्ताव रख सकते, व्यवस्था के प्रश्न उठा सकते तथा वाद-विवाद के समय मत-विभाजन की माग कर सकते थे। राजस्व, ऋण, सैनिक व विदेशी मामले आदि कुछ विषयों मे उनकी शक्ति बहुत ही सीमित थी। कुछ प्रश्न तो बिल्कुल ही ऐसे थे जिन पर विधान परिषद् विचार ही नही कर सकती थी। गवर्नर जनरल अपनी इच्छा से केन्द्रीय विधान परिषद् की कार्यवाही को रोक सकता था। बजट के मामलो मे विधान परिषद् के सदस्य जो प्रस्ताव या संशोधन सुझाव रखते थे वे केवल सिफारिशी होते थे, अन्तिम बार जब बजट परिषद् के सामने रखा जाता था तो उस समय उस पर चर्चा तो की जा सकती थी परन्तु उस पर कोई प्रस्ताव नही रखे जा सकते थे। इसी प्रकार परिषद् द्वारा पास किया गया कोई भी प्रस्ताव सरकार पर बन्धनकारी नही होता था, वे सब सिफारिश के जैसे ही होते थे। प्राय सब ही महत्वपूर्ण मामलो को परिषद् के कार्य क्षेत्र से बाहर रखा गया था, जैसे—विदेशी सम्बन्ध देशी राज्यो के साथ सम्बन्ध, अथवा न्यायालय के सामने प्रस्तुत मामले।

प्रान्तों की विधान परिषदो मे भी सदस्यो की संख्या बढाई गई। गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् मे भी सदस्यो की संख्या बढा दी गई। प्रान्तो की विधान परिषदें अपने-अपने प्रान्त के बजट पर खुली चर्चा नही कर सकती थी। गवर्नर अपनी परिषद् की सहायता से बजट का एक प्रारूप तैयार करके केन्द्रीय सरकार के साथ उस पर चर्चा कर लेता था, उसके बाद बजट का वह प्रारूप विधान परिषद् की एक छोटी सी समिति के सामने रखना होता था जिसमे गैर-सरकारी सदस्यो का बहुमत होता था। इस समिति की सिफारिशो पर गवर्नर द्वारा विचार कर लिये जाने के बाद उसकी इच्छा के अनुसार बजट पास हो जाता था, उसमे परिषद् कोई आपत्ति नही कर सकती थी।

इस अधिनियम के साथ एक सिफारिश की गई थी कि केन्द्रीय और प्रान्तीय

सरकारों की कार्यकारिणी परिषदों में से हर एक में एक-एक भारतीय सदस्य लिया जाय। यह प्रबन्ध बहुत महत्वपूर्ण था परन्तु दुर्भाग्य ऐसा था कि हरेक महत्वपूर्ण योजना जब व्यवहार में आती थी तो उसे इस ~_~ व्यवहार में लाया जाता था कि उसका महत्व समाप्त हो जाता था और वह एक नया अभिशाप बन जाती थी, भारत में सरकार के पिट्ठुओं की सख्या मे वृद्धि कर देती थी और हमारी गुलामी की जजीरों को और भी अधिक कस देती थी। इस मामले मे भी वही हुआ, सारा ढाचा इस प्रकार का बन चुका था कि उसमे कोई भारतीय भारत के लिय कुछ बहुत अधिक कर ही नही सकता था इसके अलावा जो भारतीय उसमे गय उन्होने अपने आपको इस भद्दे गुलामी के ढग के साथ पेश किया कि उससे भारत की नाक नीची ही हुई। एक प्रकार से सरकार भारतीयो को इस प्रकार के पद देकर देश मे बढती हुई राष्ट्रीयता के खिलाफ मोर्चा तैयार कर रही थी और वह इन भारतीयो को ऊचे पद दे कर इनका प्रयोग राष्ट्रीयता के विरुद्ध शतरज के मोहरो की तरह करती थी।

इस अधिनियम का उद्देश्य भारत में प्रतिनिधि मूलक लोकतन्त्र की नीव डालना नही था। स्वय लार्ड मॉर्ले ने इस विधेयक के द्वितीय वाचन के समय लार्ड-सभा के सामने एक भाषण मे कहा था कि, यदि यह कहा जाय कि इस विधेयक के द्वारा मैं भारत में एक ससदात्मक पद्धति की स्थापना करने की चेष्टा कर रहा हूँ या यह कि सुधारो का यह अध्याय प्रत्यक्षत या अनिवार्यत भारत मे ससदात्मक पद्धति की स्थापना की भूमिका तैयार करता है तो म उन लोगो मे से हूँगा जो इस योजना से कोई सम्बन्ध रखना पसन्द नही करेग। यदि ब्रिटिश सरकार का इरादा यह होता कि वह भारत म ससदात्मक शासन की स्थापना करेगी तो वह कभी भी भारत म पृथक-निर्वाचन जैसी अलोकतन्त्रीय योजना को लागू न करती। वास्तव में सरकार मुसलमानो को पृथक निर्वाचन देकर भारत को साम्प्रदायिक ढग से विभाजित करना चाहती थी, इस नीति का विस्तृत विवरण हम पीछे राजनीतिक विकास के सदर्भ में दे चुके ह।
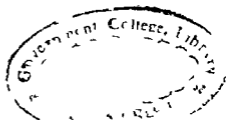
अध्याय : ७

भारत-शासन अधिनियम—१६१६

'नया विधान अपने निर्माताओ के बुनियादी उद्देश्यो की पूर्ति करने मे असफल रहा है। यह उत्तरदायी ससदात्मक शासन का प्रशिक्षण नही दे सका तथा यह साम्प्रदायिक निष्ठाओं और सघर्षों को सामान्य लोकहित के सामने गौण और उसके आधीन नही बना सका।'

—प्रो० रेजीनाल्ड कूपलैण्ड †

'भारत मन्त्री के हाथो मे भारत सरकार का जो प्रशासकीय व आर्थिक नियन्त्रण बचा है, वह इतना अधिक है कि सावैधानिक दृष्टि से यह नही स्वीकार किया जा सकता कि भारत सरकार अधिक मात्रा मे स्वतन्त्रता का उपभोग करती है।' —सर तेजबहादुर सप्रू ‡

पिछले अध्यायो में हम यह अवलोकन कर चुके है कि किस प्रकार भारत में राष्ट्रीय विचार के लोग शासन सुधारो की माग कर रहे थे। १६१४ में प्रथम महायुद्ध के समय महात्मा गाधी ने दक्षिणी अफ्रीका से भारत आकर अग्रेजी सरकार की मदद की और उन्होने युद्ध के लिये भारतीय जन धन उसे दिलाया। १६१६ मे राष्ट्रीय-सघ से औपनिवेशिक सरकार की माग की गई थी। १६१७ मे लोकमान्य और एनीबीसेन्ट मिलकर होमरूल आन्दोलन चला रहे थे। इन परिस्थितियो मे सरकार भी भारतीय शासन की समस्याओ के बारे मे विचार कर रही थी। विचार और चर्चा के उपरान्त २० अगस्त १६१७ को भारत मन्त्री श्री माटेग्यु ने ब्रिटिश ससद मे एक वक्तव्य दिया जिसमे यह कहा गया कि 'ब्रिटिश सरकार की नीति यह है कि प्रशासन की हर शाखा मे भारतीयो को क्रमश अधिक सख्या मे लिया जाय, इस नीति के साथ भारत सरकार भी पूरी तरह सहमत है। इसके अतिरिक्त सरकार यह चाहती है कि ब्रिटिश साम्राज्य के अनिवार्य अङ्ग के तौर पर भारत मे उत्तरदायी शासन की धीरे-धीरे स्थापना की दृष्टि से स्वायत्त शासन की सस्थाओ का विकास

---

† 'India A Restatement', 121

‡ Quoted by Prof. J P Suda in his Indian Constitutional Development and National Movement, 1951, pp 145·

किया जाये।" आग उन्होंने कहा कि 'इस नीति के आधार पर प्रगति क्रमश ही प्राप्त की जा सकती है। इस दिशा में प्रत्येक कदम उठाने के समय और योजना के बारे में अन्तिम निर्णय ब्रिटिश और भारतीय सरकारें मिलकर करेंगी, जिन पर भारत की जनता के कल्याण और उसकी प्रगति की जिम्मेदारी है। वे अपने निर्णय म उन लोगो के सहयोग से प्रभावित होगी जिनको सेवा के नय अवसर प्रदान किय जायेंग और वे उतनी मात्रा मे आग बढ़ेंगी जितना कि भारतीयो की जिम्मेदारी की भावना मे विश्वास किया जा सकेगा।'

उपरोक्त घोषणा के पश्चात भारत-मंत्री माटेग्यू और तत्कालीन गवर्नर जनरल चेम्सफोर्ड ने मिलकर एक योजना तैयार की जिसे माटफोर्ड सुधार योजना कहा जाता है। इसके आधार पर ब्रिटिश ससद ने १९१९ मे भारत शासन अधिनियम पास किया जिसे भारतीय सांविधानिक विकास में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा मे बहुत बड़ा कदम माना जाता है। यहा हम इस अधिनियम की प्रमुख विशेषताओ और उसके विविध अ गो का विस्तृत वर्णन करेंग।

अधिनियम के प्रमुख लक्षण—(१) इस अधिनियम की पहली विशेषता यह थी कि इसने प्रान्तो की कार्यपालिका मे द्वैध शासन लागू किया, अर्थात् कार्यपालिका के कुछ विषय निर्वाचित विधान मडल के मंत्रियो को द दिय गये और शेष गवर्नर को। मंत्रिमंडल की शक्तियां भी पूर्ण नही थी, जब गवनर चाहता उन म दखल दे सकता था। इस प्रकार इस अधिनियम ने प्रान्तो मे दोहरे शासन की स्थापना की। (२) इसका दूसरा प्रधान लक्षण यह था कि इसके अन्तर्गत केन्द्र ने प्रान्तो को शासन की कुछ सत्ता हस्तान्तरित की इससे पहले शासन की सारी शक्ति केन्द्रीय सरकार के ही हाथो म केन्द्रित थी। इसे सत्ता का वितरण (डेवोल्यूशन) कहते हं। (३) अधिनियम की तीसरी विशेपता यह थी कि इसने केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान सभाओ को नय आधार, व्यापक मताधिकार और विस्तृत शक्तियां देकर पुनर्संगठित किया। (४) इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय और प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयो को अधिक सख्या म नियुक्त करने का निश्चय किया गया। (५) इसने बीच के समय के लिय कुछ सरक्षण रखे, यह इसकी एक और विशेषता है। (६) इस अधिनियम के द्वारा परोक्ष रूप से यह भी स्वीकार कर लिया गया कि भारत मंत्री और ब्रिटिश सरकार भारत म उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए अपनी शक्ति को शिथिल करने के लिए तैयार हैं।

शासन के तीन केन्द्र—भारत में अ ग्रेजी शासन का सचालन तीन केन्द्रों मे हो रहा था। भारत की शासन व्यवस्था के बारे म ब्रिटिश-ससद जब कोई कानून बनाती थी तो वह इन तीनो केन्द्रो के सगठन के बारे मे नियमो का निर्माण करती थी। १९१९ के भारत शासन अधिनियम म भी इन तीनो केन्द्रो के सगठन और इनके बीच शक्ति के विभाजन और वितरण का विस्तार से वर्णन किया गया। ये तीन केन्द्र क्रमश इस प्रकार थे-(१) ब्रिटेन में भारत-कार्यालय (इण्डिया ऑफिस) जिसे

India office

अंग्रेज लोग गृह सरकार (होम गवर्नमेन्ट) कहते थे। इसमे चार प्रमुख अंग थे— ब्रिटिश सम्राट ब्रिटिश-संसद, भारत मंत्री (जो ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य होता था) और भारत मंत्री की परिषद जिसे भारत परिषद अथवा इण्डिया-काउन्सिल कहते थे। (२) भारत की केन्द्रीय-सरकार जिसमें, गवर्नर-जनरल, उसकी कार्यकारिणी परिषद और विधान मंडल होते थे। (३) प्रान्ती सरकारें जिनमें बड़े प्रान्तो मे गवर्नर और छोटे प्रान्तो मे लेफ्टिनेन्ट गवर्नर तथा उसके अतिरिक्त उसकी कार्यकारिणी परिषद और विधान-सभा होती थी।

१६१६ के भारत शासन अधिनियम ने सरकार के इन तीनो केन्द्रो के बीच मे राज्य की शक्तियो को नए सिरे से बाटा और यह कोशिश की कि भारत के शासन सचालन मे भारतीय जनता को भी शामिल किया जाए। यह किस प्रकार हुआ इसका वर्णन हम यहा करेंगे।

भारत मंत्री और गृह-सरकार

१८५८ मे भारत के शासन की जिम्मेदारी ब्रिटिश-संसद द्वारा सम्हाले जाने के परिणामस्वरूप भारत ब्रिटिश सरकार का एक अंग हो गया और उसके शासन की जिम्मेदारी ब्रिटिश मंत्रिमंडल के एक अन्तरग मंत्री पर डाली गई जिसे भारत मंत्री (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया) कहा जाता था। वह ब्रिटिश संसद के सामने भारत के शासन के लिए जवाबदेह होता था। उसकी सहायता के लिए एक परिषद की स्थापना की गई थी जिसके विकास की कथा हम पिछले अध्याय मे वर्णन कर चुके हैं। कांग्रेस कई बार यह माग कर चुकी थी कि भारत मंत्री की शक्तियो को घटाया जाए तथा उसके ऊपर, उसकी परिषद और उसके कार्यालय पर जो खर्च होता है वह भारत से न लिया जाए। ब्रिटिश मंत्रिमंडल मे दूसरे ब्रिटिश उपनिवेशो (आधीन देशो) के शासन की देख भाल के लिए जो उपनिवेश मंत्री होता था उसका सारा खर्च ब्रिटेन के सरकारी खजाने से दिया जाता था। उसका सबसे बडा लाभ यह था कि ब्रिटेन के बजट की चर्चा के समय संसद उस मंत्रालय के कार्यो और उसकी नीतियो की आलोचना कर सकती थी। परन्तु क्योकि भारत मंत्री और उसके कार्यालय के लिए ब्रिटिश-संसद से पैसा नही मागा जाता था, अत उसे इस बात का अवसर ही नही मिलता था कि वह भारत-मंत्री और भारत-सरकार के कार्यों की आलोचना कर सके।

१६१६ के अधिनियम ने इस स्थिति में सुधार कर दिया और उसके अन्तर्गत यह निर्णय किया गया कि भारत-मंत्री, उसकी परिषद और उसके कार्यालय का खर्च भारतीय कोष से न लेकर ब्रिटेन के सरकारी खजाने से दिया जाएगा। हालाकि इससे भारत को केवल बीस लाख रुपए प्रतिवर्ष की बचत हुई क्योकि गृह सरकार (होम गवर्नमेन्ट) पर बीस लाख रुपए प्रतिवर्ष से ऊपर होने वाला खर्च भारतीय कोष से ही दिया जाता था, तथापि इस व्यवस्था से इतना लाभ हुआ कि ब्रिटिश-संसद भार-

तीय-शासन के बारे मे सक्रिय दिलचस्पी लेने लगी।

अभी तक सामान्यतया भारत-मत्री सभी विषयो मे भारत सरकार पर नियंत्रण रखता था। १९१९ के अधिनियम ने चूकि भारतीय जनता को शासन-सत्ता मे भाग देना स्वीकार कर लिया और इस प्रकार भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी प्रान्तीय-शासन की नीव डालने के लिए शासन के कुछ विषयो को प्रान्तीय विधान-मडलो के हाथो मे सौपा अत स्वाभाविक रूप से ही भारत-मत्री की सत्ता मे कुछ शिथिलता आ गई। यह शिथिलता वास्तविक और व्यवहारिक नही वरन् औपचारिक थी क्योकि इस अधिनियम ने हस्तातरित विषयो मे जो सत्ता प्रान्तीय विधान-मडलो को सौंपी थी उसके प्रयोग मे जिस प्रकार गवर्नर को प्रान्तीय विधान मडलो को रद्द करने की शक्ति दी गई थी उससे उत्तरदायी शासन का सारा दावा अवास्तविक हो गया था। इतना ही नही, यदि गवर्नर और प्रान्तीय मत्रिमडल किसी विषय पर सहमत हो जाने की स्थिति मे अधिनियम ने भारत-मत्री को यह सत्ता दे दी थी कि वह यदि उनके निर्णयो को ब्रिटिश-साम्राज्य के हितो के लिए हानिकारक समझे तो इन्हे रद्द कर सकता है। इस प्रकार यह जाहिर है कि भारत-मत्री की सत्ता ज्यो की त्यो रखी गई थी।

(२) भारत-परिषद् (इण्डिया कॉउन्सिल)—१८५८ मे ही इस परिषद की स्थापना भारत पर ब्रिटेन के नियन्त्रण म स्थायित्व लाने के लिए की गई थी। भारत मन्त्री तो एक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ होता था जिसके लिए भारत का ज्ञान होना अनिवार्य नही माना जा सकता था और जो मन्त्रिमण्डल बदलने के साथ-साथ बदलता रह सकता था। ऐसी स्थिति म यह आवश्यक था कि भारत परिषद मे ऐसे लोग हो जो भारत मे रह चुके हो और जिन्हे भारत की शासन-सम्बन्धी समस्याओ का दीर्घ अनुभव हो। यह परिषद स्थायी होती थी, अर्थात् मन्त्रिमण्डल के साथ नही बदलती थी। इसके अधिकाश सदस्य भारतीय शासन मे कम से कम १० वर्ष का अनुभव रखते थे।

१९१९ के अधिनियम ने भारत-परिषद के सदस्यो की सख्या ८ और १२ के बीच मे निर्धारित करने की व्यवस्था की। इनमे से आधे सदस्यो के लिए यह अनिवार्य था कि वे कम से कम १० वर्ष तक भारत मे वास कर रहे हो और जिन्हे अपनी नियुक्ति के समय भारत छोड़े हुए अधिक से अधिक पाच वर्ष हुए हो। भारत-परिषद के सदस्यो का कार्यकाल ५ वर्ष रखा गया तथा उसम तीन भारतीय सदस्य लेने की व्यवस्था कर दी गई। भारत-परिषद के कार्यों को परामर्श देने तक सीमित कर दिया गया। इसकी बैठकें जो पहले प्रति सप्ताह होती थी, अब नये अधिनियम के अन्तर्गत प्रति मास होने लगी तथा भारत मन्त्री की स्थिति अपनी परिषद म पहले की अपेक्षा अधिक मजबूत हो गई।

हाई-कमिश्नर की नियुक्ति—इस अधिनियम ने भारत मन्त्री और उसकी परिषद के कार्यों को केवल राजनीतिक नियन्त्रण, निरीक्षण और मार्गदर्शन तक ही सीमित कर दिया तथा उनके हाथ मे वे काम ले लिए जो वे भारत सरकार के एजेन्ट

की हैसियत से करते थे। यह आवश्यक था कि भारत सरकार का एजेन्ट उसकी इच्छा के अनुसार काम करे, भारत मन्त्री और उसकी परिषद भारत सरकार का नियन्त्रण करते थे अत उनके लिए भारत सरकार की इच्छा के पालन का प्रश्न ही नही उठता था। इस कठिनाई को ध्यान में रखकर इस अधिनियम ने पृथक रूप से ब्रिटेन म भारत के हाई कमिश्नर की नियुक्ति की व्यवस्था कर दी।

इस उच्चायुक्त (हाई कमिश्नर) का काम इग्लैण्ड म भारतीय-विद्यार्थियों की देख भाल, भारत सरकार के लिए ब्रिटेन का माल खरीदना और समस्त व्यापारिक मामलो की देख-रेख करना तथा इन विषयो मे भारत सरकार की इच्छा के अनुसार कार्य करना था। उसकी नियुक्ति भारत सरकार द्वारा की जाती थी।

भारत की केन्द्रीय सरकार

भारत की केन्द्रीय सरकार के तीन अङ्ग थे—गवर्नर जनरल, केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद और केन्द्रीय विधान मण्डल। १९१९ के अधिनियम ने इन तीनो अङ्गो के कार्यक्षेत्र और उनकी शक्तियो का स्पष्ट उल्लेख कर दिया।

(१) गवर्नर जनरल—अधिनियम ने भारत के गवर्नर जनरल के अधिकारो म कोई कमी नही की। वह भारत का वास्तविक शासक था, उसे देश के शासन मे सर्वोच्च शक्तिया प्राप्त थी। उनकी नियुक्ति ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के परामर्श से वहा का सम्राट करता था। उसका कार्यकाल सामान्यतया पाच वर्ष रखा गया था परन्तु उसमे सुविधा के अनुसार वृद्धि की जा सकती थी। उसे लगभग अढ़ाई लाख रुपया प्रति वर्ष वेतन के रूप में मिलता था, इसके अतिरिक्त उसे एक नि शुल्क निवास स्थान मिलता था जिसे वाइसरीगल-लॉज कहते थे, उस विशाल भवन मे आजकल हमारे राष्ट्रपति रहते हैं तथा उसे अब राष्ट्रपति भवन कहा जाता है। गवर्नर जनरल के निवास की व्यवस्था तथा दावतो आदि पर लगभग १६ लाख रुपया प्रति वर्ष व्यय होता था।

भारतीय राज्यों के सम्बन्ध में वह ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि की हैसियत से काम करता था और उस हैसियत म उसे वाइसराय कहा जाता था। वह हर प्रकार से भारत मे ब्रिटिश सत्ता का प्रतीक था और उसे दया व न्याय का स्रोत माना जाता था। वह भारत के लोगो को राजभक्ति के पुरस्कार मे पदविया और उपाधिया जैसे, राजा, नवाब, रायबहादुर, रायसाहब, महाराजा आदि प्रदान करता था। ये उपाधिया पराधीन भारत में बहुत प्रतिष्ठित मानी जाती थीं, और इनके द्वारा सरकार अनेक भारतीयो को अपना पिट्ठू बना लेती थी, राष्ट्रवादी लोग ऐसे उपाधि प्राप्त लोगो को देशद्रोही मानते थे और उन्हे घृणा की दृष्टि से देखते थे। स्वतन्त्र होने पर भारत ने उन समस्त उपाधियों को रद्द कर दिया है और अब उनका प्रयोग कानून के द्वारा बन्द कर दिया गया है।

गवर्नर जनरल देश के प्रशासन का अध्यक्ष होता था। वह भारत में शान्ति

और सुव्यवस्था के लिये जिम्मेदार होता था। उसे नियुक्तियों व नामजदगियों की बहुत बडी शक्ति प्राप्त थी। वह लेफ्टिनेन्ट गवर्नरों, कौंउन्सिल ऑफ स्टेट के अध्यक्ष आदि की नियुक्ति करता था, तथा केन्द्रीय विधान मण्डल म अनेक सदस्यो को नामजद (मनोनीत) करता था। वह यदि आवश्यक समझता तो अपनी कार्यकारिणी परिषद के निर्णयो को मानने से इन्कार कर सकता था। हमारे राष्ट्रपति की भांति वह केन्द्रीय विधान मण्डल की बैठके बुलाता उन्हे समाप्त करता और उन्हे भग करता था। वह उसके दोनो सदनो का संयुक्त अधिवेशन बुलाकर उनके सामने भाषण कर सकता था।

कानून बनाने के मामले म हमारे राष्ट्रपति की शक्तिया तो नाममात्र की ही हैं परन्तु गवर्नर जनरल के पास वह शक्ति सच्चे अर्थों म मौजूद थी। वह विधान मण्डल द्वारा पास किय गय समस्त विधेयको पर अपनी अनुमति देता था, उसकी अनुमति के बिना कोई विधेयक कानून नही बन सकता था। उसे अधिकार था कि वह किसी विधेयक पर अपनी स्वीकृति न दे या उसे ब्रिटिश सरकार के विचार के लिये रोक ले। वह किसी विधेयक को अपनी सिफारिश के साथ विधान मण्डल के पुनर्विचार के लिए वापिस भी भेज सकता था। कई बार जब गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी-परिषद विधान-मण्डल के सामने कोई विधेयक पेश करती और विधान मडल उसे अस्वीकार कर देता या उसम ऐसे सशोधन कर देता जो परिषद को मान्य न हो तो उस स्थिति म गवर्नर जनरल परिषद द्वारा रखे गय बिलो को अपनी स्वीकृति देकर कानून बना सकता था। इसे सर्टिफिकेशन कहते हैं।

इसके अतिरिक्त गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने की शक्ति भी प्राप्त थी। ये अध्यादेश छ मास तक लागू रह सकते थे और इस बीच उन्हें ब्रिटिश सरकार के सामने विचार के लिए पेश किया जाता था। उसके द्वारा स्वीकार कर दिय जाने पर अध्यादेश अधिक समय तक लागू रह सकते थे।

गवर्नर जनरल की शक्ति केवल केन्द्रीय सरकार तक ही सीमित नही थी वरन् वह प्रातीय सरकारो के कार्यों म भी दखल दे सकता था। वह प्रातीय सरकार के किसी भी कानून को रद्द कर सकता था और अपनी अनुमति के लिये पेश किय गय प्रान्तीय विधेयको को अनुमति देने या न देने म वह स्वतन्त्र था, वह उन्हे ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति के लिय भी रोक सकता था।

गवर्नर जनरल को सबसे अधिक शक्तिया वित्त के मामले म दी गई थी। बजट के बारे मे अन्तिम सत्ता उसके ही पास रखी थी, वह उसके बारे म कोई भी निर्णय कर सकता था और उसके निर्णय को ब्रिटिश सरकार के अलावा कोई भी रद्द नही कर सकता था। इस प्रकार गवर्नर जनरल भारत का वास्तविक शासक था और वह भारत मे ब्रिटिश सरकार का ऐसा एजेण्ट था जिस पर उसके हितो की रक्षा की जिम्मेदारी थी।

(२) कार्यकारिणी परिषद—१६१६ से बहुत पहले से ही गवनर जनरल की

सहायता के लिए कार्यकारिणी परिषद काम कर रही थी। इसका वर्णन हम पीछे कर चुके ह। १९१९ के अधिनियम ने कार्यकारिणी की रचना मे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही किया। इसने इतना परिवर्तन अवश्य किया कि उसके सदस्यो की सख्या बढाने के लिए ब्रिटिश सम्राट की अनुमति काफी मान ली गई, उसके लिए ससद के सामने जाने की आवश्यकता नही रही। परिषद मे कानूनी सदस्य के स्थान पर भारतीय एडवोकेट भी नियुक्त किय जा सकते थे। इसी सुधार के आधार पर सर तेजबहादुर सप्रू को परिषद मे कानूनी सदस्य नियुक्त किया गया था।

(३) केन्द्रीय विधान मडल—१९१९ के अधिनियम ने केन्द्रीय विधान मण्डल के स्वरूप म कुछ महत्वपूर्ण परिवतन किय। इसने निम्न सिद्धान्तो पर केन्द्रीय विधान मण्डल का पुनर्सङ्गठन किया —

१—विधान मण्डल म दो सदन बनाय गय, जिनमें से एक को काउन्सिल ऑफ स्टेट अर्थात् राज्य-परिषद और दूसरे को सैन्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली अर्थात् केन्द्रीय विधान सभा कहा गया।

२—विधान मण्डल में चुने हुए सदस्यो का बहुमत रखा गया।

३—विधान मण्डल को सीमित सत्ता दी गई जिससे कि वह गवर्नर जनरल और उसकी परिषद के रास्ते म अडचन न डाल सके।

अधिनियम ने निर्धारित कर दिया कि राज्य परिषद के कुल सदस्यो की सख्या ६० से अधिक नही होगी, जिनम से अधिक से अधिक २० सदस्य सरकारी हो सकते ह। राज्य-परिषद का कायकाल ५ वर्ष रखा गया। इसके सभापति की नियुक्ति गवनर जनरल करता था। स्त्रिया इसकी सदस्य नही होती थी, इसके निर्वाचित सदस्य प्रत्यक्ष निर्वाचन के द्वारा चुने जाते थे। सारे देश भर म इसके लिए वोट देने वाले लोगो की सख्या लगभग १७००० थी। केवल वे लोग ही राज्य परिषद के लिए वोट दे सकते थ जो काफी सम्पत्ति वाले हो।

केन्द्रीय विधान सभा म कम से कम १४० सदस्य होते थे जिनम से कम से कम १०० सदस्य निर्वाचित होते थे और शष ४० मे से २० गैर-सरकारी व २० सरकारी होते थे। इसके सदस्या की सख्या १४० से अधिक भी हो सकती थी और उस स्थिति मे सदस्यो का यहा अनुपात रखा जाता था। निर्वाचित सदस्यो का चुनाव प्रत्यक्ष पद्धति से होता था। अलग सम्प्रदायो और जातियो के लिए अलग स्थान सुरक्षित रखे गय थे। इसके लिए वोट देने वालो की सख्या भी बहुत सीमित थी, केवल वे लोग ही वोट दे सकते थ जो या तो २००० रुपय की सालाना आमदनी पर आयकर देता हो या कम से कम १५० रुपया वार्षिक भूमिकर देता हो या ऐसे मकान का स्वामी हो जिसका वार्षिक किराया १८० रुपय से कम न हो। इसम वे ही लोग सदस्य हो सकते थे जो कम से कम २५ वर्ष के हो मत। देने के लिय २१ वर्ष की आयु होनी आवश्यक थी। इसका अध्यक्ष पहले चार वर्ष तक गवर्नर द्वारा नामजद होता था और उसके बाद चुना हुआ। यह गौरव की बात है कि इस पद पर सरदार

वल्लभ भाई पटेल के बड़े भाई श्री विट्ठलभाई पटेल अनेक वर्षों तक रहे और उन्होंने बहुत स्वतन्त्रता के साथ अपने पद स सम्बन्धित काम को पूरा किया। वे आन्दोलना म जेल भी जाते, सरकार स लड़ने और विधान सभा की अध्यक्षता भी करते। ऐसा ही एक उदाहरण उत्तरप्रदेश म राजर्षि पुरषोत्तमदास टंडन का था।

विधान मण्डल के बारे म एक बात बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि यह स्वतन्त्र भारत की ससद नहीं थी इसके विपरीत यह पराधीन भारत के शासको द्वारा बनाया हुआ एक ऐसा षडयन्त्र था जिसके द्वारा वह भारत की जनता और ससार को इस भुलावे म डालना चाहते थे कि भारत म सावैधानिक और लोकतन्त्रीय शासन चल रहा है तथा वह भारत की जनता का ध्यान स्वतन्त्रता के सघर्ष की ओर से हटाकर इस पर कन्द्रित करना चाहते थ। यह हमारे सौभाग्य का विषय है कि हमारे देश को हमारे इतिहास की ऐसी नाजुक घड़ी म ऐसे महान और दूरदर्शी नेता मिल जिन्होंने अपने सुख और यश की पर्वाह न करके देश की आजादी का अलख जल के सीखचो के पीछे से और फासी के तख्ते पर स जगाया।

विधान मण्डल कोई ऐसा कानून नहीं बना सकता था जो ब्रिटिश-ससद द्वारा पास किये गये किसी कानून के विरुद्ध हो, साथ ही, क्योंकि १६१६ के अधिनियम ने शासन की सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया था और कुछ विषयो पर सत्ता प्रान्तीय सरकारो को द दी गई थी, अत केन्द्रीय विधान-मण्डल की कानून बनाने की शक्ति केवल केन्द्रीय विषयो तक ही सीमित थी। जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके ह, विधान मण्डल की किसी भी इच्छा को गवनर जनरल रद्द कर सकता था और बिना उसकी मर्जी और सहमति के ही कोई कानून अपनी परिषद की सहायता से बना कर लागू कर सकता था। ऐसी परिस्थिति म विधान मण्डल का केवल इतना महत्व रह गया था कि इनमे बैठकर भारतीय-सदस्य सरकार के कामो पर अपनी राय जाहिर कर सकते थ। यहा यह बात स्मरण रखने योग्य है कि केन्द्रीय सरकार म कार्यपालिका अर्थात् गवनर जनरल और उसकी परिषद विधान मण्डल के सामने किसी भी काम के लिए उत्तरदायी नहीं थ तथा उन्ह किसी बजट की स्वीकृति या किसी कानून के लिय उसका मुह नहीं ताकना पड़ता था।

साधारण विधेयक किसी भी सदन म पश किये जा सकते थे, परन्तु वित्तीय विधेयक और बजट सम्बन्धी मसविदे केवल विधान सभा म ही शुरू किये जा सकते थे। सरकारी विधेयक परिषद के सदस्य पेश करते थ और गैर-सरकारी बिल कोई भी सदस्य रख सकता था। प्रत्यक विधेयक पर तीन बार विचार होता था, जिसे वाचन या रीडिंग कहते हैं। सभा के सामने रखे जाने के बाद १५ दिन के भीतर बजट पर वाद विवाद और मतदान समाप्त कर देना होता था। सभा सरकार द्वारा की गई मागो और लगाये गये टैक्सो को अस्वीकार कर सकती थी परन्तु जैसा कहा जा चुका है, गवनर जनरल अपनी विशेष शक्ति से उन प्रस्तावो को पास कर सकता था।

विधान मण्डल के किसी भी सदन का कोई भी सदस्य सरकार से प्रशासन के

बारे में कोई भी प्रश्न पूछ सकता था। पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार भी सदस्यो को दिया गया था, तथा स्थगन प्रस्ताव भी पेश किय जा सकते थे। परन्तु इस सब का यह अर्थ हर्गिज नही है कि इन बातो का कोई अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव गवर्नर जनरल और उसकी परिषद पर पडता था। तनिक भी नही। विधान मण्डल लोक हित के प्रश्नो पर प्रस्ताव भी पास कर सकता था। इस प्रकार विधान मण्डल एक सीमा तक एक ऐसा मच बन गया था जहा से जनता की इच्छा प्रगट हो सकती थी। हमेशा ही वैसा हुआ नही उसका कारण यह था कि राष्ट्रीय विचारो के लोग उसमें बहुत नही जा पाय व आजादी की अधिक बडी लडाई म जुटे हुए थे और इस देश म स्वतन्त्र ससद बनाने का स्वप्न देख रहे थे जो आखिरकार एक दिन पूरा होकर ही रहा।

प्रान्तो मे द्वैध शासन

१९१९ के अधिनियम ने जहा एक ओर शासन की सत्ता का एक अ श केन्द्रीय सरकार के हाथो से प्रान्तीय सरकारो को दिया वहा उसने प्रान्तो म शासन सत्ता का एक अ श चुने हुए प्रतिनिधियो को देने का नाटक भी किया। हम यह बात बार-बार स्पष्ट कर चुके ह कि ब्रिटिश सरकार शासन सत्ता के बारे में बहुत सतर्क थी और वह किसी भी दशा म सत्ता को पूरी तरह जनता के चुने हुए प्रतिनिधियो के हाथो मे सौपने को तैयार नही थी। वह इस बारे में बहुत सतर्क थी कि किसी भी प्रकार सत्ता का प्रयोग ब्रिटिश हितो के विपरीत न हो सके। इसके लिय उसने गवनर जनरल और गवनरो को विशेष शक्तिया प्रदान की थी। शासन सुधार करके सरकार का इरादा भारत म तुरन्त उत्तरदायी सरकार स्थापित करन का नही था। इस हाथ से जो शक्ति भारत के लोगो को दी जाती थी वह उस हाथ से वापिस ले ली जाती थी।

शासन की शक्ति के प्रान्तो को सौपे जाने के बारे म जो नियम (डेवोल्यूशन-रूल्स) बनाय गय उनके अन्तर्गत शासन की शक्तियो को दो सूचियो में विभाजित किया गया था। इनम से केन्द्रीय सूची म वे विषय रखे गय थे जिनका प्रशासन केन्द्रीय सरकार चलाती थी और प्रान्तीय सूची मे वे विषय थे जिनका प्रशासन प्रान्तीय सरकारें चलाती थी।

प्रातीय सूची के विषयो को दो भागो म बाटा गया था। एक भाग तो सरक्षित (रिजर्व्ड) कहलाता था और दूसरा हस्तातरित (ट्रासफर्ड)। सरक्षित विषय गवनर और उसकी कायकारिणी परिषद के सदस्यो को सौपे गय तथा हस्तातरित विषय गवनर और प्रान्त की जनता द्वारा चुने हुए मन्त्रियो को।

सरक्षित विषय—जो विषय गवनर और उसकी कायकारिणी परिषद को दिय गय थ, उनम प्रमुख इस प्रकार थ—पुलिस, जेल, प्रान्तीय सरकार का कोष और हिसाब किताब का निरीक्षण, कानून, शान्ति और सुव्यवस्था, भूमिव्यवस्था, ऋण लेना,

समाचार पत्र एव प्रेस आदि पर नियत्रण और राजस्व आदि। इन विषयो के बारे म जो कोई भी कार्रवाई होती थी उसके लिय गवर्नर की परिषद प्रान्तीय विधान परिषद के सामने उत्तरदायी नही होती थी वरन् निरकुश होती थी उन मामलो म उसे केवल गवर्नर को जवाब देना पडता था। इस प्रकार सरक्षित विषयो के मामले म प्रान्तों के भीतर निरकुश शासन पहले की ही तरह लागू रहा उसम १६१६ के अधिनियम ने कोई परिवर्तन नही किया।

हस्तातरित विषय—जो विषय इस अधिनियम ने गवर्नर और जनता द्वारा चुन गय मत्रियो को सौंपे उनम से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—केवल भारतीयो की शिक्षा (यूरोपियन और ऐग्लोइण्डियन लोगो की नही) स्थानीय स्वायत्त शासन, खेती सार्वजनिक निर्माण विभाग सिचाई, मछली उद्योग, सहकारी समितिया, पुस्तकालय सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई, उद्योग, धर्म व दान की सस्थायें नशीले पदार्थ आदि। इन विषयो के प्रशासन के लिय मत्री लोग प्रान्तीय विधान परिषद के सामने जवाबदेह होन थे। विधान परिषद को यदि यह विश्वास हो जाता कि मत्रिमडल ईमानदारी और कुशलता के साथ इन विषयो का प्रशासन नही चला पा रहा है तो वह उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हे मत्रीपद से हटा सकती थी। परन्तु यहा यह नही भूलना चाहिय कि अधिनियम का ऐसा कोई इरादा नही था कि प्रान्तो के हस्तान्तरित विषयो म पूरी तरह स उत्तरदायी शासन की योजना लागू की जाय, उसन गवर्नर को यह शक्ति दी थी कि यदि वह विधान परिषद और मत्रिमडल के किसी काम निर्णय या प्रस्ताव को उचित न समझे तो उसे अपनी विशेष शक्ति क द्वारा रद्द कर सकता था। गवर्नर को यह जो विशेषाधिकार दिया गया था, इसन उत्तरदायी शासन की योजना को निरर्थक बना दिया।

गवर्नर का पद और उसकी शक्तिया—१६१६ के अधिनियम ने ब्रिटिश भारत को और अधिक प्रान्तो म बाट दिया तथा प्रत्यक प्रान्त म एक गवर्नर की नियुक्ति का प्रबन्ध किया। गवर्नर को प्रान्त का एक नाममात्र का शासक नहीं बनाया गया था वरन् यह अपेक्षा की गई थी कि वह वास्तविक शासक होगा। उसे प्रान्त क प्रशासन म सर्वोच्च सत्ता प्रदान की गई थी। साधारण शक्तियो क अलावा उसे कुछ विशेषाधिकार और स्वैच्छिक शक्तिया भी दी गई थी। सामान्यतया वह अपनी परिषद का अध्यक्ष होता था उसकी बैठको की अध्यक्षता करता था और इसी प्रकार मत्रिमडल का भी वह स्वामी होता था। परिषद और मत्रिमडल दोनो के निर्णयो को रद्द करने की शक्ति उसे दी गई थी। अधिनियम न यद्यपि यह कहा कि गवर्नर आम तौर पर जनता के प्रतिनिधियो की इच्छाओ का ध्यान रखेगा तथापि उसे शासन के हितो की रक्षा के लिय यह शक्ति दे दी गई कि वह प्रान्तीय विधान परिषद के निर्णयो को रद्द कर सके।

प्रान्तीय शासन में गवर्नर को कुछ विशेष जिम्मेदारिया भी सौंपी गई थीं। वह प्रान्त की शान्ति और सुरक्षा के लिये उत्तरदायी था, प्रान्त म भारत-मत्री और

गवर्नर जनरल के आदेशो का पालन कराता था, प्रान्त की लोकसेवाओं (प्रॉविन्शियल सिविल सर्विसेज) के सदस्यो के हितो का प्रहरी था और अल्पसख्यक जातियो व वर्गों के हितो का सुरक्षित रखता था।

प्रान्तीय विधान परिषद द्वारा पास किय जाने वाल समस्त विधेयक गवर्नर की स्वीकृति के लिय उसके सामने रखे जाते थ। उसकी स्वीकृति मिलने पर ही वे कानून बन सकते थे। गवर्नर का यह अधिकार था कि वह विधान परिषद द्वारा पास किय गय किसी विधेयक को अपनी सिफारिशो के साथ पुनर्विचार के लिय लौटा दे, गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिय रोक ले या रद्द कर दे। गवर्नर जनरल के पास भेजे जाने पर कोई विधेयक गवनर जनरल द्वारा ब्रिटिश सम्राट की स्वीकृति के लिय भेजा जा सकता था। गवर्नर प्रान्तीय विधान परिषद मे किसी ऐसे विधेयक की चर्चा को रोक भी सकता था जिसे वह प्रान्त की शान्ति और सुरक्षा के लिय खतरनाक समझता था। वित्तीय विधेयक गवनर की पूर्व अनुमति के बिना विधान सभा मे पेश नही किय जा सकते थे। जब कभी विधान परिषद किसी ऐसे विधेयक को पास करने से मना कर देती जिसका पास होना गवर्नर आवश्यक समझे तब उस स्थिति म गवर्नर स्वय उसे प्रमाणित करके कानून बना सकता था। पीछे हम उल्लेख कर चुके ह कि गवर्नर जनरल को भी केन्द्रीय सरकार मे बिल्कुल ऐसी ही शक्ति दी गई थी।

अधिनियम ने उसे शक्ति दी थी कि वह अपने मत्रियो म काम बाट सकता था और जब चाहे उनके विभागो को बदल सकता था। जब कभी विधान परिषद का बहुमत मत्रिमडल बनाने को तैयार न होता तथा वैधानिक शासन के चलाने म अड-चन डालता उस समय गवर्नर को यह शक्ति प्राप्त थी कि वह स्वय प्रान्त का शासन सभाल सकता था। वह भारत-मत्री द्वारा अनुमति दिय जाने पर किसी हस्तातरित विषय को सरक्षित विषय मे बदल सकता था। इस प्रकार गवनर को प्रान्त म सर्वोच्च सत्ता दी गई थी।

गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद—सरक्षित विषयो के प्रशासन म गवर्नर की सहायता करने के लिय प्रान्तो म कार्यकारिणी परिषद की व्यवस्था की गई। य परि-षदे पहले से ही चल रही थी। सावैधानिक दृष्टि से परिषद के सदस्यो की नियुक्ति गवर्नर की नियुक्ति की तरह ब्रिटिश सम्राट करता था। परन्तु वास्तव मे प्राय गव-र्नर ही प्राय अपनी परिषद के सदस्यो को छाटते थे और सम्राट उनकी नियुक्ति कर देता था। परिषद के सदस्यो को अलग-अलग प्रान्तो म अलग अलग वेतन मिलता था जिसका उल्लेख अधिनियम के एक परिशिष्ट म किया गया था। य लोग सामान्यतया ५ वर्ष तक के लिय नियुक्त किय जाते थे परन्तु सम्राट जब तक चाहे उन्हे उनके पद पर बनाय रख सकता था।

गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद मे बडे प्रान्तो मे ४ और छोटे प्रान्तो म २ सदस्य होते थे। इनमे से आधे वे लगभग सदस्य गैर सरकारी भारतीय होते थे। सर-कारी सदस्यो के लिये सिविल सर्विस का सदस्य होना आवश्यक था।

कार्यकारिणी परिषद के सदस्य अलग-अलग सरक्षित विषयो को सम्हालते थे और उस बारे मे गवर्नर के प्रति अलग-अलग उत्तरदायी होते थे। व सगठित या सामूहिक तौर पर काम नही करत थ। वे एक प्रकार स ब्रिटिश हितो के प्रतिनिधि थे और उनका काम यह देखना था कि लोकप्रिय मन्त्री लोग किसी भी प्रकार इस प्रकार के काम न करें जिनमे ब्रिटिश सरकार क हितो को हानि पहुँचने की सम्भावना हो। य लोग गवर्नर के विश्वासपात्र होत थ अत आम तौर पर गवर्नर इनकी बात मानता था परन्तु गवर्नर के लिय यह अनिवार्य नही था वह आवश्यक समझन पर उनकी बात मानने से मना कर सकता था। कार्यकारिणी परिषद का सबसे महत्वपूर्ण काम बजट तैयार करना था। बजट क द्वारा वह सरकार की हर कार्यवाही पर पूरा नियन्त्रण करती थी। मत्री लोग यदि कोई नयी योजना शुरू करना चाहते थे तो उन्हे परिषद की दया पर निर्भर रहना पडता था क्योकि वही उस योजना के लिये धन की व्यवस्था कर सकती थी।

इस प्रकार यद्यपि प्रान्तीय शासन म प्रतिनिधि शासन शुरू करन का दावा किया गया था तथापि वास्तविक शक्ति जनता क प्रतिनिधियो के हाथो म नही दी गई थी। सरकार उत्तर-दायी शासन का ढोग ला कर रही थी परन्तु वह भारत के लोगो पर विश्वास नही करती थी और यह उसकी दृष्टि से बिल्कुल ठीक ही था भारत की राष्ट्रीयता जाग्रत हो चुकी थी और यदि प्रान्तो म वास्तविक उत्तरदायी शासन की स्थापना कर दी जाती तो ब्रिटिश शासन तभी समाप्त हो जाता और भारत ब्रिटेन की दासता का उतार फेंकता। सरकार यह जानती थी और वह नही चाहती थी कि वैसा हो अत उसने जो भी सत्ता भारत के लोगो को प्रान्तो म दी, उस पर दूसरे रास्तो से गहरे प्रतिबन्ध लगा दिय।

मन्त्री लोग—पाठको के मन मे यह प्रश्न उठ सकता है कि हमन यहा मन्त्रिमडल शब्द का प्रयोग न करके मत्री लोग क्यो कहा है। वास्तव म १६१६ के अधिनियम ने प्रान्तो म मन्त्रिमडल नही बनाय थे, उसम इतना ही कहा गया था कि हस्तान्तरित विषयो का प्रशासन चलाने के लिये गवर्नर मत्रियो की नियुक्ति करेगा। मत्री तब तक अपने पद पर रह सकता था जब तक कि गवर्नर चाहे परन्तु अधिनियम ने यह व्यवस्था भी की कि मत्री का वेतन विधान परिषद द्वारा और स्वीकृत होता था, यदि किसी समय किसी मत्री से विधान परिषद अप्रसन्न होती तो वह उसको वेतन देने से मना कर सकती और इस प्रकार उसे हटा सकती थी। मत्रियो की सामूहिक जिम्मेदारी नही होती थी तथा वे विधान सभा के सामने अलग-अलग उत्तरदायी होते थे। गवर्नर भी उनसे अलग-अलग मिलता और परामर्श लेता था, फिर भी मत्रियो की बैठकें होती थी और वे निर्णय करते थे। वैज्ञानिक भाषा मे हम अधिनियम के अन्तर्गत किसी मन्त्रिमडल की कल्पना नही कर सकते।

सामान्यतया मत्रियो और कार्यकारिणी परिषद के सदस्यो के बीच चर्चा और सम्मेलन की व्यवस्था की गई थी और यह आशा थी कि गवर्नर प्रान्तीय-कार्यपालिका

के इन दोनो अंगो के बीच निकट संबंध और समन्वय की स्थापना करेगा। मंत्रिमंडल में मुख्य मन्त्री या प्रधान मंत्री के पद की व्यवस्था नही की गई थी।

विधान-परिषद के सदस्य ही मन्त्री बन सकते थे। कोई व्यक्ति यदि विधान परिषद का सदस्य न हो तब भी गवर्नर उसे मन्त्री बना सकता था परन्तु शर्त यह थी कि ऐसा व्यक्ति यदि छ मास के भीतर विधान सभा की सदस्यता प्राप्त नही कर लेता था तो उसे अपना पद छोडना होता था। यह परम्परा ससदात्मक पद्धति की नकल थी परन्तु व्यवहार मे इसका कोई महत्व नही था।

मन्त्री लोग अपने-अपने विभाग से सम्बन्धित कामो के लिय विधान सभा के सामने उत्तरदायी होते थे अर्थात् विधान सभा के सदस्य उनसे प्रश्न पूछते थे और उन्हे उन प्रश्नों का उत्तर देना होता था। विधान-सभा किसी भी मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकती थी। यह नियम भी ससदात्मक शासन की परम्पराओ से लिया गया था, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिय कि मन्त्री अपने विभाग के पूरे कर्ता-धर्ता नही थे, उन्हे गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी परिषद के आधीन काम करना था, अत उनकी शक्तिया बहुत सीमित और कम थी।

प्रान्तीय विधान परिषदें—१९१९ के अधिनियम का सबसे महत्वपूर्ण अंश प्रातीय विधान परिषदो से सम्बन्धित था। इस समय तक प्रान्तीय विधान परिषदें केवल कार्यकारिणी परिषदो का विस्तार मात्र थी, इस अधिनियम ने उन्हे स्वतन्त्र आधार प्रदान किया। विधान परिषदो के सदस्यो की सख्या बढा दी गई, और यह निश्चय किया गया कि उनमे से कम से कम ७० प्रतिशत सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष पद्धति से चुने जायेंगे। यह एक बडी बात थी, भारतीय प्रातीय शासन मे पहली बार जनता द्वारा निर्वाचित विधान-परिषद की स्थापना की गई थी।

अधिनियम के अन्तर्गत मद्रास की विधान परिषद मे १२७ सदस्य, बम्बई मे १११, बंगाल मे १३९, उत्तरप्रदेश मे १२३, पजाब म ९३, बिहार उडीसा म १०३, मध्यप्रान्त मे ७० और आसाम म ५० सदस्यो की सख्या निश्चित की गई थी। कुल सदस्यो के २० प्रतिशत से अधिक सरकारी कर्मचारी नही हो सकते थे। प्रातीय कार्यकारिणी परिषद के सदस्य भी विधान-परिषद के पदेन सदस्य होते थे। कुछ सदस्यो को गवर्नर नामजद कर सकता था इनमे विशेषकर उन वर्गो के लोग होते थे जिनकी जनसंख्या बहुत कम होती थी और जो चुनाव द्वारा विधान-परिषद की सदस्यता प्राप्त नही कर पाते थे, जैसे ऐंग्लोइण्डियन, भारतीय ईसाई तथा यूरोपियन लोग।

प्रतिनिधियो के निर्वाचन के लिए साम्प्रदायिक चुनाव की नीति ही अपनाई गई, अर्थात् हिन्दू, हिन्दुओ को और मुसलमान, मुसलमानो को वोट देते थे, इस पद्धति के दोषो का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं, इसने अन्ततोगत्वा भारत को दो टुकडो मे बाटने की भूमिका तैयार की और भारत के दो टुकडे हुए।

विधान परिषद के सदस्यो के चुनाव मे वोट देने की शक्ति केवल उन लोगो

को ही दी गई थी जो या तो उच्च शिक्षा प्राप्त थे या जिनके पास निश्चित मात्रा में सम्पत्ति होती थी। भारत के वयस्क लोगों के केवल दस प्रतिशत अंश को ही मत देने का यह अधिकार मिला था जो भारत की कुल आबादी के ३ प्रतिशत से भी कम थे। इस प्रकार यह बात बहुत स्पष्ट है कि इन विधान-परिषदों को हम जनता की आकाक्षाओं की प्रतिनिधि नहीं मान सकते इसमें जनता का वह अंश ही आ पाता था जो पैसे वाला था और जो आम तौर पर ब्रिटिश सरकार के हिमायती होते थे, इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें अच्छे लोग गये ही नहीं व गये अवश्य परन्तु बहुत कम सख्या में। मतदाता की आयु २१ वर्ष होनी आवश्यक मानी गई थी और चुनाव के लिये खड़े होने वाले उम्मीदवारों की आयु कम से कम २५ वर्ष। ये लोग ब्रिटिश भारत की प्रजा होते थे और इनका नाम अपने क्षेत्र की मतदाता सूची में होना आवश्यक था।

विधान परिषद का कार्यकाल ३ वर्ष निर्धारित किया गया था परन्तु गवर्नर को यह शक्ति दे दी गई थी कि वह उस समय के पहले भी विधान-परिषद को भग कर सकता था। वह विशेष परिस्थिति पैदा हो जाने पर उसकी अवधि एक वर्ष के लिये बढ़ा भी सकता था। विधान परिषद के भग हो जाने पर गवर्नर विघटन (भग किये जाने) के छ मास के भीतर ही नये चुनाव कराके नई विधान परिषद की बैठक बुलाये यह आवश्यक था यदि गवर्नर आवश्यक समझता तो भारत मन्त्री की स्वीकृति लेकर छ मास के स्थान पर ९ मास का समय इस काम में लगा सकता था। विधान-परिषद की बैठकें बुलाने और उसके सत्रों को समाप्त या स्थगित करने का काम गवर्नर स्वयं करता था। अधिनियम ने लोकतन्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार यह निश्चय किया कि आगे से गवर्नर विधान-परिषद का अध्यक्ष नहीं होगा और पहले चार वर्ष तक तो विधान परिषद का अध्यक्ष गवर्नर द्वारा मनोनीत होगा परन्तु उसके बाद परिषद स्वयं अपने अध्यक्ष का निर्वाचन करेगी। विधान परिषद अपने अध्यक्ष को हर स्थिति में गवर्नर की अनुमति लेकर हटा सकती थी। अध्यक्ष को सामान्य दशाओं में मत देने का अधिकार नहीं था, वह केवल उस स्थिति में निर्णायक मत दे सकता था जबकि विधान-परिषद में किसी विषय पर पक्ष और विपक्ष के मतों की सख्या बराबर हो जाये।

विधान-परिषद प्रान्त के सभी विषयों पर कानून बना सकती थी परन्तु उसके ऊपर गवर्नर का पूरा नियन्त्रण था, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। कुछ विषय ऐसे थे जिन पर विचार करने से पहले उसे गवर्नर जनरल की अनुमति लेनी होती थी। प्रति वर्ष प्रान्त के लिये आय और व्यय का ब्योरा अर्थात बजट इसके सामने पेश किया जाता था। विधान परिषदों को कुछ मामलों में कर लगाने की शक्ति दी गई थी। कोई भी ऐसा प्रस्ताव जिसमें कोई व्यय सुझाया गया हो, बिना गवर्नर की अनुमति के विधान परिषद के सामने पेश नहीं किया जा सकता था। उसे यह अधिकार था कि वह सरकार की ओर से रखे गये व्यय के प्रस्तावों को, जिन्हें

अनुदानो की माग कहा जाता था स्वीकार या अस्वीकार कर सके। परन्तु अधिनियम ने गवर्नर को यह शक्ति दे दी थी कि वह विशेषकर परक्षित विषयो के बारे म की गई धन की मागो को विधान परिषद द्वारा कम या अस्वीकृत कर दिय जाने पर अपनी ओर से स्वीकृत (Restore) कर दे। बजट मे कुछ मदें इस प्रकार की होती थी जिन पर विधान परिषद न बहस कर सकती थी और न उनके बारे म उसे मत देने का अधिकार था। बजट के मामले म सारी प्रक्रिया ब्रिटिश ससद की नकल पर आधारित की गई थी परन्तु सबसे बडा अन्तर यही था कि ब्रिटिश ससद ब्रिटेन से बजट के मामले म निर्णय करने वाली अन्तिम सत्ता थी जबकि भारत म उसका नाटक किया जा रहा था, यह ही बहुत समझा गया था कि भारत के लोगो को अपने बजट पर चर्चा करने और मत देने का अधिकार दे दिया जाय।

द्वैध शासन की असफलता

इस अधिनियम के अन्तर्गत जिस द्वैध शासन की स्थापना की गई थी वह हर प्रकार से असफल रहा। द्वैध शासन वास्तव मे एक असम्भव पद्धति को व्यवहारिक रूप देने की चेष्टा के समान था। प्रातो के शासन को दो पृथक भागो में विभाजित कर दिया गया था। राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी यह भली प्रकार जानते हैं कि शासन के विषयो को दो पृथक भागो म बाटना सर्वथा असम्भव है। प्रातो म विषयो का जो यह विभाजन हुआ था वह वास्तव म बहुत मक्कारीपूर्ण था। महत्वपूर्ण विभाग मन्त्रियो को दिय ही नही गय थे और दूसरे विभागो को भी इस प्रकार विभाजित किया गया था कि मन्त्रियों को अपने काम म किसी प्रकार की स्वतन्त्रता न रहे। यह विभाजन बहुत अवैज्ञानिक था। विकास विभाग हस्तातरित शक्ति के रूप मे एक मन्त्री को दिया गया तो वन विभाग सरक्षित विषय बनाकर कार्यकारिणी परिषद को दे दिया गया इसी प्रकार उद्योग विभाग मन्त्री को सौपा गया परन्तु कारखानो का नियत्रण इत्यादि सरक्षित विभाग बना दिया गया, और कृषि विभाग मन्त्री को दिया गया परन्तु सिंचाई को सरक्षित विषय मानकर उसे नही दिया गया। यह एक विचित्र प्रकार का सविधान था जो किसी भी शास्त्रीय सिद्धान्त या अनुभव पर आधारित नही था।

ब्रिटिश विधान शास्त्री भारत के साथ प्रयोग कर रहे थे वे शायद यह देखना चाहते थ कि भारत के लोग उत्तरदायी शासन चला सकते है या नही परन्तु उन्होंने उस प्रयोग के लिए अनुकूल और विश्वासपूर्ण परिस्थितियो और वातावरण का निर्माण नही किया।

विधान सभा के भीतर राजनीतिक दलो का सक्रिय सगठन न होना भी उसकी कमजोरी का कारण बना। सरकारी सदस्यो मे नामजद सदस्यो के अलावा वे निर्वाचित सदस्य भी होते थे जो जमीदार आदि थे और सरकार के विश्वासपात्र होते थे। य सब मिलकर गवर्नर की शक्ति मे वृद्धि करते थे और उत्तरदायी सरकार के तत्वो के

विकास में बाधा डालते थे। विधान परिषद के भीतर कार्यकारिणी परिषद का वरिष्ठ-सदस्य सदन के नेता का काम करता था इससे सरकारी सदस्यों की स्थिति और भी ज्यादा दृढ बन जाती थी। प्रान्तीय सरकार का उत्तरदायी अंश इसलिये भी कमजोर था क्योंकि मन्त्री लोग बिखरे हुए थे और उन्हें संगठित करने वाला कोई मुख्य मन्त्री या प्रधान मन्त्री नही था।

प्रान्तीय कोष को किस प्रकार व्यय किया जायगा, इसकी योजना कार्यकारिणी-परिषद बनाती थी और उसमे सबसे पहले संरक्षित विषयो के लिये धन निकाल दिया जाता था। शेष राशि हस्तांतरित विषयो के हिस्से मे आती थी जो बहुत अपर्याप्त होती थी। मन्त्री लोग नये करो का प्रस्ताव लाते हुए घबराते थे क्योकि उससे विधान परिषद के नाराज होने की सम्भावना रहती थी, फिर यह भी आवश्यक नही था कि इस प्रकार धन की अतिरिक्त व्यवस्था हो जाने पर नये करो से प्राप्त होने वाला धन हस्तांतरित विषयो के लिये ही सुरक्षित रखा जा सकेगा। इसका परिणाम यह होता था कि हस्तान्तरित विषय सौतेली सन्तान की तरह प्रान्तीय शासन मे पलते रहे और द्वैध शासन की यह अवैज्ञानिक योजना असफल होती रही।

इस प्रसंग मे एक सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हस्तांतरित विषयो मे प्रान्तीय सरकारी कर्मचारियो का नियन्त्रण सम्मिलित नही किया गया था। यह नियन्त्रण संरक्षित विषय बना दिया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश नौकरशाही जो एक दीर्घ काल से मनमाने ढंग से शासन चलाने की अभ्यस्त हो गई थी और जो संसार की किसी भी नौकरशाही से अधिक शक्तियो का प्रयोग कर रही थी, यह पसन्द नही करती थी कि भारत मे जनता के लोग शासन मे भाग लें, उसे यह हर्गिज भी पसन्द नही था कि वे उन पर हुक्म चलायें तथा इस प्रकार उनकी अपनी शक्तियां कम हो जायें। अतः उन्होने मन्त्रियो के साथ तनिक भी सहयोग नही किया। उत्तरप्रदेश के एक तत्कालीन मन्त्री और प्रसिद्ध नेता श्री सी० वाई० चिन्तामणि ने १९१९ के अधिनियम की सफलता के कारणो मे एक प्रमुख कारण यह भी माना है कि प्रान्तीय लोक सेवाओ ने मन्त्रियों का साथ नही दिया। सरकारी नौकरशाही जानती थी कि मन्त्री लोग उसका कुछ भी नही बिगाड सकते थे, उनके सिर पर गवर्नर और कार्यकारिणी परिषद का वरद हस्त था। गवर्नर यह जानते थे कि अंग्रेज भारत पर इसी नौकरशाही की मदद से शासन कर रहे थे अतः वे हमेशा उसको प्रसन्न रखने की चेष्टा करते रहे।

उधर देश मे कांग्रेस अधिनियम का विरोध कर रही थी, वह सरकार के विरुद्ध असहयोग आंदोलन चला रही थी तथा जनता आमतौर पर मन्त्रियो व परिषदो को घृणा की दृष्टि से देखने लगी थी। उधर सरकार जहां आरम्भ मे मन्त्रियो का बहुत सम्मान कर रही थी, धीरे-धीरे उसका रुख उनके प्रति बदलने लगा और उसने उनकी परवाह करनी बन्द कर दी। वास्तव मे यह नाटक बहुत दिनो तक चलने वाला था ही नही, जनता उसे समझ गई थी और सरकार भी यह जान गई थी कि उसके द्वारा

खड़ा किया गया ढाचा न तो प्रतिनिधि मूलक था और न वह भारत की राजनीतिक माग को पूरा ही कर सकता था। धीरे-धीरे यह व्यवस्था अव्यवहारिक बनती चला गई और अ ग्रेजी सरकार भी किसी नई व्यवस्था की खोज मे लग गई, जो आगे जाकर १९३५ के भारत शासन अधिनियम के रूप मे सामने आई।

O

अध्याय ८

भारत शासन अधिनियम—१९३५

"पराधीनता का नया कानून" ।

—जवाहरलाल नेहरू †

"मै १९३५ के भारत शासन अधिनियम को भारत-विरोधी अधिनियम कह सकता हूँ। हमे ऐसा लगडा सघ प्रदान किया गया है जो अवांछनीय तत्वो से भरा हुआ है और प्रान्तो और राज्यो के बीच मे भद्दा सतुलन पैदा करता है, तथा हमे उन शक्तियो से वचित कर दिया गया है जो किसी भी सरकार के संचालन के लिये मूलभूत होती हैं।"

—सी० वाई० चिन्तामणि ‡

(१) १९३५ के संविधान के जन्म की कथा

१९१९ के अधिनियम ने भारत के शासन की अन्तिम जिम्मेदारी ब्रिटिश ससद को दी थी और उसमे कहा गया था कि ब्रिटिश ससद यह तय करेगी कि भारत को कब-कब और किस प्रकार उत्तरदायी शासन प्रदान किया जाये। इस अधिनियम ने भारत की जनता को सरकार की आलोचना करने के कुछ अवसर तो अवश्य दिये परन्तु उसने कोई वास्तविक सत्ता हमे नही दी। भारत में इस कारण इसके प्रति गहरा असन्तोष था। जैसा कि हम पिछले अध्याय मे वर्णन कर चुके है, द्वैध शासन की नितान्त अवैज्ञानिक योजना शत-प्रतिशत असफल रही थी और यह बात केवल भारतीय लोकमत ही नही, स्वय ब्रिटिश सरकार भी अनुभव कर रही थी। सरकार का दोहरा स्वरूप बनाये रखने में उसे काफी बेचैनी और परेशानी हो रही थी। इधर भारत की राष्ट्रीयता सघन और सक्रिय हो उठी थी तथा वह भारत मे तुरन्त स्वराज्य की स्थापना के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो रही थी। भारत स्वराज्य चाहता था, और अब वह इस स्वराज्य की भिक्षा ब्रिटिश सरकार से नही माग रहा था, वह उसका दावा राष्ट्र के जन्मसिद्ध अधिकार के रूप मे कर रहा था। उसका यह दावा भी नही था कि हमने १९१९ के सविधान को सफलतापूर्वक चलाया है इसलिये हमे स्वशासन या होमरूल दिया जाये, वह तो अब स्वतत्रता का दावेदार बनकर राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त

---

† फैजपुर काग्रेस अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण मे।

‡ चिन्तामणि और मसानी, इण्डियाज कॉन्स्टीट्यूशन एट वर्क, पृष्ठ २०२

को लेकर खडा हो गया था। जैसा हम पीछे उल्लेख कर चुके है, काग्रेस एक महान राष्ट्रीय शक्ति बन गई थी और महात्मा-गाधी के नेतृत्व म वह सरकार के प्रति असहयोग की नीति अपनाकर स्वराज्य कमा लेने पर तुली हुई थी। यहा स्वराज्य का कमा लेना शब्द हमने जान बूझकर प्रयोग किया है। काग्रेस की राजनीतिक भिखमगेपन की नीति भारत के तीन महान नेताओ-लाला लाजपतराय, श्री विपन चन्द पाल व लोकमान्य बाल गगाधर तिलक के नेतृत्व म टूट चुकी थी और वह गाधीजी के नेतृत्व म पुरुषार्थ और बलिदान के मार्ग से भारत की स्वतत्रता के लिय जूझ रही थी। लार्ड बर्कन हैड ने भारत की प्रतिभा को जो चुनौती दी थी उसका वर्णन हम कर चुके हैं और उस सदर्भ मे यह भी उल्लेख कर दिया गया है कि श्री पडित मोतीलालजी नेहरू के नेतृत्व मे नेहरू कमेटी भारत के लिय नमूने का सविधान बना कर पेश कर चुकी थी। उससे ब्रिटिश शासको को राष्ट्रीय दृष्टिकोण ज्ञात हो चुका था।

इतना ही नही सितम्बर १९२१ म प्रथम केन्द्रीय विधान सभा ने जिसमें उदारवादी और नम्रदलीय लोगो का बहुमत था, एक प्रस्ताव पास करके भारत के सविधान पर पुनर्विचार करने की माग की और १९२४ म जब स्वराज्य दल का बहुमत हुआ तो केन्द्रीय विधान सभा ने एक प्रस्ताव पास करके सरकार से माग की कि भारतीयो और अग्रेजो का एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाय।

इसी समय सरकार ने १९१९ के अधिनियम के व्यवहारिक पक्ष की जाच करने के लिय सर अलेक्जन्डर मुडीमैन की अध्यक्षता म एक समिति नियुक्त की जिसम कुछ भारतीय सदस्य भी थ। इस समिति की रिपोट सवसम्मति से नही पेश की जा सकी। भारतीय सदस्यो ने द्वैध शासन की योजना का कडा विरोध किया और सारी योजना को रद्द करके नय सिरे से सविधान बनाने की माग की। सरकारी सदस्यो ने चालू व्यवस्था मे कुछ सुधार सुझाय और सिफारिश की कि वह योजना लागू रखी जाय। जब यह रिपोर्ट केन्द्रीय विधान सभा के सामने पेश की गई तो उसने उस पर विचार करने से इन्कार कर दिया और उसके विपक्ष म यह सशोधन प्रस्ताव स्वीकृत कर दिया कि तुरत गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाय। इस प्रकार मुडीमैन समिति का परिश्रम भी व्यर्थ हो गया।

१९१९ के सविधान म कहा गया था कि अधिनियम के पास होने के दस वर्ष पश्चात् एक वैधानिक आयोग की नियुक्ति की जाय जिसका काम यह होगा कि वह भारतीय शासन व्यवस्था की जाच करे, शिक्षा और उत्तरदायी सस्थाओ के विकास के बारे मे पता लगाय तथा इस बारे म अपनी सिफारिश पेश करे कि भारत म उत्तरदायी शासन का विकास किया जाय अथवा सशोधन, या उसे और भी सीमित कर दिया जाय। इस आयोग की नियुक्ति १९३० म होनी चाहिय थी, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने भारत म बढते हुए असन्तोष को देखकर उसकी नियुक्ति की घोषणा नवम्बर १९२७ मे ही कर दी। आयोग का अध्यक्ष सर जॉन साइमन को बनाया गया और दुर्भाग्यवश सरकार की मति ऐसी भ्रष्ट हुई कि उसने आयोग मे एक भी भारतीय

सदस्य की नियुक्ति नही की। इसका मुख्य कारण यह था कि मुडीमैन समिति मे भारतीय सदस्यो ने जो सरकार विरोधी रुख अपनाया था उससे सरकार अप्रसन्न थी तथा उसने अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने का यह मार्ग अपनाया जो स्वय उसके लिये बहुत महगा पडा। भारत मे किस तरह साइमन कमीशन की नियुक्ति से राष्ट्रीय अपमान की भावना उमडी और किस तरह उसका विरोध देश मे हुआ यह हम देख चुके हैं। साइमन कमीशन के घोर विरोध का कारण यह था कि भारत के लोग अपना सविधान अपने आप बनाने का अधिकार चाहते थे जब कि साइमन कमीशन मे एक भी भारतीय सदस्य नही लिया गया था। यह भारतीय जन-मानस को बहुत बुरा लगा। १६३० मे जब कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई उस समय भारत मे हर ओर से उसकी निन्दा की गई। यहा तक कि भारतीय उदारवादी और नम्रदलीय नेताओ ने भी उन्हे अस्वीकार कर दिया।

इसी बीच ब्रिटेन में मजदूर दलीय सरकार बनी और भारत में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला, उधर आन्दोलन के बीच मे ही सरकार ने लन्दन में गोलमेज सम्मेलन बुलाया और उसमे राष्ट्रीय नेताओ ने भाग लेने से इन्कार कर दिया, आन्दोलन समाप्त हुआ, गाधी-इरविन सन्धि हुई और दूसरे गोलमेज सम्मेलन मे गाधीजी लन्दन गए तथा वहा से रीते हाथ लौट आए, फिर आन्दोलन चला, साम्प्रदायिक निर्णय (कम्यूनल अवार्ड) आया उसपर गाधीजी ने आमरण अनशन किया, समझौता हुआ। ये सब घटनायें इस काल मे हुई और इनका प्रभाव भारतीय लोकमत तथा सरकारी नीतियो पर पडता रहा।

१६३२ के अन्त मे लन्दन मे फिर से गोलमेज सम्मेलन हुआ और उसकी सिफारिशो के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने अपनी सिफारिशो के साथ एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया, उस पर ससद ने विचार किया तथा अन्त मे अगस्त १६३५ मे नया सविधान ब्रिटिश ससद ने बना कर तैयार कर दिया।

यहा हमने यह वर्णन करने की चेष्टा की है कि किन परिस्थितियो मे १६३५ के अधिनियम का जन्म हुआ। इससे हम यह जानने मे आसानी होगी कि इस पर कौन-कौन प्रभाव काम कर रहे थे। यह नही कहा जा सकता कि इस अवधि मे जितनी जाच हुई तथा जितने प्रस्ताव पास हुए, साथ ही देश मे शक्ति का जो भीषण प्रदर्शन हुआ उस सब का इस पर कितना प्रभाव हुआ, परन्तु यह कहना ठीक होगा कि उन सबका सम्मिलित प्रभाव इस पर हुआ अवश्य।

(२) भारत की परिस्थिति

१६३५ का अधिनियम जिस समय भारत में आया उस समय इस देश की स्थिति क्या थी, यह जान लेना भी इस प्रसग मे हमारे लिए लाभदायक सिद्ध होगा। यहा हम प्रधान रूप से भारत के राजनीतिक मानचित्र, राष्ट्रीय और सरकारी दृष्टिकोणो की भिन्नता तथा साम्प्रदायिक अभिशाप का उल्लेख करेंगे।

भारत का राजनीतिक मानचित्र—अग्रेजो के शासन-काल मे भारत दो

अलग भागो मे बंट गया था। एक भाग वह था जिस पर सीधे ब्रिटिश सरकार का नियत्रण था तथा जिसका सविधान लदन मे बनता था। दूसरा भाग वह था जो भारत के देशी राजाओ, महाराजाओ, नवाबो और निजामो के निरकुश शासन मे कराह रहा था। इन राजाओ पर ब्रिटिश सरकार आन्तरिक मामलो मे कोई नियत्रण नही करती थी, यद्यपि ब्रिटिश सम्राट इनके ऊपर वैधानिक दृष्टि से सर्वोपरि सत्ता (पैरामाउन्ट पावर) का स्वामी था तथापि वह तब तक हस्तक्षेप नही करता था जब तक कि ब्रिटिश हितो को कोई हानि पहुचने की सम्भावना न हो। ब्रिटिश भारत मे स्वराज के लिए जो आन्दोलन चल रहे थे उनका प्रभाव रियासती प्रजा पर भी पड रहा था। अग्रेज भारत को चाहे जितने टुकडो मे बाटते परन्तु यह एक सत्य है कि भारत अपनी सस्कृति, धर्म, भाषा और राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक अखंड राष्ट्र रहा है। यह नही हो सकता था कि देश के एक भाग मे स्वाधीनता के लिये संघर्ष चलता रहे और शेष भाग उससे अछूता बना रहे। जहा एक ओर देश की स्वाधीनता का नारा ऊचा हो रहा था वहां देश के एकीकरण की माग भी उठ रही थी। साथ ही, देशी राज्यो मे भी स्वतत्रता के सघर्ष के लक्षण प्रकट होने लगे थे। हम देखेंगे कि १९३५ के अधिनियम मे देशी राज्यो को भारतीय सघ शासन मे सम्मिलित करने के लिए प्रयास किया गया जो सफल नही हो सका।

दो भिन्न दृष्टिकोण—भारत की साविधानिक समस्या को हल करने वाले दो पक्ष थे, इनमें एक पक्ष वह था जो भारत की राष्ट्रीयता का प्रतिनिधि था और उसकी स्वराज्य की माग का प्रवक्ता था और दूसरा पक्ष ब्रिटिश अधिकारी थे जो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को अनिवार्य और ईश्वरीय योजना (डिवाइन डिस्पेंसेशन) मानते थे। इन दोनो पक्षो के दो भिन्न दृष्टिकोण थे जो केवल भिन्न ही नही परस्पर विरोधी और विपरीत थे। भारत की उत्कट राष्ट्रीयता बेचैनी से स्वराज्य की कामना कर रही थी। गाधीजी ने देश के भीतर एक ऐसी आध्यात्मिक और नैतिक स्वतत्रता की भावना पैदा कर दी थी कि देश क्षण भर के लिये भी विदेशी शासन को सहना नही चाहता था। दूसरी ओर सरकार स्वशासन के प्रश्न को लम्बी योजनायें बनाकर टालने के प्रयास कर रही थी, उसे भारत के मामले मे कोई जल्दी नही थी, अपनी सैनिक और आर्थिक शक्ति के बल पर वह निश्चिन्तता के साथ मन्थर गति से चल रही थी। इस प्रकार दोनो पक्षो के बीच लक्ष्यो की समानता तनिक भी नही थी और वे समानान्तर हितो के लिये काम कर रहे थे, इस कारण भारत की साविधानिक समस्या सुलझ नही पा रही थी।

साम्प्रदायिक अभिशाप—पिछले अध्यायो मे कई स्थानो पर हम यह बात स्पष्ट कर चुके हैं कि अंग्रेज जाति भारत मे फूट डालो और राज्य करो की नीति का अनुसरण कर रही थी। उसे इस बात से कोई प्रयोजन नही था कि उसकी यह नीति भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक एव सास्कृतिक जीवन में कितना घातक विष फैला रही है, उसे इस बात की भी कोई परवाह नही थी कि वह इस

प्रकार ससार के एक महान देश के भविष्य के साथ अपने सकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिए भयानक खिलवाड कर रही है जिसके लिए केवल भारत की ही नही, ससार भर की आने वाली पीढ़िया उसे कभी क्षमा नही करेगी। उसे तो भारत में शासन करना था और इस सोने की चिडिया को लूट कर अपना निर्माण करना था। अ ग्रेज अपने इस लक्ष्य म सफल हुए। महात्मा गाधी और देश के सभी राष्ट्रवादी हिन्दू और मुस्लिम नेताओ के अथक प्रयत्नो के बावजूद देश म सम्प्रदायवाद का जहर चढता जा रहा था। हमारे पाठक भली भाति जानते हैं कि यह विष देश के विभाजन के बाद भी उतरा नही, और आखिर महात्मा गाधी को शकर बनकर इस विष को स्वयं पी जाना पडा तभी वह मिट सका।

स्वशासन की सम्भावना मात्र से देश के भीतर साम्प्रदायिक अविश्वास की लहर फैल जाती थी और विशेषकर मुसलमानो की ओर से सरक्षणो की माग आने लगती थी। सरकार ऐसे अवसरो का लाभ उठाती थी पुलिस की मदद से दगे करा दिए जाते थे और जब दश की दो महान जातिया के दीवाने विदेशी शासक के प्रयोजनों को न समझ पाने के कारण आपस म एक दूसरे का रक्त सडको और गलियो म बहाते थे तो अ ग्रेज अधिकारी प्रसन्न होते थे तथा भारत की इस कमजोरी के तिल का ताड बनाकर ससार और देश के सामने रखते थे और इस आधार पर देश को स्वशासन के अयोग्य बता कर देश की माग को ठुकराते थे। सरकार ऐसे लोगो को कलेजे से लगाती थी जो सरकार से रक्षा मागते थ और तुरन्त उन्हे संरक्षण तथा विशेष सुविधायें देने के लिए तैयार रहती थी क्योंकि वह जानती थी कि इसी प्रकार वह अपनी आवश्यकता अनुभव कराके भारत म बनी रह सकती थी। इस प्रसग म साम्प्रदायिक निर्वाचनो का उल्लेख पिछले अध्यायों म कर चुके है, इसी नीति के परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक निर्णय आया जिसका विरोध गाधीजी ने अपने प्राणो की बाजी लगाकर किया। इसका हल तो हुआ परन्तु उसने सावैधानिक प्रश्न को और भी अधिक जटिल बना दिया, देश के भीतर जो जाति विशाल बहुसख्या म थी, विधान मडलों मे उसे अल्पमत की स्थिति प्राप्त हो गई।

अ ग्रेजों के समर्थक—यहा हम भारतीय राजनीति के एक दूसरे महत्वपूर्ण तत्व पर भी ध्यान देना होगा। अग्रेजो ने अपने लम्बे शासन काल म इस देश के भीतर कई ऐसे वर्ग खडे कर लिए थे जो अपनी जातीयता की दृष्टि से भारतीय थे परन्तु भारत म अ ग्रेज के शासन के प्रति वे पूरी तरह वफादार थ और अपनी राजभक्ति के परिणामस्वरूप सरकारी कृपा के पात्र बने रहते थे। इन वर्गों को ब्रिटिश सरकार के आधार कहा जा सकता है। इन वर्गो म प्रधानत य लोग थे—

१–सरकारी नौकरशाही—इस वर्ग ने अ ग्रेजो के शासन काल में बहुत अधिक सत्ता का उपभोग किया था, वह यह नही चाहता था कि उसकी यह सत्ता उसके हाथो से निकल जाये तथा उसके ऊपर एक भारतीय राजनीतिक नियत्रण की स्थापना हो। अत यह वर्ग पूरी वफादारी के साथ अ ग्रेजों का साथ देता था तथा जब कभी

देश में आन्दोलन चले यह देखा गया कि अंग्रेज प्रशासकों की अपेक्षा भारतीय सरकारी अधिकारी अधिक कठोरता के साथ आन्दोलन का दमन करने की चेष्टा करते थे।

२—**जमींदार वर्ग**—जमीदारी प्रथा का आरम्भ भारत मे लार्ड विलियम बेंटिक के जमाने मे हुआ। ये लोग जानते थे कि जब तक अंग्रेजी सरकार इस देश मे है तभी तक उनके हित सुरक्षित है क्योकि कांग्रेस तो यह घोषणा कर ही चुकी थी कि वह देश में से जमीदारी प्रथा को समाप्त करके जमीन किसान को देना चाहेगी। इसलिये ये तन मन और धन से ब्रिटिश सरकार का साथ देते थे।

३—**निहित स्वार्थ**—इनके अलावा देश मे कुछ दूसरे निहित स्वार्थ भी थे जैसे साहूकार, भारतीय सेनाओ के निवृत्त कर्मचारी, राय साहब, रायबहादुर और खां साहब जैसी अनेकों उपाधि पाकर अपने को धन्य मानने वाले लोग। ये सब अपने छोटे छोटे स्वार्थों के लिये अंग्रेजी सरकार का समर्थन करते थे।

श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस प्रकार के लोगो का उल्लेख 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' मे (१९४७, पृ० ३०६) यों किया है— ब्रिटिश सम्राट एक विदेशी शासक था और उसके पीछे विदेशी सेना और आर्थिक सत्ता की शक्ति तथा देश के भीतर उसके द्वारा पैदा किये गये निहित स्वार्थ और पिट्ठू वर्ग के लोगो का समर्थन था।"

इन परिस्थितियों मे १९३५ का अधिनियम भारत मे लागू करने की दिशा में कदम उठाये गये।

(३) १९३५ के विधान के प्रमुख लक्षण

ब्रिटिश सरकार जब कोई नया विधान भारत मे लागू करती थी तो उसमे कोई विशेषता होने की गुन्जाइश नही होती थी, उसका कारण यह है कि वह घुमा फिरा कर भारत के आत्म निर्णय के सिद्धान्त को अस्वीकार कर देता थी तथा वह किसी भी परिस्थिति मे भारतीय शासन के ऊपर से ब्रिटिश ससद के नियंत्रण को कम या ढीला नही करना चाहती थी। दूसरी ओर भारत मे बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्साह को भी वह पूरी तरह उपेक्षा नही कर सकती थी। परिणाम यह हुआ कि उसने भारत मे एक ऐसी विचित्र और अस्वाभाविक वैधानिक-व्यवस्था की स्थापना की जिसमे लोकतंत्र की खाल के नीचे साम्राज्यशाही का भेडिया छिपा हुआ था। भारत के लोग इतनी समझ रखते थे और वे उसे पहचान कर उसके भुलावे मे नही आते थे। परिणाम यह होता था कि सरकार की हर योजना हमारे देश मे असफल हो रही थी। १९१९ का विधान बुरी तरह असफल हुआ और १९३५ के विधान की कलई भी शीघ्र ही खुल गई तथा लागू होने के तीन वर्ष के भीतर ही वह ढांचा भी लडखडा कर गिर पडा।

१९३५ के अधिनियम को बहुत सोच विचार कर पास किया गया था और ब्रिटिश विधान शास्त्री उसे अपनी वैधानिक प्रतिभा की अनूठी रचना मानते थे।

उसकी विस्तृत समीक्षा से पहले यह अच्छा होगा कि हम उसको बुनियादी रचना के आधारों की खोज कर लें। इस सदर्भ म कहा जा सकता है कि १६३५ के अधिनियम की प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार थी—

१ विशुद्धत ब्रिटिश मस्तिष्क की उपज
२ भारत पर ब्रिटिश ससद की प्रभुता का रक्षण,
३ सघ योजना
४ अनेक सरक्षणो व सीमाओ से घिरा हुआ प्रान्तीय स्वशासन,
५ सघीय न्यायालय की स्थापना।

यहा हम सक्षेप म इनमे से प्रत्येक का वर्णन करे। तथा यह देखने की चेष्टा करें कि क्या वास्तव म यह सविधान किसी भी अर्थ म क्रान्तिकारी था और वह भारत को ब्रिटिश ससद द्वारा निर्धारित स्वशासन के लक्ष्य की दिशा मे ले जाने वाला था।

१–विशुद्धत ब्रिटिश मस्तिष्क की उपज—साइमन कमीशन के बारे म हम लिख चुके हैं कि उसम कोई भारतीय सदस्य नही था और यही प्रधान कारण था कि देश ने उसका विरोध किया क्योंकि देश के भीतर यह कामना पैदा हो चुकी थी कि भारत का सविधान भारत के जन प्रतिनिधि बनाये। इस प्रकार का एक प्रयास नेहरू समिति ने किया भी था और उसके परिणामस्वरूप नेहरू रिपोर्ट प्रकाशित की जा चुकी थी। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने भारत की इस सहज आकाक्षा को आशिक तौर पर भी स्वीकार नही किया। यह तो निश्चित ही है कि पूरे तौर पर इस माग को मान लेने का अर्थ होता भारत से अग्रेजी शासन का अन्त। ससद ने गोलमेज सम्मेलनों के द्वारा भारतीय नेताओ का मत जानना चाहा परन्तु उससे मामला और उलझ गया। भारतीय नेता कभी इस बात के लिय तैयार नही हो सकते थ कि भारत की जनता को भारत के शासन म भाग लेने का कोई अवसर ही प्राप्त न होने पावे। ब्रिटिश सरकार ने जब यह देखा कि भारत के नेता किसी भी स्थिति म उसकी योजना का समर्थन करने को तैयार नही है तो उसने अकेले बैठकर भारत के लिय सविधान बना डाला और यही १६३५ का भारत शासन अधिनियम (Government of India Act) था। इस प्रकार यह पूणतया ब्रिटिश मस्तिष्क की उपज था और यही कारण था कि यह भारत की जनता को सन्तुष्ट नही कर सका तथा वह अपना स्वाधीनता सग्राम जारी रखने के लिय विवश रही।

२–भारत पर ब्रिटिश ससद की प्रभुता का रक्षण—इस अधिनियम न यद्यपि भारत मे सघ स्थापित करने और प्रान्तो म स्वशासन का सिद्धान्त लागू करने की घोषणा की परन्तु उसने भारतीय शासन पर ब्रिटिश ससद के नियत्रण को तनिक भी ढीला नही किया, उसने भारत पर ब्रिटेन की प्रभुता म तनिक भी कमी नही की। उसने भारतीय सरकार की सविधायी सत्ता (Constituent Authority) अर्थात सविधान बनाने या उसमें सुधार-सशोधन करने की सत्ता ब्रिटिश ससद म बनाये रखी

और भारत को उस बारे म कोई अधिकार नही दिया। अधिनियम ने भारत मन्त्री की शक्तियो म कोई महत्वपूर्ण कमी नही की तथा भारत के उच्च प्रशासको की नियुक्ति की शक्ति उसके हाथ म पहले की ही भाति बनाये रखी। इस अधिनियम ने ससद के नियन्त्रण को और भी अधिक मजबूत बना दिया, क्योकि गवर्नर जनरल और गवर्नरो को अधिनियम के अन्तर्गत जो आदेश पत्र (Instrument of Instructions) दिय जाते थे उनकी स्वीकृति ससद से ली जाती थी। क्योंकि इस अधिनियम के अन्तगत भारत-मन्त्री और उसके कार्यालय पर होने वाले व्यय की कुल राशि को स्वीकृत या अस्वीकृत करने का अधिकार ससद ने अपने हाथों म ले लिया था अत स्वाभाविक तौर पर भारत के शासन पर उसका सक्रिय नियन्त्रण बढ गया।

३—सघ योजना—अधिनियम म कहा गया था कि भारत के केन्द्रीय शासन के स्तर पर एक सघ की स्थापना की जायगी जिसम ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय प्रदेश और देशी राज्य सम्मिलित होंगे। देखने में ऐसा लगता था कि भारत का राजनीतिक एकीकरण करने के लिये यह व्यवस्था की गई है। परन्तु वास्तविकता यह नही थी, ब्रिटिश सरकार यह जानती थी कि केन्द्रीय सरकार मे बनने वाले विधान मडल मे जो भारतीय-प्रतिनिधि जनता द्वारा चुन कर आ रहे है वे राष्ट्रीय विचार से प्रभावित है तथा यदि भारत को अपने पजे मे बनाये रखना है तो किसी भी प्रकार केन्द्रीय सरकार मे लोकतन्त्रीय और राष्ट्रीय तत्वो को कमजोर करके उसमे ऐसे प्रतिक्रियावादी और निरकुश तत्वों को प्रवेश दिया जाय जो सदा ब्रिटिश हितो की रक्षा कर सकें तथा भारत की जनता के सावैधानिक सघर्ष को सफल होने से रोक सके। इस योजना के द्वारा सरकार ब्रिटिश-भारत की प्रजा पर भी प्रतिक्रियावादी राजाओ का राज्य थोपना चाहती थी जो अभी तक उससे मुक्त रही थी। यह विचित्र योजना थी कि देशी रियासतो के जो प्रतिनिधि केन्द्रीय विधान मडल और सरकार मे बैठते वे राजाओ द्वारा मनोनीत होते तथा उनके चुनने में देशी रियासतो के नौ करोड लोगो को कोई अधिकार नही दिया गया था। सरकार जानती थी कि यदि रियासतो की जनता को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया तो एक ओर तो राजा लोग नाराज हो जायग और दूसरी ओर उसकी यह इच्छा अधूरी रह जायगी कि केन्द्रीय शासन म प्रगतिशील तत्वो की अपेक्षा प्रतिक्रियावादी सदस्य अधिक सबल बन कर रहें। इस बारे म श्री ज्वाहरलालजी ने लिखा है—"अधिनियम ने ब्रिटिश सरकार और राजाओं, जमीदारों तथा भारत के अन्य प्रतिक्रियावादियों के बीच दोस्ती को मजबूत बना दिया, इसने पृथक निर्वाचनो मे बढोतरी कर दी और इस तरह भेद-भाव की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया, इसने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग, बैंकिंग और शिपिंग की पहले से ही दृढ स्थिति को और भी मजबूत बना दिया तथा उसने इस स्थिति मे हस्तक्षेप के विरुद्ध वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिये।—इसने भारतीय वित्तीय व्यवस्था, सेना और विदेश सम्बन्धो पर पूरा नियंत्रण ब्रिटिश हाथो मे बनाये रखा

तथा इसने वाइसराय को पहले की अपेक्षा और भी अधिक शक्तिशाली बना दिया।"†

संघीय योजना के अन्तर्गत देशी रियासतों के राजाओं के प्रतिनिधियों को केन्द्रीय विधान मंडल के दोनों सदनों में जनसंख्या के अनुपात से बहुत अधिक स्थान दिये गये थे। देशी राज्यों में सारे देश की चौथाई जनता रहती थी परन्तु रियासतों को राज्यपरिषद के २६० सदस्यों में से १०४ स्थान अर्थात् पांच में से दो स्थान दिये गये, तथा संघीय विधानसभा में ३७५ में से १२५ अर्थात् एक तिहाई स्थान दिये गये। इतना ही नहीं संघ सरकार की आमदनी का ६० प्रतिशत अंश ब्रिटिश प्रान्तों से प्राप्त होता था तथा शेष १० प्रतिशत देशी राज्यों से, परन्तु उस धन पर नियन्त्रण करने के लिये देशी राज्यों को राज्यपरिषद में पांच में से दो तथा संघ विधान सभा में एक तिहाई शक्ति प्रदान की गई थी। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि सरकार केन्द्रीय विधान मंडल में निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या को घटा देना चाहती थी तथा रियासती प्रतिनिधियों और अपने नामजद (Nominated) सदस्यों की सहायता से अपना बहुमत बनाना चाहती थी। यह योजना सफल नहीं हो सकी तथा अधिनियम का यह अंश कभी लागू नहीं किया जा सका।

४–अनेक संरक्षणों व सीमाओं से घिरा हुआ प्रान्तीय स्वशासन—१६१६ के भारत शासन अधिनियम ने प्रान्तों में द्वैध शासन (Dyarchy) की स्थापना की थी जिसमें सीमित मात्रा में उत्तरदायी शासन का एक प्रयोग किया गया था। नये विधान ने प्रान्तीय शासन में सुरक्षित और हस्तांतरित विषयों के बीच का भेदभाव समाप्त कर दिया तथा प्रान्तीय शासन के सभी विषयों को जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में सौंपने की योजना बनाई। परन्तु सरकार की हर योजना में एक 'परन्तु' लगा हुआ था और वह 'परन्तु' था हमारी दासता का। ब्रिटिश सरकार यह सहन नहीं कर सकती थी कि भारत के लोग प्रान्तीय शासन में उत्तरदायी सरकार की स्थापना का अर्थ यह समझें कि भारत स्वतन्त्र हो गया है और उसे आत्म निर्णय का अधिकार प्राप्त हो गया है। ब्रिटिश हितों और ब्रिटिश संसद की प्रभुता की रक्षा करना अधिनियम का पहला काम था और उसके लिये उसने प्रान्तों के उत्तरदायी शासन को चारों ओर से संरक्षणों और सीमाओं से घेर दिया। एक ओर तो गवर्नर को स्वैच्छिक-सत्ता दे दी गई जिसके द्वारा वह प्रान्तीय विधानमंडल और मंत्रिमंडल के किसी भी निर्णय और काम को रद्द कर सकता था तथा उनके लिये काम करना असम्भव बना सकता था। दूसरी ओर प्रान्तीय सरकारों के लिये यह आवश्यक माना गया था कि वे केन्द्रीय सरकार के आदेशों का पालन करेंगी तथा वे इस प्रकार अपनी शक्ति का प्रयोग करेंगी जिससे कि केन्द्रीय सरकार के काम में बाधा न पड़े। इसके अलावा गवर्नर को प्रान्त में अनेक विशेष उत्तरदायित्व सम्हलाये गये थे और उसे यह सत्ता दी गई थी कि वह यह घोषणा करके कि प्रान्त में सांविधानिक शासन का चलना असम्भव हो

† The Discovery of India, 1947, pp 305-306

गया है प्रान्तीय शासन को स्वय अपने हाथो में ले सकता है। इतना ही नही, केन्द्रीय सरकार के हाथ म प्रातो को धन देने की महत्वपूर्ण शक्ति दी गई थी जिसके द्वारा केन्द्र प्रान्तीय सरकारो पर बहुत अधिक नियत्रण कर सकता था तथा उनसे अपनी शर्तें मनवा सकता था।

'प्रातीय स्वशासन के सीमित क्षेत्र म सत्ता का हस्तातरण बहुत अधिक दिखाई पडता था। निस्सदेह लोकप्रिय सरकार की स्थिति असाधारण थी, वाइसराय की शक्ति और एक निरकुश केन्द्रीय सत्ता की ओर से तो प्रतिबन्ध थे ही प्रान्त का गवर्नर भी वाइसराय की तरह हस्तक्षप कर सकता था निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था, अपनी सत्ता के बूते पर कानून बना सकता था तथा लोकप्रिय मन्त्रियो व प्रान्तीय विधान मडलो के प्रत्यक्ष विरोध म प्राय कुछ भी कर सकता था।' †

५—सघीय न्यायालय की स्थापना—सघ शासन व्यवस्था म सघीय न्यायालय का होना अनिवार्य होता है जो सघ और राज्यो के बीच तथा आपस मे राज्यो के बीच होने वाले सघर्षो का निपटारा कर सके तथा सविधान की विवादास्पद धाराओ की व्याख्या कर सके और नागरिको के मौलिक अधिकारो की रक्षा कर सके। १९३५ के अधिनियम ने इस प्रकार के न्यायालय की स्थापना की, परन्तु वह न्यायालय देश म न्याय करने वाला सर्वोच्च न्यायालय नही था, उसके निर्णयो के विरुद्ध इग्लैंड मे बैठने वाली प्रिवी-काउसिल के सामने अपीलें ले जाई जा सकती थी। इसी प्रकार सावैधानिक व्याख्या के मामले म भी उसका निर्णय अन्तिम नही माना जाता था। जहा तक नागरिको के अधिकारो की रक्षा का प्रश्न है वह तो उठता ही नही क्योकि भारत के नागरिको को इस अधिनियम ने कोई मौलिक अधिकार दिये ही नही थे। इस प्रकार यद्यपि इसे नाम सघीय-न्यायालय दिया गया था तथापि इसे वैसी शक्तिया नही दी गई, फिर जब सघ बना ही नही तब सघीय न्यायालय का कोई महत्व ही नही रहा, वह केवल एक बडे न्यायालय जैसा रह गया।

अन्य प्रमुख लक्षण—१९३५ के अधिनियम की इन विशेषताओ के अतिरिक्त उसके कुछ और लक्षण भी गिनाये जा सकते है, इनम हम पहले केन्द्रीय शासन द्वैध-शासन या दोहरे शासन (Dyarchy) का उल्लेख कर सकते है। उसके बाद यह कहा जा सकता है कि इस अधिनियम ने सविधान की प्रस्तावना म यद्यपि भारत के लिये किसी नये लक्ष्य की घोषणा नही की तथापि उसने १९१९ के अधिनियम की प्रस्तावना म इतना अवश्य सुधार कर दिया कि क्रमिक उत्तरदायी शासन की स्थापना केवल ब्रिटिश भारत मे ही नही देशी राज्यो म भी की जायगी। इसने पहली बार पूरे भारत को एक इकाई मानकर कानून बनाया यह अपने म एक बडी बात थी।

इस अधिनियम के द्वारा बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया। बर्मा म कुछ समय से वहा के निवासियो, भारतवासियो और चीनी निवासियो के व्यापारिक

† Sri Jawahar Lal Nehru Ibid pp 306

हितो के बीच सघर्ष चल रहा था, अत ब्रिटिश सरकार ने बर्मा के लोगो के मन मे भारत और चीन के विरुद्ध भावनाये पैदा करने के लिये बर्मा को भारत से अलग किया। परन्तु जब बर्मा के लोगो ने देखा कि उन्हें स्वतन्त्रता नही दी गई तब वे अंग्रेजो के विरुद्ध हो गये।

इस अधिनियम के द्वारा बरार प्रदेश को निजाम के शासन मे से निकाल कर मध्य प्रान्त के साथ मिला दिया गया तथा मध्यप्रान्त और बरार के लिये एक गवर्नर नियुक्त किया गया।

(४) नये विधान के अन्तर्गत गृह सरकार का स्वरूप

पिछले अध्याय म हम यह वर्णन कर चुके ह कि भारत का शासन तीन केन्द्रो से चल रहा था। इन तीनो केन्द्रो मे सब से अधिक शक्तिशाली केन्द्र को होम गवर्नमेन्ट या गृह सरकार कहा जाता था। गृह सरकार का प्रधान कार्यालय ब्रिटेन मे था क्योकि वह शासक-देश था और भारत शासित, और इन दो देशो के बीच म केवल यह राजनीतिक भेद ही नही था वरन् उनकी संस्कृति, उनकी नस्ल और उनकी जीवन-पद्धति मे भी भेद था और वे भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से बहुत दूर थे। यहा हम उस गृह सरकार का अध्ययन १६३५ के अधिनियम के सदर्भ मे करेंगे तथा केवल उसमे नयी व्यवस्था के अनुसार होने वाले परिवर्तनो का ही उल्लेख करेंगे। गृह सरकार के तीन प्रधान अंग थे, भारत मन्त्री, भारत परिषद और भारत कार्यालय।

भारत मन्त्री—भारत मन्त्री ब्रिटिश ससद, वहाँ के मन्त्रिमडल और अ तरग मडल (Cabinet) का सदस्य होता था। इस नाते वह ब्रिटिश ससद के बहुसख्यक दल का एक प्रमुख नेता होता था और वह अपने मंत्रिमंडल के साथ सामूहिक तौर पर ससद के सामने भारत के शासन के लिय उत्तरदायी होता था। जब हम भारत मंत्री की शक्तियो के घटने-बढने की बात कहते है तो हम यह समझ लेना होगा कि जब तक भारत ब्रिटिश सरकार के आधीन था वह भारत मत्री के पूरे नियन्त्रण मे रहा। ब्रिटिश सरकार का अर्थ होता है ससद। ससद में बहुमत दल का शासन होता है जो अपने मंत्रिमंडल के द्वारा अपनी नीतिया तय करता है। भारत मन्त्री मन्त्रिमडल का सदस्य होने कारण उसके लिय अन्तिम रूप से उत्तरदायी होता था और जो उत्तरदायी होता है वही सत्ताधारी भी होता है। यो नाम के लिय भारत की सरकार ब्रिटिश सम्राट के आधीन थी, परन्तु हम वास्तविकता को नही भुलाना चाहिये कि बेचारा ब्रिटिश सम्राट तो स्वय ही वहा के मन्त्रिमडल के आधीन होता है या यो कहें कि वह उसके हाथ की कठपुतली होता है।

१६३५ का अधिनियम अपनी धारा १४ और ५४ मे यह स्पष्ट उल्लेख करता है कि जब कभी गवर्नर जनरल और प्रान्तो के गवर्नर स्वेच्छिक शक्तियो का प्रयोग करेंगे तो गवर्नर जनरल भारत मन्त्री के नियन्त्रण मे रहेगा तथा उसको दी हुई हिदायतो का पालन करेगा और गवर्नर गवर्नर-जनरल के नियंत्रण मे। वैसे यहा एक बात

बहुत महत्वपूर्ण है कि १६१६ के अधिनियम ने भारत मन्त्री को भारत सरकार पर नियत्रण, निरीक्षण और निर्देशन (Superintendence, Control and Direction) की शक्ति दी थी परन्तु १६३५ के अधिनियम ने इन शक्तियो का कोई उल्लेख नही किया। इसके दो अर्थ हो सकते है-या तो यह कि भारत मत्री की य शक्तिया ब्रिटिश परम्परा के अनुसार परिपाटिया अर्थात अभिसमय (Conventions) बन चुकी थी और उनका बार-बार उल्लेख करने की आवश्यकता ही नहीं रही थी, या इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि नई परिस्थिति मे जब कि भारत मे एक सघ बनाया जा रहा था और प्रान्तो मे उत्तरदायी शासन की स्थापना की जा रही थी, सरकार का इरादा भारत मत्री के नियत्रण को ढीला करने का था। परन्तु वास्तव मे जैसा हम पहले कह चुके हैं इस बारे मे कोई नई काल्पनिक परिभाषा करने की गुन्जाइश नही है क्योकि भारत मन्त्री निश्चय ही सर्वोच्च सत्ता का वास्तविक प्रतीक था। शासन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नही छोडा गया जिस पर भारत मत्री का नियत्रण स्थापित न किया गया हो, चाहे वह सुरक्षा का मामला हो या विदेश सम्बन्धो का, इण्डिया सिविल सर्विस का या इण्डिया पुलिस सर्विस का, रिजर्व बैंक का हो या सघीय रेलवे ऑथॉरिटी का। यह वास्तव म स्वय भारत मन्त्री पर निर्भर करता था कि वह अपनी शक्ति का प्रयोग किस सीमा तक करना पसन्द करता है।

भारत परिषद (India Council) के स्थान पर परामर्शदाता—१६३५ का अधिनियम बनने तक भारत मन्त्री को सलाह देने के लिय भारत परिषद का सगठन चल रहा था। नय विधान ने इस परिषद को भग कर दिया तथा उसके स्थान पर एक परामर्शदाता मडल की स्थापना की। इन परामर्शदाताओ की नियुक्ति और पदमुक्ति करने का अधिकार भारत मन्त्री को दे दिया गया, वही उनकी सख्या भी भारत मे सघ बनने तक ८ से १२ तक के बीच और बाद मे ३ से ६ के बीच निर्धारित कर सकता था। उनका कार्यकाल ५ वर्ष होता था और वे एक बार से अधिक उस पद पर नियुक्त नही हो सकते थे। भारत मन्त्री अपनी इच्छा के अनुसार अपने परामर्शदाताओ को अलग-अलग या सामूहिक रूप से आमन्त्रित करके उनसे किसी विषय पर परामर्श कर सकता था। किसी विषय पर परामर्श लेने के लिये वह बाध्य नही था, वह इस बात के लिये भी बाध्य नही था कि परामर्शदाताओ के किसी परामर्श को उसे मानना ही पड़े। केवल भारत की उच्च सेवाओ के बारे मे उसे परामर्शदाताओ के दृष्टिकोण को स्वीकार करना अनिवार्य था। इस प्रकार उसके परामर्शदाता किसी प्रकार भी उसके ऊपर बन्धनकारक नही थे। यह बहुत स्वाभाविक था क्योंकि भारत मन्त्री ब्रिटिश मन्त्रिमडल का सदस्य होने के कारण ससद के सिवाय किसी दूसरे के नियत्रण या बन्धन म नही रह सकता था।

भारत कार्यालय—भारत-मन्त्री के कार्यालय को भारत कार्यालय कहा जाता था। इसमें भारत मन्त्री और उसके बहुत से क्लर्कों के अतिरिक्त दो प्रमुख सहायक

होते थे जिन्हे अन्डर सेक्रेटरी कहा जाता था। इनमे से एक संसदीय अन्डर सेक्रेटरी और दूसरा स्थायी-अन्डर सेक्रेटरी होता था। ससदीय-सचिव संसद का सदस्य होता था और मन्त्रिमडल के साथ पद ग्रहण करता और छोडता था। स्थायी-सचिव ब्रिटेन की स्थायी सेवा का सदस्य होता था तथा वह भारत कार्यालय मे विशेषज्ञ माना जाता था।

भारत कार्यालय का खर्चा—१६१६ के अधिनियम से पहले भारत-मन्त्री, उसकी परिषद और उसके कार्यालय का पूरा वेतन और खर्चा भारत को देना पडता था, १६१६ के अधिनियम ने इस स्थिति को थोडा बदला और उस व्यय मे से केवल बीस लाख रुपये ब्रिटिश सरकार देने लगी, शेष राशि भारत को देनी होती थी। १६३५ के अधिनियम ने इस स्थिति मे एक और नाम मात्र का परिवर्तन किया। उसकी धारा २८० में कहा गया कि भारत मन्त्री और उसके कार्यालय पर होने वाला व्यय संसद देगी, परन्तु उसके साथ ही अगली धारा मे यह कहा गया कि भारत-मत्री जब भारतीय सघ की ओर से काम करेंगे तो उनके सारे खर्चे भारत सरकार को देने होगे। यह एक विचित्र कूटनीति थी। इस समय तक भारत को दो लाख रुपया प्रति-वर्ष की सहायता ब्रिटिश ससद दे रही थी और इस अधिनियम के अनुसार भारत ब्रिटिश सरकार को भारत कार्यालय के व्यय मे सहायता देने लगा। इससे केवल वैधानिक अन्तर हुआ, व्यवहार मे कोई भी अन्तर नही आया। भारत को भारत मन्त्री और उसके कार्यालय का व्यय अब भी देना ही पडता था और उस राशि मे इसके बाद कोई भी अन्तर नही आया। बात बिल्कुल साफ थी कि भारत मन्त्री और उसका कार्यालय जो भी कार्य करते थे वह भारत से सम्बन्धित होता ही था अत उस पर भारत को व्यय करना पडता था।

भारत का हाई कमिश्नर—भारत सरकार की ओर से ब्रिटेन मे रहने वाले उसके हाई कमिश्नर (उच्चायुक्त) के बारे मे १६३५ के विधान ने यह परिवर्तन किया कि अधिनियम की धारा ३०२ के अन्तर्गत उसकी नियुक्ति का अधिकार अकेले गवर्नर-जनरल को ही दे दिया गया और कहा गया कि इस मामले में वह अपना विवेक प्रयोग कर सकता था। उसके कामो की सूची, वेतन, काम की शर्तें और दशायें सब कुछ गवर्नर-जनरल द्वारा तय की जायेगी, यह भी कहा गया। अब उस बारे मे गवर्नर-जनरल की परिषद को कोई अधिकार नही दिया गया।

इस परिवर्तन का बहुत राजनीतिक महत्व है। ब्रिटिश सरकार यह जानती थी कि धीरे-धीरे भारत मे उत्तरदायी शासन की स्थापना हो रही है और स्वय १६३५ के विधान मे सघ की स्थापना व केन्द्रीय सरकार मे उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था की गई थी, ऐसी स्थिति मे यदि हाई कमिश्नर की नियुक्ति मे गवर्नर-जनरल के साथ उत्तरदायी भारतीय-मन्त्रियो को भी सम्मिलित कर लिया जाता तो उस पर भारत-मंत्री का नियन्त्रण होने के बजाय वह भारत मन्त्री के बराबर का अधिकारी हो जाता इतना ही नही, भारत सरकार का प्रतिनिधि होने के कारण वह एक राजदूत की हैसि-

यत का अधिकारी हो जाता जैसे कि स्वतन्त्रता के बाद से होता है। उससे भारत मन्त्री के पद की प्रतिष्ठा कम हो जाती, इसी बात को ध्यान मे रखा गया और यह व्यवस्था की गई कि उसकी नियुक्ति गवर्नर जनरल अकेले ही करे जिससे कि वह भारत मन्त्री के आधीन रह सके।

(५) भारत की केन्द्रीय सरकार

भारत की केन्द्रीय सरकार का अध्ययन करते समय हमें सब से पहले उसके सघात्मक स्वरूप को देखना होगा, उसके पश्चात् उसके कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका अंगो का अध्ययन किया जा सकेगा।

संघात्मक स्वरूप :—१९३५ के अधिनियम ने भारत में एक संघ की स्थापना करने की दृष्टि से व्यवस्था की। जैसा हम पीछे इस प्रसंग में बता चुके हैं, यह सघ किसी भी व्यवहारिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से सघ की परिभाषा के अन्तर्गत नही आता। इसका निर्माण ब्रिटिश भारत के प्रान्तो और स्वेच्छा से सम्मिलित होने वाले देशी राज्यो से मिलकर होने को था। ब्रिटिश भारत में ११ प्रान्त थे। राज्यो के लिये यह अनिवार्य नही था कि वे संघ मे शामिल हो। यह उनकी इच्छा पर छोडा गया था। विधान मे यह भी कहा गया कि यदि देशी राज्यो की कुल जनसंख्या की आधी के शासक (राजा, महाराजा) भी सघ मे सम्मिलित होने को तैयार हुए तो संघ की स्थापना कर दी जायेगी। न यह शर्त कभी पूरी हुई और न स्वतन्त्रता से पहले सघीय व्यवस्था की स्थापना की ही जा सकी।

सघ के बारे मे सब से अधिक विचित्र बात यह थी कि उसमे सम्मिलित होने वाली इकाइया एक दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रकार की थी। प्रान्तो मे स्वशासन की स्थापना की जा रही थी परन्तु देशी राज्यो मे मध्य युगी निरकुश एकतंत्र चल रहा था और उनम प्रजा का मुह बन्द कर दिया गया था। प्रान्तो के जो प्रतिनिधि सघीय-विधान सभा मे जाते उनका निर्वाचन प्रान्तो की जनता को करना था परन्तु राज्यो के प्रतिनिधियों के निर्वाचन मे वहा की जनता को कोई अधिकार नही दिया गया, वे राजाओ द्वारा मनोनीत किये जाते थे। इतना ही नही, जहा तक प्रान्तो का सम्बन्ध था वे सघ सूची और समवर्ती सूची के विषयो मे सघ के आधीन थे, परन्तु राज्यो की स्थिति इससे भिन्न थी, वे केवल उन मामलो मे संघ के आधीन होते जो उनके समझौता पत्र (Instrument of Accession) मे लिखे होते। ये विषय हरेक देशी राज्य के लिये अलग-अलग हो सकते थे। सघीय विधान-मडल यदि राज्यो के बारे में कोई साविधानिक परिवर्तन करना चाहती तो राज्यो के प्रतिनिधि इस प्रकार के विधेयको पर निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग कर सकते थे। यह उल्लेख हम कर ही चुके हैं कि राज्यो को संघ-विधान मंडल में प्रान्तो की अपेक्षा अधिक स्थान (Seats) दिये गये थे। प्रो० ए० बी० कीथ ने इस विषय मे बहुत स्पष्ट भाषा मे लिखा है कि "सघीय योजना के बारे में सतोष होना बहुत कठिन है। जिन इकाइयो से यह बना है

वे परस्पर इतनी भिन्न हैं कि उन्हें आसानी से इकट्ठा नहीं किया जा सकता, और यह तो बहुत स्पष्ट ही है कि ब्रिटिश सरकार की ओर से योजना का पक्ष इसलिये लिया जा रहा है जिससे कि ब्रिटिश-भारत द्वारा जुटाये गये सनरनाकजनतन्त्रात्मक तत्वों का सामना करने के लिये शुद्ध रूढ़िवादी तत्वों को खड़ा किया जा सके। ' ' भारत में फैली हुई इस धारणा को गलत कहना कठिन है कि भारत में सघ की स्थापना के पीछे यह उद्देश्य है कि ब्रिटिश-भारत की केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायी शासन की स्थापना के प्रश्न को टाला जा सके। इसके अतिरिक्त सुरक्षा व विदेशी मामलो को सघीय नियंत्रण से अनिवार्यत अलग रखना तथाकथित उत्तरदायित्व की योजना को अर्थ-हीन बना देते हैं।" (A Constitutional History of India)

इस सब के बावजूद देखने में १९३५ का विधान सघात्मक लगता था, वह लिखित था, उसमें संघ सरकार और प्रान्तो के बीच शक्तियों का विभाजन तीन सूचियों—सघ सूची, प्रान्तीय सूची तथा समवर्ती सूची में किया गया था एव संघीय न्यायालय की स्थापना की गई थी। यहाँ यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि इसमें संघात्मक सविधान के अनेक तत्व उपस्थित नहीं थे।

शक्तियों का विभाजन—तीन सूचियां—अधिनियम ने राज्य की शक्तियों को तीन सूचियों में बाटा था, सघ-सूची म ५९ विषय रखे गये थे, जिनमे कुछ इस प्रकार हैं—सुरक्षा, विदेश सम्बन्ध, यातायात व सवाद परिवहन, विदेशों के साथ व अन्तर्प्रान्तीय व्यापार, मुद्रा, टक्साल आदि। संघीय करों (Federal Taxes) में प्रमुखत तट कर, नमक कर आबकारी, आय कर, स्टाम्प ड्यूटी आदि थे।

प्रान्तीय सूची म ५४ विषय रखे गये जिसमे शान्ति-सुव्यवस्था, न्यायालय, पुलिस, जेल, निर्वाचन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्थानीय सरकार, शिक्षा, सिंचाई, खेती, भूमि, वन, बेकारी आदि थे। प्रान्तो को भू-राजस्व, प्रान्तीय आबकारी, मनोरञ्जन कर आदि आमदनी के स्रोत दिये गये।

समवर्ती सूची में ३६ विषय रखे गये थे जिनम दड-कानून और व्यवहार-कानून, समाचार पत्र, पुस्तकें, प्रेस, कारखाने, श्रम कल्याण, बिजली, ट्रेड यूनियन आदि थे।

अवशिष्ट विषयो के बारे मे कहा गया था कि गवर्नर अपने विवेक से जो अवशिष्ट शक्ति जिस सरकार को देना चाहेगा दे सकेगा। तीनों सूचियो में शक्तियो का काफी बारीकी के साथ विभाजन किया गया था और कोशिश यह की गई थी कि अवशिष्ट शक्तियां कम से कम हो।

शक्ति विभाजन के बारे मे सब से अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि यदि दो या दो से अधिक प्रान्तों की विधान सभाएं सघ ससद से यह प्रार्थना करती कि वह किसी प्रान्तीय सूची के किसी विषय पर विधि निर्माण करे तो वह सब प्रान्तो के लिये उन विषयो पर कानून बना सकती थी। सविधान का सशोधन करने की शक्ति भारत से हजारों मील दूर ब्रिटिश संसद को दी गई थी। आर्थिक दृष्टि से संघीय सरकार

को काफी सुदृढ बनाने की चेष्टा की गई थी।

संघीय कार्यपालिका—संघीय कार्यपालिका के क्षेत्र म नये विधान ने द्वैध शासन की योजना लागू की थी। यह योजना लगभग वैसी ही थी जैसी कि १९१९ के अधिनियम ने प्रान्तों मे लागू की थी। संघीय सरकार की कार्यपालिका सत्ता को दो भागो म बाट दिया गया था—सरक्षित (Reserved) और हस्तातरित (Transferred)। सरक्षित विषयो म गवर्नर जनरल अपने वित्त और सुरक्षा सबधी परामर्शदाताओ सहित शक्ति का प्रयोग करता था तथा हस्तातरित विषयो में मंत्रि-परिषद की सहायता से।

सरक्षत विषयो मे गवर्नर जनरल की शक्तिया वास्तविक थी परन्तु हस्तातरित मामलो म उससे यह अपेक्षा की गई थी कि वह सावैधानिक अध्यक्ष की तरह काम करेगा। इसके बावजूद भी उसे इतनी शक्ति दी गई कि वह दोनो क्षेत्रो म ही सर्वसत्ताधारी शासक बन गया। गवनर जनरल देशी राज्यो के मामलो मे ब्रिटिश सम्राट का प्रतिनिधि था और उस नाते वह वाइसराय कहलाया, इस हैसियत में वह राज्यो के ऊपर सर्वोपरि सत्ता (Paramount Power) का प्रयोग करता था। गवर्नर जनरल को वास्तविक शक्तिया प्रदान करने के लिय १९३५ के विधान ने उसे अनेक विशेष उत्तरदायित्व (*Special Responsibilities*) सौंप दिय थे तथा उन दायित्वो की पूर्ति के लिय विशेष शक्तिया प्रदान कर दी थी। इन विशेष-उत्तरदायित्वो मे कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—

(१) भारत या उसके किसी भाग की शान्ति या व्यवस्था के लिये किसी गम्भीर सकट को दूर करना।
(२) सघ सरकार की आर्थिक स्थिरता और साख की रक्षा करना।
(३) अल्पसख्यको के वाजिब हितो की रक्षा करना।
(४) लोक सेवाओ के वर्तमान या पुराने सदस्यो अथवा उनके आश्रितो के अधिकारो और वाजिब हितो की रक्षा करना।
(५) भारत के साथ व्यापार करने वाल ब्रिटिश प्रजाजनो या कम्पनियो के विरुद्ध व्यापारिक या वित्तीय भेदभाव को रोकना।
(६) भारत म ब्रिटिश वस्तुओ के निर्यात के विरुद्ध भेदभाव की नीति को रोकना।
(७) *राज्यो और राजाओ के अधिकारो की रक्षा करना।*
(८) इस अधिनियम के अन्तर्गत जो काम गवर्नर जनरल को सौंपे गय हैं उनको पूरा करने के रास्ते म यदि किसी प्रकार अडचन पैदा हो तो उसे दूर करना।

यह बडी दिलचस्प बात है कि अधिनियम की लगभग ९४ धारायें गवर्नर जनरल को विशेषाधिकार प्रदान करती थी। वह अपने मन्त्रियो को नियुक्त और पदच्युत करता था, विधान मडल के विधेयको को स्वीकृत, सशोधित या रद्द कर सकता

था, विधान मडल द्वारा अस्वीकृत विधेयको को कानून बना सकता था, किसी विषय पर विधान मन्डल की चर्चायें रोक सकता था, अध्यादेश जारी कर सकता था, प्रान्तीय गवर्नरो को अध्यादेश जारी करने के लिये आदेश दे सकता था, प्रान्तीय विधेयको को रद्द कर सकता था, पुलिस के लिये नियम बना सकता था, सशस्त्र सेनाओ के प्रयोग पर नियत्रण करता था, विधान मडल को भंग कर सकता था, और वह सब से बडी बात अर्थात विधान को ही भंग कर सकता था। यहा हमने गवर्नर जनरल की शक्तियो का विस्तार से उल्लेख इसलिय किया है जिससे कि सघ-क्षेत्र मे उत्तरदायी-सरकार के दावे की निरर्थकता स्पप्ट हो सके।

संरक्षित क्षेत्र मे अर्थात प्रतिरक्षा (Defence), वैदेशिक संबध, चर्च संबंधी मामलो और भारत के जनजाति क्षेत्रो (Excluded Areas) के बारे मे वह अपने परामर्शदाताओ के परामर्श से शासन चलाता था, उस बारे मे उसकी सत्ता अबाध और अखंड थी। गवर्नर जनरल को उपरोक्त शक्तियों के अलावा विधान मडल, वित्त और न्यायालयो से संबधित अन्य सामान्य व विशेष सत्ता प्राप्त थी। वह अनेक नियुक्तिया भी करता था। सरक्षित विपयो के प्रशासन मे गवर्नर जनरल भारत मन्त्री के प्रति उत्तरदायी होता था और उस बारे म वह उसकी आज्ञाओ का पालन करता था। यो सामान्यतया गवर्नर जनरल भारत मन्त्री के किसी भी आदेश को नही टाल सकता था।

परामर्शदाता—गवर्नर जनरल के परामर्शदाताओ की सख्या अधिक से अधिक तीन हो सकती थी, उनकी नियुक्ति स्वय गवर्नर जनरल करता था, परन्तु उनके वेतन, सेवा की शर्तों और अन्य मामलो का निर्णय सपरिपद ब्रिटिश सम्राट करता था। ये परामर्शदाता सामूहिक रूप से काम नही करते थे ये अलग-अलग अपने काम के लिये गवर्नर के प्रति उत्तरदायी बनाये गये थे। य लोग संघ विधान मन्डल के किसी एक सदन के सदस्य होते थे जिसमे वे बैठते थे परन्तु वहा उन्हे मत देने का अधिकार नही था। विधान मडल के प्रति वे तनिक भी उत्तरदायी नही होते थे और वह उनके बारे मे कोई प्रस्ताव पास नही कर सकता था। ये लोग सरक्षित विभागो का सचालन गवर्नर जनरल की इच्छा के अनुसार ब्रिटिश सरकार के एजेन्ट की हैसियत से करते थे और गवर्नर जनरल के अवकाशकाल मे अपने पदो पर बने रहते थे।

मन्त्रिमन्डल—एक बात बहुत महत्वपूर्ण है कि १९३५ के विधान ने यद्यपि यह व्यवस्था की थी कि संघ मे हस्तातरित विपयों का प्रशासन चलाने के लिये अधिक से अधिक १० मत्रियो की नियुक्ति की जा सकती है तथापि वह इस बारे मे मौन रहा कि मन्त्री लोग सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर काम करेंगे या नही। उसमें कहा गया था कि मत्रियो की नियुक्ति स्वय गवर्नर जनरल विधान मडल के सदस्यों मे से करेगा, और यदि वह किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्री बनाता है जो विधान मडल का सदस्य नही है तो उस व्यक्ति को छह मास के भीतर उसकी सदस्यता प्राप्त कर लेनी अनिवार्य होगी अन्यथा वह मन्त्री नही रह सकेगा। उनका वेतन विधान

मंडल को तय करना था परन्तु पहली बार यह काम करने की शक्ति गवर्नर जनरल को दी गई थी। मन्त्री तब तक अपने पदो पर बने रह सकते थे जब तक गवर्नर जनरल उनसे प्रसन्न रहे।

इस सब के बावजूद विधान निर्माताओ की यह इच्छा थी कि भारत में मंत्रिमंडल संयुक्त उत्तरदायित्व (Joint Responsibility) के सिद्धान्त के अनुसार काम करे। इस उद्देश्य से गवर्नर जनरल को दिये जाने वाले आदेश पत्र में यह कहा गया था कि वह इस बात की चेष्टा करे कि मंत्रिमंडल में संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना का विकास हो सके। उसमें यह भी कहा गया कि गवर्नर जनरल उस व्यक्ति की मदद से मंत्रियो को छाटे और नियुक्त करे जो विधान मंडल मे बहुमत का समर्थन प्राप्त कर सकने की स्थिति में हो। उसे यह भी आदेश दिया गया कि वह देशी राज्यों और अल्पसंख्यको के प्रतिनिधियों को भी मंत्रिमंडल मे स्थान दे।

इस संदर्भ मे हमें यह नही भूलना चाहिये कि आदेश पत्र (Instrument Of Instructions) विधान का अंग नही था और यह गवर्नर जनरल की इच्छा और उसके विवेक पर निर्भर करता था कि वह किस सीमा तक आदेश-पत्र में दिये गये निर्देशो का पालन करे। वास्तविकता यह थी कि सारी कार्यपालिका सत्ता गवर्नर जनरल मे निहित थी। मंत्रिमंडल की बैठको मे वह अध्यक्षता कर सकता था। यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता कि वह उस व्यक्ति को, जो विधान मंडल के बहुमत का नेता होता और जिसकी सलाह से वह दूसरे मंत्रियो की नियुक्ति करता, प्रधान मंत्री बनाता या न बनाता। क्योकि विधान का यह अंश लागू ही नही हुआ अतः इस बारे में अधिक अटकल लगाने का कोई उपयोग नही है।

संघ विधान मंडल—केन्द्र मे पहले से ही दो सदनो वाला विधान मंडल मौजूद था, नये विधान ने उसमे इतना ही परिवर्तन किया कि उसने उसमें सम्राट को भी जोड दिया जिसका प्रतिनिधित्व गवर्नर जनरल करता था। संघ विधान मंडल मे दो सदनो का होना अनिवार्य होता ही है। नये विधान ने एक सदन को सभा-सदन (House of Assembly) और दूसरे को राज्य-परिषद (Council of State) कहा।

राज्य-परिषद मे सदस्यों की अधिकतम सीमा २६० निर्धारित की गई जिनमे से १५६ प्रान्तो के प्रतिनिधि और १०४ देशी राजाओं के प्रतिनिधि होते थे। देशी राज्यो के प्रतिनिधियों की संख्या सम्मिलित होने वाले राज्यों की संख्या पर निर्भर करती, परन्तु उनके प्रतिनिधि किसी भी स्थिति मे ५० से कम नही हो सकते थे। राज्यो के प्रतिनिधियो को उनके शासक मनोनीत कर सकते थे, अधिनियम ने राजाओ से यह अपेक्षा नही रखी थी कि वे उनको जनता द्वारा निर्वाचित करायेंगे, शायद यदि कोई राजा वैसा करता तो ब्रिटिश सरकार उसे नापसन्द करती क्योकि इससे जन प्रतिनिधियो की संख्या विधान मंडल मे बढ जाती और सरकार की वह योजना असफल हो जाती जिसके द्वारा वह वहा अपने समर्थकों और पिट्ठुओ को एकत्रित करना

चाहती थी। प्रान्तो के १५० प्रतिनिधियो का चुनाव जनता को करना था, चुनाव साम्प्रदायिक मतदान प्रणाली के आधार पर होने वाले थे। इन १५० स्थानो मे मे बहुत से स्थान विशेष तौर पर सुरक्षित रखे गये थे। ६ सदस्यो को गवर्नर जनरल स्वयं मनोनीत कर सकता था। परिषद के लिये मत देने वाले लोग वे ही हो सकते थे जो सम्पत्ति रखने की ऊची योग्यता पूरी करते हो या ग्रेजुएट हो। परिषद एक स्थायी सदन बनाया गया था, उसके सदस्यो का कार्यकाल ६ वर्ष माना गया था, प्रत्येक तीसरे वर्ष उसके एक तिहाई सदस्य निवृत्त हो जाते और उनके स्थान पर नये चुनाव होते।

सभा सदन विधान मंडल का निचला सदन (Lower House) था, उसमें सदस्यों की सख्या अधिक से अधिक २५० मानी गई जिसमे से १२५ से अधिक सदस्य राज्यो के नही हो सकते थे। यहा भी राज्यो के प्रतिनिधियो को उनके शासक मनोनीत कर सकते थे, उनके निर्वाचन का कोई प्रश्न ही नही था। प्रान्तो के प्रतिनिधियो को जनता अलग-अलग प्रान्तो मे अपने प्रान्त के लिये निर्धारित संख्या के अनुसार चुनती। कुल स्थानो में से १०५ स्थान सबके लिये खुले थे जिनमे से १६ हरिजनो के लिये सुरक्षित थे, ८२ मुसलमानो के लिये ६ सिखो के, ८ भारतीय ईसाइयों के, ८ योरोपियन लोगो के, ४ आग्ल भारतीयो के, वाणिज्य व उद्योग के ११, जमीदार ७, मजदूरो के १० और ६ महिलाओं के लिये सुरक्षित रखे गये। जैसा हम पीछे श्री जवाहर लाल नेहरू के शब्द उद्धृत कर चुके है, १६३५ के अधिनियम ने पृथक निर्वाचनो मे वृद्धि की तथा भारत में फूट की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया।

सभा का कार्यकाल ५ वर्ष नियत किया गया था, गवर्नर जनरल उसे उसके पहले भी भग कर सकता था। इसके बारे मे सबसे बड़ी विचित्र बात यह थी कि सभा का निर्वाचन परोक्ष पद्धति (Indirect Election) मे होना तय किया गया था। संसार मे कही भी ऐसी परम्परा नही थी। एक ओर द्वितीय सदन का प्रत्यक्ष चुनाव से संगठित होना और दूसरी ओर लोकप्रिय तथा प्रथम सदन के चुनाव मे जनता को प्रत्यक्ष भाग न देना बडा विचित्र सा लगता है परन्तु ब्रिटिश सरकार की दृष्टि से देखें तो बहुत साधारण सी बात है, सरकार सभा को जनता के प्रत्यक्ष निर्वाचित प्रतिनिधियो का अखाडा नही बनाना चाहती थी। वह उसे किसी भी प्रकार अपने काबू मे रखने के लिये यह सब कर रही थी।

संघीय विधान मडल की वर्ष मे एक बैठक होनी अनिवार्य थी। उसकी बैठक बुलाने, उसे स्थगित करने, उसके सत्र को समाप्त करने तथा उसे भग करने की शक्ति गवर्नर जनरल को दी गई थी। गवर्नर जनरल पहले की ही भाति अब भी दोनों सदनो के संयुक्त अधिवेशन मे या अलग-अलग भाषण दे सकता था। दोनो सदनो मे गणपूर्ति (कोरम) के लिये एक तिहाई सदस्यो की उपस्थिति अनिवार्य मानी गई थी। दोनो सदन अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का स्वयं निर्वाचन करते थे, ये अध्यक्ष और उपाध्यक्ष सदन की कार्यवाही मे कोई भाग नही ले सकते थे, वे केवल अध्यक्ष पद के कर्तव्यो की पूर्ति करते थे।

संघीय विधान मंडल को संघ-सूची और समवर्ती सूची के समस्त विषयों पर विधि बनाने का अधिकार था, परन्तु राज्यों के मामले में उसकी शक्ति बहुत सीमित थी, वह उनके लिये उन्ही विषयों पर विधि बना सकती थी जो उन्होंने उसे सौंपे हों। वह प्रान्तीय सूची के विषयों पर भी दो या दो से अधिक प्रान्तों के कहने पर अथवा गवर्नर-जनरल द्वारा आपत्काल की घोषणा कर दिये जाने पर विधि बना सकती थी। उसकी बनाई विधियां भारत के क्षेत्र में रहने वाले सब लोगों पर समान रूप से लागू होती थी, चाहे वे किसी धर्म, जाति, नस्ल, रंग और देश के हों।

विधान मंडल के अधिकार पर कुछ मर्यादायें लगाई गई थीं। यह कहा गया था कि *वह निम्न विषयों पर बिना गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के किसी विधेयक* या संशोधन पर विचार नहीं कर सकती थी—

(१) ब्रिटिश संसद द्वारा बनाये और ब्रिटिश भारत में लागू किये गये कानूनों को हटाना या उनमें संशोधन करना,

(२) गवर्नर जनरल द्वारा बनाये गये कानूनों या उसके द्वारा लागू किये गये *अध्यादेशों के विरुद्ध कोई विधेयक,*

(३) गवर्नर जनरल की विवेक शक्ति से संबंधित कोई विषय।

इसके अतिरिक्त गवर्नर जनरल उसकी शक्ति पर बहुत बड़ी सीमायें लगा सकता था। वह विधान मंडल को किसी भी विधेयक पर विचार करने में यह कहकर रोक सकता था कि वह विषय भारत की शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से खतरनाक है। विधान-मंडल द्वारा पास किये गये विधेयक गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिये भेजे जाने अनिवार्य थे और उसको यह स्वतन्त्रता थी कि वह विधेयक को अपनी स्वीकृति दे या न दे। वह विधेयक को विचार करने के लिये अपने पास रोक भी सकता था और इस तरह रोका गया विधेयक यदि १२ मास तक गवर्नर जनरल की मेज पर ही पड़ा रहता तो उसका यह अर्थ होता कि वह विधेयक समाप्त हो जाता। विधान मंडल निम्न विषयों पर भी विधि नहीं बना सकता था—ब्रिटेन में रहने वाले ब्रिटिश प्रजाजनों के भारत प्रवेश या उनको भारत में कहीं बसने, भूमि या अन्य सम्पत्ति रखने व कोई धन्धा करने से रोकने या प्रतिबन्ध लगाने संबंधी विधेयक, ऐसे लोगों या कम्पनियों पर कर (Tax) लगाने में भेदभाव की नीति, ब्रिटेन में पंजीकृत (Registered) जहाजों और उनके संचालकों व यात्रियों के विरुद्ध भेदभाव की नीति, *ब्रिटेन में पंजीकृत कम्पनियों के भारत में व्यापार करने या उनको संघ की ओर* से समझौते के अनुसार अनुदान आदि देने से मना करने या उस बारे में भेदभाव की नीति।

यदि विधान-मंडल गवर्नर जनरल द्वारा प्रस्तुत किसी विधेयक को पास करने से मना कर दे तो गवर्नर जनरल स्वयं अपने विवेक के आधार पर उसको विधि घोषित कर सकता था और ऐसे कानून गवर्नर जनरल के *अधिनियम के नाम से लागू* होते। वह छह मास के लिये अध्यादेश भी जारी कर सकता था जो विधि के समान

ही लागू होते थे।

सघ विधान मडल की वित्तीय शक्तिया (Financial Powers) बहुत कम और सीमित थी। सघ सरकार का व्यय दो भागो में बाटा गया था—विधान-मंडल द्वारा स्वीकार किये जाने वाला व्यय जिस पर उसे वोट देने का अधिकार होता था और दूसरा वह जो विधानमन्डल के अधिकार क्षेत्र से बाहर होता था और जिस पर वह वोट नही दे सकती थी। इसके अलावा गवर्नर जनरल जब अपने विशेष दायित्वो की पूर्ति के लिये आवश्यक समझता तो कोई रकम उसके लिये स्वीकार कर सकता था, उस बारे मे उसे विधानमडल की सलाह लेने की आवश्यकता नही थी। बिना गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के कोई वित्तीय विधेयक (Finance Bill) विधान-मडल के सामने पेश नही हो सकता था।

वित्तीय विधेयक पहले सभा सदन (House of Assembly) मे ही पेश किये जा सकते थे, परन्तु दूसरे साधारण विधेयक दोनो म से किसी भी सदन म रखे जा सकते थे। एक सदन द्वारा पास कर दिये जाने पर उसे दूसरे सदन म रखा जा सकता था और दोनो द्वारा स्वीकृत हो जाने पर उसे गवर्नर जनरल के निर्णय के लिये भेजना होता था। यदि दूसरा सदन उसे अस्वीकार कर दे या ऐसे सशोधन करे जो एक सदन को स्वीकार न हो, या छह मास तक लौटाय ही नही तो गवर्नर जनरल अपने आदेश से दोनो सदनो का सयुक्त अधिवेशन (Joint Session) बुला सकता था और उस अधिवेशन म हुआ निर्णय मडल का निर्णय माना जाता।

अन्त म इतना कह देना काफी होगा कि यद्यपि यह दावा किया गया था कि १९३५ के अधिनियम ने सघीय क्षेत्र मे उत्तरदायी शासन की स्थापना की दिशा मे पग बढाया था परन्तु वह दावा एकदम झूठ था, भारतीय प्रतिनिधियो पर न विश्वास किया गया था, न उनको कोई वास्तविक शक्ति दी गई थी। 'यह विचार बनाने से अपने को रोकना कठिन है कि या तो उत्तरदायी सरकार की स्थापना को खुल कर असम्भव बता दिया जाता या फिर उसे वास्तव मे स्थापित किया जाता, यह बात आश्चर्यजनक नही है कि विशेष उत्तरदायित्वो और व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार काम करने की स्वतत्रता की इस वर्ण सकर योजना (Hybrid Product) के प्रति सहज कृतज्ञता और सहयोग प्रकट नही हो रहा है।"—प्रो० ए० बी० कीथ ('A Consitutional History of India')। हा इतना माना जा सकता है कि इस से भारत के लोगो को ससदात्मक शासन और मत्रिमडल के उत्तरदायित्व के बारे में थोडा सीखने को मिला ठीक, वैसे ही जैसे विद्यार्थी कॉलेज मे मॉक-पार्लियामेन्ट के नाटक से सीख लेते हैं।

सघ न्यायालय—१९३५ के विधान ने सघ न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था भी की। इस न्यायालय की स्थापना १९३७ में की गई। इसमे एक मुख्य न्यायाधीश और दो न्यायाधीश नियुक्त किय गय। मुख्य न्यायाधीश अग्रेज और न्यायाधीश भारतीय थे। जो व्यक्ति या तो ब्रिटिश भारत अथवा देशी रियासतों के उच्च न्याया-

लयो में न्यायाधीश होता, या १० साल तक किसी उच्च न्यायालय मे वकालत कर चुका होता, या इग्लैंड अथवा आयरलैंड का १० वर्षो का बैरिस्टर हो या स्कॉटलैंड के वकील-विभाग का १० वर्ष का सदस्य हो, वह संघ न्यायालय का न्यायाधीश हो सकता था। उनके वेतन और भत्ते का निर्णय सपरिषद ब्रिटिश सम्राट करते थे, उन्हे हटाने की शक्ति भी उसी को प्राप्त थी।

गवर्नर जनरल किसी वैधानिक प्रश्न पर संघीय न्यायालय से परामर्श माग सकता था। परन्तु हमे यह ध्यान रखना चाहिये कि संघीय न्यायालय भारत का सर्वोच्च न्यायालय नही था, भारत की सभी प्रकार की अन्तिम सत्ता ब्रिटेन मे रहती थी। सघीय न्यायालय के निर्णयो के विरुद्ध ब्रिटेन की प्रिवी-परिषद में अपील की जा सकती थी।

(६) प्रान्तीय शासन-व्यवस्था

१९३५ के अधिनियम ने प्रातीय शासन के क्षेत्र मे एक बहुत बडी क्रान्ति की थी, प्रान्तो मे दोहरा शासन समाप्त कर दिया गया, वहा सरक्षित और हस्तातरित विषयो का भेद समाप्त करके प्रातो में पूरी तरह उत्तरदायी शासन की स्थापना करने की योजना बनाई गई। इन परिस्थितियो मे गवर्नर केवल नाममात्र का शासक रह गया और प्रान्तीय सत्ता लोकप्रिय मन्त्रियो के हाथो मे दे दी गई। सब प्रातो मे एक सी उत्तरदायी सरकार बनाई गई तथा मन्त्रिमण्डल के संयुक्त-उत्तरदायित्व के सिद्धात को लागू किया गया।

परन्तु यह योजना देखने में जितनी मोहक थी, वास्तव मे, उतनी आकर्षक थी नही। गवर्नर की नियुक्ति भारत मन्त्री करता था और वह प्रान्त में भारत सरकार का एजेन्ट होता था। उसको कुछ इस प्रकार की शक्तिया दी गई थी जिनके कारण सारी योजना बहुत अधिक लोकतत्रीय नही रह गई थी।

गवर्नर—प्रत्येक प्रान्त मे एक गवर्नर की नियुक्ति की गई थी। प्रान्तो की कुल संख्या ११ कर दी गई, इनमें से मद्रास, बम्बई, पजाब, यू० पी०, आसाम, बिहार, बगाल, मध्यप्रान्त व बरार और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त पहले से ही थे, उडीसा और सिन्ध के दो नये प्रान्त इस अधिनियम के द्वारा बनाये गये। बर्मा को अलग कर ही दिया गया था।

प्रान्तो मे कार्यपालिका शक्ति का स्वामी वैधानिक दृष्टि से गवर्नर को बनाया गया और इस बार उसे जन प्रदेशों (Excluded Areas) के बारे म ही संरक्षित सत्ता दी गई। फिर भी उसे अनेक मामलो मे अपने विवेक से काम करने की शक्ति और प्रातीय शासन में हस्तक्षेप करने की सत्ता दी गई थी। उसे निम्न मामलो में विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गये थे—प्रान्त व उसके किसी अङ्ग मे अशान्ति व अव्यवस्था के सकट को रोकना, अल्पसख्यको के वाजिब-हितो का सरक्षण, लोक सेवाओ के सदस्यो और उनके आश्रितो के हितो की रक्षा करना जनक्षेत्रो म शान्ति व सुव्यवस्था

की स्थापना करना, देशी राज्यो के शासको के अधिकारो व मर्यादाम्रो की रक्षा करना तथा गवर्नर जनरल के आदेशो का पालन कराना।

गवर्नर अनेक मामलो में अपने विवेक का प्रयोग भी कर सकता था, जैसे—अपने मन्त्रियो को छाटना व उन्हे नियुक्त करना, मन्त्रिपरिषद की बैठको की अध्यक्षता करना, प्रान्तीय विधान-मण्डल की कार्यवाही के नियमो का निर्माण, मन्त्रियो मे कामो (विभागो) का बटवारा और उनका वेतन, विधान-मण्डल द्वारा निर्धारित किया जाय, तब तक उसको तय करना, प्रान्तीय पुलिस से सम्बन्धित समस्त कार्यवाही और रेकार्ड को गुप्त रखने की व्यवस्था करना।

गवर्नर अपनी प्रान्तीय नौकरशाही के बारे में भी पूरा अधिकार रखता था और मन्त्रिमण्डल को उस मामले मे दखल देने से रोक सकता था। इस प्रकार नौकरशाही की मदद से वह प्रात के सारे प्रशासन पर हावी हो सकता था। श्री जवाहरलाल जी ने इस बारे मे 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' मे इस प्रकार लिखा है—"उच्च नौकरशाही और पुलिस को सुरक्षित कर दिया गया था और मन्त्री उन्हे नही छू सकते थे। उनका दृष्टिकोण पूरी तरह से निरकुशतावादी था और वे मार्गदर्शन के लिऐ मन्त्रियो की ओर नही गवर्नर की ओर देखते थे। तथापि गवर्नर से लेकर छोटे कर्मचारी और पुलिसमैन तक इन्ही लोगों के द्वारा लोकप्रिय सरकार को काम करना था, इनके बीच मे ही कही कुछ मन्त्रियो को ठूस दिया गया था जो एक निर्वाचित विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी थे। यदि गवर्नर, जो ब्रिटिश सत्ता का प्रतिनिधि था और उसके नीचे काम करने वाले कर्मचारी मन्त्रियोके साथ सहमत होते और सहयोग करते तो सरकार का यत्र सुविधा से काम कर सकता था, वरना निरन्तर सघर्ष बने रहना अनिवार्य था, वास्तव म यही स्थिति बहुत अधिक रहने वाली थी क्योकि लोकप्रिय सरकार की नीतिया और रीतिया पुराने निरकुश पुलिस राज्य के तरीकों से निश्चय ही भिन्न होने वाली थी।" (पृष्ठ ३०६)

मन्त्रिपरिषद—अधिनियम मे कहा गया था कि गवर्नर को प्रान्तीय शासन में मदद करने के लिये एक मन्त्रिपरिषद होगी। यह मन्त्रिपरिषद गवर्नर को उसके विवेक में सौपे गय विषयो पर परामर्श देने की शक्ति नही रखती थी। उनके बारे में अन्य नियम १९१९ के अधिनियम की ही भाति होते थे, इस अधिनियम के अन्तर्गत उन्हे मन्त्रिपरिषद के सदस्य के रूप मे अपने पद की शपथ लेनी होती थी। मन्त्रि-परिपद विधान मन्डल के प्रति उत्तरदायी बनाई गई थी। गवर्नर जनरल की ही भाति गवर्नरो को भी आदेश पत्र (Instrument of Instructions) मे कहा गया था कि वे उस व्यक्ति के परामर्श से मन्त्रियो की नियुक्ति करें जिसे विधान मन्डल में बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। मन्त्रियो मे अल्पसख्यको को शामिल करने पर जोर दिया गया था। यद्यपि विधान ने मुख्यमन्त्री के पद का निर्देश नहीं किया था, तथापि निश्चय ही वह व्यक्ति जिसको बहुमत का समर्थन प्राप्त हो और जिसकी सलाह पर गवर्नर मन्त्रियों की नियुक्ति करता, मुख्य-मन्त्री बनता और वैसा ही हुआ भी।

गवर्नर और गवर्नर जनरल पर विधान मे कोई ऐसा प्रतिबन्ध नही लगाया गया था कि वे मत्रियो के निर्णयो को मानने के लिय हर स्थिति मे विवश हो, यदि कोई विवशता होती तो यही कि वे इस बात से डरते कि यदि वे बहुसख्यक दल के मंत्रिमंडल को नाराज कर देते तो वह पद छोड सकता था और इस प्रकार प्रान्त में एक साविधानिक संकट उत्पन्न हो सकता था क्योंकि वह दल किसी भी मन्त्रिमन्डल को बनने देने के लिय तैयार न होता, यदि गवर्नर इसकी इच्छा के विरुद्ध कोई मत्री-मन्डल अल्पसख्यक दल म से बना ही लेता तो वह उसे बहुमत के बल पर अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा पदच्युत कर सकता था।

विधान की घोषणा के बाद काग्रेस ने ८ प्रान्तो मे बहुमत प्राप्त कर लिया था और वह तब तक मन्त्रिमन्डल बनाने को तैयार नही थी, जब तक कि प्रान्तों के गवर्नर यह आश्वासन न दे देते कि वे अपनी विशेष शक्तियो का प्रयोग नही करेंगे तथा साविधानिक शासक मात्र बने रहेंगे। स्पष्ट रूप से यह तो नही, मगर अस्पष्ट रूप से कुछ आश्वासन दिये गय और प्रान्तीय मन्त्रिमन्डल बनाये गय। ८ प्रान्तो मे काग्रेस के मन्त्रिमन्डल बने। यद्यपि वे बहुत अधिक समय नही रहे तथापि आम तौर पर गवर्नरो ने बहुत अधिक हस्तक्षेप करने की नीति नही अपनाई, और सघर्ष के बहुत से अवसर नही आये, जब कभी आय भी तो उन्होने काफी सहनशीलता का परिचय दिया।

प्रान्तीय विधान मडल—बगाल बिहार, उत्तर प्रदेश, बम्बई, मद्रास और आसाम मे द्वि-सदनात्मक विधान मन्डल (Bicameral Legislature) की स्थापना की गई और शप प्रान्तो म एक-सदनात्मक (Unicameral)। जिन प्रान्तो मे दो सदन बनाय गय उनम प्रथम सदन को विधान सभा और द्वितीय सदन को विधान परिषद (Legislative-Assembly & Legislative Council) कहा गया। हमारे वर्तमान विधान मडल उसी नमूने पर बने हुए हैं। एक सदन वाले प्रान्तो मे सदन को विधान-सभा (Legislative-Assembly) कहा गया। विधान सभाओ मे सदस्यो की सख्या पहले की अपेक्षा बहुत बढा दी गई। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, उडीसा और आसाम म विधान सभा के भीतर ६० सदस्य होते थे, यू० पी० मे २२८, मद्रास म २१५ बगाल म २४०, बम्बई म १७५, पजाब म १७५, बिहार मे १५२, मध्यप्रान्त व बरार म ११२ आसाम म १०८, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त मे ५० व उडीसा तथा सिन्ध म साठ साठ।

विधान सभा की अवधि ५ वर्ष रखी गई, गवर्नर उसे इससे पहले भी भग कर सकता था और वह जब वैसा करता, उसे ससदात्मक पद्धति के अनुसार अपने मुख्य मन्त्री की सलाह पर ही वैसा करना चाहिय था। वर्ष मे सभा की एक बैठक होनी अनिवार्य कर दी गई थी। सभा में प्रतिनिधियो का निर्वाचन प्रत्यक्ष चुनाव की पद्धति के द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली से होता रहा। इस घातक प्रणाली की काफी आलोचना हम पीछे कर चुके हैं, यही हमारे देश के विभाजन का मूल कारण बनी।

पूरे भारत मे विधान सभाओ के लिए मतदाताओं की संख्या कुल तीन करोड

एक लाख थी यह संख्या जनसंख्या का ११ प्रतिशत थी। इनमें से केवल ४३ लाख स्त्रियों को मत देने का अधिकार दिया गया। कुल १५८५ स्थानों का विभाजन इस प्रकार किया गया था—

मुस्लिम	४८२
परिगणित जाति	१५१
वाणिज्य व उद्योग	५६
महिलायें	४१
श्रम	३८
जमींदार	३७
सिक्ख	३४
यूरोपियन	२६
पिछड़े क्षेत्र और जातियां	२४
भारतीय ईसाई	२०
आंग्ल भारतीय	११
विश्व विद्यालय	८
साधारण स्थान (जनरल सीट्स)	६५७

विधान सभा स्वयं अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती थी। नव विधान के अन्तर्गत विधान सभाओं की रचना में एक बड़ा सुधार यह किया गया कि उनमें गवर्नर द्वारा मनोनीत और सरकारी सदस्यों का स्थान समाप्त कर दिया गया, अब वे पूरी तरह निर्वाचित होने लगी। अधिनियम में कहा गया है कि विधान सभा की गणपूर्ति (Quorum) के लिए कुल सदस्य संख्या का छठा भाग उपस्थित होना अनिवार्य है।

विधान सभा का सदस्य होने के लिए आवश्यक है कि उम्मीदवार का नाम मतदाता सूची में होना चाहिये, उसकी आयु २५ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिये, और जिस निर्वाचन क्षेत्र से कोई उम्मीदवार खड़ा होना चाहता हो, उसमें उसका निरन्तर १८० या २०० दिन तक निवास करना अनिवार्य माना गया था। एक व्यक्ति एक सदन का ही सदस्य हो सकता था।

विधान सभा के बारे में एक विशेष बात यह थी कि यद्यपि मन्त्रिमण्डल को विधान मण्डल के सामने उत्तरदायी माना जाता था परन्तु वास्तव में उनका यह उत्तरदायित्व विधान सभा के प्रति ही होता था क्योंकि उनमें जनता के द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते थे। दूसरी बात इसी प्रसंग में यह है कि यद्यपि साधारण बिल विधान मण्डल के किसी भी सदन में आरम्भ हो सकते थे परन्तु वित्तीय विधेयक (Financial Bills) पहले विधान सभा के सामने ही पेश किए जा सकते थे।

विधान परिषद् की स्थापना केवल ६ प्रान्तों में की गई थी। इनमें कई प्रकार के सदस्य होते थे, प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा निर्वाचित, विधान सभा द्वारा निर्वा-

चित, और गवर्नर द्वारा मनोनीत। विधान परिषद के सदस्य की आयु कम से कम ३० वर्ष होनी आवश्यक मानी गई थी। विधान परिषद् के लिए मत देने का अधिकार कुछ विशिष्ट व्यक्तियो को ही दिया गया था जो कम से कम ४ हजार रुपए की वार्षिक आय पर कर देते हो, उपाधि प्राप्त हो, स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ के सदस्य हो, किसी विश्व विद्यालय म सिनेट सदस्य हो। इस प्रकार यह परिषद् प्रान्तीय शासन म ब्रिटेन के लार्ड सभा की भाति निहित स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करती थी और वह नितान्त अलोकतत्रीय थी।

विधान मडल की शक्तिया और कार्य प्रणाली—प्रान्तीय विधान मण्डल को प्रान्तीय सूची के समस्त विषयो पर विधि बनाने का अधिकार था, इसके अतिरिक्त वह समवर्ती सूची के भी उन विषयो पर विधि-निर्माण कर सकता था जिन पर सघ विधान मण्डल ने पहल से ही कोई विधि न बना दी हो। प्रान्तीय बजट पर भी विधान मण्डल को पूरी सत्ता दी गई थी। परन्तु इस सबके बावजूद गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्वो और उसको स्व-विवेक की शक्तिया (Special Responsibilities & Discretionary Powers) ने उसकी शक्तियो को निकम्मा बना दिया। एक हाथ से जो दिया जा रहा था वह दूसरे हाथ से छीन लिया जाता था। जब तक गवर्नर हस्तक्षेप न करना चाहे मन्त्रिमण्डल और विधान मण्डल मिलकर कुछ भी कर सकते थे परन्तु ज्यो ही गवनर उनके कामो में अड गा लगाने का निश्चय कर लेता, वे दोनो मिलकर कुछ भी नही कर सकते थे।

गवर्नर विधान मण्डल द्वारा पास किय गय किसी विधेयक को स्वीकार कर सकता था, वह उसे अपने सशोधनो के साथ पुनर्विचार के लिए विधान मण्डल को लौटा सकता था, या उन्हे बिल्कुल रद्द कर सकता था। वह किसी विधेयक को गवर्नर-जनरल की स्वीकृति के लिय भी रोक सकता था। यदि विधान मण्डल गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्वो के सम्बन्ध में उसकी इच्छा के अनुसार किसी विधेयक को पास करने से मना कर देता तो गवर्नर अपनी विशेष शक्ति से उसे विधि बना सकता था। ऐसी विधिया गवर्नर की विधिया कहलाती थी। वह अध्यादेश भी जारी कर सकता था जो ६ मास तक लागू रह सकते थे।

गवर्नर यदि उचित समझता तो विधान मडल को किसी विधेयक अथवा उसके किसी अ श पर चर्चा करने से रोक सकता था, वह ऐसा करते समय बताता था कि इस प्रकार की चर्चा से प्रान्त की शान्ति को सकट पैदा हो सकता है। प्रत्येक वित्तीय विधेयक गवर्नर की पूर्व स्वीकृति से ही विधान सभा में पेश किया जा सकता था।

अन्त मे हमे यह जान लेना चाहिए कि ब्रिटिश ससद को भारत के बारे मे सर्वोच्च सत्ता प्राप्त थी, अत वह किसी भी उस विधि को, जो सघीय या प्रान्तीय विधान मडल द्वारा पास की गई हो और जिस पर गवर्नर जनरल और गवर्नर की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी हो, रद्द कर सकती थी।

प्रत्येक सदन मे प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन होते थे और उसके बाद कोई विचाराधीन विधेयक दूसरे सदन मे भेजा जाता था, जहा उस पर नये सिरे से विचार होता था। दोनो सदनो द्वारा पास होने पर ही विधेयक गवर्नर के पास भेजा जाता था, परन्तु यदि किसी विधेयक पर दोनो सदनो के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाय तो गवर्नर उनकी सयुक्त बैठक बुलाता था और उसमे अन्तिम निर्णय कर लिया जाता था। यह निर्णय बहुमत से होता था।

वित्तीय विधेयक विधान सभा मे ही पहले पेश होते थे। बजट के दो भाग होते थे, एक भाग तो वह जिस पर प्रान्तीय विधान मण्डल को मत देने का अधिकार नही था और दूसरा वह जिस पर वह मत दे सकता था। विधान मंडल के अधिकार से बाहर जो भाग रखा गया था वह कुल बजट के चौथाई अंश के लगभग होता था। यदि विधान मडल व्यय के किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने मे इन्कार कर देता और गवर्नर उसका पास होना आवश्यक समझता तो वह उन मागो को पूरा कर सकता था। इस प्रकार बजट के मामले मे विधान मंडल की शक्ति पर बहुत बडा प्रतिबन्ध लग जाता था। आखिर प्रतिबन्धो से कहा तक बचा जा सकता था, एक पराधीन देश अपने शासको द्वारा दिये गये साविधानिक खिलौनो से खेल रहा था, उसे उसमें स्वतन्त्रता थी ही कहा, उस झूठे खल के सारे नियम शासक देश ने पराधीन देश की प्रजा के लिए बनाये थे, उसमे हमारा वश ही नही था। हमारे सामने तो एक ही स्वतन्त्रता थी कि हम सरकार के साथ असहयोग करके शासन म भाग लेने से मना करके जेलो में स्वतन्त्रता की मशाल जलाते रहे, आखिरकार वही करना पडा।

विधान मंडल को यह शक्ति दी गई थी कि वह मन्त्रिमंडल को अविश्वास प्रकट करके हटा सकता था, परन्तु सरकारी कर्मचारियो पर उसकी सत्ता नही चलती थी, वे गवर्नर के द्वारा सुरक्षित रखे गये थे। यह इस विधान का सबसे दोषपूर्ण खण्ड था। जिस देश मे वहा के विधान मण्डल को अपनी सेवाओ पर नियन्त्रण करने का अधिकार न हो वहा यह आशा नही की जा सकती कि उत्तरदायी शासन सफल होगा। यह प्रतिबन्ध जान-बूझ कर लगाया गया था जिससे उन सरकारी कर्मचारियो को किसी भी समय मन्त्रिमण्डल के आदेश न मानने के लिए कह कर उसकी सत्ता समाप्त की जा सके।

प्रान्तीय न्याय व्यवस्था—प्रान्तो मे न्याय व्यवस्था के शिखर पर उच्च-न्यायालयो (High Courts) की स्थापना पहले पहल १८६१ के अधिनियम द्वारा की गई थी। १९३५ के अधिनियम की धारायें २१९ से २३१ इस बारे मे विस्तृत रूप से प्रकाश डालती है। प्रत्येक उच्च न्यायालय मे एक मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त कुछ अन्य न्यायाधीश भी होते थे। इनकी सख्या प्रत्येक प्रान्त मे अलग-अलग होती थी। उच्च न्यायालयो के समस्त न्यायाधीशो की नियुक्ति ब्रिटिश-सम्राट करता था। गवर्नर जनरल को यह अधिकार था कि वह दो वर्ष के समय के लिये अतिरिक्त न्यायाधीशो की नियुक्ति कर सके। इनका पद आदि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो

के जैसा ही माना गया था।

न्यायाधीश होने के लिय यह आवश्यक था कि उम्मीदवार पाच वर्षों तक इ ग्लैण्ड या आयरलैण्ड म बैरिस्टर अथवा स्कॉटलैण्ड मे अधिवक्ता (Advocate) रहा हो या १० वर्ष तक भारतीय सिविल सर्विस का सदस्य रहा हो। उच्च न्यायालय म कम से कम तीन न्यायाधीश ऐसे होने अनिवार्य थे जो कम से कम पाच वर्ष तक जिला-न्यायाधीश या न्याय विभाग म न्यायाधीश के समान स्तर के अधिकारी रहे हो, या दस वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय के अधिवक्ता रहे हो। न्यायाधीश साठ वर्ष की आयु प्राप्त करने तक अपने पद पर रह सकता था। उनके वेतन भत्ते आदि सपरिषद ब्रिटिश-सम्राट निश्चित करता था। उनके नीचे जिला स्तर पर अनेक न्यायालय काम करते थ। य न्यायालय दण्ड-न्यायालय (Criminal Courts) और व्यवहार (Civil Courts) न्यायालय के नाम से पुकारे जाते थे। उच्च न्यायालयों के निर्णय पर अपीलें ब्रिटेन में प्रिवी परिषद सुनती थी।

(७) महत्वपूर्ण गुण

१९३५ के अधिनियम की खूब आलोचना हुई और उसका एक अ श लागू भी नही हो सका परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि जब स्वतन्त्र भारत के सविधान निर्माता सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य भारत के लिये सविधान बनाने बैठे तो उनके सामने १९३५ का विधान नमूने के तौर पर मौजूद था। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नही है कि हमारे सविधान मे हमने अनेक देशो के सविधानो से लाभ उठाया है, तथापि यह सच है कि १९३५ का विधान हमारी प्रेरणा का प्रधान आधार बना रहा है और हमने उसके अनेक भागो को ज्यो का त्यो अपने सविधान म ले लिया है। स्वतन्त्रता के पश्चात परिस्थिति बदल गई और हमारे वे नेता जो स्वतत्रता सग्राम के समय केवल आलोचक थे अब प्रशासक बने और उनके सामने वे प्रश्न उठ खडे हुए जिनका सामना अ ग्रेजी सरकार इस देश में कर रही थी और उन्होंने यह उचित समझा कि वे अपने पूर्व प्रशासको की प्रशासन कुशलता और उनके अनुभव से लाभ उठायें।

जब यह सारा चित्र हमारे सामने आता है तो किसी भी स्थिति में हम यह दावा नही कर सकते कि हमारा नया सविधान एकदम नया है और उसके पीछे सांविधानिक विकास की कोई परम्परा नही है। वस्तुत हमारा सविधान नया है वह स्वतन्त्र भारत का सविधान है इसलिय नया होना ही चाहिय, वह क्रान्तिकारी भी है परन्तु उसके लिय बहुत उपयुक्त भूमिका और सांविधानिक शासन का प्रशिक्षण हमें १९१९ व १९३५ के अधिनियमो ने दिया, यह भी एक ध्रुव सत्य है। अत अपनी सारी आलोचनात्मक समीक्षा के बाद हम उन विधान निर्माताओ की वैधानिक मेधा के प्रति कृतज्ञता प्रगट करना अपना धर्म मानते ह जिनके हाथो अनायास और बिना चाहे ही देश सांविधानिक शासन और लोकतत्रीय व समदात्मक व्यवस्था की ओर तेजी के

साथ अग्रसर हो रहा था। आलोचना करने से भी प्रतिभा का विकास होता है क्योंकि उससे अध्ययन और अन्तर्दर्शन का अवसर मिलता है। इन अधिनियमों ने हमें व्यवहारिक प्रशिक्षण के अतिरिक्त सैद्धान्तिक ज्ञान-लब्धि का वह अवसर भी दिया।

अध्याय : ९

स्वाधीनता की ओर

"हम भारत को शीघ्र से शीघ्र और अधिकतम सुगमता के साथ स्वतन्त्रता देना चाहते हैं। पिछले वक्तव्यो का विश्लेषण करने की अपेक्षा, जिनमे से कुछ वक्तव्य निश्चय ही गहरे विश्लेषण के बाद अन्तर्विरोधी सिद्ध होगे, हमे एक साथ बैठकर यह देखना चाहिये कि हम किस प्रकार उसकी (स्वतन्त्रता की) व्यवस्था कर सकते हैं।"

—सर स्टैफर्ड क्रिप्स†

केबिनेट मिशन : भारत का विभाजन : भारतीय स्वाधीनता अधिनियम : नये भारत का चित्र

केबिनेट मिशन

"भारत छोडो" आन्दोलन के बाद १९४४ म गाधीजी जेल से छूटे और उन्होने श्री राजगोपालाचारी की सहायता से मुस्लिम लीग के अध्यक्ष श्री मुहम्मदअली जिन्ना के साथ बातचीत आरम्भ की जो अन्ततोगत्वा असफल रही। १९४५ में तत्कालीन वाइसराय लार्ड वेवेल ने काग्रेस कार्यसमिति के लोगो को जेल से छोड दिया और शिमला मे भारत की सावैधानिक समस्या का हल खोजने के लिए एक सम्मेलन बुलाया। उसका उल्लेख हम तीसरे अध्याय में कर चुके है। वह सम्मेलन भी असफल रहा।

जून १९४५ मे ब्रिटेन की सरकार बदली और रूढिवादी दल वहा आम चुनावो म हार गया। रूढिवादी दल भारत के प्रश्न की ओर साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से देखता था, उसके नेता श्री विन्सटन चर्चिल ने कहा था कि—"मैं किसी भी परिस्थिति में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त का साधन नही बनना चाहता।" उनकी हार के बाद श्रम-दल ने सरकार बनाई। इस दल की सहानुभूति भारत के साथ शुरू से थी। इसके अतिरिक्त भारत और जगत में ऐसी परिस्थितिया पैदा हो गयी कि ब्रिटिश सरकार ने भारत छोडने का निर्णय कर लिया, इस विषय पर हम चौथे अध्याय में विस्तार से अध्ययन कर चुके हैं।

सितम्बर १९४५ में ब्रिटिश सरकार ने अपनी भारत सम्बन्धी नीति को

† मार्च १९४६ मे नई दिल्ली के एक प्रेस सम्मेलन में भाषण देते हुए।

घोषणा कर दी जिसमे कहा गया कि प्रान्तीय विधान मण्डलो के लिये १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत चुनाव कराये जायेंग, प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना होगी, भारत के लिये नया संविधान बनाने की दृष्टि से भारतीय लोकमत के नेताओ के साथ प्रारम्भिक चर्चा होगी तथा उसके लिये सविधान सभा की स्थापना होगी। शासन सत्ता का हस्तातरण सुगम बनाने के लिय वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् में भारतीय नेताओ की नियुक्ति का प्रस्ताव भी रखा गया।

१६ फरवरी १६४६ के दिन ब्रिटिश ससद के दोनो सदनो मे एक साथ यह घोषणा की गई कि—"भारतीय नेताओ के साथ हमारी बातचीत की सफलता केवल भारत और ब्रिटिश कॉमनवेल्थ की ही नही समस्त विश्व की शान्ति के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, इस दृष्टि से सरकार ने ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्यो का एक विशेष मिशन भारत भेजने का निर्णय किया है जो वहा वाइसराय के साथ मिलकर उन नेताओ के साथ साविधानिक प्रश्न से सबधित सिद्धान्तो और प्रक्रिया के बारे में खोज करेगा।" मिशन के कार्य की व्याख्या करते हुए ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने कहा कि वह "भारत को उसकी स्वतन्त्रता की यथाशीघ्र और पूर्णतम प्राप्ति में सहायता करेगा।"

१५ मार्च को यह निर्णय किया गया कि केबिनेट मिशन मे ब्रिटिश मन्त्रिमडल के तीन सदस्य—श्री लार्ड पैथिक लारेन्स, भारत मन्त्री, सर स्टैफर्ड क्रिप्स (ब्रिटिश बोर्ड ऑफ ट्रेड के अध्यक्ष) तथा श्री ए० वी० एलेक्जेण्डर (एडमिरेल्टी के प्रथम लार्ड) भारत जायेंगे। यह घोषणा ससद मे करते समय ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री एटली ने कहा कि—"मुझे आशा है कि भारत के लोग ब्रिटिश कॉमनवेल्थ मे रहना पसन्द करेंगे। मेरा निश्चित मत है कि ऐसा करने से वह बहुत लाभ प्राप्त करेंगे। परन्तु यदि वे ऐसा निर्णय करते है तो यह उनकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किया गया निर्णय होना चाहिये।.. .. और, यदि इसके विपरीत भारत स्वतन्त्रता का निश्चय करता है तो हमारी दृष्टि म उसे वैसा करने का अधिकार है। हमारा काम केवल इतना ही है कि हम सत्ता के हस्तातरण को यथासम्भव सुगम और सरल बना दें।" इसके साथ ही उन्होंने भारत की साम्प्रदायिक समस्या पर बोलते हुए कहा कि—"हमे अल्पसख्यकों के अधिकारो का ध्यान है और अल्पसख्यको को निर्भय होकर जीने का अधिकार है। परन्तु इसके साथ ही हम किसी अल्पसख्यक जाति को बहुसख्यक लोगो की प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करने की अनुमति नही दे सकते।"

इन भाषणो से यह बात सिद्ध होती है कि प्रधानमन्त्री के मस्तिष्क में भारत की आजादी का चित्र साफ तौर पर मौजूद था तथा वे पहले अनेक अवसरो की भाति इस बार भारत की साम्प्रदायिक स्थिति की आड म भारत की स्वतन्त्रता को टालने के लिये तैयार नही थे। उनकी घोषणा के अनुसार २३ मार्च १६४६ को केबिनेट मिशन भारत पहुँच गया। उस समय भारत प्रान्तीय निर्वाचनो की तैयारी कर रहा था। केबिनेट मिशन के सदस्य भारत में २६ जून तक रहे और वे यहा से भारत की

समस्या का स्थायी हल लेकर गये।

पाकिस्तान का प्रश्न—मिशन भारत को आजादी देने आया था, तब तो उसका काम बहुत सरल होना चाहिय था और भारत के लोगो को उसके भारत पहुँचने के अगले दिन ही भारत से बिदा कर देना चाहिये था, क्योकि सभी देश की आजादी चाहते थे। परन्तु यह समस्या इतनी सरल नही थी। कांग्रेस ही नही मुस्लिम लीग को छोडकर देश का प्रत्यक राजनीतिक दल, नेता और व्यक्ति भारत की अखडता की रक्षा करना चाहता था। परन्तु 'होता है वही जो मजूरे खुदा होता है।' देश को अखण्ड रहना नही था।

प्रधान मन्त्री एटली के भाषण का हम यह अर्थ नही लगाना चाहिये कि वे मुस्लिम लीग की उपेक्षा करने जा रहे थे। वास्तव मे उनके शब्द दोहरे अर्थ वाले थे और जब भारत मंत्री लार्ड पैंथिक लारेन्स ने २५ मार्च को नई दिल्ली मे एक प्रेस सम्मेलन बुलाया तो उसके सामने यह स्पष्ट कर दिया गया कि वे मुस्लिम लीग को कांग्रेस के समान स्तर पर मानते हे। उन्होने वहा कहा कि—"यह सच है कि कांग्रेस एक बहुत बडी सख्या की प्रतिनिधि है परन्तु मुस्लिम लीग को केवल एक अल्पसख्यक राजनीतिक दल मानना उचित नही होगा, वे वास्तव मे महान् मुस्लिम जाति के बहुसख्यक प्रतिनिधि हैं।" इस वक्तव्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मिशन पुराने अंग्रेजी दृष्टिकोण से ही भारतीय समस्या को देख रहा था, जिसमे भारत एक अखंड और महान भौगोलिक व राजनीतिक इकाई के रूप मे नही, वरन् हिन्दू और मुस्लिम दो जातियो के दो राष्ट्रो के रूप मे देखा गया था और मिशन मुस्लिम जाति को अलग राष्ट्र मानकर उसे आत्म-निर्णय का अधिकार देने की नीयत लेकर भारत आया था। आगे की चर्चाओ से यह बात प्रकट हो गई थी कि मिशन की चर्चायें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के साथ ही विशेषकर चली।

मुस्लिम लीग के नेता पाकिस्तान की माग पर डटे हुए थे, वे किसी भी दशा म भारत के साथ रहने को तैयार नही थे और देश के बटवारे का आग्रह धमकी के साथ कर रहे थे। यह बात लगभग तय ही थी कि भारत का विभाजन होगा, प्रश्न केवल यह था कि पाकिस्तान मे देश के कौन-कौन से भाग जायें और दोनो देशो के बीच कोई सांविधानिक सम्बन्ध रह सकता है या नही? इन प्रश्नो का उत्तर खोजने के लिये ही लम्बी चर्चायें होती रही। कांग्रेस अंग्रेजो को भारत छोडने के लिये कह रही थी और दूसरी ओर लीग का कहना था कि "बाटो तो जाओ।" यह वास्तव मे पुरानी ब्रिटिश नीति का परिणाम था जो "बाटो और राज्य करो' के सूत्र मे अभिव्यक्त हुई थी। अब 'बाटो और राज्य करो" का रूपान्तर "बाटो तो जाओ' के सूत्र में हो रहा था। इसका अर्थ यह था कि यदि अंग्रेज बाटने से मना करते तो लीग का आग्रह होता कि वे यहा रहे और भारत को अपने आधीन रखें। यह कितना वफादारी पूर्ण निमन्त्रण था, इसे अंग्रेज समझते थे और इसीलिए उन्होंने निश्चय किया कि वे उस अपने प्यारे दल की पाकिस्तान की माग स्वीकार करेंगे जो उन्हे उनके

अन्तिम क्षण मे भी आग्रह भरा निमत्रण देश मे बने रहने का दे रहा था। कैसी विडम्बना थी।

अब केवल एक ही प्रश्न था कि क्या मिशन देश की एकता और बटवारे के बीच का कोई मार्ग खोज सकता है? उसने चेष्टा की परन्तु बटवारे का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने के बाद किसी प्रकार साथ रहने का न कोई अर्थ था और न वह सम्भव ही था क्योकि साथ रहने की कोई चाह ही दिलो म नही थी दिल तो टूट चुके थे और सब शीघ्रता से बंटवारा चाहते थे। आखिर काग्रेस को भी यही लगा कि बटवारे के सिवाय कोई रास्ता देश की आजादी का रहा नहीं है। यदि हम बटवारे के लिय तैयार नही होते है तो अग्रेज यहा से जायगा नही अत हम पराधीनता की अपेक्षा ऐसे लोगो के बिना रह लेना अधिक पसन्द करेग जो हमारे साथ रहने के लिये किसी भी कीमत पर तैयार नही ह। सरदार पटेल ने इस बारे म कहा था कि यदि हम बटवारे और एकता के बीच की किसी योजना को स्वीकार कर लेते तो 'सारा भारत पाकिस्तान के मार्ग पर चला जाता। आज हमारे नियन्त्रण मे भारत का ७५ से ८० प्रतिशत तक भाग है जिसे हम अपनी विशिष्ट प्रतिभा के आधार पर विकसित कर सकते है और सुदृढ बना सकते ह। यह कहना कि हमने विभाजन योजना को भय के कारण स्वीकार किया है, असत्य है। हमने कभी भय को जाना ही नही। हमने स्वतन्त्रता के लिय कार्य किया और हम चाहते है कि देश का जितना भाग स्वतत्र व सुदृढ हो सके उतना ही अच्छा है। अन्यथा न अखण्ड हिन्दुस्तान होगा न पाकिस्तान।"

मिशन की सिफारिशें—लम्बी बातचीत के पश्चात भी जब भारतीय नेता आपस मे कोई समझौता न कर सके और देश के लिये सत्ता के हस्तातरण की कोई ऐसी योजना न बना सके जो सब को स्वीकार होती तो मिशन ने स्वय अपनी योजना देश के सामने पेश की। २७ अप्रैल को भारत मन्त्री लार्ड पैथिक लारेन्स ने दोनो दलो के अध्यक्षो को सुझाया कि मिशन चाहता है कि भारत का सावैधानिक ढाचा इस प्रकार का हो—"एक सघ सरकार हो जिसके पास विदेश सम्बन्ध, प्रतिरक्षा और सचार व यातायात के तीन विषय हो। प्रान्तो के दो सघ बनाय जाये जिनमे से एक प्रमुखत हिन्दू और दूसरा मुस्लिम प्रान्तो का, य दोनो सघ उन विषयो म प्रशासन करे जो प्रान्त आपस म मिलकर उन्हे देना चाहे। शेष सब प्रभु-शक्तिया और विषय प्रान्तीय सरकारो के पास रहे।" मिशन ने यह भी आशा प्रगट की कि देशी राज्य इस ढाचे म अपना उपयुक्त स्थान बातचीत के बाद ग्रहण कर लेंगे।

इस योजना पर बातचीत करने के लिये मिशन ने दोनो दलो से अपने-अपने चार प्रतिनिधि भेजने की सिफारिश की। काग्रेस ने दो हिन्दू और दो मुसलमान भेजे और लीग ने चारो मुसलमान। सम्मेलन ५ मई को आरम्भ हुआ। एक ओर लीग थी जो कमजोर सघ चाहती थी और जिसका कहना था कि पहले हिन्दू और मुस्लिम प्रान्तो के प्रतिनिधि अलग-अलग बैठकर प्रान्तीय समूहो का सविधान बनावें, उसके

बाद वे सघ का सविधान तैयार करे। काग्रेस का दृष्टिकोण इससे बिल्कुल भिन्न था। वह एक सुदृढ केन्द्र की स्थापना करना चाहती थी और उसका मानना था कि पहले संघ का सविधान बना लिया जाय बाद म प्रान्त अपने समूहो के लिये सविधान बना लें। लीग का आग्रह था कि यह बात साफ होनी चाहिय कि सघ या परिसघ (Confederation) की यह घोषणा केवल १० वर्ष के लिय थी जिसके बाद प्रातो को उससे अलग हो जाने की छूट हो जानी चाहिय। १२ मई को सम्मेलन असफलता के साथ भग हो गया।

१६ मई की योजना—ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति लेकर मिशन ने १६ मई को एक दूसरी योजना दोनो दलो के सामने विचार के लिय रखी। मिशन ने यह बात जाहिर कर दी कि दोनो दल किसी समझौते के लिए तैयार नही है अत उसे अपनी योजना पेश करनी पड रही है, योजना में कहा गया कि ब्रिटिश भारत के प्रान्त और देशी राज्य मिलकर एक सघ का निर्माण करेंगे जिसकी सरकार मे कार्यपालिका और विधायिका (Executive & Legislature) य दो अङ्ग होग और जिसके जिम्मे तीन विषय रहेगे—वैदेशिक सम्बन्ध, प्रतिरक्षा और सचार व यातायात। उसे अपने प्रशासन के चलाने के लिय धन प्राप्त करने की शक्ति होगी। शष सब शक्तिया प्रान्तो के पास रहेंगी, जिन्हे अधिकार होगा कि वे दूसरे प्रान्तों के साथ मिलकर समूह बना सकें और उन समूहो म कार्यपालिका व विधायिका अङ्गो की स्थापना कर सकें। सघ और समूह दोनो म यह व्यवस्था की जाय कि १० वर्ष पश्चात् दोनो के सविधानो मे सदस्य-प्रान्त या राज्य सशोधन करा सकें।

मिशन ने यह बात स्पष्ट कर दी कि उसका काम भारत का सविधान तय करना नही था वरन् वह केवल एक सविधान बनाने वाले यन्त्र को चालू भर करना चाहता था जिससे कि भारतीयो द्वारा भारत का सविधान बनाया जा सके। उन्हे इस मामले मे इतनी जल्दी थी कि वे सविधान सभा के लिय प्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा प्रतिनिधियो के निर्वाचन में लगने वाले लम्बे समय तक इन्तजार नही करना चाहते थे, अत उन्होंने सुझाव दिया कि प्रान्तीय विधान सभाये एक लाख जनसंख्या के पीछे एक प्रतिनिधि के हिसाब से प्रतिनिधियो का चुनाव कर लें और इस प्रकार काम शुरू किया जाय। प्रान्तीय प्रतिनिधियों की सख्या को तीन खण्डो मे बाटा जाये—मुस्लिम, सिख और अन्य। (अन्य मे हिन्दू व दूसरे सब लोग आ गय जिन्हे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्राप्त नही था) इन तीनो की सख्या उनकी जनसख्या के हिसाब से अलग-अलग प्रान्तो मे तय की जाये। प्रान्तो की विधान सभाओं के सदस्य अपनी अपनी जाति के हिसाब से इन तीनो को अलग-अलग चुन लें।

मिशन ने कहा कि सविधान सभा अपनी प्रथम बैठक के बाद तीन भागो मे विभाजित हो जाये, अ खण्ड मे उन क्षेत्रो के प्रतिनिधि रहे जो पाकिस्तान के लिये नही मागे गये हैं और ब खण्ड में पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध और ब्रिटिश बिलोचिस्तान, एव स खड में बंगाल और आसाम को रखा जाये। इनमे से प्रत्येक

खंड अपने प्रान्तो के लिये प्रान्तीय शासन का सविधान तैयार करे, यदि वह चाहे तो समूह का सविधान भी बना सकता है और उसे जो शक्तिया देना चाहे, दे सकता है। अन्त में पूरी सविधान सभा इकट्ठी होकर संघ-संविधान बना ले। नये संविधान के अन्तर्गत प्रथम चुनाव के बाद प्रत्येक प्रान्त को यह अधिकार होगा कि उसकी विधान सभा अपने बहुमत से यह तय कर सके कि वह किसी समूह को छोड़ेगा या नही।

इसके आगे यह कहा गया कि संविधान सभा और ब्रिटेन के बीच एक सधि होगी जिसमे सत्ता के हस्तातरण से उत्पन्न अनेक प्रश्नो का समाधान किया जायेगा। इसके अतिरिक्त इस बात पर बहुत बल दिया गया कि तुरन्त केन्द्र मे एक अन्तरिम सरकार की स्थापना की जाय जिसमे देश के प्रमुख राजनीतिक दल भाग लें, जिससे कि देश के सामने खडे हुए खाद्य समस्या आदि के महत्वपूर्ण प्रश्नो का राष्ट्रीय हल खोजा जा सके। कहा गया कि ब्रिटिश सरकार इस प्रकार बनी अन्तरिम सरकार को पूरा सहयोग देगी जिससे कि सत्ता का हस्तातरण जल्दी और सुगमता से हो सके। मिशन ने सावधान किया कि यदि समस्या का कोई हल न निकाला गया तो उसके परिणाम बहुत भयकर होगे और देश भीषण हिंसा व गृह-युद्ध में फंस सकता है।

महात्मा गाधी ने इस योजना के बारे मे लिखा कि, "वर्तमान परिस्थितियो मे ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाई गई यह सर्वोत्तम योजना है। यदि हम देखें तो इस योजना मे हमारी दुर्बलता प्रगट होती है। काग्रेस और मुस्लिम लीग आपस मे सहमत नही हो सकी, वे सहमत नही हुयी। यदि हम मूर्खतावश यह सोचकर सन्तोष कर लें कि कठिनाइया ब्रिटिश सरकार की पैदा की हुई हैं तो वह हमारी खेदजनक भूल होगी। मिशन इग्लैंड से इतनी दूर चलकर उनका शोषण करने नही आया था। वे ब्रिटिश शासन को समाप्त करने के सरलतम और शीघ्रतम साधन खोजने के लिये आये हैं।" §

काग्रेस ने इस योजना पर कुछ शकायें प्रगट की परन्तु उनमें से अधिकाश का समाधानकारक स्पष्टीकरण मिशन ने दे दिया। काग्रेस ने २५ जून को उस योजना को कुछ शर्तो के साथ स्वीकार कर लिया, मुस्लिम लीग ने भी अपने ढग से उसे मान लिया। परन्तु, अन्तरिम सरकार बनाने के प्रश्न पर काग्रेस तैयार नही हुई। लीग अन्तरिम सरकार के लिये भी तैयार हो गई। मिशन २९ जून को भारत से वापिस लौट गया।

वाइसराय लार्ड वेवेल ने घोषणा की कि यदि काग्रेस अन्तरिम सरकार मे आने को तैयार न हुई तो उन्हे लीग और दूसरे लोगों को मिला कर सरकार बनानी पड़ेगी।

अन्तरिम सरकार की स्थापना—संविधान सभा के चुनाव हो गये। कुल २९६ सदस्य चुने गये जिनमे से २०५ स्थान काग्रेस को प्राप्त हुए और ७३ लीग

§ हरिजन, जून १९४६

को। इसी समय लीग ने घोषणा कर दी कि वह संविधान सभा में अपने सदस्यों को नही भेजेगी। उधर वाइसराय अन्तरिम सरकार बनाने के लिये बेचैन हो रहा था। जब मुस्लिम लीग ने किसी भी तरह नही माना और वह सरकार मे आने को तैयार नहीं हुई तो उसने कांग्रेस के अध्यक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू को निमंत्रित किया, वे एकदम सरकार बनाने को तैयार हो गये। उन्होंने १४ मे से १२ मन्त्रियों के नाम वाइसराय को दे दिये और वे नाम सम्राट द्वारा स्वीकार कर लिये गये। २ सितम्बर को कार्यकारिणी के सदस्यो ने पद ग्रहण कर लिया और श्री जवाहरलाल उपाध्यक्ष बनाये गये।

लीग द्वारा भयानक हत्याकाण्ड—सरकार के शपथ लेने से पहले ही लीग ने १६ अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस मनाया और हिन्दुओ की हत्या करनी शुरू कर दी। देश मे साम्प्रदायिक आग फैल गई। कलकत्ता मे भयकर हत्याकाड हुआ, लगभग ४००० लोग मारे गये और १०,००० घायल हो गये। महात्मा गाधी ने इस पर लिखा था कि हम गृह युद्ध मे अभी फंसे तो नही हैं परन्तु उसके निकट पहुँच गये हैं, हम उसकी तैयारी मे हैं।

लीग सरकार के भीतर—लीग ने जब यह देखा कि कांग्रेस सरकार के भीतर से अपनी शक्ति को मजबूत बना रही है तो वह भी तुरन्त सरकार मे घुस गई, उसे वाइसराय की कार्यकारिणी मे ५ स्थान दे दिये गये। १५ अक्तूबर को लीग के सदस्यो ने अपने पदो की शपथ ली। उधर १० अक्तूबर से बगाल के नोआखाली मे खुले आम मुसलमानो ने हिन्दुओ को मारना शुरू कर दिया। यहा हम साम्प्रदायिक दंगो के बारे मे और अधिक नही कहेगे। इस विषय मे इतना ही कहना है कि देश साम्प्रदायिक द्वेष की आग मे धधक रहा था। यह आग विभाजन के बाद तक धू-धू करके जलती रही, और आखिर रक्त की उस धारा से यह आग बुझ पाई जो संसार के अपने युग के सबसे महान पुरुष के हृदय से बह कर निकली।

लन्दन सम्मेलन—सरकार ने तय कर दिया कि संविधान सभा की पहली बैठक ९ दिसम्बर को होगी, परन्तु लीग उसमे जाने और उसकी कार्यवाही मे भाग लेने को तैयार नही थी। इस पर ब्रिटिश ससद मे यह घोषणा की गई कि ब्रिटिश सरकार ने भारत के वाइसराय और कांग्रेस व लीग के दो-दो एव सिखो के एक प्रतिनिधि को चर्चा के लिए लन्दन बुलाया है। पहले तो जवाहरलालजी ने लन्दन जाने से मना कर दिया परन्तु बाद मे जब ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने उन्हे व जिन्ना को व्यक्तिगत फोन किये और आश्वासन दिया कि संविधान सभा ९ दिसम्बर को निश्चय ही अपनी बैठक करेगी तब वे लन्दन गये। सिखो की ओर से सरदार बल्देवसिंह भी गये।

चार दिन बाद ६ दिसम्बर को सरकार ने घोषणा कर दी कि कोई बात तय नही हो सकी। नेता अपने देश को वापिस लौट आये और यहा संविधान सभा की उधेड़-बुन में लग गये। कांग्रेस संविधान सभा की सफलता के लिए कटिबद्ध थी परन्तु मुस्लिम लीग उसके बाहर बैठी रही।

सविधान सभा का काम शुरू होता है—६ दिसम्बर के महान दिन भारत के लिए एक स्वतन्त्र सविधान बनाने के लिए सविधान सभा की पहली बैठक आरम्भ हुई। डा० राजेन्द्रप्रसाद को सविधान सभा का अध्यक्ष बनाया गया। पहली सभा की अध्यक्षता श्री सच्चिदानन्द सिन्हा ने की। सविधान सभा म काग्रेस प्रसिद्ध विधि शास्त्रियो को चुनवा कर लाई थी। यह महान सभा बहुत प्रभावशाली और प्रतिभाशाली थी, तथा भारत की आत्मा का सही प्रतिनिधित्व करती थी। उसमे यदि कुछ नही था तो वह भारत का महान पुरुष नही था जो सारे देश की आत्मा का एकमात्र प्रतिनिधि था। गाधीजी के बारे मे बोलते हुए जवाहरलालजी ने सविधान-सभा की उस पहली बैठक मे कहा था—"वे राष्ट्रपिता है, वे इस सभा के निर्माता है, इसके अतिरिक्त अपने देश मे जो पीछे हुआ है उसम से अधिकाश के एव जो आगे होने को है उसमे से अधिकाश के भी निर्माता है।" इस समय गाधीजी बगाल की पीडित मानवता को प्रेम और सद्भावना का सन्देश दे रहे थे।

जवाहरलालजी ने सभा म उद्देश्यो का प्रस्ताव रखा और उसमे यह बात स्पष्ट कर दी गई कि वह सभा स्वतत्र और प्रभुता सम्पन्न भारत का सविधान बनाने का काम करेगी और किसी भी परिस्थिति मे उस काम से विमुख नही होगी।

मुस्लिम लीग सभा म शामिल नही हुई। १५ फरवरी १९४७ को सरदार पटेल ने बताया कि उन्होने सरकार से माग की थी कि या तो लीग सभा मे आय या अन्तरिम सरकार से भी निकाल दी जाय। यदि ऐसा न हुआ तो काग्रेस के सदस्य सरकार मे बाहर निकल जायेंगे।

इस बीच सविधान सभा तेजी के साथ अपना काम करती रही। इस बारे मे यह बात साफ हो गई कि सविधान सभा का बनाया हुआ सविधान उन्ही प्रातो पर लागू होगा जो उसे स्वीकार करना चाहेंगे। इधर ब्रिटिश सरकार ने घोषणा कर दी कि वह भारत को जून १९४८ तक सारी सत्ता देकर भारत से हट जाना चाहती है।

इस समय भारत म दो महत्वपूर्ण घटनायें हुई जिन्होने भारत के भाग्य का निर्णय किया। पहली घटना थी लार्ड वेवेल की वापिसी और लार्ड माउन्टबेटन का वाइसराय बन कर भारत आना और दूसरी घटना थी मुस्लिम लीग की ओर से प्रत्यक्ष कार्यवाही को तीव्र किया जाना जिसका अर्थ था भारत मे फैले हुए साम्प्रदायिक द्वेष की आग म घी डालना। सारा देश एक प्रकार से गृह युद्ध की स्थिति म पहुँच गया। इसी का परिणाम यह हुआ कि जो लोग भारत की अखण्डता का स्वप्न देख रहे थे वे अनमने मन से भारत के विभाजन के लिए तैयार हो गये, उन्हे लगा कि इसके सिवाय देश को बचाने का कोई रास्ता नही रह गया था।

भारत का विभाजन

४ मार्च को लाहौर मे मुस्लिम लीग ने साम्प्रदायिक उपद्रव शुरू कर दिये, उधर वहा स्थायी मत्रिमडल बनाने की कोई सम्भावना नही थी, अत पजाब की

शासन सत्ता १६३५ के अधिनियम के अनुसार अंग्रेज गवर्नर सर ईवान जेन्किन्स को सौंप दी गई। साम्प्रदायिक दंगे बढ़ते गये और वह आग देहातों में भी फैल गई, गवर्नर ने फौज की सहायता ली और १८ ००० भारतीय व २००० अंग्रेजी सैनिक तैनात किये गये। इन दंगों के परिणामस्वरूप लगभग २००० मनुष्यों की मृत्यु हुई।

२० फरवरी को ब्रिटिश सरकार ने भारत को स्वतन्त्रता देने की घोषणा तो कर दी परन्तु उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि सत्ता किस के हाथों में दी जाए भारत के लोगों के लिए यह शर्म की बात थी कि वे आपस में किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पा रहे थे। कांग्रेस ने जब साम्प्रदायिकता का यह नंगा नाच देखा तो उसकी आंखें खुल गयी और उसकी कार्यसमिति के सदस्य स्थिति पर विचार करने के लिए इकट्ठे हुए। उन्होंने यह प्रस्ताव पास किया कि संविधान सभा जो संविधान तैयार करती है, यदि किसी प्रान्त का कोई भाग उस संविधान को स्वीकार करना और लागू करना चाहता है तो उसे ऐसा करने से नहीं रोका जाना चाहिए। आगे उन्होंने यह भी कहा कि इसके लिए यदि आवश्यक हो कि प्रान्तों का विभाजन किया जाय तो वह भी किया जाना उचित होगा पंजाब के हिन्दू सिख मुस्लिम लीग द्वारा किए गए अत्याचारों के कारण बराबर यह मांग कर ही रहे थे कि पंजाब के दो भाग किये जायें जिसमें से एक में हिन्दू और सिख जनसंख्या के बहुमत वाले क्षेत्र हों और दूसरे मुस्लिम-प्रधान। बंगाल के हिन्दू भी वहां साम्प्रदायिक अत्याचारों से ऊबकर इसी प्रकार से बंगाल के विभाजन की मांग कर रहे थे। विधाता का कैसा विचित्र खेल है कि जो बंगाली अंग्रेज द्वारा बंगाल के दो टुकड़े कर दिये जाने पर सन् १६०५ में बंगाल की एकता के लिए मरने मिटने के लिए तैयार हो गये थे और जिन्होंने उसे एक करा कर ही दम लिया था वे ही लोग आज स्वयं बटवारे की मांग कर रहे थे। कोई कर ही कुछ नहीं सकता था परिस्थितियां ही इस प्रकार की निर्मित कर दी गई थीं।

ये प्रस्ताव भारत के बटवारे के प्रस्ताव नहीं थे परन्तु इनसे यह आभास मिलने लगा था कि हिन्दुओं ने और कांग्रेस ने भी, जो अपने को सारे देश और हर जाति व धर्म का प्रतिनिधि मानती थी, मुस्लिम लीग की गुण्डागर्दी के सामने घुटने टेक दिये थे और वे अब देश के बटवारे की दिशा में चिन्तन करने लगे थे। इसी समय देश के प्रसिद्ध राष्ट्रवादी दैनिक समाचार पत्र "हिन्दुस्तान टाइम्स" ने लिखा था कि "चाहे भारत में एक प्रभुता सम्पन्न राज्य हो या अधिक हो, और चाहे एक *राज्य बनने की स्थिति में कैबिनेट मिशन योजना के* अनुसार तीन श्रेणियों वाला संघ हो या सादा संघ हो, पंजाब और बंगाल का बटवारा हर स्थिति में आवश्यक है।" 'किसी भी स्थिति में प्रान्तीय स्वराज्य को नष्ट नहीं किया जा सकता, परन्तु इसी क्षेत्र में विभिन्न सम्प्रदायों के बीच बहुत गहरे मतभेद हैं। यदि वर्तमान बंगाल और पंजाब के आधार पर एक भारतीय संघ या संघ के भीतर समूह बनाये जाते हैं, तब इन प्रान्तों के भीतर फैला हुआ साम्प्रदायिक विद्वेष निश्चित रूप से समूहों और संघ

की सरकारो मे प्रतिबिम्बित होगा और सारे देश का राजनीतिक जीवन आज की ही तरह जहरीला होता रहेगा।" ‡

२४ मार्च को लार्ड माउन्टबेटेन दिल्ली पहुँचे और उन्होंने कोशिश की कि देश के भीतर शान्ति स्थापित हो सके। उनकी प्रेरणा से गाधीजी और जिन्ना साहब के हस्ताक्षर से एक अपील निकाली गई कि देश म साम्प्रदायिक हिंसा बन्द कर दी जाय, परन्तु उसका कोई प्रभाव नही होने वाला था, मुस्लिम लीग देश के वातावरण को दूषित करने पर तुली हुई थी। काग्रेस और लीग के बीच समझौता होने की तो कोई सम्भावना शेष रही ही नही थी, मामला यहा तक बिगड गया कि वे एक दूसरे से बात करने तक म हिचकिचाते थे और स्थिति तेजी से पाकिस्तान की ओर ढुलकती चली गई। अप्रैल १९४७ म भारत सरकार के विदेश विभाग के सदस्य और गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद के उपाध्यक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा की कि यदि मुस्लिम लीग पाकिस्तान चाहती है तो वह उसे ले सकती है लेकिन वह भारत के उन प्रदेशो को नही ले सकती जो पाकिस्तान मे शामिल नही होना चाहते। इसी प्रकार २८ अप्रैल को सविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा कि, "यद्यपि हमने केबिनेट मिशन के १६ मई १९४६ के वक्तव्य को स्वीकार कर लिया है जिसमे कहा गया है कि देश के विभिन्न प्रान्तो और राज्यो का एक सघ बनेगा, तथापि यह हो सकता है कि सघ म समस्त प्रॉत शामिल न हो। यदि दुर्भाग्यवश वैसा हो जाता है तो हम भारत के एक भाग के लिए सविधान बनाकर ही सन्तुष्ट हो जायेंगे। उस स्थिति म हम एक सिद्धान्त पर अडना चाहिए और हम अडेंगे कि देश के प्रत्यक भाग पर एक ही सा सिद्धान्त लागू किया जायगा और उसके किसी भी अनिच्छुक भाग पर कोई भी सविधान जबर्दस्ती थोपा नही जायगा। इसका अर्थ केवल भारत का ही नही अपितु कुछ प्रान्तो का विभाजन भी होगा। हम इसके लिए तैयार रहना चाहिए और सविधान सभा के सामने ऐसी स्थिति आ सकती है कि उसे इस प्रकार के बटवारे पर आधारित सविधान बनाना पडे।"

यहा हमने विभाजन के बारे मे काग्रेस के दो नेताओ-जवाहरलाल नेहरू और डा० राजेन्द्रप्रसाद के वक्तव्यो का उल्लेख किया है जिनमे यह बात प्रगट होती है कि काग्रेस विभाजन के सिद्धान्त को मानती जा रही थी। परन्तु एक व्यक्ति था, जो काग्रेस के बाहर था मगर जिसके बिना काग्रेस को पहचानना कठिन होता, इतना ही नही जो, एक लम्बे समय तक भारत के भाग्य का विधाता रहा था, जिसे भारत के लोग और ससार के लोग शान्ति, एकता, प्रेम और करुणा का मसीहा मानते है, वह व्यक्ति था गाधी। आज उसकी आवाज अकेली रह गई थी। जिसके इशारे पर देश

‡ ई० डब्ल्यू० आर० लूम्बी द्वारा लिखित पुस्तक 'दा ट्रान्सफर ऑफ पावर इन इण्डिया,' प्रकाशक जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, १९५४ के पृष्ठ १५० पर से उद्धृत।

मर मिटने को तैयार रहता था, आज उसी की आवाज सबसे उपेक्षित हो गई थी। फिर भी उसकी उपेक्षा न कांग्रेस कर सकती थी न ब्रिटिश सरकार और न भारत की राष्ट्रीय मनोवृत्ति वाली जनता। आखिर लार्ड माउन्टबेटेन ने उनकी सलाह मागी, उनके और श्री जिना के बीच भेंट भी कराई मगर वह महात्मा अपनी स्थिति से जरा भी नहीं डिगा और उन्होंने साफ कह दिया कि वे न भारत के विभाजन के पक्ष में हैं और न कुछ प्रातो के विभाजन के, क्योंकि इसका अर्थ होगा सिद्धात के तौर पर विभाजन को स्वीकार कर लेना।

अब यह बात तो लगभग निश्चित सी हो गई कि पाकिस्तान बनेगा, झगडा केवल इस बात पर रह गया कि कांग्रेस पजाब और बगाल के विभाजन का आग्रह कर रही थी और लीग उसे मानने से इन्कार कर रही थी। लीग का कहना था कि पाकिस्तान बन जाने के बाद हिन्दुओं के लिए भारत का तीन चौथाई भाग बच जायगा यदि पजाब और बगाल के हिन्दू पाकिस्तान म रहना पसन्द नही करें। तो वे भारत आ सकते हैं और इस प्रकार जनता का अदला-बदला भारत और पाकिस्तान के बीच हो सकता है। कांग्रेस ने लीग के इस तर्क को ही पकड लिया और उसने तर्क रखा कि अल्पसख्यको के अदल-बदल की दृष्टि से ही वह पजाब और बगाल के विभाजन का आग्रह कर रही है क्योंकि विभाजन न होने की स्थिति म पाकिस्तान के पश्चिमी प्रदेश म अल्पसख्यक ३८ ४ होगा और पूर्वी प्रदेश में ४८ ३। दोनों प्रातो के विभाजन के परिणामस्वरुप यह सख्या घटकर क्रमश २६ ६ और ३० ५ प्रतिशत रह जायगी जबकि भारत म मुसलमानो की सख्या केवल १३ प्रतिशत ही होगी। कम प्रतिशत का अदल-बदल अधिक सुगम हो जायगा।

वाइसराय ने सब दलो के नेताओ को चर्चा के लिए २ जून को बुलाया और इसी बीच वे लन्दन के बुलावे पर वहा चले गये। इधर जिन्ना साहब ने घोषणा की कि वे पजाब और बगाल का बटवारा हर्गिज पसन्द नही करेंगे तथा वे चाहते है कि पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान को जोडने के लिये आने जाने का एक रास्ता उन्हे दिया जाय। इस बेहूदी माग पर एक समाचारपत्र ने लिखा था कि इसका अर्थ यह है कि एक हजार मील लम्बी और कम से कम पाच मील चौडी सडक कराची से चिट्टागोंग तक पाकिस्तान स्पेशल दौडाने के लिये भारत के बीचोबीच बनानी होगी। यानी ५००० वर्ग मील क्षेत्र भारत के आर पार और उन्हे दिया जाय। कांग्रेस इस बेहूदी माग के प्रति उदासीन रही क्योकि वह जानती थी कि यह सिवाय एक सनक के और कुछ भी नही हो सकती। उधर गाधीजी ने अपनी एक प्रार्थना सभा म कहा कि 'चाहे सारा भारत जल जाय और चाहे मुसलमान तलवार के जोर से पाकिस्तान मागें, हम उसके लिये हर्गिज तैयार नही होंगे।"

३ जून की घोषणा—२ जून को वाइसराय ने राजनीतिक नेताओं की सभा बुलाई और उनके साथ हुई चर्चा के आधार पर ३ जून को एक घोषणा कर दी और साथ ही यह भी कह दिया कि यदि मुस्लिम लीग उनकी बात नहीं मानती है तो वे

बिना किसी परवाह के अपनी योजना को क्रियान्वित करेंगे। ३ जून की घोषणा म विशेषकर यह कहा गया था कि —१ बगाल और पजाब म उन प्रान्तों की विधान सभाये दो भागो म मुस्लिम बहुमत वाले जिलो के प्रतिनिधि और उनके अलावा शेष प्रतिनिधि अलग अलग मिलेंगी और वे यह तय करेंगे कि प्रान्तो का बटवारा करना है या नही और यदि बटवारा होना है तो वे किस भाग की सविधान सभा म भाग लेना पसद करेंगे-भारत की या पाकिस्तान की। २ पश्चिमोत्तर सीमाप्रदेश म इस विषय पर लोकनिर्णय लिया जायगा कि वहा की जनता पाकिस्तान मे मिलना चाहती है या नही। इसी प्रकार यदि बगाल का विभाजन होता है तो आसाम के सिलहट जिले मे भी लोकनिर्णय द्वारा यह तय किया गया कि मुस्लिम बहुसख्या वाला जिला पाकिस्तान म मिलना चाहता है या नही। ३ ब्रिटिश बिलोचिस्तान की जनता से भी यह जानकारी की जायगी कि वे किस सविधान सभा मे भाग लेना पसन्द करेंगे।

इस घोषणा के साथ ही यह भी घोषित कर दिया गया कि ब्रिटिश ससद अपने चालू सत्र म भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने के लिये एक विधेयक पास करेगी और भारत के दोनो भागो को यह अधिकार होगा कि वे चाहे तो राष्ट्रमडल (British Commonwealth) म रहें अन्यथा न रहे। साथ ही यह भी कह दिया गया कि ब्रिटिश सरकार १५ अगस्त को भारत म सत्ता भारत के लोगो को सौप देगी और उस दिन से वह उसके शासन के लिये जिम्मेवार नही होगी।

स्वतन्त्रता की घडी इतनी निकट आ गई थी मगर कोई उल्लास नही था। कांग्रेस और गाधीजी मजबूरी के साथ एक उदासीन दृष्टि से योजना को देख रहे थे साम्प्रदायिक द्वेष का सकट उन्हे डरा रहा था। और आखिरकार ७ जून को गाधी-जी ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को यह सिफारिश की कि वह इस योजना को स्वीकार कर ले। उन्होंने इस प्रसग मे यह भी कहा कि देश के बटवारे की जिम्मेवारी अग्रेजो पर न होकर भारत के लोगो पर ही है।

मुस्लिम लीग ने भी चुपचाप योजना को स्वीकार कर लिया। सारे देश म सशस्त्र सेनाए तैनात कर दी गई विशेषकर पजाब, सीमान्तप्रदेश कलकत्ता बम्बई मे लगभग ५०,००० सैनिक और १०,००० सशस्त्र पुलिस के जवान तैनात किये गये। विभाजन समिति का निर्माण हो गया और पजाब व बगाल के विधान मडलो म विभाजन का निर्णय कर लिया गया। सिन्ध व बिलोचिस्तान ने भी तय कर लिया कि वे पाकिस्तान मे सम्मिलित होंगे। आसाम के सिलहट जिले मे लोकनिर्णय हुआ और उसमे यह निर्णय हो गया कि वह पाकिस्तान मे मिलेगा। पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश म लोकनिर्णय जुलाई म होगया और वहा कांग्रेस के समर्थकों ने लोकनिर्णय का बहिष्कार किया जिसके परिणामस्वरूप वहा भी यह निर्णय हो गया कि वह प्रान्त पाकिस्तान म मिलेगा। इस प्रकार पाकिस्तान का चित्र तैयार हो गया, अब वह श्री जिन्ना के दिमाग मे व्यवहारिक और वास्तविक धरातल पर उतर आया। देश के दो टुकडे होगये।

भारतीय स्वाधीनता अधिनियम—१९४७

२० फरवरी की अपेक्षा ३ जून की घोषणा ने देश के भीतर एक अधिक सक्रिय हलचल पैदा कर दी तथा देश स्वतन्त्रता के लिये तैयार होने लगा। यह देखकर ब्रिटिश सरकार ने लन्दन से भारत स्वाधीनता विधेयक का प्रारूप बनाकर वाइसराय के पास भारतीय नेताओं की स्वीकृति के लिए भेजा। २ जुलाई को वाइसराय ने उस प्रारूप को कांग्रेस और लीग के नेताओं के सामने रखा जिस पर वे सहमत हो गये तथा ब्रिटिश ससद म जूलाई के प्रथम सप्ताह मे वह विधेयक पेश कर दिया गय। लोकसभा ने उसे एक सप्ताह से भी कम समय के भीतर बिना मत-विभाजन के सब सम्मति से पास कर दिया। १६ जुलाई को लार्ड सभा ने उस पर अपनी सहमति प्रदान कर दी और १८ जुलाई को उस पर सम्राट की स्वीकृति प्राप्त हो गई। इस प्रकार "भारत स्वाधीनता अधिनियम—१९४७' पास हो गया।

अधिनियम का नाम—वैधानिक दृष्टि से इस अधिनियम का बहुत महत्व है। इसका नाम यह बात प्रगट करता है कि यद्यपि अधिनियम की धारायें भारत और पाकिस्तान को औपनिवेशिक स्वराज्य दे रही थी तथापि उस मामले मे दोनो राज्यो को पूरी स्वतन्त्रता दी गई थी कि वे जब चाहे तब पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा करके ब्रिटेन के साथ अपने औपनिवेदिक सम्बन्ध समाप्त कर सकते हैं। यह योजना बहुत व्यवहारिक थी। क्योकि यदि तुरन्त स्वतन्त्रता की घोषणा की जाती तो देश के सामने अनेक साविधानिक प्रश्न उठ खडे होते, और हमने देखा कि भारत के लोगो की औपनिवेशिक-पद के प्रति घृणा के बावजूद तथा अपनी पूरी चेष्टा के बाद भी हमे गणतन्त्र की घोषणा करने मे १५ अगस्त १९४७ से २६ जनवरी १९५० तक का लम्बा समय लग गया। केवल नाम मे ही नही, वास्तव मे भारत और पाकिस्तान को स्वतन्त्रता दे दी गई।

देशों के नाम और क्षेत्र—अधिनियम बनाते समय देशों के नाम के बारे मे थोडी कठिनाई पैदा हुई थी। शुरू मे हिन्दुस्तान और पाकिस्तान नाम के दो देशो का उल्लेख किया गया था, परन्तु इस पर कांग्रेस ने आपत्ति उठाई और आग्रह किया कि हिन्दुस्तान के स्थान पर भारत और इण्डिया नामो का प्रयोग किया जाये। उनका मानना था कि दो नये देशो के निर्माण का प्रश्न नही था, केवल देश का एक अङ्ग देश से अलग हो रहा था। इस प्रकार नये बनने वाले देश को चाहे जो भी नाम दिया जाता, भारत (इण्डिया) का नाम किसी भी प्रकार नहीं बदला जा सकता था। इससे एक और सुविधा यह होती कि भारत अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो को बिना किसी वैधानिक कठिनाई के पूरा कर सकता था। बाद मे सयुक्त राष्ट्र सघ ने भी इस विचार को मान्य किया और स्वतन्त्रता के बाद भारत को नये सिरे से उसका सदस्य नही बनना पडा, केवल पाकिस्तान को ही सदस्य बनने के लिए प्रार्थना पत्र भेजना पडा जो तुरन्त ही स्वीकार हो गया।

काग्रेस की यह बात मान ली गई थी अत अधिनियम ने इण्डिया और पाकिस्तान नाम के दो देशो का उल्लेख किया। सबसे बडी कठिनाई दोनो देशो के निश्चित क्षेत्र के बारे म थी क्योंकि कई स्थानो पर सीमायें अनिश्चित थी। अत इस बारे मे अधिनियम मे कहा गया कि भारत मे वह सब क्षेत्र होगा जो ब्रिटिश-भारत के क्षेत्र में पाकिस्तान का क्षेत्र निकाल कर बचता है। बगाल और पजाब को पूर्वी और पश्चिमी दो क्षेत्रो मे बाटा जायगा तथा उनकी सीमायें सीमा-आयोग द्वारा निर्धारित की जायेगी। सिलहट और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त म लोक निर्णय होगा, तथा यदि उनका निर्णय पाकिस्तान मे मिलने के पक्ष मे हुआ तो वे पाकिस्तान म शामिल होगे, उनके अतिरिक्त पूर्वी बगाल, पश्चिमी पजाब, सिन्ध और बिलोचिस्तान के प्रान्त पाकिस्तान के क्षेत्र म रहेगे। अधिनियम के द्वारा सीमा आयोग का निर्माण होने तक के समय के लिए दोनो देशो की अस्थायी सीमायें निश्चित कर दी गई थी।

गवर्नर जनरल—अधिनियम म कहा गया कि दोनो देशो म दो गवर्नर जनरल होगे, साथ ही यह भी कहा गया कि एक व्यक्ति भी दोनो देशो म एक साथ इस पद को सम्हाल सकेगा। गवर्नर जनरल कौन हो, इस बारे मे निर्णय करने की शक्ति ससद ने भारत और पाकिस्तान को दे दी। परन्तु इस बारे में सबसे बडी कठिनाई यह थी कि दोनो देशों मे विधिवत् मत्रिमण्डल तो थे नही, तथा उस कारण कोई प्रधान मन्त्री भी नही था, अत यह कैसे तय किया जाये कि गवर्नर जनरल कौन हो, उसका हल यह निकाला गया कि दोनों देशो मे क्रमश लीग और काग्रेस के नेता इसका निर्णय करें।

दोनो देशो म एक ही व्यक्ति गवर्नर-जनरल हो सकता है, यह व्यवस्था इस दृष्टि से की गई थी कि जब तक बटवारे की कार्यवाही शान्ति के साथ पूरी हो उस अवधि मे लार्ड माउन्टबेटेन दोनो देशो के गवर्नर जनरल बने रहे। सब लोग आशा करते थे कि श्री जिन्ना पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री बनना पसन्द करेंगे, और वे यह पसन्द करेंगे कि लार्ड माउन्टबेटेन पाकिस्तान के गवर्नर जनरल बने, परन्तु यह देख कर सबको आश्चर्य हुआ कि श्री जिना को यह प्रस्ताव स्वीकार नही हुआ। तथा वे स्वय प्रधान मन्त्री के स्थान पर गवर्नर जनरल बने। भारत के गवर्नर जनरल लार्ड माउन्टबेटेन ही बने। इस विषय मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि गवर्नर जनरल स्वतन्त्रता से पहले वाइसराय भी होता था, और वाइसराय के नाते वह ब्रिटिश सम्राट की ओर से देशी रियासतो के मामले में सर्वोपरि सत्ता का प्रयोग करता था। इस अधिनियम ने वाइसराय के पद का अन्त कर दिया तथा, इसके अनुसार गवर्नर-जनरल केवल गवर्नर जनरल ही रह गया।

भारत मन्त्री और उसका कार्यालय—अग्रेजी शासन काल म भारत के शासन की जिम्मेदारी भारत मन्त्री और उसके कार्यालय पर थी। १९४७ के अधिनियम ने भारत मन्त्री का पद समाप्त कर दिया। उसका कारण यह था कि अधिनियम लागू होने के बाद ब्रिटिश ससद पर भारत के शासन का कोई उत्तरदायित्व रहने

वाला नही था, अत स्वाभाविक रूप से ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल मे उसके बारे में किसी मन्त्री का रहना अनावश्यक हो गया और वह पद अपने आप ही समाप्त हो गया। उसी के साथ उसका कार्यालय भी समाप्त हो गया।

ब्रिटिश ससद की सत्ता भारत और पाकिस्तान को ससदो को—इस अधिनियम ने भारत पर से ब्रिटिश संसद की सत्ता को समाप्त कर दिया और वह सत्ता भारत और पाकिस्तान की संसदो को सौप दी। सत्ता के इन हस्तातरण के बारे मे उस समय ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री एटली (अब लार्ड) ने कहा था कि सत्ता का यह हस्तातरण कोई जबर्दस्ती सत्ता छोडने जैसा नही है वरन वह ब्रिटेन के मिशन की पूर्ति है। इस अधिनियम को जितनी तेजी से पारित करके भारत को सत्ता दी गई उसका उल्लेख करते हुए ब्रिटेन के टाइम्स नामक पत्र ने लिखा था कि "वैस्टमिन्स्टर की समद के दीर्घ इतिहास में इतने महत्वपूर्ण अधिनियम को इससे पहले कभी इतनी जल्दी और साथ ही साथ मधुरता के साथ पारित नही किया गया।" स्वयं प्रधान मन्त्री ने दोनो सदनो मे स्वय इस अधिनियम का परिश्रम के साथ सचालित किया, इसके लिए उन्हे दोनो सदनो ने साधुवाद दिया और उनकी प्रशसा की। स्वय भारत ने भी उनकी उत्कटता और ईमानदारी की सराहना की। भारतीय सविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने भारत की स्वाधीनता के लिए भारत के बलिदानो और सासारिक परिस्थितियो को स्वराज्य की प्राप्ति मे सहायक बतलाते हुए कहा था कि, "यह ब्रिटिश जाति के लोकतन्त्रात्मक आदर्शों और उनकी राजनीतिक परम्परा की चरम सिद्धि और पूर्णता है।" (सविधान सभा की कार्यवाही खण्ड ५, २०)

अधिनियम की इस धारा को लागू करने म सबसे बडी कठिनाई यह थी कि भारत और पाकिस्तान मे उन देशो की लोक-निर्वाचित संसदें नही थी, अत यह प्रश्न पैदा हो गया कि सत्ता किसे दी जाय। इम समस्या का हल इस निर्णय के द्वारा कर लिया गया कि ब्रिटिश ससद अपनी सत्ता दानो देशो मे उसकी सविधान सभा के हाथो म हस्तातरित करे। इससे भारत में सविधान सभा को सत्ता प्राप्त हुई। यह बहुत वैज्ञानिक भी था क्योकि भारत स्वतन्त्र तो हो गया था परन्तु उसका अपना संविधान तब तक बनकर तैयार नही हुआ था। सविधान सभा सविधान बना रही थी, उसको सत्ता मिलने का अर्थ यह था कि वह देश की सर्वसत्ता सम्पन्न-सस्था हो गई और उसने जो सविधान बनाया वह वैधानिक दृष्टि से भारत का सर्वोच्च संविधान हो गया।

इस अधिनियम ने भारत और पाकिस्तान की संसदो को पूर्ण सत्ता दे दी। इसका अर्थ यह था कि वे अपने-अपने देश के लिए स्वय इस अधिनियम की धाराओ मे भी कोई परिवर्तन करना चाहते थे, तो कर सकते थे। इसके अतिरिक्त भारत की सविधान सभा ब्रिटिश ससद द्वारा भारत के लिए बनाये किसी कानून को रद्द कर सकती थी या बदल सकती थी।

गवर्नर जनरल को अधिनियम ने देश का वैधानिक शासक बना दिया तथा उसे उपनिवेश के विधान पर स्वीकृति प्रदान करने की पूरी शक्ति प्रदान कर दी, अर्थात् गवर्नर जनरल आगे से भारत की संसद से आदेश प्राप्त करने लगा और वह भारत का वफादार सेवक हो गया, ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि और विदेशी सत्ता का घृणित प्रतीक नहीं रहा।

यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि भारत मे नया सविधान बनने तक १९३५ के अधिनियम की वे धारायें लागू की गई थी जिन्हे संविधान सभा स्वीकार करे, तथापि यह कह दिया गया था कि गवर्नर जनरल और गवर्नरो को उस अधिनियम के भीतर दी गई विशेष शक्तिया प्राप्त नही होगी और वे पूरी तरह सविधान सभा के नियत्रण मे रहेगे।

भारत सम्राट का पद समाप्त—महारानी विक्टोरिया ने जब भारत का शासन कम्पनी से सभाला था तो उन्होंने भारत-साम्राज्ञी का पद ग्रहण किया था, उनके बाद से *ब्रिटिश सम्राट भारत के सम्राट भी कहलाते थे।* इस *अधिनियम ने इस बारे मे* कहा कि इ डिया इम्पैरेटर और एम्परर ऑफ इ डिया (भारत सम्राट) नाम के पद समाप्त कर *दिय गय हैं और इस बारे म एक शाही घोषणा भी कर दी गई।* इसमे एक कठिनाई यह थी कि अकेली ससद सम्राट के पद मे परिवर्तन नही कर सकती थी, उसके लिय सारे राष्ट्रमडलीय देशो की स्वीकृति लेनी अनिवार्य थी, परन्तु ब्रिटिश प्रधान मत्री ने अपनी ससद को यह आश्वासन दे दिया कि इस बारे मे सभी राष्ट्रमडलीय देशो ने सहमति देने का वायदा कर लिया था।

लोकसेवाओं व सेना के ब्रिटिश सदस्यों के हितो की रक्षा—अधिनियम मे भारतीय नेताओ के आग्रह पर यह धारा जोडी गई थी कि जो लोग भारत मे सेवा कर रहे हैं वे ब्रिटिश नागरिक होते हुए भी भारत की सेवा करेंगे तो भारत सरकार उनके हितो की रक्षा पहले की ही भाति करती रहेगी, और ब्रिटिश सरकार भी उनके हितो का सरक्षण करने के लिय जिम्मेदार होगी। भारत के नेता चाहते थे कि सारे अ ग्रेज सैनिक और अनुभवी कर्मचारी भारत को तुरन्त छोडकर न जाये क्योकि वैसा होने पर देश का प्रशासन ठप्प हो सकता था। इसके बावजूद भी बहुत से लोग छोडकर चले गये और भारत सरकार ने कुछ समय तक तो सरकारी कर्मचारियों के बारे मे बहुत तगी उठाई।

देशी राज्यों को स्वतत्रता दे दी गई—जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, १९४७ *के अधिनियम द्वारा भारत के देशी-राज्यों के ऊपर से ब्रिटिश सम्राट की सर्वोपरि सत्ता* समाप्त कर दी गई। भारत को जो सत्ता दी गई वह ब्रिटिश-भारत के बारे मे थी। देशी राज्यो की सत्ता भारत सरकार को नही दी गई और राजाओ व नवाबो को स्वतंत्र कर दिया गया। होना यह चाहिये था कि सारी सत्ता भारत को सौंप दी जाती, परन्तु वैसा किया नही गया, और उसका परिणाम यह हुआ कि देश मे देशी राज्यो को लेकर कडुवाहट पैदा हुई। हैदराबाद के मामले मे हमे कडा कदम उठाना

पडा तथा काश्मीर का मामला भी उसी कारण उलझ गया क्योंकि सारी स्थिति अनिश्चित बना दी गई थी। इसका मूल कारण केवल यह था कि अंग्रेज सरकार जब यहा से गई तो उसने उन देशी राजाओं निजाम व नवाबो को स्वतन्त्र बना दिया जिन्होंने भारत में उनके शासन को शक्ति दी थी तथा जिन्होंने उसे बल पहुँचाया था।

इस प्रकार हमारा प्यारा देश लम्बे समय की दासता की दूषित शृंखलाओं को तोडकर वास्तविक और वैधानिक दृष्टियों से स्वतन्त्र और प्रभुता-सम्पन्न हो गया। भारत की स्वतन्त्रता की इस विलक्षणता को देख कर लार्ड सैम्युएल ने कहा था कि "यह इतिहास की एक विलक्षण घटना है यह बिना युद्ध के होने वाली एक सन्धि है।"

स्वतन्त्रता दिवस और सत्ता का हस्तातरण

ज्यो ही स्वतन्त्रता दिवस निकट आया, भारत सरकार ने अनेक महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्तिया की श्रीमती सरोजनी नायडू को उत्तरप्रदेश का गवर्नर बनाया गया और श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित को सोवियत संघ में भारत का राजदूत नियुक्त किया गया।

१४ अगस्त को रात के ११ बजे संविधान सभा की वह ऐतिहासिक बैठक हुई जिसमे उसने भारत की सर्वोच्च सत्ता को अपने हाथो में लिया। आरम्भ में भारतीय स्वाधीनता संग्राम के राष्ट्रगीत वन्देमातरम् की प्रारम्भिक पंक्तिया गाई गई, उसके बाद सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद का भाषण हुआ जिसके बाद देश के शहीदों की स्मृति में दो मिनट तक सारे सदस्य मौन खड़े रहे। बाद में पंडित नेहरू का भाषण हुआ और ठीक आधी रात को सबने देश की सेवा में लग रहने की प्रतिज्ञा ग्रहण की। तत्पश्चात संविधान सभा ने डा० राजेन्द्र प्रसाद और श्री नेहरू जी को यह सत्ता दी कि वे लार्ड माउन्टबेटेन को जाकर सूचित करें कि भारत की संविधान सभा ने भारत के शासन की जिम्मेदारी सम्हाल ली है और वह उन्हे भारत के गवर्नर जनरल का पद ग्रहण करने के लिये निमन्त्रित करती है।

सवेरे के समय राजभवन (पुराने वाइसराय भवन) मे गवर्नर जनरल और मन्त्रियो ने शपथ ग्रहण की। उसके बाद संविधानसभा की बैठक शुरू हुई। इस दिन सारा देश उल्लास से भर उठा परन्तु इस दिन हम, जितना चाहिये था उतना आनन्द न मना सके क्योंकि साम्प्रदायिक द्वेषकी आग में हमारे देश के लोग जल रहे थे, पाकिस्तान बन जाने पर भी वह आग शान्त नहीं हुई थी, वरन् वह तेजी से फैल रही थी। चारो ओर हिंसा और दमन का दौर-दौरा हो रहा था। पाकिस्तान के क्षेत्रो से अनगिनत भारतीय जनता बेघरबार होकर और अपने प्रियजनों को गवा कर भारत में आरही थी, उन लोगो के दुख का वर्णन नहीं किया जा सकता उधर हमारी आजादी के मसीहा महात्मा गाधी नोआखाली की पगडंडियों पर नगे पाव घूम घूमकर बर्बर और हिंसक लोगों को शान्ति का पाठ सिखा रहे थे तथा पीड़ित मानवता के आंसू पोछने की चेष्टा कर रहे थे। इधर दिल्ली के लाल किले पर जवाहर लाल जी भारत

का प्यारा राष्ट्रध्वज तिरंगा फहरा रहे थे, उधर शान्ति और अहिंसा का वह देवदूत काटो भरी तग और संकरी राहों से चलकर टूटे हुए दिलो को जोडने की चेष्टा कर रहा था, आजादी के बाद शायद उस महामानव के लिये यही काम शेष बचा था, इसी काम मे वह आखिर मे चला भी गया । प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन के शब्दो मे कहे तो कह सकते हैं कि आने वाली पीढिया अचरज करेंगी कि इस प्रकार का एक अतिमानव मनुष्यो के बीच मे रहता था और उनके बीच काम करता था। हमारी आजादी उस महामानव के नाम के साथ जुडी हुई है ।

सविधान-सभा द्वारा संविधान का निर्माण

भारत के सांविधानिक विकास का हमारा प्रस्तुत विवरण अधूरा ही रह जायेगा यदि हम स्वतन्त्र भारत के सविधान के निर्माण की कहानी को छोड दें ।सविधान सभा के बारे मे पीछे अनेक स्थलो पर लिखा गया है । यहा हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि इस महान और प्रभुता सम्पन्न सभा ने किस प्रकार हमारे महान प्राचीन एव विशाल देश के लिए एक उच्च कोटि का सविधान बना कर दिया ।

सविधान सभा की कल्पना—जनतन्त्र का अर्थ है किसी देश की जनता के लिए आत्म-निर्णय का अधिकार । आत्म-निर्णय का अर्थ है अपने शासन के सचालन के नियम स्वय बनाना । ब्रिटेन ससार का एक ऐसा देश है जिसकी सांविधानिक परम्परायें विकसित हुई है अथवा विधि-निर्माण के साधारण क्रम मे बनी हैं । उस देश के लोगो को कभी एक स्थान पर बैठकर अपने देश का सविधान बनाना नही पडा है । सविधान बनाने की परम्परा का आरम्भ सयुक्त राज्य अमेरिका ने किया । उनके यहा १७८७ ई० मे सघीय-सम्मेलन ने एक सविधान का निर्माण किया जो आज तक बहुत थोडे से सशोधनो के साथ चल रहा है । इस परम्परा का अनुकरण फ्रान्स ने किया और वहा १७८९ से १७९१ के बीच एक राष्ट्रीय सविधान-सभा ने एक सविधान का निर्माण किया ।

भारत मे ब्रिटिश ससद के बनाये हुए सविधान के अनुसार शासन चल रहा था । जब देश के भीतर स्वराज्य की माग प्रबल हुई तो उसका स्वाभाविक तौर पर ही यह प्रयोजन था कि भारत के लिए सविधान बनाने का अधिकार भारत की जनता के प्रतिनिधियो को होना चाहिए । १९३५ के अधिनियम की घोषणा से पहले ही गाधीजी ने भारत के लिए एक प्रतिनिधि सभा का प्रस्ताव देश और सरकार के सामने रखा था जो देश के लिए सविधान बनाने का काम करती । काग्रेस ने १९३४ मे सविधान सभा बनाने के बारे म एक माग और प्रस्ताव पेश किया । १९३५ मे जब नये भारत अधिनियम की घोषणा की गई तो काग्रेस उससे बहुत अप्रसन्न हुई और उसने अपने फैजपुर अधिवेशन म १९३६ में निम्न प्रस्ताव इस बारे मे पास किया जिसमे उसने सविधान सभा का उल्लेख किया—

"काग्रेस का लक्ष्य भारत में एक वास्तविक लोकतंत्रात्मक राज्य की स्थापना

करना है, जिसमे सत्ता सम्पूर्ण जनता को सौंप दी जाये और सरकार उसके प्रभावशाली नियत्रण मे रहे। ऐसे राज्य की स्थापना केवल एक ऐसी सविधान सभा द्वारा ही हो सकती है जो अन्तिम रूप से देश के सविधान का निर्णय कर सके।"

काग्रेस ने १६३६ मे द्वितीय महायुद्ध शुरू होने पर पुन यह माग की और सरकार को कहा कि यदि भारत को एक सम्पूर्ण-प्रभुता-सम्पन्न सविधान सभा बनाने का अधिकार दिया जाय तो भारत युद्ध मे अग्रेजो का साथ दे सकता है। काग्रेस कार्यसमिति ने अपने एक प्रस्ताव मे कहा कि, "एक स्वतन्त्र देश का सविधान बनाने के लिये सविधान सभा ही एकमात्र लोकतान्त्रिक मार्ग है, तथा जो लोग लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता म विश्वास करते है इससे इन्कार नही कर सकते।" (नवम्बर, १६३६) इस बारे म बोलते हुए श्री जवाहरलालजी ने कहा था कि, "अगर इसे स्वीकार किया जाये, जैसाकि होना चाहिये, कि राजनीतिक और राष्ट्रीय रूप से हिन्दुस्तानी ही अपने भाग्य के एकमात्र निर्णायक हो और इसलिए अपना विधान तैयार करने की उन्हे पूरी आजादी हो, तो इससे यह अर्थ निकलता है कि ऐसा एक राष्ट्रीय-पंचायत (सविधान सभा) द्वारा ही हो सकता है।" (राष्ट्रीय पचायतः सम्पादक श्री यशपाल, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १६४०) महात्मा गाधी ने भी इस विचार का समर्थन किया और उन्होने हरिजन सेवक के २५ नवम्बर, १६३६ के अङ्क मे लिखा कि, "सिर्फ राष्ट्रीय पचायत ही एक ऐसा सविधान बना सकती है जो देशी हो और जो ठीक-ठीक और पूरी तरह से जनमत का प्रतिनिधित्व कर सके।"

सविधान सभा का निर्माण—कैबिनेट मिशन योजना के बारे म वर्णन करते हुए हमने सविधान सभा के जन्म के बारे म लिखा है। यह सभा उन प्रस्तावो में से पैदा हुई। इसके जन्म के बाद इसको मार डालने और नष्ट कर देने के अनेक प्रयास हुए परन्तु काग्रेस इसके जन्म के समय से ही इसकी रक्षा मे खडी हो गई और उसने यह घोषणा कर दी कि किसी भी परिस्थिति मे संविधान सभा के काम को न रोका जा सकता है न बन्द किया जा सकता है। वह इस मामले मे यहा तक अड गई कि जब नवम्बर १६४६ में श्री जवाहरलालजी को ब्रिटिश सरकार ने सलाह के लिए बुलाया तो वे जाने को तैयार नही थे और उन्होने अपने न जाने का यह कारण बताया कि उन्हे आशका थी कि लन्दन सम्मेलन केवल इसलिए बुलाया गया था जिससे कि ६ दिसम्बर को आरम्भ होने वाली सविधान सभा की पहली बैठक न हो सके। जब उन्हे यह आश्वासन दे दिया गया कि वे ६ दिसम्बर से पहले ही भारत लौट सकेंगे तथा सरकार किसी भी तरह सविधान सभा के अधिवेशन को टालना नहीं चाहती है तभी वे लन्दन गये।

सविधान सभा के सदस्यो का निर्वाचन प्रान्तीय विधान सभाओ के सदस्यों ने किया। सविधान सभा के २१० सामान्य-स्थानो म से काग्रेस को सब के सब स्थान प्राप्त हुए और मुस्लिम लीग को मुस्लिम स्थानो मे ७८ म से ७७ स्थान प्राप्त हुए। संविधान सभा एक प्रकार से देश की प्रतिभा और शक्ति की प्रतीक बन गई, उसम

जवाहरलालजी, सरदार वल्लभ भाई पटेल, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, प० गोविन्द वल्लभ पन्त, डा० राधाकृष्णन, डा० राजेन्द्रप्रसाद, डा० अम्बेदकर, सरोजिनी नायडू, आचार्य कृपलानी और पुरुषोत्तमदास टडन आदि विद्वान और राष्ट्रभक्त पहुँचे। यहा भी वही व्यक्ति नही था, जिसके इशारे पर सारा देश आजादी की लडाई लड चुका था, महात्मा गाधी उसके बाहर ही रहे और हर बात मे उनकी बराबरी और नकल करने वाले जिन्ना साहब भी।

मुस्लिम लीग सविधान सभा के भीतर नही गई, परन्तु कांग्रेस अपने निश्चय पर अटल डटी रही, तथा उसने पूर्व निर्धारित ६ दिसम्बर १९४६ को उसका प्रथम अधिवेशन आरम्भ कर दिया। आरम्भ मे ही सभा के सामने कई बडी कठिनाइया आईं, जिनका उसने साहस के साथ सामना किया। सबसे पहले यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि पहले अधिवेशन की अध्यक्षता कौन करेगा? इस बारे मे वाइसराय लॉर्ड वेवेल का मत था कि क्योकि सविधान सभा का निर्माण ब्रिटिश सरकार ने किया है, अत उसका पहला अध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार वाइसराय को होना चाहिये, पडित जवाहरलालजी का आग्रह था कि सविधानसभा एक प्रभुता-सम्पन्न सस्था थी, अत वाइसराय को उस प्रकार का कोई अधिकार नही था। आखिरकार सयुक्तराज्य अमेरिका और फ्रान्स की परम्परा के अनुसार सभा के सबसे वयोवृद्ध सदस्य श्री सच्चिदानन्द सिन्हा को अध्यक्ष बनाया गया। सविधान सभा का अधिवेशन नई दिल्ली मे विधानसभा भवन के पुस्तकालय हाल मे हो रहा था जिसके अन्दर दीवारो पर पुराने गवर्नर जनरलो के चित्र लटक रहे थे। सविधान सभा के सदस्यो को यह बहुत अटपटा लग रहा था कि इस प्रकार वे उन लोगो के चित्रो की साक्षी मे भारत के नये सविधान को तैयार करें जो देश मे विदेशी शासन के प्रतीक थे। इस समस्या का भी समाधान हो गया और उन चित्रो को वहा से उतार कर कही अन्यत्र पहुचा दिया गया।

ये कठिनाइया तो मामूली थी परन्तु इनसे भी कही बडी कठिनाइया दूसरी थी जिनका सामना सविधान सभा को करना पड रहा था, वे वैधानिक और राजनीतिक कठिनाइया थी। पहला प्रश्न तो यह था कि क्या सविधान सभा सविधान बनाते समय मिशन योजना के उन अशो से बधी हुई थी कि वह केवल चार विषय ही संघीय सरकार को देगी और शेष प्रान्तो को, दूसरा प्रश्न यह था कि क्या प्रान्तो का समूहीकरण मिशन योजना म बताये अनुसार अनिवार्य था, इस बारे मे वाइसराय ने कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद को यह आश्वासन दिया था कि समूहीकरण अनिवार्य नही था, परन्तु मुस्लिम लीग उसे अनिवार्य मानती थी और बाद मे ब्रिटिश सरकार ने भी उस विचार का समर्थन किया। एक और कठिनाई यह थी कि लीग सविधान सभा मे नही आ रही थी और यह भी ज्ञात नही हो पा रहा था कि वह आखिर तक आयेगी या नही। इस कारण सविधान सभा अपने काम को किस प्रकार आगे बढा सकेगी इसके बारे मे सबके मन में सन्देह था। परन्तु सविधान सभा अपने काम मे जुट गई और वह ३ जून १९४७ को देश के विभाजन से पहले अपने तीन अधिवेशन कर

चुकी थी, उसकी विविध समितियो आदि का निर्माण हो चुका था और पहले अधिवेशन मे ही १३ दिसम्बर को पंडित जवाहर लाल जी ने उसके सामने उद्देश्यो सम्बन्धी प्रस्ताव रखा जो स्वीकार कर लिया गया था। उस प्रस्ताव मे कहा गया था कि सविधान सभा एक प्रभुता सम्पन्न सभा है और उसकी सत्ता को कोई चुनौती नहीं देता है तथा यदि कोई चुनौती देगा तो हम उसको स्वीकार करते हैं और अपनी स्थिति पर सुदृढ हैं। उसम यह भी कहा गया कि यह प्रस्ताव देश की जनता के प्रति एक पवित्र प्रतिज्ञापत्र है। पहले अधिवेशन मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रस्ताव यह पास किया गया कि सविधान सभा को विना उसके कुल सदस्यो के दो तिहाई बहुमत के अन्य किसी प्रकार विघटित नही किया जा सकेगा। इस प्रकार सभा ने अपनी प्रभुता स्थापित कर ली।

३ जून को यह घोषणा हो जाने के बाद कि भारत के दो टुकडे होंगे, भारत की सविधान सभा का काम बहुत हल्का हो गया और वह निश्चितता के साथ अपनी इच्छा के अनुकूल देश का सविधान बनाने के लिये स्वतत्र हो गई। उसका चौथा अधिवेशन १४ जुलाई को आरम्भ हुआ उसमें भारतीय क्षेत्र के २३ मुस्लिम लीगी सदस्यों ने सविधानसभा म भारत के प्रति वफादारी की शपथ ग्रहण की और सभा में अपना स्थान ग्रहण कर लिया। देशी राज्यो मे से जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, रीवा पटियाला और बडौदा के प्रतिनिधि २८ अप्रैल १९४७ को ही सविधान सभा मे स्थान ग्रहण कर चुके थे और हैदराबाद व काश्मीर को छोडकर शेष भारतीय राज्यों के प्रतिनिधि १४ जुलाई को सविधान सभा मे सम्मिलित हो गये। काश्मीर के प्रतिनिधि अक्तूबर १९४७ मे और हैदराबाद के नवम्बर १९४८ में आये और इस प्रकार सभा भारत की प्रतिनिधि सभा हो गई।

१४ अगस्त १९४७ को संविधान सभा का अधिवेशन फिर से आरम्भ हुआ और उस रात को सभा ने भारत की प्रभुता की बागडोर वैधानिक ढग से संभाल ली। उसने लार्ड माउन्टबेटेन को स्वाधीन भारत का प्रथम गवर्नर जनरल नियुक्त किया। इसी समय सविधान सभा ने भारत की ससद का स्वरूप भी ग्रहण कर लिया। सविधान सभा की हैसियत मे वह अपने अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता मे संविधान बनाने का काम करती तथा अपने नये निर्वाचित स्पीकर (ससद के अध्यक्ष) श्री जी० वी० मावलकर की अध्यक्षता मे १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत भारत की ससद के नाते चालू कानून बनाने का काम भी करती रही। यह इसका दोहरा कार्य था।

२९ अगस्त को सविधान सभा सविधान का प्रारूप बनाने के लिये एक प्रारूप समिति की स्थापना की जिसमे विशेषज्ञो की नियुक्ति की गई। इसमे अध्यक्ष डा० अम्बेदकर के अलावा श्री अल्लादिकृष्ण स्वामी अय्यर, श्री एन० गोपालास्वामी आयगर, श्री के० एम० मुन्शी, श्री टी० टी० कृष्णमाचारी तथा दो अन्य सदस्य थे। प्रारूप समिति के सलाहकार के तौर पर श्री बी० एन० राव की नियुक्ति की गई।

फरवरी १९४८ में संविधान का प्रारूप प्रकाशित कर दिया गया और देश

भर में उस पर चर्चायें की गईं तथा प्रान्तीय विधानसभाओ ने भी उस पर विचार किया। इन चर्चाओ के प्रकाश मे प्रारूप समिति ने सविधान में अनेक संशोधन किये और अन्तिम प्रारूप सविधान सभा की चर्चा के लिये ४ नवम्बर को रखा गया। पूरे एक वर्ष तक उस पर चिन्तन, मनन और चर्चायें हुईं। कुल मिलाकर ६ दिसम्बर १६४६ से लेकर २६ नवम्बर १६४६ तक १०८३ दिन के दीर्घ समय मे भारत के सविधान का निर्माण हुआ।

२६ नवम्बर १६४६ को भारत के सविधान पर सविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा हस्ताक्षर किये गये। यहा यह कहना लाभदायक होगा कि लार्ड माउन्टबेटेन द्वारा गवर्नर जनरल पद त्याग देने पर भारतीय राजनीति के भीष्म और आचार्य चक्रवर्ती राजगोपालाचारी को भारत का प्रथम और अन्तिम भारतीय गवर्नर जनरल बनाया गया। वे २६ जनवरी १६५० के दिन अपने पद से मुक्त हो गये। उस दिन भारत के गवर्नर जनरल का पद सदा के लिय समाप्त कर दिया गया *तथा उस दिन हमारा नया सविधान देश म लागू किया गया। उसके अनुसार* सविधान सभा द्वारा सर्वसम्मति से निर्वाचित डा० राजेन्द्रप्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने।
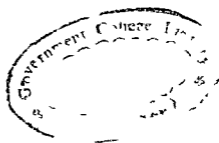
खण्ड ३

स्वतन्त्र भारत का संविधान

अध्याय : १०
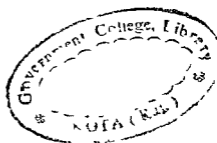
भारतीय-संविधान : एक परिचय

"हमारे संविधान के अन्तर्गत राज्य प्रभुता-सम्पन्न नहीं है क्योंकि वह अपनी वैधानिक शक्ति संविधान से प्राप्त करता है। सर्वोच्च न्यायालय भी प्रभुता सम्पन्न नहीं है, यद्यपि वह कार्यपालिका व विधायिका के निर्णयों को असांविधानिक घोषित कर सकता है तथापि उसे उसकी वैधानिक सत्ता संविधान से प्राप्त होती है। सम्मिलित राज्य (States) भी प्रभुता-सम्पन्न नहीं हैं क्योंकि अवशिष्ट शक्तियां संघीय सरकार को दी गई हैं, और उसको निहित एवं अन्य शक्तियों के अलावा संघ को राज्यों पर नियन्त्रण की निश्चित सत्ता प्राप्त है वह किसी राज्य को सरकार को भंग कर सकता है अथवा उसकी सीमाओं को बदल सकता है। हमारा संविधान स्वयं भी प्रभुता सम्पन्न नहीं है, इसकी स्थिरता उन लोगों पर आधारित है जिनके प्रतिनिधि इसे उसी प्रकार समाप्त कर सकते हैं जैसे कि उन्होंने इसे बनाया था। हमारे राज्य में प्रभुता जनता में निहित है वास्तव में वह उस सत्ताधारी समूह में रहता है जो संविधान का संचालन करता है तथा जो संघ व राज्य सरकारों में काम करने वाली उन सामूहिक शक्तियों का नियन्त्रण करता है जिसे संविधान के संशोधन अथवा रद्द करने का अधिकार है।"

—कन्हैयालाल माणिक्यलाल मुंशी

२६ नवम्बर १९४९ को संविधान सभा ने अन्तिम रूप से भारत के लिए जिस संविधान का निर्माण किया था उसकी प्रेरणा और उसके तत्वों के स्रोतों (Sources) का ज्ञान कर लेना संविधान को भली प्रकार समझने के लिए आवश्यक होगा। प्रस्तुत पुस्तक के द्वितीय खण्ड में हमने भारतीय संविधान के विकास की कथा प्रस्तुत की है। यद्यपि यह सत्य है कि भारत का वर्तमान संविधान एक सांविधान सभा के चेतन प्रयत्न द्वारा एवं निश्चित काल-अवधि में निश्चित स्थान पर बन कर तैयार हुआ है और उस पर एक निश्चित राशि व्यय हुई है साथ ही उसके निर्माण में निश्चित व्यक्तियों का हाथ रहा है तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि हमारा यह संविधान पिछले सौ वर्षों में निरन्तर होने वाले सांविधानिक विकास की चरम परिणति है।

हमारे वर्तमान संविधान के विभिन्न अ शो के लिए सैद्धान्तिक और व्यवहारिक प्रेरणायें विभिन्न संविधानो से ली गई है, इसके बावजूद भी हमारा संविधान उस दिशा मे एक मजबूत कदम माना जा सकता है जिस दिशा में हमारे देश के भीतर सांविधानिक रचना आरम्भ हुई थी, विशेषकर १६३५ के अधिनियम का स्पष्ट प्रभाव उस पर देखा जा सकता है। वास्तव मे हमारे संविधान का निर्माण १६३५ के अधिनियम के साये में ही हुआ है।

संविधान के स्रोतों का उल्लेख करते समय हमे स्पष्ट तौर पर यह समझ लेना चाहिय कि संविधान केवल वह आलेख (Document) नही है जो कि संविधान-सभा द्वारा बनाया और पास किया गया है, उसके अतिरिक्त उसके भीतर अनेक तत्वो का समावेश होता है जिन्हे हम संविधान के विकसित अ श कह सकते हैं। इस प्रकार जिस संविधान का हम अध्ययन कर रहे है वह उस आलेख (Document) से कुछ अधिक विस्तृत और व्यापक है जो संविधान की पुस्तक मे लिखा हुआ मिलता है। इतना ही नही, ब्रिटिश संविधान की परम्परा के अनुसार कई अवसरो पर वह उससे भिन्न भी है, क्योकि संविधान की धाराओ का बिल्कुल वही अर्थ नही होता जो भाषा की दृष्टि से निकाला जा सकता है, हमारे संविधान मे भी सिद्धान्त और व्यवहार के बीच एक सीमा तक अन्तर्विरोध दिखाई दे सकता है, यानी वह देखने मे कुछ और व्यवहार में कुछ और हो सकता है।

संविधान के स्रोत (Sources of Constitution)-इस खण्ड में हमने जिन सांविधानिक नियमो का उल्लेख किया है वे निम्न स्रोतो से लिये गये है—

१ संविधान का आलेख—जो संविधान सभा द्वारा तैयार किया गया है और भारत के लोगो द्वारा २६ जनवरी १६५० को स्वीकार तथा आत्मार्पित किया गया है।

२. भारत शासन अधिनियम १६३५ व १६४७—हम यह बात पीछे वर्णन कर चुके हैं कि हमारे वर्तमान संविधान के निर्माण मे भारत-शासन-अधिनियमों का बहुत प्रभाव रहा है। इसके अतिरिक्त हम यह बात याद रखनी होगी कि किसी देश का शासन और कानून एक निरन्तर चालू रहने वाली चीज होती है। भारत मे शासन की कड़ी एक दिन के लिए भी नही टूटी। भारत एक नया राज्य नही है, वह एक निरन्तर चलने वाला क्रम है। यद्यपि संविधान के अनुच्छेद ३६५ के द्वारा इन अधिनियमो को रद्द कर दिया गया है तथापि अनुच्छेद ३०० के अनुसार राज्य के विरुद्ध मुकदमा चलाने आदि के बारे मे उन्ही नियमों को स्वीकार किया गया है जो १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत थे।

३. संसद द्वारा पास किये गये अधिनियम—हमारे संविधान मे शासन के संचालन के बारे में काफी बारीकी से वर्णन किया गया है, तथापि उसम अनेक बातें संसद के निर्णय द्वारा संचालित किये जाने के लिये छोड दी गई हैं, जैसे संसद नागरिकता प्रदान करने और छीनने के बारे म विधियां (Laws) बना सकती है

(संविधान का अनुच्छेद ११), इसी प्रकार वह अनुच्छेद १६६ के अनुसार राज्यो में विधान परिषद (Legislative-Councils) की व्यवस्था कर सकती है। इस प्रकार के अन्य कई मामले ससद द्वारा निर्णय के लिए छोड दिये गय हैं, और ससद ने उन मामलो में जो विधिया बनाई हैं उन्हे संविधि (Constitutional Laws) का पद प्राप्त है। उदाहरण के लिए यहा हम कुछ अधिनियमो का उल्लेख कर सकते हैं—

भारतीय नागरिकता अधिनियम १९५५ भारतीय विधान-परिषद अधिनियम १९५७ सर्वोच्च न्यायालय (न्यायाधीशो की सख्या) अधिनियम १९५६ लोक-प्रतिनिधित्व अधिनियम १९५०—१९५१। राष्ट्रपति व उप-राष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम १९५२, वित्त आयोग अधिनियम १९५१, राज्य-पुनर्गठन अधिनियम १९५६, आदि।

४ **ब्रिटिश सविधान के कुछ नियम जो भारतीय सविधान के अङ्ग मान लिये गये हैं**—हमारे सविधान के बुनियादी सिद्धान्त ब्रिटिश सविधान से लिये गय हैं। यद्यपि उसके नियम हमारे सविधान के अङ्ग नही है तथापि एक ओर तो हम प्रेरणा और स्पष्टीकरण के लिए उसकी ओर देखते है दूसरी ओर कही कही हमारे सविधान ने यह कहा है कि ब्रिटिश सविधान के नियम हमारा मार्गदर्शन करेंगे, उदाहरण के लिये सविधान के अनुच्छेद १०५ की धारा सख्या ५ म कहा गया है कि जब तक भारतीय ससद कोई नियम निर्धारित न करे तब तक भारतीय ससद के दोना सदनो, उनके सदस्यो व समितियो की शक्तिया विमुक्तिया (Immunities) और उनके विशेषाधिकार वही होगे जो सविधान आरम्भ होने के समय ब्रिटेन की ससद के सदनो उनके सदस्यो व उनकी समितियो को प्राप्त थे। इससे यह सकेत भी मिलता है कि सविधान निर्माताओ ने यद्यपि इसके बारे म नियम बनाने की शक्ति ससद को दी है परन्तु उन्होंने ब्रिटिश नियमो के लिय अपनी पसन्द भी प्रगट कर दी है। न्यायालयो द्वारा लेख जारी किय जाने के बारे में भी इसी प्रकार के कुछ नियम स्वीकार कर लिय गय हैं।

५ **सविधान के बारे मे न्यायालयो की व्याख्यायें**—सर्वोच्च न्यायालय और राज्यो के उच्च न्यायालय अपने-अपने क्षेत्राधिकार के भीतर जब सावैधानिक प्रश्नो पर अपने निर्णय देते हैं तथा सविधान की व्याख्या करते हैं तो उनसे कई सावैधानिक परम्पराओ का निर्माण होता है। इसमें कोई सन्देह नही है कि न्यायालय सावैधानिक नियमो और विधियो का निर्माण नही करते हैं, परन्तु वे सविधान की धाराओं की व्याख्या करते हैं, और यदि ठीक-ठीक कहा जाय तो कहा जा सकता है कि सविधान की धाराओ का अर्थ वही होता है जो न्यायालय बताते हैं। सविधान क्या है, यह बताने का काम न्यायालय करते हैं, अत. यह मानना होगा कि सविधान को नया अर्थ देकर न्यायालय उसम नय तत्वों का समावेश कर सकते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका के न्यायालय ने इसी प्रकार वहा के सविधान को नये अर्थ दिये हैं

तथा राज्यों की अपेक्षा संघ-शासन को अधिक शक्तिशाली बनने में सहारा दिया है।

६. सांविधानिक-परम्परायें—कोई भी संविधान न पूरी तरह अलिखित होता है, न पूरी तरह लिखित। ब्रिटेन के संविधान में लिखित तत्वों का विकास भी हुआ है, इसी प्रकार भारत के संविधान में अलिखित-परम्पराओं का विकास हुआ है। परम्पराओं का विकास देश की जनता के चरित्र, शासकों की मान्यता और उनकी राजनीतिक-पसन्द पर आधारित होता है कई बार परम्पराओं का निर्माण विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए होता है। यदि संविधान में परम्पराओं के रूप में अतिसांविधानिक (Extra constitutional) विधान का विकास न हो तो लिखित-शब्द के आधार पर कई बार संविधान का चलना असम्भव हो सकता है। परम्परायें संविधान की मूल-भावना की रक्षा करती हैं तथा उसके सिद्धान्त और व्यवहार के बीच सामंजस्य पैदा करती हैं।

भारतीय संविधान कई स्थलों पर ब्रिटिश संविधान की भांति अस्पष्ट है, जैसे उसमें यह तो कहा गया है कि राष्ट्रपति राज्यों के गवर्नरों की नियुक्ति करेगा परन्तु यह कहा नहीं गया है कि वह गवर्नरों की पसन्द करते समय किस की सलाह लेगा, तथा वह किसी से सलाह करेगा भी या स्वयं अपने विवेक से ही उनको नियुक्त कर देगा। इस मामले में केवल एक परम्परा बन गई है कि प्रधानमंत्री उसे सलाह देता है और वह उसे मान लेता है। उस मामले में राज्य सरकारों से सलाह करने का रिवाज भी पड गया है। इसी प्रकार, संविधान में यह नहीं लिखा गया है कि राष्ट्रपति के लिये अपने प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् के निर्णयों को मानना अनिवार्य होगा, परन्तु व्यवहार में आज यह स्थिति मान ली गई है और न्यायालय भी इसी स्थिति को स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रपति एक सांविधानिक शासक या नाममात्र का शासक है, वास्तविक सत्ता उसके पास नहीं है। राष्ट्रपति द्वारा संसद को भंग करने के मामले में भी ऐसा ही है। राष्ट्रपति चाहे तो प्रधानमंत्री की सलाह के बिना ही इस मामले में कदम उठा सकता है परन्तु वैसा होता नहीं, होगा भी नहीं, क्योंकि उस मामले में हम ब्रिटिश परम्परा का अनुसरण करेंगे, ऐसा मान लिया गया है।

इस प्रकार हमारे संविधान के भीतर परम्पराओं का बहुत महत्व हो गया है और वे संविधान के मूलभाव की परिचायक बन गई हैं, उनके आधार पर संविधान की व्याख्या होती है और उसके अनुच्छेदों का अर्थ निकाला जाता है।

भारतीय संविधान के प्रमुख लक्षण

प्रत्येक संविधान के अपने कुछ लक्षण होते हैं और उस संविधान को समझने के लिये उन लक्षणों का ज्ञान होना अनिवार्य होता है। कई बार कोई लक्षण बहुत विलक्षण भी हो सकता है, हो सकता है कि वह किसी भी और संविधान में न पाया जाता हो। ऐसे विलक्षण लक्षणों को हम उसकी विशेषता कह सकते हैं। यहां हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि भारतीय संविधान को समझने के लिये हम उसके किन

लक्षणो पर ध्यान देने का आवश्यकता होगी और यह भी कि क्या हमारे सविधान के भीतर कोई ऐसा विलक्षण लक्षण भी है जिसे हम उसकी विशेषता मान सकें और यह कह सकें कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र म साविधानिक परम्परा को भारत की अपनी कोई मौलिक देन इस सविधान के द्वारा है।

भारतीय सविधान के प्रमुख लक्षणो का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

१ लोकतन्त्रात्मक स्वरूप (Democratic Form)
२ मूलत लिखित (Basically-Written)
३ प्रधानत निर्मित (A make Still a Growth)
४ दुष्परिवर्तनीय (Rigid)
५ सघात्मक (Federal)
६ ससदात्मक (Parliamentary)
७ लोक—कल्याणकारी राज्य की स्थापना (Establishment of Welfare State)
८ धर्म-निरपेक्षता (Secularism)
९ विश्वशान्ति का पोषक

१ भारतीय सविधान का लोकतन्त्रात्मक स्वरूप

हमारे सविधान की प्रस्तावना मे कहा गया है कि, हम भारत के निवासी भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिय उसके सभी नागरिको को सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय विचार, अभिव्यक्ति विश्वास, धम और उपासना की स्वतन्त्रता प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्राप्त कराने के लिय , तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता को सुनिश्चित करने वाली बन्धुता को बढाने के लिय दृढ सकल्प होकर, अपनी इस सविधान सभा मे आज २६, नवम्बर १९४९ को एतद द्वारा इस सविधान को अगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते है।

प्रस्तावना मे जो सबसे पहली बात कही गई है वह यह है कि भारत एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है। इसम भारत को स्वतन्त्र राज्य नही कहा गया है। स्टीवेन्सन नाम के विद्वान ने स्वतन्त्र राज्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'स्वतन्त्र-राज्य की कसौटी यह है कि उस देश म जिस विधान के अनुसार शासन चलता है वह विधान उसी देश म पैदा हुआ हो वह जिसके द्वारा बनाया गया है वह उस राज्य का अग हो और वह विधान उसकी अपनी सत्ता से अर्थात सामूहिक जन-शक्ति के द्वारा लागू किया गया हो।' यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि भारत इन कसौटियो पर खरा उतरता है, साथ ही २६ जनवरी १९४९ को जब इस प्रस्तावना की घोषणा की गई और यह सविधान स्वीकार किया, भारत पहले से ही स्वतन्त्र हो चुका था। सविधान के जिम्मे यह काम नही था कि वह भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा करे,

स्वतंनता की घोषणा तो १५ अगस्त १९४७ को हो ही चुकी थी। यो सम्पूर्ण-प्रभुत्व सम्पन्न कहने का प्रयोजन भी भारत की स्वतंत्रता की पुष्टि करना ही था।

प्रस्तावना मे जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात कही गई है वह यह है कि भारत एक लोकतत्रात्मक गणराज्य होगा। प्रस्तावना को जिस प्रकार रखा गया है उससे हमारे लोकतन्त्र का स्वरूप बहुत सीमा तक निश्चित हो जाता है। लोकतत्र शब्द का प्रयोग न करने पर सविधान निर्माताओ की यह इच्छा प्रगट होने से तो न रह जाती कि वे भारत म लोकतत्र की स्थापना करना चाहते हैं क्योकि उन्होंने जिस प्रकार का सविधान हम दिया है उसका सारा ढाचा, उसकी सस्थायें और उसकी आत्मा सभी कुछ लोकतत्रात्मक है, फिर भी उसका उल्लेख प्रस्तावना म कर देने से यह इरादा आरम्भ से ही जाहिर हो जाता है। लोकतत्रात्मक शब्द का उल्लेख किये बिना गणराज्य शब्द का भी बहुत महत्व न होता। गणराज्य मे तो इतना ही समझा जा सकता है कि भारत एक राजतन्त्रात्मक (जिसम राजा को राज हो), या अल्पतत्रात्मक (Aristocratic) राज्य नही होगा। लोकतत्रात्मक शब्द को उसके साथ जोडकर यह बात साफ कर दी गई है कि भारत एक ऐसा राज्य होगा जिसमे जनता अपना निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा अपने शासन का सचालन करेगी।

प्रभुता जनता मे निहित की गई है—भारतीय लोकतन्त्र की बुनियादी पहचान यह है कि यहा राज्य की प्रभुता को जनता मे निहित किया गया है। इस अध्याय के आरम्भ म श्री कन्हैयालाल माणिक्य लाल मुन्शी का एक उद्धारण दिया गया है जिसमें उन्होंने बताया है कि हमारे राज्य म प्रभुता जनता मे निहित है, वह न सघ मे निहित है, न राज्यो म, न ससद म और न स्वय सविधान मे ही। प्रस्तावना मे स्पष्ट रूप से कह दिया गया कि इस सविधान का निर्माण हम भारत के निवासियो ने किया है और हम ही उसे स्वीकार करते एव अपने ऊपर लागू करते है। इस वाक्य का अर्थ बिल्कुल साफ यह है कि भारत मे अन्तिम सत्ता जनता ने अपने हाथो मे रखी है और वह उसके पास सुरक्षित है। सविधान हमारी स्वतत्र इच्छा का परिणाम है, और उसकी पूरी जिम्मेदारी हमारे अपने ऊपर है। हम जब चाहे तो इस सविधान को सशोधित, परिवर्तित या रद्द कर सकते हैं। हमारा यह सविधान हमारी लोक प्रभुता का प्रहरी है हमने अपने प्रभुता केअधिकार को अनुल्लघनीय(Inviolable) माना है। इससे यह भी प्रगट होता है कि हमारे देश के भीतर किसी प्रकार के अधिनायकवाद तथा आतकवाद के लिय कोई गुन्जाइश नही हैं। हजारो वर्षो से निरकुश शासन-व्यवस्था के नीचे पडे हुए असगठित और शोषित भारतीय नर-नारियो को इस सविधान ने भारत का भाग्य-विधायक घोषित किया है और उनके सिर पर राज-प्रभुत्व का मुकुट पहनाकर मौलिक अधिकारो के कुकुम से उनके मस्तक पर भारतीय-राष्ट्र के [illegible] का अभिषेक किया है।

जाता हो। एस तत्रता और समानता—प्रस्तावना मे एक दूसरी महत्वपूर्ण बात देखने की चेष्टा ँहमारे सविधान का उद्देश्य भारत के समस्त नागरिको को सामा-

जिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान करना है। प्राय यह कहा जाता है कि जब तक लोकतत्र के भीतर समाज-रचना आर्थिक क्षेत्र और राजनीतिक क्षेत्र के भीतर शोषण और अन्याय चलता है तब तक लोकतत्र अपने सही अर्थ मे स्थापित नही हो सकता। हमारे संविधान-निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से इस समस्या की ओर ध्यान दिया है और यह सकल्प जाहिर किया है कि हम देश के भीतर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय अर्थात समान अधिकार देना चाहते है। इसी प्रकार लोकतत्र का एक दूसरा बुनियादी खम्भा, जिस पर लोकतत्र की छत टिकी हुई है, व्यक्ति की स्वतत्रता है। हमारे संविधान ने प्रस्तावना मे ही यह बात स्पष्ट कर दी है कि हमारा लक्ष्य भारत मे सबको विचार विश्वास और धर्म की स्वतत्रता प्रदान करना है। वास्तव मे लोकतत्र म सबसे अधिक आवश्यक-स्वतत्रता विचार प्रगट करने की स्वतत्रता है, क्योकि लोकतत्र म शासन की नीतियो का निर्माण लोकमत के आधार पर होता है और यह लोकमत चर्चा और विचार प्रकाशन के द्वारा ही चलता है। लोकतत्र ने ससार को सबसे बडी चीज यह दी है कि पहले जमाने म जो मामले डडे से हल हुआ करते थे जिनको हल करने के लिय दगल और युद्ध होते थे वे अब एक मेज के चारो ओर बैठकर चर्चा और वाद-विवाद से हल कर लिय जाते हैं। निर्णय बहुमत से किय जाते हैं अत यह नितान्त आवश्यक है कि सबको यह अवसर मिले कि वे अपने अपने विचार प्रगट करके बहुमत को अपने पक्ष म करने की चेष्टा कर सकें। इसी प्रकार समानता का भी प्रश्न है। समानता के अभाव म लोकतत्र का स्वप्न देखना निरी मूर्खता है इसीलिय भारत के संविधान ने शुरू मे ही यह घोषणा की है कि उसका लक्ष्य सभी नागरिकों को प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्रदान करना है। भारत की सामाजिक दशाओ के सदर्भ म इस आश्वासन का बहुत अधिक महत्व है इसका अर्थ यह है कि भारत के प्रत्यक नागरिक को समान प्रतिष्ठा प्राप्त होगी अर्थात जाति और धर्म के आधार पर सामाजिक भेदभाव को समाप्त किया जायगा हरिजन परिजन का भेद मिटेगा तथा सब धर्मों के लोगो को समाज म समान रूप से अवसर मिलेगा। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत के प्रत्यक नागरिक को जीवन के विकास और उसकी रक्षा के समान अवसर प्राप्त होगे। लोकतत्र म राज्य का स्वामित्व देश के नागरिको में निहित होता है और जीवन के समस्त साधनो पर उनका नैतिक व वैधानिक अधिकार प्राप्त हो जाता है अत यह अत्यत आवश्यक है कि देश के समस्त नागरिको को उन साधनो के समुचित उपयोग का अवसर मिले। भारत के संविधान ने इस अधिकार को देकर भारत में लोकतत्र की स्थापना और पुष्टि की दिशा मे बडा काम किया है।

व्यक्ति की गरिमा—लोकतत्र केवल एक भौतिक कल्पना ही नही है यह उससे कही अधिक एक नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त है जिसकी जड म व्यक्ति की गरिमा का विचार निहित है। लोकतत्र का मूल उद्देश्य ही यह है कि वह व्यक्ति के व्यक्तित्व की पवित्रता की स्थापना करे और उसे सारे सामाजिक-समुत्थान की

चरम कसौटी मानकर चले। हमारे संविधान ने लोकतंत्र की इस आध्यात्मिक आवश्यकता की ओर ध्यान दिया है। श्री कन्हैया लाल माणिक्यलाल मुन्शी ने इसके बारे मे लिखा है कि, "व्यक्ति की गरिमा (Dignity) के उल्लेख का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि इसके द्वारा संसार के कुछ भागो में प्रचलित हीगेल के उस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया गया है जिसके अनुसार राज्य एक आध्यात्मिक इकाई माना जाता है और उसे व्यक्ति से स्वतंत्र तथा व्यक्ति के ऊपर छाया हुआ समझा जाता है तथा जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि राज्य का लक्ष्य अपने अस्तित्व को सुरक्षित करना ही है। इसके (व्यक्ति की गरिमा के विचार के) द्वारा सामाजिक भेदभाव को भी समाप्त कर दिया गया है। केवल समानता तो वाह्य आचरण का विषय है, संविधान तो वास्तव मे यह चाहता है कि यह स्वीकार किया जाये कि व्यक्ति का व्यक्तित्व निरापदशील (Inalienable) है और उसकी प्रतिष्ठा की जानी चाहिये।"†

गणतंत्रात्मक स्वरूप—भारतीय सविधान ने देश के भीतर एक गणतंत्र की स्थापना की है। लोकतत्र की दृष्टि से गणतत्र की स्थापना का हमारे देश में बहुत बडा महत्व इसलिये है कि यहा की भूमि मे आज तक राजतंत्र की सस्था पोषित हुई है। हमारे सविधान ने राजपद को समाप्त किया है और देश के शासन मे सबसे बडे पद पर देश के साधारण नागरिक के बैठने का रास्ता खोल दिया है। यद्यपि ब्रिटेन भी एक लोकतन्त्रात्मक देश है तथापि वहा आज भी राज्य के अध्यक्ष पद पर एक परम्परागत सम्राट बैठता है परन्तु हमारे सविधान ने वह पद भी आम जनता के लिये खुला कर दिया है और देश के भीतर से राजशाही का नामोनिशान सदा के लिये समाप्त कर दिया है।

यद्यपि यह एक सत्य है कि हमारे राष्ट्रपति को केवल नाममात्र की शक्तिया दी गई हैं और वह राज्य का केवल एक औपचारिक या साविधानिक अध्यक्ष है तथापि लोकतत्र के भीतर छोटी से छोटी बात का भी भावनात्मक महत्व होता है, भारत मे यदि राष्ट्रपति का पद किसी परम्परागत राजा को दे दिया जाता तो यहा की जनता के भीतर लोकतंत्र की वह तीव्रता पैदा होने म कठिनाई हो सकती थी जिसके बिना लोकतत्र वास्तविक नही बन पाता।

मौलिक अधिकारों का समावेश—हमारे सविधान ने अपने भीतर भारतीय जनता के मौलिक अधिकारो का समावेश किया है। लोकतत्र के भीतर यह बात बहुत स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है कि देश के नागरिक कुछ ऐसे मौलिक अधिकारो का उपभोग करते हैं जो राज्य द्वारा भी साधारण परिस्थिति में उनसे नही छीने जा सकते। यो तो मौलिक अधिकारो का समावेश ससार के अनेक

---

† Aspects Of Indian Constitution, edited by M. G. Gupta में पृष्ठ ७१ पर उद्धृत।

देशो ने सविधानो में किया है जैसे ब्रिटिश सविधान म मैग्नाकार्टा के नाम से एक अधिकारपत्र का समावेश मिलता है संयुक्तराज्य अमेरिका के सविधान म बिल ऑफ राइटस के नाम से व्यवस्था की गई है आयरलैंड के सविधान मे भी ऐसी व्यवस्था की गई है, परन्तु हमारे सविधान ने इस मामले मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह की है कि *उसने नागरिको को केवल अधिकार ही नही दिए है वरन साथ ही साथ यह अधिकार* भी दे दिया है कि आपातकाल (Emergency) को छोड़कर वे अपने उन अधिकारो को सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। सविधान ने इस प्रकार नागरिक के मौलिक अधिकारो को साविधानिक-सरक्षण (Constitutional-Safeguard) प्रदान किया है।

मौलिक अधिकारो में जिन अधिकारो को गिनाया गया है वे लोकतन्त्र की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। उसम समानता और स्वतन्त्रता के अतिरिक्त कुछ दूसरे महत्वपूण अधिकार भी दिए हैं जैसे शोषण के विरुद्ध अधिकार सास्कृतिक अधिकार व सम्पत्ति का अधिकार। लोकतन्त्र को वास्तविक बनाने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि देश का बुनियादी कानून नागरिको को यह आश्वासन दे कि किसी को बिना उचित मजदूरी दिए काम करने के लिये विवश नही किया जा सकेगा तथा कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के फल को उससे नही छीन सकेगा। साथ ही छोटी आयु के बालको से भारी काम लिए जाने पर पाबन्दी लगाना भी आवश्यक है जिससे कि उनके विकास म बाधा न पड सके। यह सब हमारे सविधान ने मान्य किया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत मे लोकतन्त्र को वास्तविक बनाने की दिशा में सबसे बडा काम सविधान ने मौलिक अधिकार देकर किया है।

राज्य-नीति के निर्देशक तत्व—आयरलैण्ड के सविधान की भांति हमारे सविधान ने राज्य नीति के निर्देशक तत्वो का उल्लेख किया है। ये तत्व सर्वोच्च-न्यायालय द्वारा नही मनवाये जा सकते तथापि हमारे सविधान ने इनके द्वारा देश के शासन में *उदारता के तत्वो को बढाया है। इस बारे म प्रसिद्ध सविधान शास्त्री श्री के० सी०* व्हेयर ने लिखा है कि "भारतीय सविधान एक उदार सविधान है। एक बात निश्चित है कि यद्यपि ब्रिटिश विचार के अनुसार साविधानिक आलेख के भीतर उदार सिद्धान्तो की ये घोषणायें विचित्र लगती हैं तथापि यदि ये भारतीय सविधान को अपने रास्ते जाने मे और भारत की जनता को अपनी सरकार चलाने में सहायक सिद्ध होते हैं तो उनका अस्तित्व सर्वथा उचित माना जायगा। जनता द्वारा अपना शासन स्वय चलाने (अर्थात् लोकतन्त्र म) म आज तक जितने प्रयोग हुए हैं यह प्रयोग उन सब मे सबसे बडा उदारवादी प्रयोग है। हम इसकी सफलता की कामना करते हैं।"

व्यापक वयस्क मताधिकार—भारतीय सविधान के लोकतन्त्रीय स्वरूप के बारे में हमें अनेक प्रमाण उस शासन-व्यवस्था मे प्राप्त होते हैं जिसकी स्थापना उसने हमारे देश में की है। इनमें सबसे पहले हम व्यापक-वयस्क-मताधिकार का उल्लेख कर सकते है। ब्रिटिश शासन-काल मे जब निर्वाचनो की परम्परा शुरू की गई तो मत (Vote)

देने का अधिकार अनेक आधारो जैसे सम्पत्ति, शिक्षा, वर्ग, धर्म आदि पर आधारित किया गया था। हमारे सविधान ने देश के प्रत्येक उस व्यक्ति को देश का नागरिक माना है जो निवास की कुछ शर्तों को पूरा करता हो और जिसकी आयु २१ वर्ष की या उससे अधिक हो। लोकतंत्र मे जनता के हाथ में सबसे बडा अधिकार यही है कि वह अपने मत के प्रयोग द्वारा अपने प्रतिनिधियो को चुन कर सरकार के बनाने में भाग ले सके। यह युग प्रत्यक्ष लोकतंत्र का तो है नही, इस जमाने मे प्रतिनिधि-मूलक लोकतन्त्र बनाने की दृष्टि से मताधिकार व्यापक रूप से प्रत्येक वयस्क (बालिग) को दिया है। उसने धर्म, वर्ण, जाति, प्रदेश लिंग, शिक्षा, सम्पत्ति, भाषा आदि किसी भी भेदभाव को स्वीकार नही किया है, इसी का यह परिणाम है कि देश की लगभग आधी जनता को मत देने का अधिकार प्राप्त हो गया है, जिसमे स्त्री-पुरुष सभी सम्मिलित हैं। ससार के अनेक सभ्य माने जाने वाले देशो मे स्त्रियो को मताधिकार प्राप्त करने के लिये गम्भीर सघर्ष करना पडा, परन्तु भारत इस मामले मे बहुत आगे रहा, उसने अपने संविधान मे शुरू से ही कोई भेदभाव नही रखा। मतदान ही क्या, हमारे देश में तो स्त्रिया मन्त्री से लेकर राजदूत पद तक सब जगह नियुक्त की गई है। यह भारत के लिये ही गर्व का विषय है कि संयुक्तराष्ट्रसघ की साधारण-सभा के अध्यक्ष पद को उसकी एक महिला श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित ने सुशोभित किया।

निश्चित अवधि के पश्चात् निर्वाचन—लोकतन्त्र मे जनता का यह अधिकार सबसे महत्वपूर्ण होता है कि वह समय-समय पर देश की सरकार को बना और बिगाड सके। भारतीय सविधान ने इस दृष्टि से यह व्यवस्था की है कि संघ और राज्य सरकारो के भीतर ससद व विधानमडलो के समस्त सदन (Houses) निश्चित अवधि के बाद नये सिरे से चुने जायेंगे, जैसे लोकसभा और विधानसभाओ के निर्वाचन हर पाच साल बाद होते हैं और राज्यसभा व विधान-परिषदो के एक तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष अपने पद से मुक्त हो जायेंगे और उनके स्थानो पर नये निर्वाचन होगे। इस प्रकार सविधान ने जनता को यह अवसर दिया है कि वह अपने विश्वासपात्र लोगों को, जो उसकी इच्छा का सही प्रतिनिधित्व कर सकें, चुन सके और ऐसे लोगो को हटा सके जो उसकी दृष्टि मे ठीक नही हैं। केवल ससद और विधान मडलो पर ही नही, निश्चित अवधि के पश्चात् निर्वाचन का यह सिद्धान्त हमारे राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, मन्त्रि-परिषद आदि सभी पर लागू होता है। इन निर्वाचनो के द्वारा जनता कई बार अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नो पर अपना निर्णायक मत दे सकती है और इस प्रकार राज्य की नीतियो के निर्माण म प्रत्यक्ष भाग ले सकती है। यदि सविधान निर्वाचित पदो के नियमित पुनर्निवाचन की व्यवस्था न करता तो मताधिकार का कोई उपयोग ही न रह जाता। यह सत्य है कि संसद आदि का कार्यकाल कुछ अवधि के लिये बढाया भी जा सकता है, तथापि वैसा केवल असाधारण परिस्थितियो मे ही हो सकता है, साधारण समय मे नही, आखिरकार चुनाव कराने ही होंगे, उन्हें पूरी तरह या बहुत लम्बे काल के लिये नही टाला जा सकता। यहा यह भी

देना अनुपयुक्त न होगा कि दलीय प्रथा के कारण जनता की दिलचस्पी व्यक्तियो के निर्वाचन मे नही रही है और वह अब राजनीतिक दलो को चुन लेती है तथा दल जैसे भी उम्मीदवार खडे कर देते हे वह उनका समर्थन या विरोध अपनी पसन्द के अनुसार करती है ।

भारत मे लोकतंत्र की स्थापना की दृष्टि से संविधान ने एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया है कि उसने राष्ट्रपति को अधिकार दिया है कि वह निर्वाचनो मे निष्पक्षता बनाये रखने के लिए एक निर्वाचन आयोग (Election Commission) की नियुक्ति करे । इस आयोग को निर्वाचनो के नियत्रण, मार्गदर्शन और उनकी व्यवस्था के अलावा यह काम भी सौंपा गया है कि वह निर्वाचन-अधिकरणो (Election-Tribunals) की भी स्थापना करे जिससे निष्पक्षता स्थापित की जा सके । इस दृष्टि से यह बात भी बहुत महत्वपूर्ण है कि उसम पृथक निर्वाचनो को समाप्त कर दिया गया है तथा २० वर्ष के अल्प-काल के लिए परिगणित जातियो के लिए सुरक्षित स्थानो व आग्ल भारतीयो के लिए लोक सभा मे नाम-निर्देशन की व्यवस्था के सिवाय दूसरे सब सुरक्षित स्थानो व अनुपात से अधिक स्थान देने की परम्परा समाप्त कर दी गई है । यह लोकतत्र की दिशा म बडा कदम है ।

कार्यपालिका का उत्तरदायित्व—लोकतत्र के लिये एक अन्य आवश्यकता यह है कि राज्य का शासन निरकुश नही होना चाहिय । हमारे सविधान ने सघ और राज्यो मे मत्रिमंडलात्मक कार्यपालिका की स्थापना की है, जिसका अर्थ यह है कि कार्यपालिका के सदस्य ससद और विधानमडलो के सदस्य होते है, अर्थात् वे लोग जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं । जनता उनका निर्वाचन मत्रिपद के लिये तो नही करती तथापि वह यह समझती है कि हमारे प्रतिनिधि का काम केवल विधि-निर्माण करना ही नही है वरन् वह मन्त्री बनकर देश के प्रशासन का संचालन भी करेगा । इस प्रकार मत्रिपरिपद के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होने के नाते अपने कामो व अपनी नीतियो के लिये जनता के सामने उत्तरदायी होते हैं । यदि जनता उनसे किसी प्रश्न पर अप्रसन्न हो जाती है तो साधारण स्थिति मे वह अगले निर्वाचनो मे उन्हें निर्वाचित करने से मना कर देगी तथा दूसरे दल को अपने मत देगी ।

हमारे देश म महात्मागाधी के नेतृत्व मे सत्याग्रह के शस्त्र का विकास हुआ है । सत्याग्रह के मार्ग से हमने अग्रेज के विरुद्ध अपने स्वराज्य की लडाई लडी और हमारा मानना है कि उसी के आधार पर हमने वह लडाई जीती । वह हमारे राष्ट्रीय नेताओ द्वारा एक वैधानिक-तरीका मान लिया गया है । जब जनता सरकार से इस सीमा तक अप्रसन्न हो जाती है कि वह नये निर्वाचनो तक के लिये इन्तजार नही करना चाहती और वह यह चाहती है कि या तो सरकार उनकी मागें माने अथवा सरकार अपना पद छोडे, तब वह सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह कर सकती है जिसका अर्थ यह है कि बिना हिंसा की कार्रवाई किये वह सरकार के नियमो को मानने से इन्कार कर सकती है तथा शान्तिपूर्ण ढग से सरकार के विरुद्ध हडताल व प्रदर्शन कर

सकती है। जब तक सभी राज्यो मे काग्रेस सरकारें थी तब तक दूसरे दल इस प्रकार के सत्याग्रह संगठित करते थे परन्तु वे बहुत प्रभावकारी नही होते थे और कोई भी ऐसा उदाहरण नही है क जहा राज्य की नीतियो के विरुद्ध सत्याग्रह के परिणामस्वरूप वहा मंत्रिमडल को अपने पद से त्यागपत्र देना पडा हो, परन्तु केरल राज्य मे साम्यवादी दल का मन्त्रिमडल बनने के बाद वहा काग्रेस ने सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह किया और इतने बडे पैमाने पर उसका सगठन किया कि वहा सरकार की स्थिति बहुत खराब हो गई उन्होने सीधे ही माग भी केवल यह रखी कि मन्त्रिमडल त्यागपत्र दे, दूसरी कोई शर्तें उन्होने नही रखी, उधर सघ-शासन मे उनके दल का शासन है ही, जिसके द्वारा उन्होने यह बताकर कि केरल मे साविधानिक शासन का चलना असम्भव हो गया है, वहा आपतकाल की घोषणा करा दी तथा मन्त्रिमन्डल को भग करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। इस उदाहरण से देश में सविधान के बाहर जाकर एक नई परम्परा पैदा हुई है कि जनता के आन्दोलन के परिणामस्वरूप राष्ट्रपति राज्यों की सरकारो को भग करके बीच मे ही नये चुनाव करा सकता है। सघ-शासन के बारे म ऐसी स्थिति मे क्या होगा, यह अभी अस्पष्ट है, राज्यो के उदाहरण के आधार पर यह हो सकता है किसी समय कोई राजनीतिक दल सघ-मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध इसी प्रकार का सत्याग्रह छेड दे और जनता बडे पैमाने पर उसके पीछे हो जाय तथा राष्ट्रपति उस अवस्था में सत्याग्रह से प्रभावित होकर यह घोषणा करे कि क्योंकि सघ मे साविधानिक शासन का इस समय चलना असम्भव हो गया है अत मंत्रिपरिषद को भग करके नये निर्वाचन कराये जायेगे। यह बात निश्चित है कि सत्याग्रह के अस्त्र के आविष्कार से लोकतन्त्र को शक्ति मिली है और मन्त्रियो के उत्तरदायित्व की कल्पना मे अन्तर आया है, इससे पहले यह माना जाता था कि निश्चित अवधि के भीतर मन्त्रिपरिषद केवल ससद के प्रति उत्तरदायी होती है, जनता के प्रति नही, परन्तु सत्याग्रह के अस्त्र ने उसे जनता के प्रति भी उत्तरदायी बना दिया है और यह उत्तरदायित्व केवल मामूली नही है वरन् वह वैधानिक है तथा यदि जनता मंत्रिमडल के प्रति अविश्वास प्रगट कर दे और उसके प्रति अवज्ञा का रुख अपना ले तो उसे पद-त्याग करना ही होगा। परन्तु यहा काफी सावधानी की आवश्यकता होगी और हमें देश को सत्याग्रह के दुरुपयोग से बचाना होगा, यदि उसका प्रयोग केवल राजनीतिक दलो का आपसी वैर निकालने के लिये ही होता है तो वह बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकता है तथा हमारे राज्य-संचालन मे सरकार की अस्थिरता का तत्व प्रवेश कर सकता है जो विकास के लिये बहुत हानिकारक सिद्ध हो सकता है। राजनीतिक दलो के भीतर सहनशीलता और साविधानिक शील का होना अनिवार्य है जनता ने एक बार निर्वाचन मे अपना जो अभिमत दिया है उसको मान्य करना चाहिये तथा अगले पाच साल तक इन्तजार करना चाहिय, नये निर्वाचनो में जनता के सामने तत्कालीन सरकार के दोष और उसकी असफलताओ का ब्यौरा एवं अपनी नीतिया रखकर जनता को यह अवसर देना चाहिये कि वह विवेकपूर्वक यह निश्चय

कर सके कि किस राजनीतिक दल के हाथो मे सत्ता देनी है। आन्दोलनो मे जनता की भावनायें उत्तेजित हो जाती है और वैसी स्थिति मे यह स्वीकार नही किया जा सकता कि जनता समस्याओ पर कोई रचनात्मक और विवेकपूर्ण मत दे सकती है, यह एक प्रकार से जनता का भावनात्मक-शोषण माना जा सकता है और उस दृष्टि से यह सवथा अलोकतन्त्रीय होगा।

यहा कार्यपालिका के उत्तरदायित्व का साविधानिक पहलू भी अध्ययन करना होगा, इसका अर्थ यह है कि जब मन्त्रिपरिषद् के सदस्य ससद के बहुमत का विश्वास खो देते है तो उन्हे अपने पद का त्याग करना होता है। ससद अपना अविश्वास कई प्रकार से प्रकट कर सकती है जैसे एक प्रस्ताव द्वारा, बजट अस्वीकार करके तथा स्थगन प्रस्ताव मन्त्रिपरिषद् की इच्छा के विरुद्ध स्वीकार करके। इसका विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे। परन्तु यदि देश के भीतर उसी प्रकार द्वि-दलीय प्रणाली का विकास होना है तो मन्त्रिपरिषद् के उत्तरदायित्व का कोई व्यवहारिक अर्थ नही रह जाता। समद के भीतर यदि किसी दल को निर्वाचनो में बहुमत प्राप्त हो गया है तो वह अगले निर्वाचनो तक निरंकुश ढग से सरकार चला सकता है, विरोधी दल उसे अपदस्थ नही कर सकते।

यहा यह कह देना आवश्यक होगा कि ससार मे कही भी आजकल ऐसा उदाहरण देखने में नही आया कि ससद या विधानसभा के भीतर किसी दल का बहुमत होने हुए भी उसे त्यागपत्र देना पडा हो। भारत में केरल मे जो नई परम्परा स्थापित की गई है वह लोकतन्त्र की दृष्टि से वहुत महत्वपूर्ण है, परन्तु उसका यदि प्रचुरता के साथ प्रयोग किया गया तो वह खतरनाक सिद्ध हो सकती है। यहा यह बात समझ लेनी होगी कि जनता के आन्दोलन पर जब कोई मन्त्रिमडल अपना पद छोडता है तो उसका अर्थ बहुत गम्भीर होता है, उससे केवल यह अर्थ नही निकलता कि जनता को अमुक मुख्यमत्री या प्रधानमत्री में विश्वास नही है वरन् इसका अभिप्राय यह होता है कि जनता समद या विधानमडल के बहुसख्यक दल में ही विश्वास नही करती। इसका सही प्रमाण उस समय मिलेगा जबकि इस प्रकार किसी सरकार के भग कर दिये जाने के बाद होने वाले नये निर्वाचनो मे जनता उस दल को बहुसख्या में निर्वाचित नही करती जिसकी सरकार को भग किया गया है। * यदि वही दल फिर बहुमत में निर्वाचित होकर मन्त्रिपरिषद का निर्माण कर लेता है तो यह माना जायगा कि सरकार का भग किया जाना अनुचित था। जहा तक हो सके हमें ऐसे अवसरो को टालना होगा कि इस प्रकार सरकार भग की जाये। यदि इस सिद्धान्त को सघ मे लागू किया गया तो भारतीय लोकतन्त्र के लिये बहुत बडा सकट उपस्थित

---

*केरल विधानसभा के नये निर्वाचनो मे १२६ स्थानो मे से साम्यवादी दल को केवल २६ स्थान प्राप्त हुए हैं इससे सिद्ध होता है कि जनता ने राष्ट्रपति के कार्य का समर्थन किया है।

हो सकता है क्योंकि उससे राष्ट्रपति को बहुत शक्ति प्राप्त हो जायेगी और वह अपने निजी निर्णय से किसी मन्त्रिपरिषद को भंग कर सकेगा। वैसी स्थिति में जनता यदि उस दल को दोबारा बहुमत नहीं देती तो राष्ट्रपति की शक्ति और भी अधिक मजबूत हो सकती है तथा यदि वही दल फिर से बहुमत प्राप्त कर लेता है तो उसको या तो पदत्याग करना होगा या उस पर महाभियोग की कार्रवाई की जा सकती है। इस प्रकार अनेक सांविधानिक समस्यायें इसमें से उत्पन्न हो सकती हैं। वे होगी ही क्योंकि एक बार एक सिद्धान्त को प्रयोग में ले आया गया है और अब आगे उसको भूल जाना या उससे बचकर निकलना तब तक कठिन होगा जब तक कि कोई कड़ुवा पाठ हमें पढने को न मिले।

लोक-सेवाओं (Public Services) में मुक्त प्रवेश—लोकतन्त्र में नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों का बहुत महत्व है। इन अधिकारों में जहां मत देने और मत पाने का अधिकार नागरिक को होता है वहां उसे यह अधिकार भी होना है कि वह अपने देश के शासन में सार्वजनिक पद प्राप्त कर सके अर्थात लोकसेवाओं में मुक्त प्रवेश पा सके। हमारे संविधान ने इस दृष्टि से समुचित व्यवस्था की है। उसमें कहा गया है कि देश का प्रत्येक नागरिक योग्यता के आधार पर लोकसेवाओं में प्रवेश पा सकेगा। उसके लिये योग्यता की प्रतियोगिता होगी और जो लोग उस प्रतियोगिता में सब से अधिक योग्यता का प्रदर्शन कर सकेंगे वे सेवाओं में लिये जा सकेंगे। प्रतियोगिताओं के द्वारा चुनाव करने के लिये संविधान ने केवल एक लोक-सेवा-आयोग (Public Service Commission) ही नहीं बनाया है वरन् उसे ऐसा स्वतन्त्र पद दिया है कि वह संसद और मन्त्रिपरिषद के दबाव से मुक्त रहकर अपना काम निष्पक्षता के साथ कर सके। इसी प्रकार के आयोग राज्यों में भी बनाये गये हैं। इस प्रकार संविधान ने भारत में लोकराज की स्थापना की दिशा में एक बड़ा प्रबन्ध किया है।

स्वतन्त्र-न्यायपालिका—संविधान ने देश के भीतर एक स्वतन्त्र-न्यायपालिका की स्थापना भी की है। लोकतन्त्र के लिये यह आवश्यक है कि उसमें शासन की तीनों शक्तियाँ अर्थात विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका एक ही व्यक्ति या सभा को न देकर अलग-अलग रखी जायें, जिससे कि शासन निरंकुश न बन सके। ईश्वरीय-सत्ता के बारे में हमारी जो तीन परमेश्वरों वाली योजना है वह इस मामले में आदर्श मानी जा सकती है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवता स्वतन्त्र माने गये हैं, तीनों परमेश्वर हैं और तीनों स्वयंभू (स्वयं पैदा होने वाले, अर्थात स्वतन्त्र कार्यक्षेत्र वाले) कहे गये हैं। इनमें कौन बड़ा यह कहना असम्भव है। तीनों मिलकर ईश्वरीय सत्ता का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार हमारे संविधान ने न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखा है जिसके प्रमाण यह हैं कि संसद उसके लिये स्वीकृत राशि में कमी नहीं कर सकती तथा राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री न्यायाधीशों को उनके पद से नहीं हटा सकते, उसके लिये संसद के दोनों सदनों में उनके विरुद्ध विधिवत महाभियोग चलाना होता है।

जैसा हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं, हमारे सविधान ने प्रस्तावना में ही फ्रास की राज्यक्रान्ति के तीन मन्त्रो—स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व में एक चौथे मंत्र की अभिवृद्धि की है। वह मत्र है नागरिको के लिये, 'सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की प्राप्ति"। इस प्रकार भी सविधान ने न्याय पर जोर दिया है। इसके अलावा सविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को यह शक्ति भी दी है कि वह नागरिको को उनके मौलिक अधिकार दिलाये तथा सविधान की रक्षा करे। लोकतत्र के सिद्धान्त की रक्षा के लिये यह बहुत आवश्यक था।

ग्राम-पचायते—लोकतत्र को अधिक व्यापक बनाने और देश के प्रत्येक नागरिक तक सत्ता की गर्मी पहुचाने के लिय सविधान ने राज्य के नीति निर्देशक तत्वो में राज्य पर यह जिम्मेदारी डाली है कि वह भारत के गावो मे पचायती राज की स्थापना करेगा। महात्मा गाधी इस विचार के एक महान समर्थक थे, उनका मानना था कि जिस प्रकार प्राचीन काल म हमारे हर गाव म ग्राम पचायत होती थी और हर गाव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वय करता था, वैसी ही व्यवस्था अब की जाये। भारत के चालीस करोड लोगो तक स्वराज्य को पहुचाने का एक यही तरीका है कि गाव-गाव म ग्रामीण जनता द्वारा निर्वाचित पचायते हो जिनके भीतर ग्रामीण जनता अपनी व्यवस्था का सचालन करे। इस दिशा म देश काफी आगे बढ गया है। सविधान के आदेश को पूरा करने के लिए बलवन्तराय मेहता समिति ने कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशे की है जिनके आधार पर देश भर म पचायतें, पचायत-समितियो और जिला-परिषदो का सगठन किया जा रहा है। इसे एक नया नाम लोकतान्त्रिक-विकेन्द्रीकरण दिया गया है। लोकतत्र के प्रसार की दृष्टि से तथा भारत की ग्रामीण जनता को शासन-व्यवस्था के काम के साथ प्रत्यक्ष जोडने के लिय यही सबसे सुगम मार्ग है। भारत की जनता के लिय पचायते कोई नई चीज नही हैं, इसी पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायो में हम प्राचीन भारत की पचायत व्यवस्था का उल्लेख कर चुके हैं।

२. मूलत लिखित स्वरूप

भारतीय सविधान एक दीर्घकालीन सावैधानिक विकास का परिणाम है यह हम पीछे देख चुके हैं तथापि हमे यह मानना होगा कि यह सविधान उस सावैधानिक परम्परा से सवथा अलग और भिन्न है। १६४७ तक ब्रिटिश सरकार ने भारत में जो सावैधानिक ढाचा बनाया था वह भारत की पराधीनता को, बनाये रखता था, जबकि पहली बार १६४७ के अधिनियम ने भारत को स्वतन्त्रता दी, तथा हमारे नए सविधान ने उस स्वतन्त्रता के प्रकाश म एक लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना की घोषणा की।

इस प्रकार हमारा सविधान एक निर्मित-आलेख (Document) है जिसका निर्माण सविधान सभा ने ६ दिसम्बर १६४६ से लेकर २६ नवम्बर १६४६ तक के

२ वर्ष ११ मास और १९ दिन के भीतर किया, और जिसके निर्माण पर एक निश्चित् मात्रा मे लगभग ८ लाख रु० धन व्यय हुआ। इसके भीतर आरम्भ मे २२ खण्डो में विभक्त ३९५ अनुच्छेद थे और ९ अनुसूचिया थी। संशोधनो के परिणाम-स्वरूप इसमें से ८ अनुच्छेद (Articles) निकाल दिए गए हैं। वतमान समय में सविधान में कुल ३८७ अनुच्छेद हैं।

यह एक विशाल आलेख है, इसके भीतर सघ और राज्यो दोनो का सविधान दिया गया है। १ अप्रैल १९५८ तक इसमें कुल आठ सशोधन हुए थे। आठवें सशोधन के द्वारा हरिजनों को १९६० से आगे दस वर्षो के लिये विशेष-सुविधायें देने की अवधि बढाई जाने की व्यवस्था की गई है। सविधान म जम्मू और काश्मीर के शासन के बारे मे निकाले गय दो सांविधानिक आदेश (Constitutional Orders) भी सम्मिलित हैं। सविधान के बारे मे इस प्रकार के सांविधानिक आदेशो की सख्या ६० के आसपास पहुच चुकी है। ये आदेश भी एक प्रकार से सविधान के अभिन्न अ ग बन गय हैं और सांविधानिक दृष्टि से मान्य हैं।

सविधान के इस लिखित स्वरूप के बावजूद भी यह स्वीकार करना होगा कि अलिखित परम्पराओं का सघन विकास उसके भीतर हो रहा है। इनका सक्षिप्त वर्णन पीछे किया जा चुका है। यहा हम एक दूसरा उदाहरण दे रहे हैं। सविधान ने स्पष्ट रूप से सघ और राज्यो के बीच सत्ता का विभाजन कर दिया है तथा उसकी इच्छा है कि सघ सरकार राज्यो को पूरी स्वतत्रता का उपभोग करने दे, परन्तु पिछले कुछ वर्षो म देश के भीतर ऐसी सस्थाओं का निर्माण हो गया है कि जिनके कारण राज्यो की यह स्वतन्त्रता और भी अधिक काफी सीमा तक स कुचित व सीमित हो गई है। एक सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि स घ और राज्यो मे एक ही दल की सरकार है, इसे साधारणतया कांग्रे स की छतरी (Congress-Umbrella) कहा जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि दलीय नियत्रण राष्ट्रीय नेताओं के हाथों म होने के कारण राज्यो के मुख्यमंत्री और मन्त्रिपरिषद व विधान मंडल के कांग्रेसी सदस्य दल के केन्द्रीय नियत्रण मे काम करते हैं और उन्हें उन लोगो के आदेश स्वीकार करने होते हैं जो सघीय सरकार मे बैठते है। इस प्रकार सविधान द्वारा स्थापित सघीय ढाचे की मूल भावना मे बहुत अन्तर आ गया हैं। यह एक सत्य है कि ज्योंही सघ और अनेक राज्यो म भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलो की सरकारें बनेंगी त्योंही सघीय-ढाचे में बहुत अन्तर आ जायेगा तथा सघ सरकार और राज्य सरकारो के आपसी सम्बन्धो में भी अन्तर आयेगा। उस स्थिति मे राज्य बात-बात के भीतर सघ सरकार के आदेश मानने के लिये न बाध्य होगे न वे उसे पसन्द ही करेंगे, उनके ऊपर राजनीतिक दल के अनुशासन का कोई प्रतिबन्ध भी नही होगा और वे सघ सरकार के अनुचित दबाव का विरोध आसानी से कर सकेंगे।

इसी प्रकार, सविधान में इस प्रकार,की कोई व्यवस्था नही की गई है कि प्रधानमंत्री राज्यो के मुख्यमन्त्रियो से शासन के मामलो मे परामर्श करेगा तथा वे सब

किसी एक संगठन में सूत्रबद्ध होंगे, परन्तु हमारे देश में संविधान के बाहर एक राष्ट्रीय विकास परिषद (National-Development Council) संगठित की गई है जिसके भीतर प्रधानमंत्री और राज्यों के मुख्यमंत्री बैठकर योजना सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर चर्चायें करते हैं तथा नीति सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण निर्णय करते हैं। भले ही संघ और राज्यों में विभिन्न दलों का शासन हो, फिर भी राष्ट्रीय विकास परिषद एक ऐसा मंच होगी जिस पर देश का प्रधानमंत्री राज्यों के मुख्यमंत्रियों को प्रभावित कर सकेगा उसका यह प्रभाव निश्चित ही उसकी शक्तियों में वृद्धि करेगा, साथ ही उसकी प्रतिष्ठा में भी। यह संघ और राज्यों की नीतियों में सामंजस्य पैदा करेगी तथा संघ को एक अवसर प्रदान करेगी कि वह राज्यों की नीतियों को प्रभावित कर सके। यह विकास अलिखित रूप में हुआ है यह कहीं लिखा हुआ नहीं है और संविधान इस बारे में मौन है तथापि यह संविधान के उद्देश्य को ही नहीं, उसके व्यवहारिक स्वरूप को भी प्रभावित कर रहा है। राष्ट्रीय उत्पादन परिषद (National Productivity-Council) भी इसी प्रकार का एक दूसरा संगठन है जिसके द्वारा संघ राज्यों की नीतियों को प्रभावित करता है तथा उन को नेतृत्व प्रदान करता है। योजना आयोग के बारे में भी यही कहा जा सकता है। संविधान में कहीं नहीं लिखा है कि सारे देश के लिये एक ही योजना आयोग होगा जो संघ और राज्यों के व्यापक क्षेत्र में निर्माण और विकास की योजनायें बनायगा तथा उनको क्रियान्वित करने में मार्गदर्शन करेगा। राज्यों को जब योजना आयोग से बनी बनाई योजनायें मिल जाती हैं तो स्वयं उनके सामने कोई स्वतन्त्र क्षेत्र रह ही नहीं जाता। ये सब संविधान की विकासशीलता के ज्वलंत प्रमाण हैं।

संसार के संविधानों को लिखित और अलिखित के दो वर्गों में विभाजित करना बहुत अधिक वैज्ञानिक नहीं होगा। यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि अमुक देश का संविधान पूर्णतः लिखित या अलिखित है प्रत्येक संविधान में दोनों अंश होते हैं, जैसे ब्रिटिश संविधान अपने अलिखित स्वरूप के लिये बहुत प्रसिद्ध है तथापि आज उसका एक बहुत बड़ा अंश वैधानिक–आलेखों (Consitutional-Documents) में लिखा जा चुका है उसके बारे में यह कहना अधिक ठीक होगा कि वह मूलतः अलिखित है। इसी प्रकार भारत का संविधान एक निर्मित संविधान होने के कारण मूलतः लिखित है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके भीतर अलिखित तत्व नहीं हैं वे आज भी मौजूद हैं और समय ज्यों-ज्यों बीतता जायगा त्यों त्यों उसमें परम्परा परिपाटियों का विकास होता जायगा।

भारतीय संविधान का आकार इतना बड़ा क्यों है ? यह प्रश्न कई बार लोगों के दिमाग को परेशान करता है। वास्तव में संविधान का आकार समझने के लिये हम देश की पृष्ठभूमि को समझना होगा जिस समय संविधान गढ़ा जा रहा था। उस समय देश की जो दशा थी, उसकी जो आवश्यकतायें थीं और उसके बनाने वालों के मन पर जो संस्कार थे, उन सबने उसके स्वरूप और आकार को प्रभावित किया है।

हमारे संविधान ने देश के भीतर केवल एक शासकीय ढाँचे की ही व्यवस्था नहीं की है, वरन् उसने देश में स्वतंत्र सरकार और लोकतंत्रीय-शासन की नींव भी रखी है। हमारा संविधान एक सैद्धान्तिक-ढाँचा प्रस्तुत करता है। उसने छोटी से छोटी बातों को महत्व दिया है। संविधान-निर्माता यह चाहते थे कि संविधान को लेकर देश में झगड़ा न हो तथा जितने अधिक समय तक हो सके, संविधान की व्याख्या के पचड़े को दूर रखा जा सके, इसीलिए उन्होंने एक एक बात को विस्तार से रखा है।

परन्तु उसका परिणाम उल्टा निकला। जो संविधान आसानी से संशोधित किये जा सकें यदि वे लम्बे हों तो उसमें कोई हानि नहीं होती क्योंकि समय पड़ने पर किसी धारा को निकालना या बदलना आसान होता है। परन्तु जो संविधान दुष्परिवर्तनीय होते हैं वे छोटे हों तभी वे दीर्घ काल तक टिक सकते हैं, जैसे संयुक्त-राज्य अमेरिका का संविधान। हमारी संविधान सभा ने विस्तृत संविधान बनाने की धुन में एक जटिल और दुष्परिवर्तनीय संविधान बना दिया है, आज तो संशोधन करना आसान दिखाई देता है क्योंकि संघ और राज्यों पर एक ही राजनीतिक दल अर्थात कांग्रेस का छाता तना हुआ है और दलीय अनुशासन के कारण ऐसा लगता है मानो इस देश के भीतर एकात्मक सरकार ही हो, परन्तु यह छाता जिस दिन टूटेगा उस दिन संशोधन की वास्तविक दुष्परिवर्तनीयता प्रगट होगी, तब उसका लम्बा होना बहुत खलेगा भी।

संक्षेप में हम संविधान के लम्बे होने के कुछ कारणों का वर्णन करेंगे। सबसे पहली बात तो यह थी कि जब संविधान-सभा संविधान बना रही थी, उसके सदस्यों के सामने विदेशी शासन का अनुभव था और उसके अधिकांश सदस्य ब्रिटिश सरकार के दमन का शिकार हो चुके थे। अतः वे ऐसा पूर्ण और आदर्श संविधान बना देना चाहते थे जिसमें दमन की गुंजायश न हो। अपने इस प्रयास में वे अपने लक्ष्य की विपरीत दिशा में जा निकले और उन्होंने एक ऐसे संविधान का निर्माण कर दिया जो बहुत कठोर और जटिल हो गया। जेनिंग्स ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि संविधान जिन सरकारों की स्थापना करने जा रहा था वे उत्तरदायी थीं परन्तु 'भारतीय नेताओं को अनुत्तरदायी सरकारों का अनुभव था। ब्रिटेन का अनुभव यह है कि लोकमत उत्तरदायी सरकार को नियंत्रित रखता है। परन्तु भारत का अनुभव वैसा नहीं है। इसी कारण संविधान-सभा ने बिना सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण किये ही यह मान लिया कि सरकार पर कड़ा वैधानिक-नियंत्रण होना चाहिए।'†

भारतीय संविधान वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत प्रतिष्ठित संविधा-

---

†Some characteristics of the Indian Constitution: Sir Ivor Jennings Q C; Oxford University press, 1953, पृष्ठ 19

निक-विधि (Constitutional-Law) की कल्पना का मूर्त स्वरूप है। हमारे सविधान निर्माताओ म प्रमुख लोग संविधान शास्त्री थे और उन्होंने इसका निर्माण अपनी सांविधानिक प्रतिभा के प्रकाश म किया जिसके कारण इसम जटिलता और लम्बापन आ गया है। 'सविधान-सभा के भीतर वकील-राजनीतिज्ञो की प्रमुखता से भारत को लाभ हुआ है या नही यह निर्णय करने का काम इतिहास पर छोड़ना होगा, इस समय तो यही कहा जा सकता है कि उसके कारण सविधान म जटिलता बढ गई है।†"

जेनिंग्स का मत है कि भारत का सविधान बहुत जटिल हो गया है। 'हमम से जो सांविधानिक-वकील ह वे (इस सविधान द्वारा) अपने पेशा की प्रतिष्ठा बढ़ाए जाने के लिए प्रसन्न हो सकते ह परन्तु सविधानो का प्रयोजन यह होता है कि वे सरकार को सुविधा से सचालित करें न कि यह कि वे सांविधानिक-वकीलो को फीस दिलाने की व्यवस्था करें। जितनी अधिक धारायें होंगी सरकार का सचालन उतना ही कठिन हो जायगा। भारत ने हमारे (सांविधानिक-वकीलो के) भीतर अत्यन्त विश्वास रखा है।‡"

सविधान की दुष्परिवर्तनीयता (Rigidity)

ब्राइस और डायसी जैसे प्रसिद्ध सविधान-शास्त्रियो न सविधानो के वर्गीकरण के लिय सुपरिवर्तनीयता (Flexibility) और दुष्परिवर्तनीयता (Rigidity) की कसौटिया हम प्रदान की है। यहा हम एक बात हिन्दी भाषा की दृष्टि से भलीभाति समझ लेनी होगी की ससार के किसी भी देश का सविधान अपरिवर्तनीय नहीं हो सकता। अत उस शब्द का प्रयोग सविधान शास्त्र म बहुत गम्भीर गलतिया पैदा कर सकता है। सविधान चाहे कोई भी हो और कैसा भी हो, केवल वर्तमान की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिय ही नही बनाया जाता। सविधान रोज रोज नही बना करते, व एक बार बनते ह और आने वाले सैकडो सालो तक चलते ह। अच्छे सविधान की पहचान यह है कि वह एक बार बनने के बाद अनन्त काल तक चले। इस सदर्भ म हम ब्रिटिश और सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधानो का उल्लेख करना चाहगे। ब्रिटेन का सविधान तो वास्तव म विकसित हुआ है और हम उसके बारे म यह नही कह सकते कि वह बनाया गया है, परन्तु सयुक्तराज्य अमरीका का सविधान हमारी भाति ही बनाया गया, जो सविधान वहा १७८९ म लागू किया गया था वह आज १७० वर्ष से भी अधिक की अवधि में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है। यह सविधान की क्षमता का प्रमाण है।

सविधान जिस समय बनाया जाता है उस समय देश की जो परिस्थिति होती है, आगे जाकर उसम बहुत परिवर्तन आ सकते ह, विशेषकर हमारे जैसे देश म जहा नव निर्माण की दिशा म तेजी से काम हो रहा है, और हम अपने देश के चित्र को

† Ibid पृष्ठ 25
‡ Ibid „ 26-27

बदल डालने के लिये कटिबद्ध हैं, यह अनिवार्य है कि बदलती हुई परिस्थितियों में हमारी सांविधानिक आवश्यकतायें भी बदलेंगी, अनेक सांविधानिक धारायें जो हमने १९५० में लागू की है वे निरुपयोगी हो जायेंगी तथा उसके नये अर्थों की आवश्यकता होगी, अन्यथा हमारा संविधान हमारे विकास के मार्ग का बाधक बन सकता है और हम विवश हो सकते हैं कि हम उसे सर्वथा फेंक कर नया संविधान बनावें। इसलिये यह आवश्यक होता है कि संविधान परिवर्तनशील हो।

संविधान परिवर्तनशील तो सभी होते है, प्रश्न इतना ही है कि कौन संविधान सुपरिवर्तनीय है और कौन दुष्परिवर्तनीय। संविधान की सुपरिवर्तनीयता कई बातो पर निर्भर करती है। उनमे दो मुख्य हैं। पहली तो यह कि संविधान में यह क्षमता हो कि उसकी धारायें बदलती हुई दशाओं में नये ढंग से परिभाषित की जा सकें। इसे हम संविधान की नमनीयता या लोचशीलता कहेंगे, अर्थात उसकी धारायें इतनी विस्तृत और जटिल न हो कि उनके नये अर्थ निकालना असम्भव ही हो जाय। सुपरिवर्तनीयता का दूसरा लक्षण यह है कि संविधान संसद के साधारण बहुमत से परिवर्तन के योग्य हो। संविधान-शास्त्रियों का मानना है कि सुपरिवर्तनीय संविधान देश की संसद द्वारा साधारण विधायी-क्रिया (Ordinary Legislative Procedure) के माध्यम से संशोधित किया जा सकता है परन्तु दुष्परिवर्तनीय संविधान का संशोधन करने के लिये किसी ऐसी प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ता है जो स्वयं संविधान के भीतर लिखी हुई हो और जो साधारण विधि-निर्माण की पद्धति से भिन्न हो। इस कसौटी पर कसा जाय तो भारत का संविधान दोनों प्रकार का मिलता है। हमारे संविधान का एक अंश ऐसा है जो संघ संसद द्वारा साधारण बहुमत के समर्थन से संशोधित किया जा सकता है। संविधान के उस अंश को हम सुपरिवर्तनीय कह सकते हैं। संविधान के शेष अंश के भी दो भाग हैं, एक के संशोधन के लिये केवल संसद के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई मतों का समर्थन आवश्यक है, दूसरे का संशोधन तब हो पाता है जब कि संसद द्वारा इस प्रकार पास कर दिये जाने पर कोई संशोधन-प्रस्ताव कम से कम आधे राज्यों की विधान-सभाओं के विधान मंडलों द्वारा पास कर दिया जाये। संविधान का यह अंश दुष्परिवर्तनीय माना जायेगा।

संघीय रचना का प्रभाव—भारतीय संविधान के बारे में कहा जाता है कि वह प्रायः ब्रिटिश नमूने का है। तब यह प्रश्न उठता है कि ऐसा कैसे हुआ कि ब्रिटिश संविधान के अत्यन्त नमनीय और सुपरिवर्तनीय होते हुए भी भारत का संविधान दुष्परिवर्तनीय बन गया। ऐसा होने के कई कारण हैं। इनमें सबसे प्रमुख कारण यह है कि भारत को संविधान के अन्तर्गत एक संघ का स्वरूप देने की चेष्टा की गई है। संघ संविधान की यह एक बुनियादी आवश्यकता है कि उसमे संविधान दुष्परिवर्तनीय होना चाहिए, जिससे कि संघ या राज्य अकेले ही संघीय धाराओं को न बदल सकें। एक दूसरी बात यह थी कि हमारे संविधान निर्माता भारतीय राजनीति में अस्थिरता के तत्वों के प्रति जागरूक थे, वे चाहते थे कि भारत में एक स्थायी लोकतंत्र की नींव

पड़े उसके लिए संविधान की कड़ाई अनिवार्य हो गई।

हम देखते हैं कि जहां तक संघीय धाराओं का प्रश्न है और जिन धाराओं से राज्यों की शक्तियां सम्बन्धित हैं उनका संशोधन अकेला संघ नहीं कर सकता, उनके मामले में कम से कम आधे राज्यों के विधानमंडलों की सहमति अनिवार्य होती है। सामान्यतया हमारे संविधान में राज्यों के हाथ में सांविधानिक संशोधन आरम्भ करने की शक्ति नहीं दी गई है। उन्हें केवल एक मामले में ही पहल करने की शक्ति है, यदि वे अपने यहां विधानमंडल में विधान-परिषद् (Legislative-Council) को भंग करना चाहें या उसकी स्थापना करना चाहें तो उनकी विधानसभा (Legislative-Assembly) इस बारे में एक प्रस्ताव दो तिहाई बहुमत के समर्थन से पास कर सकती है और उसके बाद संसद के दोनों सदन साधारण बहुमत से उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं तो वह अधिनियम बन जाता है और इस प्रकार विधान-परिषद की स्थापना की जा सकती है या उसे भंग किया जा सकता है।

प्रो० व्हेयर ने अपनी पुस्तक माडर्न कान्स्टीट्यूशन्स में (पृ० १४३ पर) लिखा है कि भारत का संविधान दुष्परिवर्तनीयता और सुपरिवर्तनीयता के बीच का सतुलित मार्ग ग्रहण करता है। यह एक सत्य है। इस मामले में सर आइवर जेनिंग्स का मत अतिशयोक्ति पूर्ण है कि संविधान अत्यधिक दुष्परिवर्तनीय है। सर जेनिंग्स का यह विचार तो ठीक है कि संविधान निर्माताओं के लिए यह असंभव होता कि वे भविष्य की स्थिति और दशाओं को देख सकें, वे भविष्यदृष्टा नहीं होते परन्तु यह नहीं समझ में आता कि वे भारत के संविधान को संयुक्तराज्य अमेरिका के संविधान की भांति दुष्परिवर्तनीय कैसे मान सकते हैं? यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि संयुक्त-राज्य अमेरिका के भीतर पिछले पौने दो सौ साल में कुल बाइस (२२) संशोधन हुए हैं जिनमें से दस संशोधन तो संविधान लागू होने के दो साल बाद ही १७९१ में किए गए थे जिनके द्वारा उसमें मौलिक अधिकारों का अध्याय (Bill of Rights) जोड़ा गया था। इस प्रकार वास्तविक संशोधनों की संख्या केवल १२ ही रह जाती है, जबकि भारतीय संविधान के भीतर पिछले ९ वर्षों के भीतर आठ संशोधन हो चुके हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन से यह बात ज्ञात होती है कि भारत का संविधान सुपरिवर्तनीय या सुसंशोधनीय, है भले ही हम पारम्परिक-परिभाषा (Traditional-Definition) के आधार पर उसे वैसा न कह सकते हों।

कांग्रेस की छत्र-छाया—यहां हम उस बात को दोहराना चाहेंगे जो हमने पीछे कही है कि आज हमारे संविधान में जो इतनी सुविधा से संशोधन हो सके हैं उसके पीछे संविधान की नमनीयता तो है ही साथ ही साथ एक दूसरा बड़ा कारण भी उसके पीछे है और वह है कांग्रेस का संघ व राज्यों की सरकारों पर एक मात्र अधिकार। आज कांग्रेस के लिए यह सरल है कि वह संघ और राज्यों के भीतर

किसी सशोधन को मनवा लेती है, परन्तु जब सघ और राज्यो में भिन्न दलो का शासन चलेगा तो निश्चय ही सविधान का सशोधन उतना सरल नही रह जायेगा जितना वह आज दिखाई देता है।

यहा हमने सविधान के सशोधन की प्रक्रिया का विस्तृत विवरण नही दिया, उसके बारे म इस अध्याय के अन्त मे अलग से लिखा गया है।

३. संघात्मक-स्वरूप

भारतीय सविधान के प्रमुख लक्षणो में से एक यह है कि उसने देश के भीतर एक सघात्मक-शासनव्यवस्था का निर्माण किया है। राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थी के गले यह विचार उतारना प्राय असम्भव सा है कि भारत एक सघ है, फिर भी सविधान ने उसको सघात्मक स्वरूप प्रदान किया है यह एक सत्य है। भारत एक सघ है या नही यह प्रश्न विवादास्पद हो सकता है परन्तु यह एक निश्चित सत्य है कि भारत का शासन एकात्मक (Unitary) तो किसी भी दशा मे नही माना जा सकता। *तब इस दशा म उसके सघात्मक चरित्र का विश्लेषण करना हमारे लिय आवश्यक हो जाता है।*

किसी सघ की पहली बुनियादी आवश्यकता यह है कि उसके अस्तित्व से पहले स्वतन्त्र व प्रभुतासम्पन्न राज्य हो जो एकता के अथवा सघ बनाने के इच्छुक हो, उनके विधानमडल यह निर्णय करे कि उन्हे अमुक अन्य राज्यो के साथ मिलकर सघ का निर्माण करना है, तथा वे जिन मामलो म सघ का निर्माण करना चाहे उन्हे सघ को सौंप दे। यहा सघ और परिसघ (Federation & Confederation) का अन्तर भी समझ लेना लाभदायक होगा। सघ म स्थायी प्रवेश होता है अर्थात् एक बार सघ मे शामिल हो जाने के बाद कोई राज्य सघ का परित्याग करके उससे बाहर नही निकल सकता। इस प्रकार वह एक स्थायी एकता का निर्माण करता है, परन्तु परिसघ एक अस्थायी रचना होता है, उसमे शामिल होने के बाद राज्य जब चाहे तब बाहर निकल सकते है।

इन कसौटियो पर कसने से भारतीय सविधान के बारे म मनोरजक तथ्यो का ज्ञान होगा। सविधान के लागू होने से पहले भारत के शासन का सचालन भारत शासन अधिनियम १९३५ के अनुसार हो रहा था, परन्तु उस अधिनियम का वह अश लागू नही किया गया था जिसमे भारत के भीतर सघ की स्थापना की व्यवस्था की गई थी। वास्तव म भारत सविधान लागू होने के समय एकात्मक राज्य (*Unitary* State) था। स्वतन्त्रता के पश्चात् उसके भीतर जो क्षेत्र सम्मिलित हुआ था वह कवल वह था जिसे ब्रिटिश भारत कहा जाता था। देशी राज्यों को ब्रिटिश सरकार ने आजाद कर दिया था। भारत के नर-नाहर सरदार पटेल ने अपनी प्रतिभा के बल पर देशी राज्यो को भारत मे दाखिल कर लिया और इस प्रकार देश के भू-क्षेत्र (Territory) का मानचित्र पूरा हुआ। राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थी जानते

है कि राज्य मे भू-क्षेत्र सवप्रथम आवश्यकता होती है।

संघ की रचना करते समय हमारे यहा कोई स्वतंत्र राज्य नही थे हमारे संघ का निर्माण राज्यो के विधानमडलो ने भी नही किया। हमारे संघ का निर्माण भारत की संविधान सभा ने विधान-भवन के भीतर बैठ किया है। एक प्रकार से प्रशासकीय सुविधा को ध्यान म रखकर भारत म संघ की स्थापना हुई है। भारतीय संघ की स्थापना में दूसरा प्रमुख विचार लोकत ीय विचार रहा है। महात्मा गाधी के नेतत्व म भारत ने यह विचार मान्य किया है कि देश के भीतर अधिक से अधिक राजनीतिक सत्ता को विकेन्द्रित किया जाय तथा अपने अपने क्षेत्र के भीतर लोग अपनी स्थानीय शक्ति का स्वय प्रयोग करें। इस विचार से प्रेरित होकर हमारे संविधान ने संघ योजना स्वीकार की एक दूसरी परिस्थिति भी थी अग्रेज १६१६ म प्रान्तो के भीतर विकसित प्रान्तीय शासन की स्थापना कर चुका था उसे १६३५ के अधिनियम ने और भी दृढ कर दिया था स्वतन्त्रता के बाद प्रान्तो के लोग और भी सत्ता प्राप्त करने का स्वप्न देख रहे थे उनके इस मधुर स्वप्न को भग करके संविधान-सभा एकात्मक शासन की स्थापना करने म समर्थ नही थी, क्योकि उसके भीतर जो लोग काम रहे थ वे स्वय राज्यो की विधान सभाओ द्वारा चुन कर भेज गये थ। उधर देशी राज्यों की जनता भी उत्तरदायी शासन की स्थापना की आकाक्षा लेकर आगे बढ रही थी, इन परिस्थितियो म लोकमत निश्चित रूप से इस पक्ष मे था कि प्रान्तो को दी गई सत्ता केवल बनाई ही न रखी जाय वरन् उसमे वृद्धि की जाय प्रान्तीय विधानमडल और मत्रिमडल राजनीतिक-आकर्षण के महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुके थ अब उन्हें भग नही किया जा सकता था।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि संविधान सभा ने देश के लिये एक ऐसा संविधान बनाया जिसम संघीय-रचना के अधिकाश तत्व मौजूद हो और साथ ही साथ यह ध्यान भी रखा कि भारत एक देश के नाते अधिक से अधिक मजबूत बने तथा संघ का अर्थ यह न लगाया जाय कि संविधान किसी भी प्रकार देश के भीतर पहले से ही मौजूद प्रान्तीयता के विष मे वृद्धि कर रहा है तथा पृथकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर रहा है। इस प्रकार एक अपूर्ण संघ की स्थापना की गई।

संघ के प्रमुख तत्व—हम यह वर्णन कर चुके ह कि संघ म सबसे प्रधान तत्व वह भावनात्मक आकर्षण होता है जिसमे संगठित होने की भावना होती है। भारत के मामले मे उस तत्व के नये सिरे से पैदा होने का प्रश्न ही नही था क्योकि भारत संविधान बनने और लागू होने के समय पहले से ही संगठित था। यहा हम संघ संविधान के दूसरे तत्वो का उल्लेख करेंगे और यह देखने की चेष्टा करेंगे कि भारतीय संविधान में वे तत्व किस रूप म तथा किस मात्रा म उपलब्ध है।

१ संघीय-संविधान का सबसे पहला तत्व संविधान की सर्वोच्चता है। जहा तक भारतीय संविधान का प्रश्न है यद्यपि लौकिक दृष्टि स देखने पर ऐसा लगता है कि संविधान स्वय सर्वोच्च नही है वरन् उसम जनता की सर्वोच्चता की प्रतिष्ठा

की गई है तथा हमने भी पीछे इस विचार को मान्य किया है तथापि यह स्वीकार करना होगा कि वैधानिक दृष्टि से संविधान देश का सर्वोच्च-विधान (Fundamental Law of the Land) है जिसका उल्लघन नही किया जा सकता। उसकी रक्षा और व्याख्या के लिये स्वतंत्र न्यायालय है जो ससद, राज्यो के विधानमंडलो, गवर्नरो, राष्ट्रपति तथा अन्य किसी भी प्रशासकीय अधिकारी के आदेशो को सांविधानिक दृष्टि से सविधान के प्रतिकूल होने पर असांविधानिक घोषित करके रद्द कर सकता है।

२ सघीय-रचना की दूसरी अनिवार्यता सघ व राज्यो के बीच विषयो अर्थात् सत्ता के प्रयोग के कार्यक्षेत्र का विभाजन है। इस बारे मे अलग-अलग देशो में अलग अलग तरीके अपनाये गये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने सघ को कुछ शक्तिया दे दी हैं और अवशिष्ट शक्तिया (Residuary Powers) राज्यो को सौंप दी हैं। भारतीय संविधान ने इस शर्त को भी पूरा किया है। उसमे शक्तियो का वितरण किया है। शासन के समस्त विषयो को तीन सूचियो मे बाँटा गया है—सघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। समवर्ती सूची मे जो विषय रखे गये हैं उनके बारे में कहा गया है कि राज्य सरकारें उन विषयो पर अपने लिये विधिया बना सकेंगी परन्तु यदि उस विषय पर जिस पर संघ सरकार कोई विधि बना चुकी हो तो दोनो मे विरोध होने पर सघ-सरकार की विधि लागू होगी और राज्य की विधि रद्द हो जायगी।

३. सघीय-सविधान मे सघ और राज्यो मे दोहरी सरकार की स्थापना होनी है। हमारे सविधान ने उसकी व्यवस्था की है। संघ मे और राज्यो में अलग-अलग कार्यपालिका और विधायिका (Legislature) की स्थापना की गई है। न्यायपालिका को इकहरा ही बनाया गया है।

४. सघीय-सविधान की एक अन्य आवश्यकता यह होती है कि उसमें एक सघीय-न्यायालय या सर्वोच्च-न्यायालय की स्थापना की जाती है जिसके जिम्मे सविधान का अर्थ निकालने, उसकी व्याख्या करने और राज्यो के पारस्परिक व संघ तथा राज्यो के आपसी झगडो को सुलझाने का काम होता है, भारतीय सविधान ने इस प्रकार का सर्वोच्च न्यायालय स्थापित किया है और इस दृष्टि से कि वह सघ के मत्रिमडल या ससद के प्रभाव से मुक्त रह सके उसे बहुत अधिक मात्रा मे एक स्वतन्त्र सगठन बना दिया है। हमारा सर्वोच्च न्यायालय इस मामले मे स्वस्थ परम्परा का निर्माण कर रहा है और उसकी निष्पक्षता सन्देह से परे सिद्ध हो सकी है।

५ सघीय सविधान सघीय-विधायिका (ससद) के भीतर एक ऐसे द्वितीय सदन (Second Chamber) की स्थापना करता है जिसमें राज्यो के प्रतिनिधि बैठते हैं और राज्यों के हितो का प्रतिनिधित्व और उनकी रक्षा करते हैं। भारतीय संविधान ने भी सघ-ससद मे राज्य-सभा (Council of States) की स्थापना की है जिसमे राज्यो के प्रतिनिधि बैठते हैं। इनका निर्वाचन राज्य-विधान-सभायें

करती है।

यों मोटे तौर पर देखने से ऐसा मालूम होता है कि भारतीय संविधान संघीय संविधान की सब आवश्यकतायें पूरी करता है परन्तु वास्तव में वैसा है नहीं, वह भारत में एक बहुत अपूर्ण प्रकार के संघ की नींव डालता है। हमारे संविधान निर्माताओं के मन में संघात्मक रचना करने की उतनी बेचैनी नहीं थी जैसा लो वे एक प्रकार की मजबूरी में कर रहे थे यह विवशता उन्हें १९३५ के अधिनियम से उत्तराधिकार में मिली थी। संघीय रचना करते समय वे इस बात के लिये चिन्तित थे कि देश की एकता को अखण्डित बनाये रखा जाय। स्वयं भारत के आधुनिक मनु (संविधान के पिता) डा० अम्बेडकर ने कहा था, नाम का कोई अधिक महत्व नहीं है तथापि समिति (प्रारूप समिति) ने १८६७ के ब्रिटिश उत्तर अमेरिका (कनाडा) अधिनियम की भाषा का अनुगमन करना पसन्द किया है तथा यह विचार किया है कि यद्यपि भारत का संविधान रचना में संघात्मक है तथापि उसे संयुक्त-देश (Union) कहने में अधिक लाभ है।" हमारे संविधान में संघ (Federation) शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया गया है, उसमें भारत को यूनियन कहा गया है, इससे यह ज्ञात होता है कि संविधान-सभा उसके संघात्मक पक्ष पर बहुत जोर नहीं देना चाहती थी।

भारत की ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियां ऐसी नहीं थीं कि देश में एक कमजोर संघ-शासन बना लिया जाय, इस समस्या को सामने रखकर संविधान-निर्माताओं ने भारत का संविधान बनाया है। विविध प्रकार के भेदभाव इस देश में रहे हैं, साम्प्रदायिक, धार्मिक, जातीय, प्रान्तीय उन सब ने हमारे देश की एकता और शक्ति को खंडित किया है, ऐसी स्थिति में यदि हमारे संविधान निर्माता देश की एकता के लिये चिन्तित हुए तो वह स्वाभाविक ही हुआ। भले ही यह कहा जाय कि शास्त्रीय दृष्टि से हमारा संघ अधूरा और अशास्त्रीय है परन्तु हमारी पृष्ठभूमि में यही उपयुक्त समझा गया। ऍलॅन ग्लेडहिल ने अपनी पुस्तक, 'द रिपब्लिक ऑव इन्डिया" में (स्टीवेन्सन एन्ड सन्स लि० लन्दन, १९५१, पृ० ९२ पर) लिखा है कि सम्भवतः "संविधान-निर्माता उन सकटों को नहीं भूल पाये थे जो भूत काल में पैदा हुए थे और भविष्य में फिर से पैदा हो सकते थे। उन्होंने महसूस किया कि तत्कालीन बाह्य परिस्थितियों में एक शक्तिशाली केन्द्रीय कार्यपालिका का निर्माण करना राज्यों को उनके कार्यों के बारे में निश्चित और जोरदार आदेश देना तथा जहां तक सम्भव हो सके, विकास की दिशा में सम-प्रगति करना आवश्यक है। उनके परिश्रम का परिणाम यह हुआ है कि १९३५ के अधिनियम में जैसा सोचा गया था उससे भी अधिक एकात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना की गई है।" प्रो० व्हेयर का मत भी यही है कि "संविधान ने वास्तव में एक ऐसी शासन-व्यवस्था की स्थापना की है जो प्रायः अर्द्ध-संघ है, जिसमें शासन-सत्ता का प्रशासकीय वितरण किया गया है, वह गौण रूप में एकात्मक तथा प्रधान रूप में संघात्मक व्यवस्था की स्थापना करने के बजाय गौण रूप से संघात्मक व प्रधान रूपसे एकात्मक शासन का निर्माण करता है।" (इंडियाज्

न्यू कॉन्स्टीटयूशन अनेलाइज्ड, १९४८ पृ० २१)

अपूर्ण सघ के प्रमुख लक्षण—यहा हम यह अध्ययन करेंगे कि हमारे सविधान ने किस प्रकार भारत म एक अपूण सघ की स्थापना की है ?

क शक्तिशाली सघ-शासन की स्थापना—हमारे सविधान ने सघ सरकार को बहुत शक्तिशाली बनाया है । उसने शासन के जितने महत्वपूर्ण विषय हैं वे सघ सरकार को दे दिय है । एक ओर तो समवर्ती सूचीके जितने विषय हैं उन पर सघ को सर्वोच्च सत्ता दी गई है यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर सघ और राज्यो की विधियो (कानूनो) के बीच मतभेद पैदा हो जाय तो राज्य के विषय रद्द हो जाते हैं तथा सघ की विधिया लागू रहती ह । इसके अतिरिक्त सघ, राज्य और समवर्ती सूची म जो विषय गिनाये गय ह उनके अतिरिक्त समय-समय पर जो नये विषय भविष्य म पैदा होग वे सब सघ के पास रहेग अर्थात् हमारे यहा अवशिष्ट शक्तिया (Residuary Powers) सघ को दी गई ह । सयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया म अवशिष्ट शक्तिया राज्यो को दी गई ह । हमने उन देशों का अनुकरण नही किया वरन् हमने अपनी प्ररणा कनाडा के सविधान से प्राप्त की थी ।

सघ की शक्ति शक्तियों के वितरण पर ही आधारित नही है, उसके अतिरिक्त सविधान न कई और मार्गो से सघ को शक्तिशाली बनाया है । सविधान मे कहा गया है कि यदि राज्यसभा (Council of States) यह आवश्यक समझे कि देश के हित की दृष्टि से सघ ससद को किसी ऐसे विषय पर विधि बनानी चाहिय जो राज्य सूची मे दिया गया है तो वह सदन उपस्थित एव मत देने वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से यह तय कर सकता है । इस प्रकार राज्य सूची के विषय एक बार म एक वर्ष के लिय सघ को दिय जा सकेंगे, प्रत्यक वर्ष इसकी अवधि अगले एक वर्ष के लिय बढाई जा सकती है । यहा यह बात ध्यान में रखनी होगी कि राज्यसभा सघ का एक सदन है । भले ही उसम राज्यो के प्रतिनिधि हो लेकिन इस प्रकार सघ का एक सदन मनमाने ढग से राज्यो की शक्ति कम कर सकता है । राज्यों के विधान मण्डलो की सहमति प्राप्त किय बिना उनकी शक्तियें छीन लेना सघीय दृष्टि से अपूर्णता का द्योतक है । [सविधान, अनुच्छेद २४९]

सविधान के अनुच्छेद २५२ म कहा गया है कि किसी समय दो या अधिक राज्यो के विधान मडल सघ ससद से निवेदन कर सकते ह कि वह उनके लिए राज्य-सूची के किसी निर्दिष्ट विषय पर विधिया बनाये और ऐसी विधिया अन्य राज्यो द्वारा भी अपनी इच्छा के अनुसार लागू की जा सकेंगी ।

राज्यो की शक्तियो के सघ द्वारा लिय जाने के बारे म सविधान का अनुच्छेद २५० बहुत महत्वपूण है । उसमें कहा गया है कि राष्ट्रपति द्वारा आपत्ति काल (Emergency) की घोषणा कर दिय जाने पर ससद को यह अधिकार होगा कि वह समस्त राज्यो या कुछ विशेष राज्यों के लिय स्वयं विधि निर्माण करे । किसी राज्य मे सांविधानिक-शासन की असफलता के आधार पर जब राष्ट्रपति अनुच्छेद

३५६ के अनुसार उस राज्य में आपात-काल की घोषणा कर देता है तो भी संसद उस राज्य के लिये विधियां बना सकती है। अनुच्छेद २५३ में कहा गया है कि किसी देश या देशो के साथ भारत सरकार द्वारा की जाने वाली संधियां, समझौतों या परम्परात्मक संबंधों अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन समुदाय या अन्य संस्था द्वारा किये गये निर्णयों को लागू करने के लिये संसद सारे देश के लिये विधियां बना सकती है और उनके मार्ग में संविधान का कोई अनुच्छेद बाधक नहीं होगा। यह एक बहुत बड़ी शक्ति है जो संघ को दी गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संविधान ने संघ-शासन की रचना एकात्मक नमूने पर की है। संघ से यह आशा की गई है कि वह सामान्य स्थितियों के पैदा होते ही राज्यों को उनके अधिकार लौटा देगा तथा संविधान के आदेश व उसकी भावना की रक्षा व प्रतिष्ठा करेगा। वास्तव में क्या होता है यह भविष्य ही बता सकेगा, अभी तक तो यही ज्ञात होता है कि संघ के भीतर अधिकाधिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की दिशा में चेष्टा हो रही है। केरल में राष्ट्रपति-शासन की घोषणा से यह बात और भी स्पष्ट होती है क्योंकि सांविधानिक दृष्टि से प्रगट रूप में कोई ऐसा कारण नहीं था कि मंत्रिमंडल के विरुद्ध वहां की विधानसभा का अविश्वास प्रगट होता हो या वहां मंत्रिमंडल का चलना कठिन हो रहा हो। साम्यवादी दल के मंत्रिमंडल को विधानसभा के भीतर बहुमत का विश्वास प्राप्त था तथापि वहां सरकार के विरुद्ध होने वाले प्रदर्शनों को संघ ने जनता का विद्रोह मानकर वहां मंत्रिमंडल और विधानसभा को भंग कर दिया। यह स्मरणीय है कि प्रदर्शनकारियों में कांग्रेस दल भी सम्मिलित था जिसके हाथों में संघ की सत्ता है। संविधान में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि किसी समय किसी राज्य या संघ की जनता वहां की सरकार के विरुद्ध इस सीमा तक विद्रोह कर सकती है कि वहां के मंत्रिपरिषद और विधानमंडल या संसद दोनों को त्यागपत्र देना पड़े तथा नये चुनाव कराये जायें। यह कहा जाता है कि साम्यवादी दल वहां संविधान का उल्लंघन कर रहा था परन्तु यदि ऐसा था तो संविधान के प्रहरी के नाते यह काम सर्वोच्च न्यायालय का था कि वह उस सरकार के कामों को असांविधानिक घोषित करता तथा उस सरकार की निन्दा करता। हमने पीछे भी इस प्रश्न पर काफी प्रकाश डाला है और यह कहना उचित होगा कि यदि संघ इसी प्रकार उन प्रान्तों की सरकारों के प्रति असहनशीलता का प्रदर्शन करता है जिनमें कि उसके दल को वहां की विधानसभा में बहुमत प्राप्त नहीं हुआ हो तथा वह अपने दल के द्वारा अराजकता पैदा करके दूसरे दलों के बहुमत द्वारा समर्थित मंत्रिपरिषदों को भंग करता है तो यह संविधान का गम्भीर अपहरण और अतिक्रमण माना जायगा। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक के मन में भी यह इच्छा हो सकती है कि देश के भीतर लोकतंत्र को आंच न आये तथा साम्यवादियों के अधिनायकवादी तरीकों को पनपने का अवसर न मिले लेकिन इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के नाते वह अपनी सांविधानिक बुद्धि का प्रयोग ही न करे। हमें संविधान

की रक्षा का भार अपनी व्यक्तिगत पसन्द और नापसन्द से ऊपर उठकर सभालना होगा।

इकहरी नागरिकता—सघात्मक सविधान म नागरिक्ता दोहरी होती है। एक ही व्यक्ति दो नागरिक्तायें प्राप्त करता है और दोनो के नियम अलग अलग हो सकते है। इनम से एक नागरिक्ता सघ की होनी है और दूसरी उसके अपने राज्य की। परन्तु भारतीय सविधान ने भारत के लोगो को इकहरी नागरिक्ता प्रदान की है, अर्थात जो व्यक्ति २१ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका हो और जो सविधान मे दी गई व समय-समय पर ससद द्वारा तय की गई योग्यताओ को पूरा करता हो भारत का नागरिक होगा। हमारे यहा भारत का नागरिक और उत्तर प्रदेश या राजस्थान का नागरिक इस प्रकार के भेद नही ह। इसका एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह हुआ हैं कि हमारे देश के लोगों में भारत के प्रति निष्ठा और भक्ति का भाव पैदा हुआ हैं। हम लोग अलग अलग राज्यो के प्रति भक्ति नही रखते ह न उस दृष्टि से सोचते ही ह। ऐसा करना दो दृष्टियो से आवश्यक हो गया था एक तो यह कि हमारे देश मे पहले से ही प्रादेशिक निष्ठायें बहुत प्रबल थी और एक सक्रिय राष्ट्रीयता पैदा करने के लिय यह आवश्यक था कि उन सकीर्ण निष्ठाओ को पुष्ट करने के बजाय राष्ट्रीय नागरिकता और देशभक्ति का भाव लोगों के मानस मे मजबूत बनाया जाय। दूसरा कारण यह था कि हमारे सविधान ने सघ और राज्य दोनो का सविधान एक साथ ही बना कर तैयार किया है जब अलग सविधान ही नहीं है और सविधान बनाने की सत्ता भी राज्यो को नही हैं तो अलग नागरिक्ता का कोई प्रयोजन ही नही रहता। हम आरम्भ मे ही कह चुके ह कि भारत एक देश और एक राज्य हैं उसके तथा भीतर जिस सघ की स्थापना की गई हैं वह केवल एक प्रशासकीय योजना या ढाचा है। जहा राज्य पहले से मौजूद होते ह और बाद में सघ बनता हैं वहाँ राज्यो और सघ की नागरिक्ता स्वाभाविक तौर पर ही अलग अलग होती हैं। इकहरी नागरिक्ता का एक बडा प्रभाव यह हुआ है कि हमारे यहा राज्यो की विधानसभा के लिये मत देते समय लोग आम तौर पर यह नही समझते कि हम किसी राज्य के विधानमडल का निर्वाचन कर रहे हैं उसे वह वैसा ही मानते हैं जैसे कि मानो वे अपनी नगरपालिका या पचायत के लिये मत दे रहे हो। केवल सघ–ससद के लिये मत देते-समय ही भारत मे राष्ट्रीय महत्व की भावना का जन्म लोकमानस मे होता हैं। यह हमारी राष्ट्रीय एकता के लिये बहुत महत्वपूर्ण हैं, केवल एकता की दृष्टि से ही नही वरन लोकतन्त्र के विकास की दृष्टि से भी यह बहुत आवश्यक है कि भारत के आम लोग भारत के सघीय शासन के निर्माण में सक्रिय दिलचस्पी लें जहा राष्ट्रीय महत्व की नीतियो का निर्माण होता है और वे राज्यो की राजनीति म उलझ कर न रह जायें। इकहरी नागरिक्ता एकात्मक-दृष्टि और अपूर्ण सघ का एक बहुत उज्ज्वल प्रमाण है।

राज्यसभा की रचना—सघात्मक शासन-व्यवस्था के भीतर यह आवश्यक होता है कि सघ-ससद के भीतर एक सदन (House) ऐसा हो जिसमें राज्यो के प्रति-

निधि समान सख्या में बैठें, यह इसलिये आवश्यक होता है क्योकि यह आशा की जाती है कि वह सदन राज्यो के हितो का प्रहरी होता है अत उसमें समस्त राज्यो को बराबर प्रतिनिधित्व मिलना चाहिय जिससे वे अपने अपने हितो की समान रूप से रक्षा कर सकें। हमारे सविधान ने भी इस प्रकार का एक सदन ससद में बनाया तो है जिसे हम राज्यसभा (Council of states) कहते है परन्तु उसकी रचना मे राज्यो के बीच समानता का सिद्धान्त स्वीकार नही किया गया है। सयुक्तराज्य अमेरिका की सघीय विधायिका मे जिसे वहा काग्रेस कहते हैं इस प्रकार के सदन का नाम सिनेट है उसमें छोटे-बडे हर राज्य को दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है, वहा के ५० राज्यो के १०० प्रतिनिधि उसके सदस्य हैं। परन्तु हमारे सविधान ने राज्यसभा में भी
अलग राज्यो के बीच सदस्यो की सख्या का वितरण राज्यो के
में ही किया है। इससे यह जाहिर होता है कि हमारा सवि
का वैसा प्रतिनिधि नही बनाना चाहता था जैसा कि
को बनाया गया है। यह भी सघ की अपूर्णता का ससद को किसी विशेष प्रक्रिया का
राज्यों को सविधायी सत्ता नहीं दी गई है कि इस सम्बन्ध मे कोई भी विधे-
त्मक प्रवृत्ति यह भी पाई जाती है कि उसने स्वीकृति के नही रखा जा सकता, और
इसका अर्थ यह है कि राज्य अपने सविधान -दायत रखी है कि यदि विधेयक का लक्ष्य
धन ही कर सकते हैं। सविधान ने सघ -नाम मे कोई परिवर्तन करना है तो उस पर
चित्र भी तैयार कर दिया है। हम -ल की राय ले लेगा।
सघात्मक देश सयुक्तराज्य अमे होगा कि राष्ट्रपति की स्वीकृति का अर्थ यह नही है
के शासन का चित्र ही तैयार -मामले म कोई वास्तविक शक्ति रखता है इसका प्रयो-
को अपने सविधान के बारे कि इस मामले म विधायी अभिक्रम (Legislative-
के सविधान का अनुकरण -धेयक को ससद म रखने के बारे म मत्रिपरिषद को अन्तिम
राज्य सरकारो का -ान इतना कह कर मौन हो गया है कि राज्य विधानमडल
रहना होता है औ उसन यह नही कहा कि राज्य विधानमडल की राय यदि विधेयक
राजनी तो क्या होगा ? इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ससद को इस मामले में
बाद कोई राज हो गई है। सयुक्तराज्य अमेरिका और कनाडा म राज्यो के विधान-
प्रकार हा -कृति के बिना इस प्रकार के परिवर्तन नही किय जा सकते।
सना नही जब समय सविधान को लागू किया गया था भारत का क्षत्र क, ख ग और
इस प्र -ा म बाटा गया था परन्तु उसके बाद राज्य पुनगठन आयोग की नियुक्ति
की गई जिसके प्रतिवदन (Report) पर ससद न विचार किया और नय सिरे से
सा के भूभाग को राज्यो म विभाजित किया है। यहा हम बम्बई राज्य के निर्माण
.. विशेष उल्लेख करना चाहें।। जहा भाषावार राज्यो के निर्माण का सिद्धान्त
आम तौर पर स्वीकार कर लिया गया था बबई क बारे में वह लागू नही किया जा सका, उसका कारण यह था कि महाराष्ट्र और गुजरात दोनो प्रदेशो के लोग बबई नगर को अपने-अपने राज्य में लेना चाहते थे और इस प्रश्न पर कोई समझौता नहीं

सकता, सघ के भीतर राज्यो को सीमित प्रभुता प्राप्त होनी ही चाहिये और उसकी कसौटी यह है कि उन्हे अपने सविधान के बनाने बदलने या रद्द करने का पूरा अधिकार होना चाहिय। जैसा हमने पीछे कहा है राज्यो को अपने यहा विधान परिषद (Legislative Council) बनाने के बारे मे अपनी विधानसभा मे प्रस्ताव पास करने का अधिकार दिया गया है, यह अधिकार और किसी मामले मे नही दिया गया है परन्तु इस मामले मे भी अन्तिम निर्णय ससद के ऊपर निर्भर करता है यदि वह उसके लिये सहमति प्रदान न करे तो न राज्य विधान-परिषद बना सकते हैं न उन्हे तोड सकते हैं। यहा हम जो कुछ भी लिख रहे हे उसका उद्देश्य सविधान के दुर्गुण बताना नही है केवल यह दिग्दर्शन कराना है कि हमारा सविधान आदर्श-सघीय सविधान नही है, नागारक इस प्रकारपि यह नहीं है कि वैसा होना कोई बुरी बात है। हमारा सविहमारे देश के लोगो में विधानो से अलग प्रकार का है और यह उसका गुण भी हो लोग अलग अलग राज्यो के ५

ऐसा करना दो दृष्टियो से आवश्यभारतीय सविधान ने सघ और राज्यो में पृथक कार्यसे ही प्रादेशिक निष्ठाये बहुत प्रबला की है परन्तु हमारी न्यायपालिका इकहरी है। यह आवश्यक था कि उन सकीर्ण नि॰ स्थापना की गई है तथापि वे राज्य-शासन के वता और देशभक्ति का भाव लोगो के॰ सर्वोच्च न्यायालय के आधीन रहकर काम यह था कि हमारे सविधान ने सघ और राज्देश के लिये न्याय का एक स्रोत है। सयुकर तैयार किया है, जब अलग सविधान ही नेः न्यायालय अलग अलग होते हैं तथा भी राज्यो को नही है तो अलग नागरिकता का को काम सविधान की व्याख्या प्रारम्भ मे ही कह चुके है कि भारत एक देश और एक र है, जबकि राज्यो के न्यायासघ की स्थापना की गई है वह केवल एक प्रशासकीय ययायालय सघ और राज्यो राज्य पहले से मौजूद होते हैं और बाद में सघ बनता है विक है, और हमारे सविनागरिकता स्वाभाविक तौर पर ही अलग-अलग होती है। लु सघीय सरकार का एक बडा प्रभाव यह हुआ है कि हमारे यहा राज्यो की विधानसभ बहुत स्वाभाविक समय लोग आम तौर पर यह नही समझते कि हम किसी राज्य के के प्रशासन का निर्वाचन कर रहे हैं, उसे वह वैसा ही मानते हैं जैसे कि मानो वे अपने क्योंकि वह या पचायत के लिये मत दे रहे हो। केवल सघ-ससद के लिये मत घ ससद और भारत मे राष्ट्रीय महत्व की भावना का जन्म लोकमानस मे होता है। । न्यायराष्ट्रीय एकता के लिये बहुत महत्वपूर्ण हैं, केवल एकता की दृष्टि से ही॰ अपूर्णता लोकतन्त्र के विकास की दृष्टि से भी यह बहुत आवश्यक है कि भारत के आम । भारत के सघीय शासन के निर्माण मे सक्रिय दिलचस्पी लें जहा राष्ट्रीय महत्व एक नीतियो का निर्माण होता है और वे राज्यो की राजनीति में उलझ कर न रह जायें) इकहरी नागरिकता एकात्मक-दृष्टि और अपूर्ण सघ का एक बहुत उज्ज्वल प्रमाण है।

राज्यसभा की रचना—सघात्मक शासन-व्यवस्था के भीतर यह आवश्यक होता है कि सघ-ससद के भीतर एक सदन (House) ऐसा हो जिसमे राज्यो के प्रति-

कांग्रेस की भांति भारत में नये राज्यों को प्रवेश दे सकेगी। उसके लिये वह स्वयं शर्तें इत्यादि तय कर लेगी।

इस अनुच्छेद के ठीक अगले अनुच्छेद संख्या ३ में संविधान एक ऐसी बात कहता है जिससे यह ज्ञात होता है कि संविधान संघवाद के सिद्धान्त को आरम्भ में ही समाप्त कर रहा है। उसमें कहा गया है कि भारतीय संसद साधारण विधि (Law) के द्वारा—(अ) किसी राज्य के क्षेत्र में से कुछ भाग काटकर दो या उनसे अधिक राज्यों या उनके अंशों को जोड़कर अथवा किसी राज्य में कोई क्षेत्र मिलाकर नये राज्य का निर्माण कर सकती है।

(ब) किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा सकती है।

(स) किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकती है।

(द) किसी राज्य की सीमायें बदल सकती है।

(ई) किसी राज्य का नाम बदल सकती है।

इस प्रकार की कार्यवाही करने के लिये संसद को किसी विशेष प्रक्रिया का सहारा नहीं लेना पड़ता केवल इतना प्रतिबन्ध है कि इस सम्बन्ध में कोई भी विधेयक संसद के भीतर बिना राष्ट्रपति की पूर्व-स्वीकृति के नहीं रखा जा सकता और राष्ट्रपति के लिए संविधान ने केवल यह हिदायत रखी है कि यदि विधेयक का लक्ष्य किसी राज्य की सीमा उसके क्षेत्र या नाम में कोई परिवर्तन करना है तो उस पर राष्ट्रपति संबंधित राज्य के विधानमंडल की राय ले लेगा।

यहां यह कहना उचित होगा कि राष्ट्रपति की स्वीकृति का अर्थ यह नहीं है कि वास्तव में राष्ट्रपति इस मामले में कोई वास्तविक शक्ति रखता है इसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि इस मामले में विधायी अभिक्रम (Legislative-Initiative) अर्थात् विधेयक को संसद में रखने के बारे में मंत्रिपरिषद को अंतिम सत्ता प्राप्त हो। संविधान इतना कह कर मौन हो गया है कि राज्य विधानमंडल की राय ली जाय उसने यह नहीं कहा कि राज्य विधानमंडल की राय यदि विधेयक के प्रतिकूल हो तो क्या होगा? इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि संसद को इस मामले में सर्वसत्ता प्राप्त हो गई है। संयुक्तराज्य अमेरिका और कनाडा में राज्यों के विधान-मंडलों की स्वीकृति के बिना इस प्रकार के परिवर्तन नहीं किए जा सकते।

जिस समय संविधान को लागू किया गया था भारत का क्षेत्र क ख ग और घ श्रेणियों में बांटा गया था परन्तु उसके बाद राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति की गई जिसके प्रतिवेदन (Report) पर संसद ने विचार किया और नये सिरे से देश के भू-भाग को राज्यों में विभाजित किया है। यहां हम बम्बई राज्य के निर्माण के विषय उल्लेख करना चाहेंगे। जहां भाषावार राज्यों के निर्माण का सिद्धान्त आम तौर पर स्वीकार कर लिया गया था बम्बई के बारे में वह लागू नहीं किया जा सका, उसका कारण यह था कि महाराष्ट्र और गुजरात दोनों प्रदेशों के लोग बम्बई नगर को अपने-अपने राज्य में रखना चाहते थे और इस प्रश्न पर कोई समझौता नहीं

हो सका। परिणाम यह हुआ कि ससद ने बबई को द्विभाषी राज्य बनाने का निर्णय कर लिया। उसके इस निर्णय का दोनो प्रदेशो की जनता ने घोर विरोध किया, प्रदर्शन हुए उनको दबाने के लिय सरकार ने पूरी दमन-शक्ति का आश्रय लिया और भयकर मारकाट हुई परन्तु ससद का निर्णय लागू रहा उसमे कोई परिवर्तन नही किया गया। इससे यह सिद्ध होता है कि ससद अपनी इच्छा से प्रदेशो की जनता की इच्छा के विरुद्ध उनकी सीमाओ को अधिनायकवादी ढग से बदल सकती है। ऐसी स्थिति मे जहा राज्यो के क्षेत्र की स्थिरता और बुनियादी पवित्रता नही है वहा सघवाद का नाम लेना केवल एक भ्रम माना जायगा। यह कहा जा सकता है कि बबई के प्रश्न को लेकर जो प्रदर्शन हुए उन्हें जनता की इच्छा अथवा लोकमत का प्रदर्शन कैसे माना जा सकता है, वे तो कुछ राजनीतिक दलो के प्रदर्शन मात्र थे, इस बारे में हम चाहें तो इतना कहकर काम चला सकते हैं कि जिस प्रकार केरल के प्रदर्शनो को जनता का विद्रोह माना जा सका उसी प्रकार इन प्रदर्शनो को भी वह सज्ञा दी जा सकती थी। इस तर्क को छोड भी दें तो कहा जा सकता है कि आज उस व्यवस्था को पूरी तरह जम जाने के बाद फिर से क्यो उखाडा जा रहा है? कांग्रेस इस सिद्धान्त पर सहमत हो गई है तथा फिर से दोनो प्रदेशो को अलग करके गुजरात और महाराष्ट्र को स्थापित किया जा रहा है। यह इस बात की सूचक है कि वे प्रदर्शन जनता की आवाज के सही प्रतिनिधि थे, और आज जब शासक-दल लोगो के मत से घबडा गया है और उसे भय हो गया है कि वह अगले निर्वाचनो मे बहुमत प्राप्त नहीं कर सकेगा तो वह ससद के निर्णय को बदलवाने के लिय तत्पर हो गया है। इस प्रकार एक दूसरी अस्वस्थ परम्परा का निर्माण हो रहा है। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि जहा तक भाषावार राज्य बनाने की बात थी वह भारत के लोकमानस मे बहुत दिनो से बैठी हुई थी, उसके हो जाने के बाद और भाषावार राज्यो की रचना हो जाने के बाद यदि सघ अपनी इस शक्ति का प्रयोग करता रहेगा तो उसके परिणाम खराब भी हो सकते हैं। अलॅन ग्लैडहिल नामक प्रसिद्ध सविधानशास्त्री ने अपनी पुस्तक द रिपब्लिक ऑव इन्डिया म (पृ० ७२ पर) लिखा है कि, 'भाषा और आर्थिक कारणो से भारतीय भू क्षेत्र का पुनर्सङ्गठन लाभदायक हो सकता है परन्तु राजनीतिक कारणो से यदि इस प्रकार का पुनर्गङ्गठन किया जाता हो तो यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि क्या सविधान ने राज्यो के अधिकारो की पर्याप्त रक्षा की है?"

अखिल-भारतीय लोकसेवायें—अग्रेजी शासनकाल मे भारत मे एक परम्परा यह थी कि सारे देश म अखिल भारतीय लोकसेवायें थी, आम तौर पर भारत के लोग आई०सी०एस० शब्द से परिचित हैं, इसका अर्थ होता था इडियन सिविल सर्विस देश भर म महत्वपूर्ण पदो पर इसके सदस्य ही होते थे। इस परम्परा को भारत की स्वतत्र सरकार और हमारे नय सविधान ने भी अपनाया है। सविधान के अनुच्छेद ३१२ की धारा १ म कहा गया है कि यदि राज्यसभा (Council of States) अपने उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से यह

निर्णय कर दे कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अखिल भारतीय लोकसेवाओं का निर्माण किया जाना चाहिए तो संसद उसके बारे में व्यवस्था करेगी। इसी अनुच्छेद की धारा २ में कहा गया है कि संविधान लागू होने के समय जो भारतीय प्रशासकीय सेवा (Indian Administrative Service) और भारतीय पुलिस सेवा (Indian Police Service) हैं वे संविधान के इस अनुच्छेद के अन्तर्गत निर्माण की गई मानी जायेंगी।

इस प्रकार संविधान ने राज्यों के ऊपर अपनी प्रशासकीय और पुलिस सेवायें लाद दी हैं। राज्यों के शासन में सब महत्वपूर्ण प्रशासकीय और पुलिस पदों पर अखिल भारतीय सेवाओं के लोग काम करते हैं। संविधान लागू होने के बाद अनेक अखिल भारतीय सेवायें बना दी गई हैं, जैसे भारतीय वन सेवा, भारतीय लेखा सेवा (Indian Accounts Service) आदि और इनके लोग राज्यों का प्रशासन चलाते हैं। राज्य भी अपनी सेवायें बनाते हैं परन्तु उनके सदस्य भारतीय सेवाओं के सदस्यों की अपेक्षा नीचे माने जाते हैं। यहां यह बात समझ लेनी होगी कि भारतीय सेवाओं के सदस्य भारत सरकार के गृह-मन्त्रालय (Home Ministry) के नियंत्रण में होते हैं, उन्हें राज्य सरकारें केवल स्थानान्तरित कर सकती हैं, हटा नहीं सकतीं। इस प्रकार संघ ने प्रशासकीय क्षेत्र में अपने आदमी रखे हैं जिनके द्वारा उसकी शक्ति और भी अधिक सुदृढ़ हो जाती है।

राज्यपाल—संविधान ने कहा है कि राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी राज्यपाल होगा। परन्तु राज्यपाल की नियुक्ति इस प्रकार की जाती है कि वह राज्य में संघ का एजेन्ट जैसा हो जाता है। राष्ट्रपति राज्यपाल को नियुक्त करता है, इसका अर्थ है कि राज्यपाल के नाम की सिफारिश प्रधानमंत्री करता है। इस प्रकार राज्यपाल संघ सरकार का निजी व्यक्ति माना जा सकता है। संघ योजना के भीतर यह सम्भव नहीं है कि राज्य का अध्यक्ष राज्य के बाहर संघ द्वारा नियुक्त किया जाय। परन्तु हमारे संविधान ने वैसा किया है और फिर भी हमारा संविधान संघात्मक माना जाता है।

विशेषकर आपातकाल में यह सिद्ध होता है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के तौर पर काम करता है। जब राज्य के भीतर सांविधानिक शासन न चल पाने के कारण राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा करके राज्य का शासन स्वयं सम्भालता है तब वह राज्यपाल से प्राप्त होने वाली सूचना के आधार पर ही वैसा करता है और राष्ट्रपति शासन लागू होने पर राज्यपाल ही राष्ट्रपति की ओर से राज्य का शासन चलाता है। यों तो ऐसा माना गया है कि राज्यपाल हमेशा अपने मुख्यमंत्री की सलाह पर काम करता है परन्तु हाल ही में जब केरल के भीतर राष्ट्रपति शासन की घोषणा की गई उसके बारे में यह नहीं माना जा सकता कि साम्यवादी मन्त्रिमंडल ने राज्यपाल को वैसी सलाह दी होगी क्योंकि मन्त्रिमंडल को विधानसभा का बहुमत प्राप्त था, और वह इस कदम के विरुद्ध भी था। तब इसका अर्थ यह है कि राज्यपाल

सघ-सरकार के इशारे पर राष्ट्रपति को कुछ ऐसी सलाह भी दे सकता है जो उसके मन्त्रिमडल की सलाह के विरुद्ध हो। इससे यह सिद्ध हो गया है कि राज्यपाल राज्य के भीतर सघ सरकार का वैसा ही प्रतिनिधि या प्रशासक है जैसा कि १६३५ के अधिनियम के लागू हो जाने पर गवर्नर जनरल भारत म ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि होता था, जिसका सहारा ब्रिटिश सरकार सकट के समय ले सकती थी। इसी प्रकार *राज्यपाल को सघ-सरकार उपयोग में ला सकती है। एकात्मक प्रवृत्ति का* इससे प्रबल उदाहरण दूसरा और क्या होगा ?

संघ सरकार की आर्थिक शक्ति—भारतीय सघ को अपूर्ण बनाने मे एक महत्वपूर्ण तत्व यह भी है कि हमारे यहा सघ सरकार को राज्यो की अपेक्षा बहुत अधिक आर्थिक शक्तिया प्राप्त हैं। वह राज्या के बीच अपनी ओर से सहायता और अनुदान वितरित करती है। यह व्यवस्था सघवाद के बिल्कुल विपरीत है। होना यह चाहिय कि जो राज्य सघ का निर्माण करते हैं वे मिलकर सघ को उसके खर्च के लिय अपनी आमदनी का एक अ श या आमदनी के कोई विशिष्ट साधन दे दें। हमारे राज्य उलटे ही सघ से आर्थिक सहायता प्राप्त करते हैं, ऐसी स्थिति मे वास्तविक *सघ का स्वप्न देखना व्यर्थ है।*

अन्य त व जो एकात्मक शासन के प्रतीक हैं—उपरोक्त के अतिरिक्त हमारे सविधान के भीतर कुछ और तत्व भी हैं जो एकात्मकता की दिशा मे ले जाने वाले हैं। इनमे सबसे पहले हम निर्वाचन आयोग और नियन्त्रक महालेखा निरीक्षक (Auditor & Comptroller Ge eral) का उल्लेख करना चाहेगे। इन पदो के कार्य इस प्रकार चलते हैं मानो भारत एक एकात्मक देश हो। निर्वाचन आयोग सघ शासन के मार्गदर्शन मे सारे देश मे ससद और राज्य विधानमडलो के लिय होने वाले निर्वाचनो का निर्देशन, नियंत्रण और सचालन करता है। इसी प्रकार सघ और राज्य सरकारों के हिसाब किताब की जाच करने और यह देखने का काम कि सरकारो ने जनता के धन को *किस प्रकार व्यय किया है नियंत्रक-महालेखा-निरीक्षक होता है। यह भी एक* अखिल भारतीय अधिकारी है।

कई बार ऐसा लगता है कि सविधान द्वारा राष्ट्रभाषा के बारे में जो कहा गया है और हिन्दी को जो राष्ट्रभाषा का पद दिया गया है उससे ऐसा लगता है मानो सविधान देश की एकता के बारे मे बहुत सतर्क है। फिर भी हम यह मानना ही होगा कि सघवाद चाहे कितने भी आदर्श रूप मे भारत म प्रतिष्ठित किया जाता हमे अपने लिय किसी राष्ट्रभाषा की तो तलाश करनी ही पडती, और वह *अन्त मे हिन्दी के* सिवाय दूसरी भाषा नही हो सकती थी। राष्ट्रभाषा एकात्मकता की प्रतीक हो या न हो एकता की प्रतीक तो है ही। एकता की ही खोज म हमारे सविधान ने राष्ट्रभाषा की भी खोज की है और उसे मान्यता प्रदान की है।

४ संसदात्मक-शासन की स्थापना

हमारा सविधान देश के भीतर एक संसदात्मक शासन की स्थापना करता है।

यों तो सविधान ने राष्ट्रपति का पद निर्माण किया है तथा सघ की सर्वोच्च-कार्यपालिका शक्ति उसे दी है, परन्तु सविधान के अनुच्छेद ७४ मे कहा गया है कि राष्ट्रपति को उसके कामो मे मदद देने के लिय एक मन्त्रिपरिषद होगी। अगले अनुच्छेद मे कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा वह उनके प्रसाद-काल में अपने पद पर बनी रहेगी परन्तु उसी के साथ यह भी कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद के सदस्य अनिवार्य रूप से ससद के सदस्य होंगे तथा वे सयुक्त रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगे।

इस प्रकार यह निश्चित हो गया है कि सविधान ने देशके भीतर एक ससदात्मक शासन की नीव डाली है। मन्त्रिपरिषद मे जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं और वे ससद के एक सदन लोकसभा के सामने अपने कामो के लिय उत्तरदायी होते है। इसका अर्थ यह है कि यदि लोकसभा का बहुमत किसी मन्त्रिपरिषद की नीतियो और उसके कामो से सन्तुष्ट नही है तो वह उसके विरुद्ध अविश्वास प्रकट करके उसे हटा सकता है। इसका यह मतलब होगा कि यद्यपि सविधान ने राष्ट्रपति को यह शक्ति दी है कि वह मंत्रिपरिषद को नियुक्त और पदच्युत करेगा परन्तु वास्तव मे यह काम ससद करेगी क्योकि वही व्यक्ति प्रधानमन्त्री बनना पसद करेगा जिसे यह विश्वास हो कि वह लोकसभा के भीतर बहुमत का समर्थन प्राप्त कर सकेगा।

हमने इस मामले मे ब्रिटेन की परम्परा का अनुकरण करना पसन्द किया है। तथापि हमारी ससद उस प्रकार सर्व सत्ता सपन्न नही हो सकती है जैसी कि ब्रिटिश ससद है, इसका कारण यह है कि हमारे सविधान मे सघात्मक व्यवस्था के कारण ससद को केवल वे शक्तिया ही प्राप्त है जो सघ को मिल सकती है दूसरी बात यह कि उसे ब्रिटिश ससद की भाति सपूर्ण सविधायी सत्ता प्राप्त नही है। सविधायी सत्ता का अर्थ यहा यह है कि ससद साधारण विधि निर्माण की भाति सविधान के किसी भी अश को कभी भी सशोधित या रद्द कर सके। भारत म ससद को यह शक्ति नही है। इस प्रसग म तीसरी बात यह है कि हमारी ससद की बनाई हुई विधिया सर्वोच्च-न्यायालय द्वारा असाविधानिक घोषित किये जाने पर रद्द की जा सकती है, इस प्रकार हमारे देश मे सर्वोच्च न्यायालय को साविधानिक-समीक्षा (Judicial Review) की शक्ति प्राप्त है जो ससद की शक्ति पर बन्धनकारी मानी जा सकती है।

ससदात्मक-शासन का अर्थ मन्त्रिमडलात्मक शासन और मन्त्रिमडल का उत्तरदायित्व होता है, इसके बारे मे पीछे कहा जा चुका है, यहा इतना कहना पर्याप्त होगा कि भारत म मन्त्रिमडलात्मक शासन का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि यहां की राष्ट्रीय राजनीति म कितने राजनीतिक दल शक्तिशाली बनते है। यदि यहां दो राजनीतिक दल प्रमुखत सामने आते है तो उस पद्धति का सफल होना निश्चित ही है परन्तु यदि फ्रास की भाति बहुदलीय राजनीति विकसित होती है जैसा कि अभी दिखाई दे रहा है तो हो सकता है कि देश को एक स्थिर शासन प्राप्त न हो सके। इस बारे में प्रसिद्ध विद्वान प्रो० के० सी० व्हेयर ने लिखा है कि, "भारत को

एक सुदृढ और स्थायी कार्यपालिका का आवश्यकता है, परन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि ससदीय-कार्यपालिका सुदृढ ही होगी। फ्रास मे उसका उदाहरण प्राप्त होता है।" इस बारे मे उन्होंने यह भी कहा है कि, "यह भविष्यवाणी करना असभव है कि यह पद्धति कैसी काम करेगी। भविष्य में दलीय-पद्धति क्या होती है, ऐसे तत्वो और व्यापक-मताधिकार के प्रत्यक्ष अनुभव पर बहुत कुछ निर्भर करेगा।"

७ लोक कल्याणकारी-राज्य की स्थापना

सविधान के चौथे खड म राज्य नीति के निर्देशक तत्वो का उल्लेख किया गया है। यद्यपि यह कहा गया है कि य सिद्धान्त न्यायालयो द्वारा लागू नही किये जा सकेंगे तथापि यह माना गया है कि राज्य की नीतियो के निर्माण म ये मार्गदर्शन करें। हमारे सविधान ने इन्हे आयरलैड के संविधान से लिया है। स्पेन गणराज्य के सविधान मे भी इसी प्रकार के सिद्धान्तो को सम्मिलित किया गया है।

नीति निर्देशक तत्वो म कहा गया है कि राज्य का लक्ष्य लोक कल्याण के काम करना है। उनमें एक-एक करके यह बताया गया है कि राज्य किस प्रकार के काम लोक-कल्याण की दृष्टि से करेगा। सविधान ने इस प्रकार किसी विशेष राजनीतिक वाद का समर्थन किये बिना ही यह निश्चय करन की चेष्टा की है कि राज्य का काम भारत म केवल पुलिस-राज्य की स्थापना नही है, वरन् उससे बहुत आगे जाकर वह एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करेगा जो समाज के आम आदमी के लिये कल्याणकारी होगी। अनुच्छेद ३८ स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि राज्य जनता के कल्याण की चेष्टा करेगा। वह यह भी बताता है कि कल्याण की यह चेष्टा किस प्रकार की जायेगी। राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करेगा, और उसकी रक्षा करेगा जिसम राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थायें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की वृति से प्रेरित होकर काम करेंगी।

जहा सविधान ने यह कहा है कि राज्य सबके लिये काम के समान अवसर जुटायेगा, उत्पादन के साधनो को समाज के सामान्य हित की प्राप्ति की दृष्टि से नियन्त्रित करेगा समाज के भीतर सपति के इस प्रकार के विषम संचय को रोकेगा जिसमे आम लोगो को हानि होती हो, बराबर काम के लिय बराबर वेतन की व्यवस्था करेगा, काम करने वालो के स्वास्थ्य और शक्ति की देखभाल व रक्षा करेगा, तथा बालको व युवक युवतियो को शोषण से बचायेगा, वहा उसने यह भी कहा है कि गाव गाव म ग्राम पंचायत की स्थापना की जायगी, जिससे कि भारत के देहातो में रहने वाले ८५ प्रतिशत लोगो को स्वराज्य का अवसर प्राप्त हो सके और वे स्वय अपने जीवन की बुनियादी बातो मे अपना नियत्रण स्थापित कर सकें।

सविधान के इस भाग ने काम की मानवीय दशाओ के निर्माण, निम्नतम वेतन व मजदूरी दर, उच्चतर जीवन-स्तर, सहकारिता, ग्रामोद्योग व दस वर्ष के भीतर राज्य

के समस्त बालकों को चौदह वर्ष की आयु तक नि शुल्क व अनिवार्य शिक्षा दिये जाने की व्यवस्था की जायगी।

यहा यह बात उल्लेखनीय है कि सविधान के अनुच्छेद ४६ ने राज्य को यह दायित्व सौपा है कि वह विशेष चिन्ता के साथ जनता के निर्बल वर्गों के शैक्षणिक एव आर्थिक हितो को बढ़ाने के लिय काम करेगा और उन्हे सामाजिक अन्याय तथा हर प्रकार के शोषण से बचायगा। निर्बल जातियो मे अनुसूचित जातियो व वर्गों को विशेष रूप से गिनाया गया है। सविधान के इस अनुच्छेद पर महात्मा गाधी के विचार की छाप है। गाधी जी का कहना था कि हम *कल्याण का काम जनता के उस वर्ग से* करना चाहिये जो सबसे अधिक पतित, पीडित और शोषित है, उन्होने दरिद्र को नारायण की उपाधि दी और वे स्वयं लगोटी बाधकर उस दरिद्रनारायण के पुजारी व पुरोहित बने। लोकतत्र को रक्षा एव उसके विकास के लिय यह अत्यत आवश्यक है कि उससे भीतर देश के पिछडे हुए तथा सबसे अधिक दुखी लोगो के दुख को सबसे पहले दूर किया जाय तथा यह काम स्वय समाज और राज्य के जिम्मे हो। हमारे सविधान ने इस आवश्यकता को बहुत सुन्दरता से पूरा किया है।

८. धर्मनिरपेक्षता

भारत एक लम्बे समय से धर्म के नाम पर होने वाले साम्प्रदायिक-द्वेष का शिकार रहा है, उसी द्वेष के कारण उसका विभाजन भी हुआ और उसी द्वेष के कारण हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाधी की हत्या की गई। हमारे संविधान ने उसको मिटाने के लिय हर सभव चेष्टा की है। सविधान ने खड ३ में मौलिक अधिकारो के प्रसग मे स्पष्ट रूप से यह घोषणा की है कि राज्य की दृष्टि मे सब धर्म बराबर होगे, राज्य का कोई धर्म नही होगा तथा राज्य द्वारा सचालित शिक्षा सस्थाओ मे किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नही दी जायेगी।

अनुच्छेद २५ मे कहा गया है कि भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार अपने धर्म का पालन लोक-स्वास्थ्य और सार्वजनिक शान्ति को ध्यान मे रखकर कर सकेगा। प्रत्येक धर्म के लोग अपने धर्म की शिक्षा का प्रबंध कर सकेंगे। एक ओर तो राज्य द्वारा सचालित शिक्षा सस्थायें किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नही देंगी, दूसरी ओर जिन प्राइवेट संस्थाओं मे धार्मिक शिक्षा दी जाती है वहा ऐसी शिक्षा लेना किसी विद्यार्थी के लिये अनिवार्य नही होगा। साथ ही राज्य की सहायता प्राप्त किसी संस्था मे किसी भी धर्म के व्यक्ति को प्रवेश देने से मनाही नही की जा सकती।

अनुच्छेद ने स्पष्ट रूप मे कहा है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसा कोई कर देने के लिये विवश नही किया जा सकता जिसकी आमदनी किसी धर्म विशेष के काम में व्यय की जाती हो। राज्य शिक्षा संस्थाओ को सहायता देते समय विविध धर्मों द्वारा संचालित सस्थाओ के बीच भेदभाव की नीति नही अपना सकेगा।

इतना ही नही हमारे सविधान ने धर्म के नाम पर विधानमंडलो मे और

ससद में स्थानो को सुरक्षित करने की पुरानी पद्धति को भी समाप्त कर दिया है तथा साम्प्रदायिक निर्वाचनो का कलंक भी देश के मस्तक से मिटा दिया है। इस प्रकार आज हमारा देश हमारे नये संविधान के अन्तर्गत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य बन गया है, और उसके भीतर एक नये मानव-धर्म की प्रतिष्ठा हुई है जो भेदभाव में नही प्रेम मे पलता है।

६. विश्वशान्ति का पोषक

जब कभी कोई नया देश स्वतन्त्रता प्राप्त करके संसार के स्वतन्त्र देशो के विशाल परिवार मे सम्मिलित होता है तो ससार के दूसरे देश बडी उत्सुकता से यह देखते है कि उस देश की सरकार अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वो को निबाहने के लिये तैयार है या नही तथा उसके पीछे उसकी जनता का समर्थन है या नही। आज ससार के भीतर किसी भी देश के लिए चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यो न हो यह सभव नही रह गया है कि वह अकेला रह सके, उसे निश्चित रूप से दूसरे देशो का सहयोग प्राप्त करना होता है तथा उनको अपना सहयोग देना होता है, अत कोई भी अच्छा सविधान देश की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के बारे मे सर्वथा मौन धारण नहीं कर सकता।

हमारा संविधान इस कसौटी पर खरा उतरा है। अनुच्छेद ५१ में सविधान ने देश के अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो और उस बारे मे नीति का उल्लेख किया है। उसमे कहा गया है कि—

राज्य यह चेष्टा करेगा कि—

१ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा मे वृद्धि हो,

२ राष्ट्रो के बीच न्यायसगत और प्रतिष्ठापूर्ण सम्बन्ध पैदा हो,

३ सगठित जनता (राज्यो) के परस्पर व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सधि के परिणाम स्वरूप आने वाले दायित्वो के प्रति सम्मान की भावना उदय हो,

४ अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को पंच-फैसलो के द्वारा सुलझाया जाय।

जो लोग भारत की वर्तमान विदेश नीति की आलोचना करते है उन्हें संविधान के इन शब्दो को ध्यान म रखना चाहिये। हमारा सविधान संसार के भीतर शाति और सुव्यवस्था का प्रबल हिमायती है। वह ससार के सभ्य राष्ट्रो के बीच युद्ध की सम्भावना को चर्चा और बातचीत के द्वारा समाप्त कर देना चाहता है। उसकी इच्छा है कि भारत और ससार के सब देश अन्तर्राष्ट्रीय विधियो तथा सधियो का पालन करे तथा इस प्रकार का कोई काम न करें जिससे दूसरे देशो की स्वतंत्रता को कोई आच आती हो या ससार मे अशान्ति पैदा होने की कोई सभावना होती हो।

विद्वान सी० एम० एलेक्जेन्डरोविच ने अपनी पुस्तक, "द इंडियन कान्स्टीट्यूशन" मे इस विषय पर लिखा है कि, "भारत ने समस्त अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो में तथा दूसरे राष्ट्रो के साथ अपने संबंधो में समझौते व मध्यस्थता की नीति अपनाई

हैं; अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विद्यार्थी को इन कामों की सफलता को उपरोक्त व्यवस्था (संविधान अनुच्छेद ५१) के प्रकाश में मानना होगा। . . अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भारत ने अपनी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण किया है, जो अनिवार्यतः कामनवेल्थ के दूसरे सदस्य राष्ट्रों की नीति के अनुकूल नहीं रही है। परन्तु उसके लोकतान्त्रिक व्यवहार से यह बात स्पष्ट है कि वह ऐसे राष्ट्रों के वर्तुल में सम्मिलित है जो कि पशु-शक्ति के स्थान पर विधि-शासन की स्थापना चाहते हैं।'

भारत का राजनीतिक मानचित्र

१९४७ के १५ अगस्त को हमारा प्यारा भारत देश विभाजित हो गया, उसके पूर्व और पश्चिम दोनों सिरों पर पाकिस्तान नाम से एक नये राज्य का निर्माण हो गया। इस नये राज्य के निर्माण की दुखान्तक गाथा इस पुस्तक के पिछले पन्नों में दी जा चुकी है। विभाजन के बाद भी भारत अपने विशाल स्वरूप में अपना भाल उन्नत किये खड़ा रहा। उत्तर में हिमालय के उत्तुंग हिम-शिखरों से लेकर दक्षिण में कन्या कुमारी तक तथा पूर्व में सुदूर मणिपुर व उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश से लेकर पश्चिम में अरब सागर तक यह महादेश ८ अक्षांश से ३७ अक्षांश भूमध्य रेखा से उत्तर में तथा ६८ से ९८ देशान्तर पूर्व में फैला हुआ है। इसकी लम्बाई लगभग २००० मील और चौड़ाई लगभग १७०० मील है। इसका क्षेत्रफल लगभग १२,५९,७९७ वर्ग मील है। इसकी स्थल सीमा ९३०९ मील व सागर तट सीमा लगभग ३,५३५ मील है। उसके अतिरिक्त बंगाल की खाड़ी में अण्डमान निकोबार तथा अरब सागर में लकदिव, मिनिकॉय तथा अमिनिदिव द्वीप समूह भी भारत के अभिन्न अंग हैं।

संविधान लागू होने के समय २६ जनवरी १९५० के स्वर्णिम प्रभात में भारत क, ख, ग, और घ श्रेणियों के राज्यों में बंटा हुआ था। क श्रेणी में वे राज्य थे जो ब्रिटिश शासन में प्रान्तों के नाम से पुकारे जाते थे, इनकी संख्या १० थी-आंध्र, असम, बिहार, बंगाल, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब और उत्तरप्रदेश।

ख श्रेणी में देशी राज्यों के संघ थे, इनकी संख्या ८ थी—हैदराबाद, जम्मू व काश्मीर मध्य-भारत, मैसूर, पैप्सू, राजस्थान, सौराष्ट्र, ट्रावनकोर-कोचीन।

ग श्रेणी में अजमेर, भोपाल, बिलासपुर, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मणिपुर, त्रिपुरा और विन्ध्य प्रदेश के राज्य थे।

घ श्रेणी में अंडमान, निकोबार, लकदिव, मिनिकॉय, व अमिनिदिव द्वीप समूह सम्मिलित थे।

संविधान लागू होने के उपरान्त फ्रांस ने भारत को पाँडेचरी का प्रदेश लौटा दिया। इस समय भारत का गोवा प्रदेश पुर्तगाल के आधीन है काश्मीर प्रदेश का एक भाग पाकिस्तान के और हिमालय का व लद्दाख का कुछ प्रदेश चीन के। निश्चय ही भारत का आत्म सम्मान इसे बहुत अधिक समय तक स्वीकार नहीं कर सकेगा और ये प्रदेश भारत के अभिन्न अंग के रूप में सम्मान के साथ भारत में सम्मि-

लित हो जायेंगे । इनको स्वतन्त्र कराने का काम हमारे सामने है ही, इनकी स्वतन्त्रता के बिना हमारी स्वतन्त्रता अपूर्ण मानी जायगी ।

नये राजनीतिक चित्र का निर्माण—स्वाधीनता संग्राम के समय से ही देश के भीतर यह माग प्रबल हो रही थी कि देश का राजनीतिक-मानचित्र नये सिरे से निर्माण किया जाय तथा भाषा के आधार पर राज्यो को फिर से सगठित किया जाये। स्वतन्त्रता के बाद यह प्रश्न फिर उठा, जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं आंध्र राज्य के निर्माण के लिय बहुत व्यापक आन्दोलन किया गया था और उसके परिणाम स्वरूप सघ-ससद ने १९५३ म आंध्र राज्य अधिनियम के नाम से एक अधिनियम के द्वारा आन्ध्र राज्य का निर्माण किया था । उसके बाद से भाषा के आधार पर नये सिरे से राज्यों के पुनर्गठन की माग बहुत प्रबल हो गई । इसके परिणाम स्वरूप सरकार ने राज्य पुनर्गठन आयोग (States Reorganisation Commission) के नाम से एक आयोग की नियुक्ति की और उसे यह काम सौंपा कि वह भारत को नये सिरे से भाषावार राज्यो म बाटे । आयोग की सिफारिशो के आधार पर ससद ने १९ अक्तूबर १९५६ को एक अधिनियम द्वारा सविधान में सशोधन करके नये राज्यो का गठन कर दिया । यहा एक बात बहुत स्मरणीय है कि ससद ने गुजरात और महाराष्ट्र की जनता के मत के विरुद्ध बम्बई का द्विभाषी राज्य बनाया जिसमे गुजरात और महाराष्ट्र दोनो को शामिल कर दिया गया । झगडा बम्बई नगर के ऊपर था, दोनो उस नगर को चाहते थे, अन्त म ससद ने यह निर्णय कर दिया कि बम्बई का ऐसा राज्य बने जिनमें दो भाषायें बोली जाती हो । परन्तु यह योजना सफल सिद्ध नही हो सकी है, तथा यद्यपि जिन तारीखो में यह पुस्तक लिखी जा रही है उनमें बम्बई को दो राज्यो म बाटा नही गया है परन्तु काग्रेस के नेताओं ने उस योजना को स्वीकार कर लिया है और १ मई १९६० को महाराष्ट्र, विदर्भ और बम्बई नगर को मिलाकर महाराष्ट्र के नाम से एक राज्य तथा गुजरात,सौराष्ट्र और कच्छ को मिलाकर गुजरात के नाम से एक नया राज्य बनाया जायगा । इस प्रकार वर्तमान चौदह राज्यो की सख्या बढ़कर पन्द्रह हो जायगी ।

अक्तूबर १९५६ का राज्यपुनर्गठन सबधी सशोधन १ नवम्बर १९५६ को लागू कर दिया गया, उसके अनुसार भारत को राजनीतिक दृष्टि से दो भागो मे वर्गीकृत किया गया है—१ राज्य और २ सघीय प्रदेश ।

राज्यो म निम्न चौदह राज्य है—आंध्र प्रदेश, आसाम, बिहार, बम्बई, केरल, मध्यप्रदेश, मद्रास, मैसूर, उडीसा, पजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी बगाल तथा जम्मू व काश्मीर ।

सघीय प्रदेश म निम्न छह क्षेत्र है—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश (बिलासपुर सहित), मणिपुर, त्रिपुरा, अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह, तथा लकदिव, मिनिकॉय और अमिनिदिव ।

यह भारत का नया राजनीतिक चित्र है । इसके बारे मे जैसा कि पीछे उल्लेख

किया जा चुका है, यह स्मरणीय है कि इस चित्र को बदलने की पूरी शक्ति हमारे संविधान ने मय ससद को प्रदान कर दी है। ससद जब चाहे तब किसी भी राज्य की सीमायें बदल सकती है अथवा राज्य का नाम बदल सकती है। इस मामले म हमारा संविधान पूरी तरह अनम्य (Flexible) है।

संविधान के सशोधन की प्रक्रिया

भारत का सविधान प्रकृति से दुष्परिवर्तनीय है, यह बात हम सविधान के मौलिक लक्षणो के वर्णन में लिख चुके हैं परन्तु हमने वहा यह स्पष्ट कर दिया है कि सविधान की यह दुष्परिवर्तनीयता केवल शास्त्रीय दृष्टि से ही है, वास्तव म सविधान के सशोधन की प्रक्रिया बहुत सुगम और सरल है। यहा हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि हमारे सविधान को किस प्रकार सशोधित किया जा सकता है।

यहा हमे एक बात बहुत सावधानी से समझ लेनी होगी कि ससार के किसी भी देश का सविधान ऐसा नहीं हो सकता कि उसम कोई सशोधन किया ही न जा सके। यह एक विचित्र बात है कि ब्रिटिश लोग ससार के भीतर बहुत रूढिवादी होते हुए भी अपने सविधान को इतना सुपरिवर्तनीय रख सके हैं कि उनकी ससद साधारण बहुमत से सावैधानिक विधियों को साधारण विधि-निर्माण की भाति ही सशोधित कर सकती है। इसका कारण यह है कि चाहे हम अपने देश के लिए कितना भी पूर्ण और श्रेष्ठ सविधान क्यो न बना दें परन्तु हम नही जानते कि भविष्य के गर्भ में क्या है और आने वाले कल की माग क्या होगी, कौन सी नई परिस्थितिया हमारी आने वाली पीढियो के सामने पैदा होगी? युग सदा बदलता रहता है, सृष्टि प्रगति की ओर बढती है, अत बदली हुई परिस्थितियो के अनुसार यदि सविधान को बदला न जा सके तो आखिरकार उसे फेंकने के सिवाय कोई रास्ता ही नही रह जाता। साथ ही संविधान निर्माताओ को अपनी सन्तान तथा अगली पीढियो पर विश्वास करना होता है इतना ही नही यदि हम अपनी भावी पीढियो के लिये कोई ऐसी लक्ष्मण रेखा खीचने की चेष्टा करते हैं जिसम परिवर्तन या तो सभव ही न हो या वह बहुत कठिन हो जाये तो वह लोकतत्र की भावना के सर्वथा विपरीत होगा।

इन सब कारणो से सविधान के भीतर यह उल्लेख कर दिया जाता है कि उसका संशोधन किस प्रकार हो सकेगा। भारत के सविधान में भी यह बता दिया गया है कि उसके किस अ श का सशोधन किस प्रकार होगा। यहा हम विस्तार से उसका वर्णन करेंगे। संविधान ने बताया है कि उसका सशोधन भारत के 'राष्ट्रपति,' 'राज्य-सभा,' ससद' एव 'ससद तथा राज्य-विधानमडल' अलग अलग परिस्थिति में कर सकेंगे।

राष्ट्रपति द्वारा सशोधन—सविधान के अनुच्छेद १६० ने भारत के राष्ट्रपति को अधिकार दिया है कि वह उन परिस्थितियो म जिनका उल्लेख संविधान में नही किया गया हो, किसी राज्य के राज्यपाल के कृत्यो को पूरा करने के लिये आवश्यक

नियम बना सकता है। इस अनुच्छेद का अर्थ यह है कि राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार बनाये गये नियम संविधान की धाराओं के समान प्रभावशाली होंगे और वे भविष्य में इस संविधान के अंग माने जायें।।

अनुच्छेद ३४३ म कहा गया है कि संविधान के लागू होने के समय से लेकर १५ वर्षों तक संघ सरकार म अंग्रेजी का उपयोग संविधान लागू होने के पहले की तरह ही होता रहेगा। परन्तु इसी अनुच्छेद मे आगे कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति उचित समझे तो वह इस अवधि म अर्थात् १५ वर्ष के बीच में ही संघ-सरकार के किसी भी काम में प्रयोग के लिय अंग्रेजी के साथ ही साथ हिन्दी को और देवनागरी मे लिखी गई गिनतियो को लागू कर सकेगा।

अनुच्छेद ३४७ ने भी राष्ट्रपति को भाषा के बारे में इसी प्रकार की शक्ति राज्यो के बारे में दी है। अनुच्छेद म कहा गया है कि यदि किसी राज्य की जनता का पर्याप्त अश राष्ट्रपति से माग करे कि उस राज्य मे उनकी भाषा को भी मान्यता दी जाय, और राष्ट्रपति उस माग से सतुष्ट हो जाय तो वह आदेश दे सकता है कि कुछ निश्चित कार्यों के लिये, जिनका उल्लेख वह करेगा, राज्य में या राज्य के किसी निश्चित भाग म, जैसा भी वह चाहे उस भाषा का प्रयोग सरकारी काम के लिये किया जाये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संविधान ने कुछ मामलों में राष्ट्रपति को अधिकार दिया है कि वह संविधान का सशोधन कर सकेगा। यहा इतना कह देना और लाभदायक होगा कि राष्ट्रपति की शक्तियो का प्रयोग मंत्रिपरिषद करती है अत यह माना जा सकता है कि इन शक्तियों का प्रयोग राष्ट्रपति उसकी सलाह से या सलाह पर ही करेगा। इसका अर्थ यह है कि सशोधन की यह शक्ति संघीय-मन्त्रिपरिषद के पास है।

राज्य-सभा द्वारा सशोधन—संविधान के अनुच्छेद २४९ में कहा गया है कि राज्यसभा के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यो मे से दो तिहाई सदस्य यदि उसकी किसी बैठक म यह निर्णय कर लें कि राज्य-सूची मे गिनाय गये किसी विषय पर ससद द्वारा विधि बनाया जाना राष्ट्र के लिय आवश्यक हो गया है तो वे उस प्रकार का प्रस्ताव पास करके ऐसा कोई विषय ससद को एक बार में एक वर्ष के लिये दे सकते हैं। यह सत्ता बार-बार एक वर्ष के लिये ससद को दी जा सकती है, परन्तु यदि दोबारा न दी जाय तो प्रस्ताव की एक वर्ष की अवधि समाप्त होने के छह मास के बाद उन विषयो पर बनाई गई ससद की विधियो को रद्द माना जायेगा।

इस अनुच्छेद ने राज्यसभा के हाथो में संविधान के एक महत्वपूर्ण अश को सशोधित करने का अधिकार दे दिया है। सघ के भीतर राज्यों के अधिकारों से बढ़कर और कोई वस्तु नही होती, संविधान ने उन अधिकारो के मामले मे ही ससद के एक सदन को यह निरकुश अधिकार दे दिया है कि वह बिना सबधित राज्यो की अनुमति प्राप्त किय ही उनसे उनकी शक्तियां छीन सकता है।

संसद द्वारा संशोधन—संसद संविधान को तीन प्रकार से संशोधित कर सकती है—१. राज्यों की विधान सभा या संघीय राज्यसभा, या राष्ट्रपति की सिफारिश पर, २ स्वय साधारण बहुमत से साधारण विधियां बनाने की तरह ३ अपने विशेष बहुमत द्वारा।

१ जिन राज्यों में विधान परिषद नहीं है वहां की विधानसभा चाहे तो अपने कुल सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर सकती है कि संसद उसके राज्य के लिये राज्य-परिषद बनाने की स्वीकृति प्रदान करे अथवा जिन राज्यों में वह है और वहां की विधानसभा उसे तोड़ना चाहे वहां भी इसी प्रकार वह संसद से तोड़ने की अनुमति प्राप्त करे।

ऐसी स्थिति में संसद संविधान के भीतर संशोधन करके राज्य की इच्छा के अनुसार वहां विधान परिषद का निर्माण या उसे भंग कर सकती है।

अनुच्छेद ३१२ में कहा गया है कि राज्य-सभा अपने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर सकती है कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संसद अखिल भारतीय लोक सेवाओं (All India Services) का निर्माण करे।

यह अनुच्छेद संशोधनात्मक इसलिये है क्योंकि वह संविधान के उस अंश का संशोधन करने की व्यवस्था करता है जो राज्यों को अपनी सेवाओं के लिए प्रबन्ध करने का अधिकार देता है।

अनुच्छेद ३ में कहा गया है कि संसद राष्ट्रपति की सिफारिश पर संविधान के भीतर निम्न विषयों में संशोधन कर सकती है—

अ किसी राज्य का कोई भाग काट कर या किसी राज्य के किसी भाग में कोई दूसरा क्षेत्र जोड़ कर नया राज्य बनाना,

ब किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ाना

स किसी राज्य का क्षेत्र घटाना

द किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन करना

क किसी राज्य का नाम बदलना।

२ संसद स्वय अपने साधारण बहुमत के द्वारा भी संविधान के एक अंश का संशोधन कर सकती है। इसमें निम्न अनुच्छेदों का उल्लेख किया जा सकता है—

अनुच्छेद ९७ में कहा गया है कि संसद को अधिकार होगा कि वह द्वितीय अनुसूची में राज्य-सभा के सभापति व उप सभापति तथा लोकसभा के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ता सम्बन्धी नियमों को संशोधित कर सके।

अनुच्छेद १०० संसद को संसद के दोनों सदनों में गणपूर्ति (कोरम) की संख्या में संशोधन करने का अधिकार देता है। इसी प्रकार अनुच्छेद १०५ की धारा ३ संसद को उसके प्रत्येक सदन के सदस्यों व समितियों की शक्तियां, सुविधाओं और विमुक्तियों में संशोधन करने का अधिकार देती है। अनुच्छेद १२४ के अनुसार संसद

भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की सख्या में सशोधन कर सकती है।

इसी प्रकार सविधान की अनुसूची (Schedule) ५ और ६ यह अधिकार ससद को प्रदान करती ह कि वह उसम कोई भी परिवर्तन-सशोधन कर सकेगी।

य कुछ उदाहरण हमने यहा ऐसे दिय हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सविधान ने ससद को यह शक्ति दी है कि वह साधारण विधि निर्माण की प्रक्रिया के द्वारा सविधान के एक अ श को सशोधित कर सकती है।

२ सविधान के खड २० मे अनच्छेद ३६८ म यह कहा गया है कि ससद उन मामलो को जिनका सशोधन वह राज्यो के विधान मडलो की सहमति से कर सकती है व सविधान के उन अ शो को छोडकर जिनका सशोधन वह साधारण बहुमत से कर सकती है शष सविधान का सशोधन निम्न रीति से कर सकेगी। सशोधन करने के लिय कोई प्रस्ताव ससद के किसी भी सदन म प्रस्तुत किया जा सकता है तथा यदि उस सदन म तथा दूसरे सदन म भी वह विधेयक (Bill) सदन की सदस्य सख्या के बहुमत तथा उपस्थित व मत देने वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से पास हो जाय तथा राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे तो सशोधन स्वीकृत माना जायगा।

ससद और राज्यों के विधान मडलों द्वारा सविधान का सशोधन—अनुच्छेद ३६८ जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके ह यह कहता है कि निम्न विषयो में ससद अकेली सविधान का सशोधन नही कर सकेगी। सशोधन करने के लिय उसे कम से कम आधे राज्यों के विधानमडलो की सहमति प्राप्त कर लेनी होगी तभी वह विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिय पेश हो सकेगा। वे विषय इस प्रकार ह—

अ राष्टपति के निर्वाचन की प्रक्रिया

ब राष्टपति के निर्वाचन म राज्यो के मतो की समरूपता

स सघ की कार्यपालिका शक्ति का क्षेत्राधिकार

द राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का क्षेत्राधिकार

क सघीय प्रदेशो के लिय उच्च-न्यायालयो सबधी अनुच्छेद २४१

ख सविधान के खड ११ के प्रथम अध्याय मे दिय गय सघ व राज्यो के विधायी सबधो के अनुच्छेद २४५ से २५५ तक,

ग सघसूची राज्यसूची व समवर्ती सूची के विषय जिनका वर्णन सातवी अनुसूची में किया गया है।

घ खड ५ के अध्याय ४ में दिये गय सघीय न्यायपालिका सबधी अनुच्छेद १२४ से १४७ तक

च खड ६ के अध्याय ५ में दिय गय राज्यो के उच्च-न्यायालयो सबधी अनुच्छेद २१४ से २३१ तक,

छ ससद म राज्यो का प्रतिनिधित्व,

ज स्वय अनुच्छेद ३६८ जिसम सशोधन की इस प्रक्रिया का वणन है।
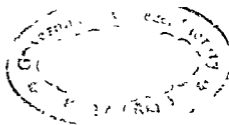
अध्याय : ११

मौलिक अधिकार और राज्य-नीति के निर्देशक तत्व

'यह हमारा कर्तव्य और अधिकार है कि हम यह देखें कि जिन अधिकारों को मौलिक माना गया है वे मौलिक बने रहते हैं और यह भी कि संसद और कार्यपालिका इन स्वतन्त्रताओं पर सीमित बन्धन लगाने की शक्ति का प्रयोग करते समय संविधान द्वारा निर्धारित मर्यादाओं का उल्लंघन न करें। कार्यपालिका का जहां तक संबंध है उसके बारे में हमें यह भी सावधानी रखनी होगी कि वह संसद द्वारा उसे प्रदान की गई सत्ता के बाहर न जाये। हम भारत की जनता को उन स्वतन्त्रताओं की जो अब उन्हें प्रदान की गई है और जिसके लिये उन्होंने दीर्घ काल तक प्रबल चाह की है उस पूर्ण सीमा तक सुरक्षा करने के लिये यहां है जिस सीमा तक कि संविधान में उन्हें उसका आश्वासन दिया गया है तथा हम यह आश्वासन दिलायेंगे कि वे स्वतन्त्रतायें न तो संसदीय-विधान द्वारा और न कार्यपालिका के कार्यों द्वारा न तो संकुचित बनाई जा सकेगी, न उन्हें समाप्त ही किया जा सकेगा।"

—न्यायमूर्ति बोस, न्यायाधीश, सर्वोच्च-न्यायालय, भारत।

मानव स्वभाव से एक स्वतन्त्रता-प्रिय प्राणी है। यद्यपि वह अपनी पूरी चेष्टा के बावजूद भी नियन्त्रण और सत्ता के प्रयोग से बच नहीं पाया है तथापि उसकी चेष्टा बराबर यह रही है कि उसके ऊपर सत्ता का नियन्त्रण उस सीमा तक ही हो जहां तक कि समाज का सामूहिक हित उसकी मांग करता हो, और उसे जितनी अधिक से अधिक स्वतन्त्रता अपने लिये मिल सके वह उसे लेना चाहता है तथा उसे पाकर प्रसन्न होता है क्योंकि स्वतन्त्रता मानवीय विकास की एक बुनियादी शर्त है। मनुष्य पशु से कुछ भिन्न होता है और वह बंधन की अपेक्षा स्वतन्त्रता के वातावरण में अधिक सुविधापूर्वक काम कर सकता है। उसने राज्य, सरकार, कानून, जेल, पुलिस, सेना, न्यायालय इत्यादि की रचना केवल इसलिये की है जिससे कि उसे अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। वह इन साधनों के द्वारा अपनी स्वतंत्रता के मार्ग की बाधाओं

† Quoted by M. G. Gupta in his 'Aspects of Indian Constitution' (Central Book Depot, Allahabad) Page 127.

को नियंत्रित करना चाहता है। यहा तक कहा जा सकता है कि मनुष्य को स्वतंत्रता इतनी प्रिय है कि वह उसकी रक्षा अपने आप से भी करना चाहता है।

स्वतत्रता के अतिरिक्त जीवन के विकास की कुछ दूसरी बुनियादी दशायें भी हैं जिनके अभाव मे मानव जीवन विकसित नही हो सकता, इन्हे राजनीति विज्ञान में मौलिक अधिकार कहा जाता है। अरस्तु ने राज्य के बारे मे कहा है कि राज्य का जन्म मानव जीवन की रक्षा के लिय हुआ और वह श्रेष्ठ-जीवन की दशाये निर्माण करने के लिय टिका रहता है। इस प्रकार राज्य का यह उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया गया है कि वह अपने सदस्यो के लिय श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर जीवन की दशाओ का निर्माण किया करे। यही कारण है कि ससार के प्राय सभी सभ्य देशो के सविधानो ने अपने भीतर अपने नागरिको के कुछ मौलिक अधिकारो की घोषणा की है। भारतीय सविधान भी इस दिशा मे पीछे नही रहा है, उसने भी अपने भीतर मौलिक अधिकारो की घोषणा की है।

यह कहा गया है कि भारत ने यद्यपि ब्रिटिश सविधान के नमूने का लोकतत्र बनाया है तथापि मौलिक अधिकारो की घोषणा उसके अनुकूल नही है क्योकि ब्रिटिश सविधान मे किन्ही मौलिक अधिकारो का उल्लेख नही किया गया है। परन्तु सत्य यह है कि यद्यपि ब्रिटिश सविधान ने ससद द्वारा अनुल्लघनीय मौलिक अधिकारो की घोषणा नहीं की है तथापि सारा ब्रिटिश सविधान स्वय मौलिक अधिकारो की घोषणा पर आधारित है। इस घोषणा का नाम मैग्ना कार्टा है। यही वह आधार शिला है जो यद्यपि सदा ही अलिखित रूप से एक काल्पनिक आदर्श रही परन्तु जो वहा आज भी जनता और उसके द्वारा ससद के अधिकारो का सुदृढ आधार है। निस्सदेह वहा ससद जब चाहे और जिस प्रकार चाहे वहा के नागरिको के अधिकारो को सकुचित या विस्तृत कर सकती है परन्तु हमे यह समझ लेना होगा कि ब्रिटेन एक दूसरे प्रकार का देश है वहा यह कल्पना ही नही की जा सकती कि ससद किसी समय जनता के अधिकारो को कम कर सकती है। वह एक ऐसा देश है जहा लोकतत्र एक विशेष ढग से जम चुका है। हमारी परिस्थिति उससे भिन्न है। हम अपने लोकतत्र का निर्माण एक ऐसे काल मे कर रहे हैं जिसमें विरोधी विचार प्रचलित हैं और हमारे चारो ओर वे चक्कर लगा रहे हैं। अत भारत के सविधान निर्माताओ ने यह आवश्यक समझा कि जहा उन्होने भारत को एक लोकतन्त्रात्मक गणराज्य कहा है वही वे लोकतन्त्र के परिचय स्वरूप देश के नागरिको को संविधान की छाया में कुछ मौलिक अधिकार भी दे दें जिनकी रक्षा सविधान के प्रहरी के नाते सर्वोच्च न्यायालय करे।

सयुक्तराज्य अमेरिका के सविधान मे भी इसी प्रकार के मौलिक-अधिकारो का समावेश सशोधन के द्वारा किया गया था। मौलिक अधिकार नागरिक के ऐसे अधिकार नही हैं जो राज्य के विरुद्ध हो, वास्तव मे वे सरकार के अनुचित हस्तक्षेप से जनता के अधिकारो की रक्षा करते हैं। सरकार मे भी आज दो भाग बन गये हैं, कार्यपालिका और विधायिका। ब्रिटेन मे सारा सघर्ष सम्राट के विरुद्ध रहा और

उनकी ससद जनता की ओर से सम्राट से लडी ऐसी परिस्थिति में यह बहुत ही स्वाभाविक था कि वे सम्राट के अधिकारो पर अकुश लगाते और समद को सत्ता सौंप देते उन्होने वैसा ही किया और ससद को जनता के हितो का सर्वोच्च-प्रहरी बना दिया । सयुक्तराज्य अमेरिका मे यह चेष्टा की गई कि कार्यपालिका और विधायिका दोनो में से किसी को भी जनता के मौलिक अधिकारो के अपहरण का अधिकार नही होना चाहिये अतएव वहा सविधान ने उन्हें सरकार के लिये अनुल्लंघनीय घोषित कर दिया । भारत मे स्थिति ऐसी कठोर तो नही है फिर भी समद निश्चित मर्यादाओ से बाहर नही जा सकती, वैसा करने पर सर्वोच्च न्यायालय उसके आदेशो को रद्द कर सकता है।

मौलिक अधिकारो की आवश्यकता और उनकी प्रकृति

हमे सावधानी के साथ यह अध्ययन करना होगा कि भारत के सविधान में मौलिक अधिकारो की क्या आवश्यकता थी तथा उनकी प्रकृति क्या है। आवश्यकता—

(१) व्यक्ति साध्य है—भारतीय संविधान ने व्यक्ति की गरिमा का उल्लेख किया है. अत उसके लिए यह आवश्यक था कि वह यह मिद्ध करे कि उसने जिस राज्य की स्थापना की है उसका साध्य व्यक्ति है। ससार में दो विचारधारायें हैं, एक का मानना है कि राज्य साधन है और व्यक्ति साध्य तथा दूसरे का मानना है कि व्यक्ति [illegible] और राज्य साध्य। पहली विचारधारा को लोकतन्त्रीय विचार कहा [illegible] को सर्वसत्तावाद (टोटेलिटेरियनिज्म)। भारत पहली श्रेणी का विचार रखता है। इस दृष्टि से सविधान के लिए यह बात बहुत शोभनीय है कि वह उस मौलिक व्यक्ति के कुछ मौलिक अधिकारो का उल्लेख करे जो इसका साध्य है और जिसका व्यक्तित्व एक पवित्र धरोहर है, जिसके विकास के लिए राज्य का समूचा तन्त्र बनाया गया है और चलाया जाता है।

(२) बहुमत की निरंकुशता से रक्षा—परोक्ष लोकतन्त्र वास्तव मे प्रतिनिधि-शासन बन गया है और प्रतिनिधि-शासन का अर्थ है बहुमत का शासन। ऐसी परिस्थिति मे यह अनिवार्य हो गया है कि अल्पसख्यकों को बहुमत की निरकुशता से बचाये रखा जा सके। दूसरा एक महत्त्वपूर्ण विचार यह है कि लोकतन्त्र के भीतर शासन का सचालन चर्चा और विचार-परिवर्तन के द्वारा चलता है, और आज का अल्पमत कल बहुमत का रूप ले सकता है। यह रूपान्तर विचार प्रचार के द्वारा ही हो सकता है उसके लिए विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता अनिवार्य है जो मौलिक अधिकारो के द्वारा देश की जनता को दी जाती है।

(३) बहुमत अस्थायी होता है—लोकतन्त्र मे बहुमत स्थायी नही होता वह अस्थायी होता है अत ऐसी परिस्थिति में बहुमत द्वारा सचालित ससद को यह अधिकार देना उचित नही है कि वह जब चाहे जनता के मौलिक अधिकारो मे परिवर्तन कर दिया करे। उसे वैसा करने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि मौलिक अधि-

कारों को संविधान द्वारा सरक्षण प्रदान किया जाए जैसा कि हमारे संविधान में दिया गया है। हमारे सविधान मे भी वे पूर्ण रूप से अपरिवर्तनीय तो नही है तथापि इतना आश्वासन दिया गया है कि उन्हे साधारण विधायी-प्रक्रिया के द्वारा नही बदला जा सकता। यदि ऐसा न होता तो भारत जैसे देश म जहा नये विचारो के लिए हमारी भूमिका बहुत ही उपयुक्त है सामाजिक और राजनीतिक जीवन की स्थिरता सकट में पड जाती तथा क्रान्ति के जोश म ससद घडी-घडी म देश के जीवन को अदलती-बदलती रह सकती थी। अब ऐसा सम्भव नही है।

भारतीय सविधान मे दिये गये मौलिक अधिकारो की प्रकृति का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) सत्ता के हस्तक्षेप से सुरक्षित—साधारण परिस्थितियो में मौलिक अधिकारो में राज्य या सघ सरकार का कोई भी अधिकारी या उनके विधान मण्डल हस्तक्षेप नही कर सकते। यदि वे वैसा करते हैं तो सर्वोच्च न्यायालय का यह उत्तरदायित्व है कि वह उन्हें वापिस दिलाये तथा सरकार के आदेशो को उस सीमा तक मानने से इन्कार कर दे जिस सीमा तक वे इन अधिकारो मे हस्तक्षेप करते हैं। इस प्रकार भारत गणराज्य की सीमा के भीतर न तो ऐसी कोई विधि बन सकती है न लागू की जा सकती है जो मौलिक अधिकारो का निषेध या खण्डन करती हो। बन जाने पर ऐसी विधिया न्यायालय के क्षेत्राधिकार मे आ जाती हैं तथा ह[illegible]री इस इच्छा के बावजूद भी कि हमारा सर्वोच्च न्यायालय विधि-निर्माण का काम [illegible] गला ससद का तीसरा-सदन न बने वह वैसा रूप ले लेता है तथा अपनी न्यायपालि[illegible] (Judicial Review) की शक्ति के द्वारा उन्हें रद्द कर सकता है। यह मर्यादा देश में प्रचलित हर प्रकार के कानून पर लागू होती है चाहे वह ससद द्वारा बनाया गया हो, स्वीकार किया गया हो या परम्परागत हो अथवा धार्मिक या प्रथागत हो।

(२) सीमित अधिकार—मौलिक अधिकार सविधान द्वारा सरक्षित होने पर भी असीमित नही हैं। सविधान म उनकी सीमाओ का निर्देश कर दिया गया है। यह सत्य है कि राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे परन्तु यह भी उतना ही अनिवार्य है कि राज्य की प्रगति और उसके विकास में व्यक्ति बाधक बन कर न खडा हो जाये। ससद को यह सत्ता दी गई है कि वह सविधान द्वारा लगाई गई पाबन्दियो को क्रियान्वित करे।

इसके अतिरिक्त मौलिक अधिकारो का सविधान में बताये गय ढग से सशोधन किया जा सकता है। अनुच्छेद ३६८ म सशोधन की जो प्रक्रिया बताई गई है उसके अनुसार सविधान के किसी भी अ श का सशोधन किया जा सकता है। मौलिक अधिकार सविधान के अ श हैं अत उनका भी सशोधन किया जा सकता है। सविधान ने कही भी यह नही कहा कि उनका सशोधन नही किया जा सकेगा अर्थात् वे असशोधनीय हैं।

(३) भारतीय एकता के प्रतीक—हमारे मौलिक अधिकार इस मामले में भी

मौलिक हैं कि वे भारत की राष्ट्रीय एकता के प्रतीक हैं। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सारे देश के प्रत्येक निवासी को य अधिकार प्राप्त हैं और उसे अधिकार है कि वह देश के किसी भी भाग मे जाय, वहा रहे, नौकरी करे व्यापार करे, सम्पत्ति सचय करे या मकान बनाय।

इसके अतिरिक्त इन अधिकारो ने सारे देश के प्रत्यक भाग से सामाजिक असमानताओ, धार्मिक भेद तथा दूसरे भेदभाव को समाप्त कर दिया है तथा पूरे देश म भावनात्मक एकता स्थापित की है। देश का प्रत्यक नागरिक समान प्रकार की विधियों से शासित होता है। सरकार की बनाई हुई प्रत्यक विधि भिन्न-भिन्न भाषा और भिन्न धर्मों क लोगो को समान रूप से प्रभावित करेगी तथा उनके भीतर समान सन्तोष या असन्तोष पैदा करेगी। उनके हित कभी विरोधी नही होग तथा इस प्रकार देश एक इकाई बन जाता है।

भारत मे मौलिक अधिकारो की कल्पना का विकास

यह मानना उचित नही होगा कि सविधान निर्माण करते समय अचानक निर्माताओं के मन में मौलिक अधिकारो को सविधान के भीतर स्थान देने का विचार आया और उन्होने वैसा कर दिया। वास्तव म भारत मे मौलिक अधिकारो की *कल्पना का विकास दीर्घ इतिहास म हुआ है।*

(१) **विदेशी शासन द्वारा दमन**—भारत एक दीर्घकाल तक विदेशी शासन *के अन्तर्गत रहा। यद्यपि १८५८ मे सम्राज्ञी विक्टोरिया द्वारा की गई घोषणा का* यह अर्थ लगाया गया था कि भारत की जनता भी उनकी ब्रिटिश जनता के समान *ही अधिकारो और सुविधाओ का भोग करेगी, परन्तु इस ओर से शीघ्र ही निराशा* हो गई तथा यह बात स्पष्ट हो गई कि अग्रेज भारत म सुशासन की स्थापना करने *के लिए नही वरन् अपने व्यापारिक हितो की पूर्ति* और राजनीतिक-लाभ प्राप्त करने के लिय आय हैं। उनके शासनकाल में भारतीय जनता के अधिकारो का ठीक उसी निर्दयता के साथ दमन किया गया जैसा कि पराधीन देशो के साथ इतिहास म सदा से होता रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारत के राष्ट्रीय नेताओ ने भारतीयो के इस अधिकार की माग की कि वे अपना सविधान अपने आप बनायें और उसमे अपने लिय मौलिक अधिकारों की व्यवस्था करें।

(२) **नेहरू रिपोट**—सन् १९२२ मे स्वर्गीय पडित मोतीलालजी नेहरू ने यह माग रखी कि भारत के लिये एक सविधान-सभा की स्थापना की जाय, और उनकी अध्यक्षता में सविधान की रूपरेखा तैयार करने के लिय जो सर्वदलीय समिति बनाई गई थी उसने १९२८ मे जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था उसम पहली बार मौलिक अधिकारो का उल्लेख किया गया था। उसमे यह तर्क दिया गया था कि भारत में इन अधिकारो का बहुत महत्व है क्योकि भारत के लोगो को एक दीर्घकाल से इन अधिकारो के विधिवत् उपभोग से वचित रखा गया है। साथ ही उसमे यह भी कहा

गया था कि भारत में विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायो के लोग रहते हैं, धार्मिक और साम्प्रदायिक अल्पसख्यको को आश्वासन देने और उनके अधिकारो को सुरक्षित रखने व उन्हें बहुसख्यको के निरकुश शासन से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ मूलभूत अधिकारो की सविधान के भीतर गारण्टी की जाय।

(३) कांग्रेस का प्रस्ताव—कांग्रेस ने भी अपने १९३३ के एक प्रस्ताव में यह घोषणा की कि वह ऐसे सविधान का ही मान्यता दे सकती है जिसमे मौलिक अधिकारो का समावेश किया गया हो। उस प्रस्ताव म राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ ही आर्थिक स्वतन्त्रता की बात भी कही गई थी। परन्तु सरकार उस प्रस्ताव को मानने के लिय तैयार नही थी। इसका कारण यह था कि मौलिक अधिकारो का समावेश कर लेने से स्वय उसकी सत्ता सीमित हो जाती थी। ब्रिटिश सरकार अपनी अखण्ड सत्ता पर कोई मर्यादाये स्वीकार करन के लिये तैयार नही थी। भारत के लिए यह अच्छा ही हुआ क्योकि यदि वह मर्यादायें स्वीकार करने की बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन करती तो सम्भव था कि वह कुछ अधिक समय तक टिक्ती तथा देश इतनी जल्दी स्वराज्य प्राप्त न कर पाता।

जब देश को अपनी सविधान सभा म एकत्र होकर अपना सविधान बनाने का सुअवसर मिला तब उसने अपनी जनता की विविधता, सामाजिक विषमता और निरकुश शासन म अभ्यस्त सरकारी कर्मचारी वर्ग के स्वभाव का ध्यान रखकर यह आवश्यक समझा कि सविधान देश के प्रत्यक व्यक्ति को कुछ बुनियादी अधिकार प्रदान करे जो सरकार की पहुच से परे हा और उसने सर्वोच्च-न्यायालय को उनकी पहरेदारी का काम सौप दिया।

दो प्रकार के मौलिक अधिकार

भारतीय सविधान मे जिन मौलिक अधिकारो का उल्लेख किया गया है वे दो प्रकार के हैं। कुछ अधिकार तो ऐसे हैं जो केवल भारत के नागरिको को ही दिय गय हैं शेष अधिकार देश के भीतर रहने वाले प्रत्यक व्यक्ति को दिय गय हैं। जहा अधिकार नागरिको तक सीमित रखे गय ह वहा सिटीजन शब्द का प्रयोग किया गया है और जहा वे व्यक्तियो को दिय गय हे वहा पर्सन शब्द का प्रयोग हुआ है।

(१) नागरिको को दिये गये अधिकार—सविधान के तीसरे खण्ड मे अनुच्छेद १५, १६, १८, १९ और २९ म क्रमश निम्न अधिकार केवल नागरिको को ही प्रदान किय गय हैं— राज्य नागरिको के बीच धम, नस्ल, जाति, लिंग अथवा जन्म-स्थान के आधार पर कोई भेदभाव नही करेगा तथा कोई भी उन्हे सार्वजनिक स्थानो पर जाने से नही रोक सकता। रोजगार के मामले मे या राज्य के अन्तर्गत किसी पद को पाने के लिय प्रत्यक नागरिक को समान अवसर प्राप्त होगा, उसे धर्म, नस्ल, जाति, परिवार, जन्म-स्थान अथवा निवास के आधार पर सरकारी पद पाने से नही रोका जा सकता। कोई नागरिक विदेशी राज्य से कोई उपाधि प्राप्त नहीं

करेगा। समस्त नागरिको को सविधान द्वारा दी गई तमाम स्वतन्त्रतायें प्राप्त होंगी। प्रत्यक नागरिक को अधिकार होगा कि वह अपने साथियो के साथ मिलकर अपनी विशेष भाषा लिपि अथवा सस्कृति की रक्षा कर सकेगा। तथा, राज्य द्वारा सचालित अथवा उससे सहायता पाने वाली शिक्षण-सस्था के भीतर धर्म नस्ल जाति भाषा आदि के आधार पर *किसी नागरिक को प्रवेश पाने से नही रोका जा सकता।*

(२) सब व्यक्तियों को दिये गये अधिकार—उपरोक्त अधिकारो के अतिरिक्त समस्त मौलिक अधिकार सब व्यक्तियो को प्राप्त हैं चाहे वे नागरिक हो या न हो। इन सबका विस्तृत वर्णन हम अगले पृष्ठो म करेंगे। सविधान में जहा पर्सन शब्द का प्रयोग किया गया है वहा यह नही बताया गया कि पर्सन (व्यक्ति) शब्द से इसका तात्पर्य भारतीय व्यक्ति है या प्रत्यक वह व्यक्ति जो चाहे भारतीय हो या विदेशी परन्तु भारत म रहता हो। यहा यह माना जा सकता है कि भारतीय सविधान ने देशी और विदेशी सभी अनागरिको को कुछ अधिकार प्रदान किय हैं जिनमें जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के अधिकार प्रमुख हैं।

प्रमुख अधिकार

भारतीय सविधान ने जिन मौलिक अधिकारो का वर्णन किया है उनम सर्व-प्रमुख निम्न ह, इनका वणन यहा हम उनके खण्डो और उपखण्डो सहित करेग —

(१) समानता का अधिकार,
(२) स्वतन्त्रता का अधिकार,
(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार,
(४) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार,
(५) *सास्कृतिक व शैक्षणिक अधिकार*
(६) सम्पत्ति का अधिकार,
(७) सांविधानिक उपचारो का अधिकार।

(१) समानता का अधिकार

समानता लोकतन्त्र की आधारशिला है। भारतीय सविधान ने लोकतन्त्र की इस बुनियादी आवश्यकता को पूरा किया है, परन्तु यहा यह जानना लाभदायक होगा कि *समानता का अधिकार यद्यपि हमारे सविधान ने यहा के लोगो को दिया है तथापि* वह समानता वैधानिक समानता है उससे यह नही समझना चाहिय कि सविधान ने देश के भीतर समाजवादी समानता की स्थापना की है। समाजवाद समानता का अर्थ आर्थिक दृष्टिकोण से करता है हमारा सविधान उस बारे म मौन है। यही बात शोषण के विरुद्ध अधिकार के प्रसग म भी समझनी चाहिये, वहा भी सविधान भारत के लोगो को एक समाजवादी ढग के शोषणमुक्त समाज का वरदान नही देता है वरन् उसका अर्थ बहुत सीमित है।

वैधानिक समानता—हमारे संविधान ने अनुच्छेद १४ में कहा है कि राज्य किसी भी व्यक्ति को विधि के समक्ष (कानून के सामने) समानता से वंचित नहीं करेगा तथा भारत के क्षेत्र के भीतर विधियों का समान संरक्षण प्रदान करेगा। यह वैधानिक समानता है। इसे हम अवसर की समानता भी कह सकते हैं। सब लोगों को समाज के भीतर अपनी रक्षा का समान अवसर प्राप्त होगा। राज्य के भीतर रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति राज्य में प्रचलित विधियों के अन्तर्गत दूसरों के समान ही होगा। यह अनुच्छेद शासन के हाथ से मनचाहा करने की सत्ता छीन लेता है और यह घोषणा करता है कि शासक और शासित सभी राज्य-विधि के सामने एक समान खड़े होंगे तथा उनके ऊपर विधि समान रूप से लागू होगी। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य के भीतर प्रत्येक व्यक्ति पर समान विधियां लागू होंगी चाहे उनकी परिस्थिति और दशाओं में कितना भी अन्तर क्या न हो, इसका सही अर्थ यह है कि जो लोग किसी विधि के क्षेत्र में आते हैं वह उन सब पर समान रूप में लागू होगी तथा इसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता।

भेदभाव का निषेध—संविधान के अनुच्छेद १५ की पहली धारा में कहा गया है कि राज्य किसी मामले में नागरिकों के बीच उनके धर्म, उनकी नस्ल, जाति, लिंग और जन्म-स्थान के आधार पर अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर कोई भेद-भाव का व्यवहार नहीं करेगा। इसका स्पष्ट अर्थ यह भी है कि न तो कोई नागरिक इन आधारों पर कोई विशेष सुविधा प्राप्त कर सकेगा न असुविधा। इस धारा का अर्थ यह नहीं है कि राज्य स्त्रियों, बच्चों, पिछड़ी जातियों एवं अनुसूचित जातियों के सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक विकास के लिये विशेष प्रबन्ध नहीं कर सकेगा। संविधान ने इसी अनुच्छेद की तीसरी और चौथी धारा में यह बात बहुत स्पष्ट की है और राज्य को उनके लिये विशेष प्रबन्ध करने की शक्ति दे दी है।

इसी अनुच्छेद की दूसरी धारा में कहा गया है कि भारत का कोई भी नागरिक उपरोक्त आधारों पर दूकानों सार्वजनिक-अल्पाहारगृहों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में जाने से नहीं रोका जा सकेगा, न उस पर इस बारे में कोई पाबन्दी लगाई जा सकती है तथा कोई ऐसी शर्त भी नहीं लगाई जा सकती जो सबके ऊपर समान रूप से लागू न होती हो। इसी प्रसंग में इस धारा के दूसरे अंश में यह भी कहा गया है कि ऐसे कुयें, तालाब, स्नान के घाट, मार्ग और सार्वजनिक उपयोग के स्थान जो पूर्णतः या आंशिक तौर पर राज्य के धन से संभाले जाते हों अथवा सर्वसाधारण के उपयोग के लिये दान किये गये हों सबके लिये खुले होंगे तथा उपयोग के बारे में उपरोक्त कोई प्रतिबन्ध लागू नहीं होंगे।

इस धारा का महत्व समझने के लिये हमें भारत की सामाजिक स्थिति का ज्ञान होना चाहिये। भारत सदियों से छुआछूत के अभिशाप से पीड़ित है। महर्षि दयानन्द से लेकर महात्मा गांधी तक अनेकों महापुरुषों ने इस पर प्रहार किया परन्तु हम इसके चंगुल से छुटकारा नहीं पा सके। संविधान निर्माताओं ने यह आवश्यक

समझा कि संविधान में ऐसी व्यवस्था कर दी जाये कि किसी प्रकार की छुआछूत का सार्वजनिक प्रयोग वैधानिक अपराध बन जाये और देश में सामाजिक समानता की स्थापना की जा सके।

राज्य की सेवाओं में प्रवेश पाने का समान अवसर—नागरिकों को जो राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं उनमें मत देने और मत पाने के समान महत्व का ही यह अधिकार भी है कि नागरिक समान रूप से अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार राज्य में पद पाने का समान अवसर प्राप्त कर सकें। लोकतन्त्र में सरकार का संचालन स्वदेश के नागरिक ही करते हैं जिस प्रकार वे विधान सभाओं और संसद में चुने जाते हैं तथा राष्ट्रपति का पद प्राप्त कर सकते हैं इसी प्रकार सरकार के प्रशासकीय अंग में सरकारी पद भी देश के नागरिकों को प्राप्त होने हैं।

हमारे संविधान ने नागरिकों को यह अधिकार प्रदान किया है। अनुच्छेद १६ में कहा गया है कि राज्य के अन्तर्गत किसी भी पद पर नियुक्ति अथवा रोजगार के सम्बन्ध में सब मामलों में सब नागरिकों को समान अवसर प्राप्त होगा। इस धारा की व्याख्या के तौर पर अगली धारा में कहा गया है कि धर्म, जाति, लिंग, नस्ल और जन्मस्थान अथवा उनमें से किसी एक के आधार पर किसी नागरिक को न तो अयोग्य ठहराया जा सकेगा और न किसी प्रकार का भेदभाव किया जा सकेगा। भेदभाव में यहां पक्षपात भी सम्मिलित है। समानता का अर्थ यहां निष्पक्षता है, किसी पद के लिए जितने उम्मीदवार हैं उनमें से ऐसे लोगों में से जो उस पद के लिये योग्य हैं सबसे अधिक योग्य को निष्पक्ष होकर छांटा जाए तभी इस अधिकार का लाभ देश के नागरिकों को मिल सकता है।

हमें इन अधिकारों की मर्यादाओं का भी बोध कर लेना चाहिये। संविधान ने राज्य को अधिकार दिया है कि यदि राज्य उचित समझे तो किसी पद के लिए किसी विशेष क्षेत्र में निवास करने की शर्त लगा सकता है। उसने राज्य को यह अधिकार भी दिया है कि वह उन पिछड़ी हुई जातियों के नागरिकों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रख सके जिनके बारे में उसका यह विचार है कि उनके सदस्य राज्य के भीतर पर्याप्त मात्रा में सरकारी सेवाओं में नहीं हैं। साथ ही संविधान ने अनुच्छेद १६ की धारा ५ में यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी विशेष धार्मिक संस्था का प्रबंध करने के लिए यदि किसी लोकसेवक की नियुक्ति की जाती है तो यह अनिवार्य माना जा सकता है कि वह कर्मचारी उस विशेष धर्म का मानने वाला हो जिसकी वह संस्था है।

छुआछूत का निवारण—पीछे यह उल्लेख किया जा चुका है कि भारत के उज्ज्वल ललाट पर छुआछूत का कलंक लगा हुआ था। हमारे संविधान ने पहली बार उसे धोकर साफ कर दिया है और अब हमारा भाल उन्नत कर दिया है। संविधान का अनुच्छेद १७ यह घोषणा करता है कि देश में छुआछूत को मिटा दिया गया है और जो लोग उसका पालन करेंगे उनके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही की जा

सकती है। इस अनुच्छेद के बारे में प्रसिद्ध सविधान-शास्त्री सर आइवर जेनिंग्स ने अपनी पुस्तिका, "सम कैरक्टरस्टिक्स ऑव द इण्डियन कास्टीट्यूशन" मे कहा है कि इससे किसी अधिकार का बोध नही होता, वस्तुत यह धारणा ठीक नही है। हो सकता है कि यह अनुच्छेद भारत के जनसाधारण को कोई अधिकार न देता हो परन्तु इसके द्वारा देश के कई करोड ऐसे लोगो को अपने देश के चालीस करोड लोगो के बराबर खडे होने का अधिकार मिला है जो हजारो साल से समाज के भीतर पीडा और उपेक्षा का जीवन व्यतीत कर रहे थे। इस अनुच्छेद ने सामाजिक समानता के मार्ग के एक महान शैलखण्ड को हटाकर लोकतन्त्र के लिये पथ प्रशस्त किया है।

उपाधियों का निषेध—सविधान के अनुच्छेद १८ ने राज्य को आदेश दिया है कि वह राज्य म किसी प्रकार की उपाधिया न बाटे, उसे यह छूट दी गई है कि वह सैनिक तथा विद्वत्ता सम्बन्धी सम्मान व पदक दे सकती है। इस अनुच्छेद का भी सर जेनिंग्स ने मज़ाक उडाया है और उनका मानना है कि यह अधिकार नही है वरन् सरकार की कार्यपालिका और विधायी सत्ता पर लगाया गया एक प्रतिबन्ध है जिसका उल्लेख यहा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह व्यवस्था प्रशासकीय नियमो के द्वारा की जा सकती थी। सर जेनिंग्स यो भारत के इतिहास के निकट के दर्शक रहे हैं तथापि शायद वे यह नही समझ पाये कि उपाधियों के बारे मे भारत की पृष्ठभूमि क्या है। यहा अंग्रेजो ने उपाधिया बाट-बाट कर ऐसे लोगो का दल तैयार किया था जो अंग्रेज का हिमायती था। भारत मे राजा साहब, रायसाहब, रायबहादुर, खानसाहब इत्यादि की पदविया देशद्रोह के चिन्ह के तौर पर देखी गई हैं, अतः उस कटु परम्परा का अन्त करना आवश्यक ही नही अनिवार्य था। सबसे बडी बात यह है कि भारत एक गणराज्य है, वह ब्रिटेन के जैसा नही है जहा अभी तक सम्राट को लोकतन्त्र के साथ जोड रखा गया है। उपाधिया वर्तमान लोकतन्त्र के साथ मेल नही खाती, वे उस पुराने युग की सभ्यता के अवशेष हैं जो सम्राटो के साथ दफना दी गई है। लोकतन्त्र के भीतर प्रतिष्ठित होने के लिये किसी उपाधि की आवश्यकता नही है, उसमे नागरिकता ही सबसे बडी उपाधि है जिसे पाकर मनुष्य अपने देश का स्वामी बन जाता है और सर्वोच्च सत्ता का हिस्सेदार हो जाता है। लोकतन्त्र के सामने मनुष्य और मनुष्य के बीच मे से असमानता के समस्त तत्वो को उखाड फेंकने का काम है अत यह बहुत स्वाभाविक ही था कि भारतीय सविधान नागरिको को समानता प्रदान करने की चाह मे यह स्पष्ट उल्लेख करता कि आगे समाज म किसी नय प्रकार की विषमतायें नही पैदा की जायेंगी। लोकतन्त्र के सामने प्रतिष्ठा का समाजवाद बनाने का दुरूह कार्य है उसको पूरा करने के लिय भारतीय सविधान ठीक ही उपाधियो पर बन्धन लगाता है क्योकि वे नागरिको के बीच प्रतिष्ठा की विषमता पैदा करती हैं। यहा एक तर्क और भी ध्यान देने योग्य है कि आज व्यक्तिगत प्रयास का युग समाप्त हो रहा है, केवल भारत में ही नहीं

ससार भर मे सहयोग और सहकारिता का नया युग आ रहा है। ऐसी परिस्थिति मे जबकि समाज के भीतर जो भी उपलब्धिया हैं वे हमारे सयुक्त प्रयास का फल हैं किसी व्यक्ति विशेष को उनके लिये श्रेय किस प्रकार दिया जा सकता है ? पहले जमाने म यह होता रहा था, काम कोई करता था और श्रेय किसी को मिलता था। लोकतन्त्र मे प्रतिष्ठा का यह शोषण बन्द करना केवल उचित ही नही लोकतन्त्र के भीतर लोकाभिक्रम (पीपुल्स इनीशियेटिव्ह) जाग्रत करने का एकमात्र उपाय हैं। जब लोग यह जानते हैं कि उनके परिश्रम का श्रेय किसी अकेले व्यक्ति को न मिलकर समूचे समाज को प्राप्त होता है तो उन्हें काम करने म अधिक उत्साह आता है।

इस विषय म सविधान ने विदेशी नागरिको पर भी प्रतिबन्ध लगाया है। जो विदेशी नागरिक भारत मे वैतनिक या ट्रस्ट का पद सम्हालते हैं वे राष्ट्रपति की अनुमति के बिना न तो विदेशी उपाधिया स्वीकार कर सकेंगे और न वे किसी विदेशी सरकार के अन्तर्गत कोई पद ग्रहण कर सकेंगे, न कोई धन अथवा भेंट ले सकेंग।

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार

समानता की भाति लोकतन्त्र का दूसरा आधार स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता कई प्रकार की होती है, यहा हमारा प्रयोजन राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से नही है, वरन् हम यहा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उल्लेख करेंगे। दूसरी बात यह है कि हमारा प्रयोजन यहा स्वतन्त्रता की समाजवादी कल्पना से नहीं है जिसम आर्थिक स्वतन्त्रता को बहुत महत्व दिया गया है, हमारे सामने केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता की कल्पना है और हम उसी तक अपनी चर्चा सीमित रखेंगे।

सविधान के अनुच्छेद १६ मे कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक को निम्न प्रकार की स्वतन्त्रतायें प्राप्त होंगी —

(अ) भाषण देने व अपने विचार प्रगट करने की स्वतन्त्रता,
(ब) शान्तिपूर्वक और नि शस्त्र सभा करने की स्वतन्त्रता,
(स) समुदाय अथवा सघ बनाने की स्वतन्त्रता,
(द) समूचे भारत प्रदेश मे जहा चाहे वहा आने-जाने की स्वतन्त्रता,
(त) भारत प्रदेश के किसी खण्ड मे निवास करने अथवा बस जाने की स्वतन्त्रता
(थ) सम्पत्ति प्राप्त करने, अपने पास रखने और उसे बेचने की स्वतन्त्रता,
(ध) कोई भी पेशा अपनाने या कोई धन्धा, व्यापार अथवा व्यवसाय चलाने की स्वतन्त्रता।

स्वतन्त्रताओ की इस लम्बी सूची का अवलोकन करने से बोध होता है कि भारत का नागरिक अपने जीवन में बहुत अधिक माना म स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। परन्तु हमे यह ध्यान रखना चाहिये कि समाज के भीतर मनुष्य को

कोई भी अधिकार पूर्ण अथवा निरपेक्ष रूप में प्राप्त नहीं होता, प्रत्येक अधिकार को राष्ट्रीय और सामाजिक हितों की मर्यादा के भीतर ही प्रयोग किया जा सकता है। ये मर्यादायें एक प्रकार की लक्ष्मण-रेखायें हैं जिनका उल्लघन करते ही हम अपने आपको और समाज को सकट मे डाल सकते हैं। सविधान स्वय इस बारे में बहुत जागरूक रहा है और उसम इन लक्ष्मण-रेखाओ का उल्लेख विस्तार से कर दिया गया है। य मर्यादायें अनुच्छेद १६ की दूसरी धारा मे गिनायी गई हैं। कहा गया है कि राज्य अपनी सुरक्षा, विदेशी राज्यो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो की रक्षा, सार्वजनिक सुव्यवस्था, सभ्यता अथवा नैतिकता या न्यायालय का अपमान, मानहानि या अपराध के लिए प्रेरित करने के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिये ऐसे कानून बना सकता है जो नागरिक की भाषण और विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित कर दें। इसी प्रकार दूसरी स्वतन्त्रताओ पर भी प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। व्यापार, व्यवसाय और धन्धा करने की स्वतन्त्रता के बारे म यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राज्य को यह अधिकार होगा कि वह किसी धन्धे को करने वाले के लिये कुछ अनिवार्य योग्यता की शर्त लगा सकता है तथा उसे यह अधिकार भी होगा कि वह अपने आप या अपने द्वारा सचालित अथवा नियन्त्रित निगमो के द्वारा किसी उद्योग, व्यापार, व्यवसाय अथवा सेवा पर एकाधिकार कर सकता है तथा नागरिको को पूरी तरह या आंशिक तौर पर उस धन्धे को निजी रूप में करने से मना कर सकता है।

सब के लिए स्वतन्त्रता—इतनी बात सविधान ने अपने नागरिको के बारे में कही है आगे का अश सब के लिये स्वतन्त्रता की व्यवस्था करता है। उसमें कहा गया है कि किसी व्यक्ति को तब तक दण्ड नही दिया जायगा जब तक कि उसने उस समय प्रचलित किसी विधि का उल्लघन न किया हो। साथ ही यह भी कहा गया है कि दण्ड की मात्रा उससे अधिक नही हो सकेगी जो कि उस समय विधि द्वारा निर्धारित की गई हो।

अगली धारा में बताया गया है कि किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिये दो बार मुकदमे के लिये नही लाया जा सकता तथा उसे दो बार दण्ड नही दिया जा सकता। किसी व्यक्ति को अपने विरुद्ध गवाही देने के लिये विवश नही किया जा सकता।

जीवन की स्वतन्त्रता—सविधान के अनुच्छेद २१ में कहा गया है कि किसी व्यक्ति के प्राण या उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण केवल विधि द्वारा निश्चित प्रक्रिया के द्वारा ही किया जा सकता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि भारत में प्रत्यक व्यक्ति का जीवन सुरक्षित है और उसे पूरी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

भारत के न्यायालय यद्यपि यह शक्ति रखते हैं कि यदि वे संसद या किसी राज्य-विधान सभा द्वारा बनाई गई किसी विधि को सविधान के विरुद्ध पाते हैं तो

उसे असाविधानिक घोषित कर सकते हैं परन्तु वे साविधानिक विधियो के उचित या अनुचित होने के बारे मे कुछ नही कह सकते । सयुक्त राज्य अमेरिका मे न्यायालय न्याय की उचित प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्य करते है अत उसका परिणाम यह हुआ है कि वे औचित्य के आधार पर भी विधियो की समीक्षा करने लगे हैं । ब्रिटेन में तो साविधानिक-समीक्षा अर्थात् न्यायालय द्वारा विधियो की समीक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता क्योकि वहा न तो लिखित सविधान है और न वहा ससद की शक्ति पर कोई मर्यादायें हैं । फ्रास मे भी यह विचार बहुत अरुचिकर है कि वहा के न्यायाधीश उस देश के विधि-निर्माण में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हस्तक्षेप करें, वे अपनी ससद के द्वारा सविधान का उल्लघन सहन कर लेते हैं परन्तु न्यायालय को यह शक्ति नही देना चाहते कि वह जनता की प्रतिनिधि संसद के बनाये कानूनो की आलोचना या समीक्षा करे ।

भारत की स्थिति इस विषय में जैसा कि कहा जा चुका है बहुत स्पष्ट है, यहा सर्वोच्च-न्यायालय सविधान के उल्लघन पर आपत्ति कर सकता है परन्तु जो शक्तिया ससद को दी गई हैं उनके प्रयोग के ढग के बारे म कोई आपत्ति नही कर सकता । इस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मामले में सर्वोच्च-न्यायालय को ससद की इच्छा पर निर्भर रहना होता है । व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सविधान ने एक प्रकार से संसद की दया पर छोड दिया है, ससद को यह खुली छूट दी गई है कि वह संविधान की दूसरी धाराओ के अन्तर्गत मनमाने ढग से विधि की प्रक्रिया निर्धारित कर सकती है । विधि की प्रक्रिया के भी अनेक अर्थ लगाये गये हैं । भारत के सर्वोच्च-न्यायाधीश श्री कानिया का इस विषय म यह मत है कि अनुच्छेद २१ का अर्थ है, "राज्य द्वारा बनाई गई विधिया,' श्री जस्टिस फजलअली का कहना है कि विधि के भीतर, 'न्याय के कुछ वे मौलिक सिद्धान्त भी निहित हैं जो प्रत्येक वैधानिक पद्धति में पाये जाते हैं तथा विधि द्वारा निश्चित प्रक्रिया का भारत मे वही अर्थ है जो कि संयुक्तराज्य अमेरिका मे विधि की उचित प्रक्रिया (Due Process of Law) का है', अत भारत मे भी सर्वोच्च-न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिये कि वह ससद द्वारा बनाई गई विधियो के औचित्य की समीक्षा कर सके । न्यायाधीश श्री पातजलि शास्त्री का मत है कि विधि द्वारा निश्चित प्रक्रिया (Procedure Established by Law) का अर्थ है—"सामान्य, भली प्रकार स्थापित दण्ड प्रक्रिया ।"† इस सब मतभेद के रहते हुए भी हमारे देश के न्यायालय विधियो के औचित्य की समीक्षा नहीं करते, उसका एक कारण यह भी है कि हमारे जिम्मेदार राजनीतिक नेता और राज्य-नायक यह स्पष्ट कर चुके हैं कि वे यह पसन्द नही करेंगे कि भारत में सर्वोच्च-न्यायालय विधि-निर्माण के मामले मे ससद के तीसरे सदन की भाति कार्य करे ।‡

† ए के. गोपालन विरुद्ध मद्रास राज्य A. I. R. 1950, S C 27

‡ जवाहरलाल नेहरू, सविधान सभा के सामने भाषण करते हुए ।

अगले अनुच्छेद में सविधान ने कहा है कि किसी भी व्यक्ति को बिना कारण बताये बन्दी नहीं बनाया जा सकता तथा उसे यह अधिकार होगा कि वह अपनी पसन्द के वकील से सलाह कर सके व उसके द्वारा अपना बचाव कर सके। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा की दृष्टि से यह भी कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी के बाद निकट से निकट स्थान पर मजिस्ट्रेट के सामने ले जाया जायेगा और इस प्रकार मजिस्ट्रेट के सामने जाने मे यात्रा के लिये व्यय होने वाले समय को छोडकर चौबीस घटे से अधिक समय नही लगना चाहिये। परन्तु यह धारा उन व्यक्तियो पर लागू नही होती जो या तो शत्रु विदेश के नागरिक हो या निवारक-बन्दीकरण अधिनियम के अन्तर्गत बन्दी बनाये गये हो। यहा निवारक-बन्दीकरण अधिनियम (Preventive Detention Act) का वर्णन करना उचित होगा।

निवारक-बन्दीकरण अधिनियम—संविधान ने संसद को यह अधिकार दिया है कि वह किसी व्यक्ति को बिना पहले से कारण बताये हुए बन्दी बनाने के लिए विधि बना सकती है। परन्तु इस अधिनियम के अन्तर्गत बन्दी बनाये जाने वाले व्यक्ति को बन्दीकरण के शीघ्र बाद ही बन्दी बनाने वाले अधिकारी द्वारा यह बताया जायेगा कि उसे क्यो बन्दी बनाया गया है तथा उसे यह अवसर दिया जायेगा कि वह अपना बचाव कर सके। यदि बन्दीकरण के कारण सार्वजनिक सुरक्षा की दृष्टि से बताये जाने मे आपत्ति हो तो कारण बताना अनिवार्य नही माना जायेगा।

इस अधिनियम के अन्तर्गत बनाये बन्दी को साधारणतया तीन मास से अधिक कारावास में नही रखा जा सकता। यदि उससे अधिक अवधि तक कारावास मे रखना आवश्यक समझा जायेगा तो तीन मास बीतने से पूर्व ही ऐसे व्यक्तियो का एक परामर्श-मण्डल नियुक्त किया जायेगा जो उच्च-न्यायाधीश हो या होने की योग्यता रखते हो, यह मण्डल तीन मास बीतने से पहले ही अपनी सिफारिश पेश करेगा कि अमुक व्यक्ति का बन्दीकाल बढाये जाने के पक्ष मे पर्याप्त कारण हैं। इस प्रकार बन्दीकरण की अधिकतम अवधि कितनी होगी इसका निर्णय ससद अपने अधिनियम द्वारा करेगी। संसद यह भी तय कर सकती है कि किन-किन परिस्थितियो मे तीन मास की अवधि बिना परामर्श-मण्डल की नियुक्ति के ही बढाई जा सकेगी। परामर्श-मण्डल किस प्रकार काम करेगा यह भी संसद ही तय करती है। इस प्रसंग मे यह बात स्मरण रखने योग्य है कि संविधान ने ससद को इस सत्ता में एक अपवाद किया है। जहा तक जम्मू-काश्मीर राज्य का सम्बन्ध है वहां निवारक-बन्दीकरण अधिनियम बनाने की सत्ता संसद को न दी जाकर राज्य विधान मण्डल को दी गई है।

इस अनुच्छेद के द्वारा संविधान ने ससद को एक बहुत बडी सत्ता दे दी है, उसकी यह सत्ता न्यायालयो के अधिकार क्षेत्र से बाहर है तथा वास्तव में संसद के भीतर किसी समय जो बहुमत दल होगा वही इस सत्ता का प्रयोग करेगा। इस प्रकार यह सत्ता संसद के बजाये मन्त्रिमण्डल के हाथो मे चली जाती है। लोकतन्त्र

की दृष्टि से कार्यपालिका के हाथो मे ऐसी निरकुश सत्ता देना व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सर्वथा निषेध हैं। यह ठीक है कि संविधान ने यह कहा है कि बन्दी को बन्दीकरण के बाद शीघ्र ही बन्दीकरण के कारण बताये जायेंगे, परन्तु इसके लिए कोई निश्चित अवधि निर्धारित नही की गई है यह बिल्कुल कार्यपालिका पर छोड दिया गया हैं कि वह कितने समय बाद बन्दीकरण के कारणो की सूचना बन्दी को देती हैं। कारण बताने के मामले मे भी सविधान ने कार्यपालिका को एक बहुत बडी छूट दे दी है कि वह सार्वजनिक हित की दृष्टि से कारणो में ऐसी कोई बात बताने के लिए बाध्य नही है जिसका बताना वह सार्वजनिक हित म उचित न मानती हो। इस प्रकार वह न्यायालयो के क्षेत्र को बहुत सीमित कर देता है। ससदात्मक लोकतत्र में जहा राजनीतिक दलों का सघर्ष बहुत गहरा होता है एक दल के मन्त्रिमण्डल को इतनी बडी सत्ता देने के परिणाम यह भी हो सकते हैं कि सत्ता-प्राप्त दल अपने विरोधी दल के विरुद्ध इस सत्ता का प्रयोग करे तथा लोकतन्त्र की जडो पर प्रहार करे। फिर भी यह आशा की जा सकती है कि इस सत्ता के प्रयोग पर जनता के लोकमत का अकुश रहेगा तथा उसका बहुत ही कडी परिस्थितियो मे प्रयोग होगा। श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने इस विषय पर सविधान सभा म कहा था कि सविधान सभा ने "हमारे अधिकारो का काफी उचित उल्लेख किया है तथा साथ ही उचित ढग से उन पर रूढिवादी मर्यादाये भी लगा दी हैं।" भारत की वर्तमान परिस्थिति मे यह किसी सीमा तक उचित ठहराया जा सकता है परन्तु अन्ततोगत्वा लोकतन्त्र की अधिक सफल स्थापना के लिए हमें अपने सविधान मे से इस अश को निकालना होगा।

(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार

हमारे सविधान ने २३वें और २४वें अनुच्छेदो मे शोषण के विरुद्ध अधिकारो का उल्लेख किया है। यहा भी हमें यह ध्यान म रखना होगा कि सविधान का प्रयोजन इस अधिकार के द्वारा देश के भीतर से पूजीवादी व्यवस्था अर्थात् व्यक्तिगत मुनाफाखोरी को मिटाना नही है। इस अधिकार में केवल यह कहा गया है कि मनुष्यो का न तो व्यापार किया जा सकेगा न उनमे बेगार या अन्य प्रकार का विवश श्रम लिया जा सकेगा, तथा यदि वैसा करने की चेष्टा की गई तो उसे दण्डनीय अपराध माना जायगा। आगे कहा गया है कि चौदह वर्ष से कम की आयु के बालको को किसी कारखाने, खदान या किसी दूसरे ऐसे धन्धे म नही लगाया जा सकता जिसमें जीवन का खतरा हो।

यहा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राज्य को यह अधिकार होगा कि वह नागरिको को सार्वजनिक कार्य करने के लिय विवश कर सके, ऐसा करते समय राज्य धर्म, जाति, प्रजाति, वर्ग आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा।

वास्तव में इस अधिकार को शोषण के विरुद्ध अधिकार कहना सही नही होगा, आज समाज के भीतर शोषण शब्द का एक बहुत व्यापक अर्थ प्रचलित है। आज मनुष्य, मनुष्य का आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक आदि अनेक क्षेत्रो में शोषण कर रहा है। काम करने वाले को न तो काम का पूरा प्रतिफल प्राप्त होता है न उसे उसका श्रेय और यश ही मिलता है। ऐसी परिस्थिति मे शोषण का अन्त करने के लिय नागरिक को अधिकार देने से कई प्रकार की उलझनें उठ खडी हो सकती थी और स्वभावत वैसी परिस्थिति म एक ऐसा प्रबन्धक राज्य बन जाता जो सबके रोजगार और सुख सुविधा का प्रबन्ध करता तथा जिसमें नागरिक के लिय इतनी व्यक्तिगत स्वतत्रता सभव नही होती जैसी कि वह आज भोग रहा है। उसे राज्य के अधिक गहरे नियत्रण को स्वीकार करना पडता।

अ ग्रेजी राज के जमाने मे भारत मे बेगार लेने की दुष्ट परम्परा पड गई थी, विशेषकर जमीदार लोग और सरकारी कर्मचारी बेगार लेते थे। इसका केवल आर्थिक दृष्टि से ही जनता पर बुरा प्रभाव नही पडता था वरन् नैतिक दृष्टि से भी उनमे दासता की मनोवृत्ति पैदा होती थी। स्वतत्रता के बाद जब हमारे स्वतत्र-सविधान ने अपने लम्बे हाथो से इस देश के नागरिक के उज्ज्वल ललाट पर मौलिक-अधिकारो के कु कुम से राजतिलक किया है तो यह बहुत स्वाभाविक है कि वह यह देखे कि भारत का यह सम्राट बेगार जैसे अपमानजनक कार्य के लिय विवश न किया जा सके। मनुष्यो का अनैतिक व्यापार भी सविधान के लिए असह्य हो गया है, यह सहज ही है क्योंकि जो मनुष्य लोकतत्र मे साध्य बन गया है उसका व्यापार सविधान जो लोकतत्र का प्रहरी है कैसे सहन करेगा। विशेषकर वेश्यावृत्ति की ओर इसका इशारा है। नन्ही-नन्ही बालिकायें अबोध अवस्था मे ही अपने माता पिता के पास से उडाई जाकर वेश्यालयो में बेच दी जाती थी तथा बड़े होने पर उन्हें वेश्यावृत्ति का काम विवशतावश अपनाना होता था इस विवशता को मिटाने के लिय सविधान ने मनुष्यो के व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाया है। स्वतन्त्रतायें कही प्रत्यक्ष रूप मे दी गई है कहीं उनके मार्ग की बाधायें हटा दी गई है। यह व्यवस्था बाधाओ के निराकरण के लिये का गई है।

(४) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

भारत एक धर्मप्रधान देश है, परन्तु इस देश का ऐसा दुर्भाग्य है कि कुछ विशेष परिस्थितियो के कारण यहा धर्म के नाम काफी असहनशीलता का दौरदौरा रहा तथा साम्प्रदायिक द्वेष और सघर्ष का वातावरण यहा रहा। बटवारे से पहले मुस्लिम लीग का तो नारा ही यह था कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग राष्ट्र हैं और इसी विचार के आधार पर देश के दो खण्ड किये गय। काग्रेस को साम्प्रदायिकता में विश्वास नही था और हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाधी सब धर्मो के समान आदर तथा सम्मान के हामी थे, अन्त मे उन्होने अपना प्राण कुसुम साम्प्रदायिक एकता की

बलिवेदी पर अर्पित कर दिया। ऐसी परिस्थिति में भारतीय संविधान किसी धर्म विशेष को कोई प्रधानता या प्रमुविधा नही दे सकता था और ठीक ही उसने देश के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को अन्त करण की स्वतन्त्रता प्रदान की है।

संविधान के अनुच्छेद २५, २६ २७, २८ मे धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है। कहा गया है कि संविधान की अन्य धाराओ तथा सार्वजनिक शान्ति, नैतिकता और स्वास्थ्य को बिना हानि पहुँचाये प्रत्यक व्यक्ति को यह अधिकार होगा कि वह अपने अन्तःकरण की मान्यता के अनुसार जिस धर्म का चाहे अपने जीवन में पालन, अभ्यास और प्रचार कर सकेगा। सिखो को यह अधिकार दिया गया है कि वे कृपाण पहन सकेंगे।

साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि राज्य को यह अधिकार होगा कि वह ऐसी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रियाओ का भी नियमन कर सकेगा जो धर्म के साथ जुडी हुई हैं तथा वह सार्वजनिक-हिन्दू सस्थाओ को हिन्दुओ के प्रत्येक वर्ग के लिये खुला कर सकेगा और उनके कल्याण के लिए व्यवस्था कर सकेगा।

उपरोक्त सीमाओ के भीतर प्रत्येक धर्म के अनुयायियो को यह अधिकार दिया गया है कि वे—

(क) धार्मिक तथा सेवा सम्बन्धी कार्यों के लिये सस्थाओ की स्थापना और उनका सचालन कर सकेंगे,

(ख) धर्म के मामले मे अपने कामो का प्रबन्ध कर सकेंगे,

(ग) चल और अचल सम्पत्ति को प्राप्त कर सकेंगे और उनका स्वामित्व प्राप्त कर सकेंगे,

(घ) अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध विधि के अनुसार कर सकेंगे।

हमारे देश मे धार्मिक सस्थायें अपने कुप्रबन्ध के लिए काफी बदनाम हुई हैं, यहा मठो, मन्दिरो और शिवालो की सम्पत्ति पर ऐसे वर्गो का पोषण हुआ है जो धार्मिक दृष्टि से अवाछनीय माना जा सकता है, तथापि हमारा संविधान धार्मिक सस्थाओ को सम्पत्ति बनाने और रखने का अधिकार देता है यह असगत मालूम हो सकता है परन्तु संविधान ने ऊपर स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार की सम्पत्ति का प्रबन्ध विधि के अनुसार होगा। इसका अर्थ यह है कि ससद को यह पूरा अधिकार है कि वह सस्थाओ की सम्पत्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भी व्यवस्था कर सकती है, उसे केवल यह ध्यान रखना होगा कि उसकी बनाई हुई विधिया उनका सम्पत्ति रखने का अधिकार छीन नही सकती, मर्यादित किसी सीमा तक भी कर सकती हैं।

धर्मनिरपेक्षता का सबसे बडा लक्षण हमारे संविधान मे यह है कि उसने यह घोषणा कर दी है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिये विवश नही किया जा सकता जिनसे प्राप्त होने वाली आय का उपयोग किसी विशेष धर्म या धार्मिक

संस्था के सचालन या उसकी अभिवृद्धि के लिए किया जाये। हमारे पाठको को यहा जजिया नाम के उस कर का ध्यान आया होगा जिसे प्रसिद्ध मुगल सम्राट औरगजेब ने लगाया था और जो केवल हिन्दुओ से ही वसूल किया जाता था। हमारा संविधान यह तो सहन करता ही नही है कि कोई कर समाज के भीतर किसी धर्म विशेष के लोगो से ही वसूल किया जाये और शेष लोगो से नही, इससे भी आगे वह यह प्रतिबन्ध लगाता है कि सार्वजनिक ढग से एकत्रित किया गया कर सार्वजनिक उपयोग मे ही लाया जा सकता है विशेष धर्म को प्रोत्साहन देने के लिए नही। इसका यह अर्थ है कि हमारे राज्य का कोई राज्य-धर्म नही है और वह किसी धर्म विशेष को मान्यता या प्रोत्साहन नही देता, उसकी दृष्टि मे सब धर्म समान हैं और नागरिको को उनके पालन की पूरी स्वतन्त्रता है।

विद्यालयों मे धार्मिक शिक्षा नही दी जा सकती—सविधान ने यह बात साफ कर दी है कि राज्य की ओर से पूरी तरह सचालित विद्यालयो मे किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नही दी जा सकती। यदि राज्य किसी ऐसी शिक्षा सस्था का संचालन करता है जिसकी स्थापना किसी दान कोष के द्वारा हुई है जो किसी धर्म की शिक्षा देना चाहता है तो राज्य उस धर्म की शिक्षा देने के लिये बाध्य होगा। इतना ही नही राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त तथा सहायता प्राप्त कोई भी सस्था अपने किसी भी विद्यार्थी को तब तक किसी विशेष धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने अथवा प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिय बाध्य नही कर सकती जब तक कि यदि वह विद्यार्थी वयस्क हो तो वह स्वय उसको स्वीकार न करे या अवयस्क होने पर उसके सरक्षक की सहमति न हो। अगले अनुच्छेद मे इस सबध म कहा गया है कि राज्य के द्वारा सचालित किसी भी विद्यालय मे किसी भी धर्म के विद्यार्थी को प्रवेश देने से मना नही किया जा सकता। वैसा करना सविधान का उल्लघन होगा।

(५) सांस्कृतिक व शैक्षणिक अधिकार

भारत एक विचित्र देश है, विचित्र का अर्थ यहा अद्भुत नही है वरन् यह कि उसका स्वरूप बहुरंगी है, उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक जहा जाइय अलग भाषा, अलग वेशभूषा, रहन-सहन का ढग अलग, भोजन बनाने और परोसने के ढग भिन्न तथा भिन्न धर्म पाये जाते हैं। भारत की यह सांस्कृतिक-बहुलता अथवा विविधता कुछ लोगो की दृष्टि मे उसकी दुर्बलता है, परन्तु यह विचार संकीर्ण एकरूपता की धारणा पर आधारित है, वास्तव मे अनेकता और बहुरगी रूप के अ तराल मे भारत की शक्ति और सुन्दरता का रहस्य छिपा हुआ है। यह विविधता सिद्ध करती है कि भारत का हृदय कितना उदार और सहनशील रहा है तथा यह उसकी लोकतन्त्रात्मक भूमिका का परिचायक भी है।

हमारे सविधान ने भारत-क्षेत्र के भीतर निवास करने वाले नागरिको के प्रत्येक समुदाय को अपनी विशिष्ट भाषा, लिपि तथा सस्कृति की रक्षा करने की स्वतंत्रता

प्रदान की है। प्रत्येक अल्पसंख्यक वर्ग चाहे वह धर्म पर आधारित हो या भाषा पर अपनी इच्छा के अनुसार शिक्षण संस्थायें चलाने के लिय स्वतन्त्र है तथा राज्य ऐसी संस्थाओं को इस आधार पर सहायता देने से मना नहीं कर सकता कि वे अल्पसंख्यकों द्वारा चलाई जा रही हैं। जिन विद्यालयों को राज्य द्वारा सहायता दी जाती है उन म सब प्रकार के धर्म, जाति, वर्ण, भाषा आदि के लोगों को प्रवेश पाने का अधिकार होगा।

कई लोगों का अभिमत है कि इस अधिकार के द्वारा संविधान ने देश के भीतर राष्ट्रीय एकता के विकास म बाधा पैदा कर दी है। यह विचार हमारे मत में संकुचित है, राष्ट्रीय विकास या राष्ट्रीयता का विकास मानव जीवन के सांस्कृतिक-पक्ष का रेजिमटेशन नहीं चाहता रेजिमटेशन द्वारा तो हम संस्कृति को संकीर्ण बना कर राष्टीयता को बेबसी की चीज बना देते है। राष्ट्रीयता इन सब विविधताओं और विचित्रताओं के परे एक आध्यात्मिक और राजनीतिक प्रत्यय है जिसका आधार समान हितों की समान चेतना है। संविधान ने यह अधिकार देकर भारत को वर्गसंघर्ष और एक प्रकार के गृहयुद्ध से बचाया है लोग आसानी क साथ अपने जमे हुए जीवन मार्ग को बदलने के लिय तैयार नहीं होते ह और यदि वैसी चेष्टा की जाती है तो राष्ट्रीयता के विकास के स्थान पर राष्ट्रीय कटुता ही अधिक बढ़ती है।

(६) सम्पत्ति का अधिकार

मानव जीवन म सम्पत्ति का बहुत अधिक महत्व रहा है। राजनीति विज्ञान के विद्वान अरस्तु ने कहा है कि व्यक्ति के नैतिक और राजनीतिक विकास के लिये एक बुनियादी शर्त सम्पत्ति है और दूसरी है परिवार। परिवार के सम्यक् संचालन के लिय भी सम्पत्ति की आवश्यकता होती ही है। हमारे संविधान ने व्यक्ति और उसके संघों व समक्षियों के सम्पत्ति रखने के अधिकार को मान्य किया है तथापि उसके सामने प्रश्न यह था कि वह बीसवी शताब्दी म तथा एक ऐसे देश के लिय राज्य संचालन के नियमों की संहिता तैयार कर रहा था जो लोकतन्त्र के दो आधारों स्वतन्त्रता और समानता म से केवल पहले पर ही नहीं दूसरे पर भी समान तौर पर बल देन तथा लोकतांत्रिक-समाजवाद या समाजवादी-लोकतन्त्र की स्थापना करने के लिये दृढ संकल्प है अत वह ऐसी व्यवस्था नहीं कर सकता था कि सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति और उसके समुदायों को पूर्ण एव अमर्यादित रूप मे दे दे, अत उसने सामाजिक हितों को ध्यान म रखकर उसपर मर्यादायें लगाई है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा—संविधान ने अनुच्छेद ३१ में व्यक्तिगत सम्पत्ति को अभयदान दिया है उसने कहा है कि विधि की सत्ता के सिवाय और किसी प्रकार अवैधानिक रूप म किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का अपहरण नहीं किया जा सकता। किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति केवल सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिय ही उससे जबर्दस्ती ली जा सकती है और उसके लिय भी विधि द्वारा या तो प्रतिधन

(Compensation) की राशि तय की जायगी या प्रतिधन देने का सिद्धान्त एवं उसकी पद्धति का उल्लेख किया जायेगा। इस बारे में बनाया गया कोई कानून न्यायालय में इस आधार पर समीक्षा के लिये प्रस्तुत नहीं किया जा सकता कि उसमें दी गई प्रतिधन की दर अपर्याप्त (Inadequate) है। यदि कोई विधि किसी सम्पत्ति का स्वामित्व राज्य या उसके द्वारा नियंत्रित किसी निगम को नहीं सौंपती है और सम्पत्ति के वास्तविक स्वामी को उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं करती तो उस विधि के भीतर प्रतिधन आदि के उल्लेख की आवश्यकता नहीं होगी। यहां यह प्रश्न उठता है कि ऐसी विधि बनाने का अवसर कब आ सकता है? ऐसी विधि उस स्थिति मे बनाई जा सकती है जब राज्य को यह विश्वास हो जाये कि किसी सम्पत्ति का प्रबन्ध उसके स्वामी या स्वामियों के हितों में नहीं हो पा रहा है तथा उसके कारण सार्वजनिक हितों को भी हानि पहुंचती है तो राज्य उस सम्पत्ति का स्वामित्व अपने हाथ में ले सकता है परन्तु उस स्थिति में वह उसका उपयोग अपने लिये किसी प्रकार का आर्थिक लाभ प्राप्त करने में नहीं कर सकता, आर्थिक लाभ उसके वास्तविक स्वामियों को ही प्राप्त होने चाहियें। उदाहरण के लिये एशिया का सबसे बड़ा शोलापुर का कपड़े का एक कारखाना अचानक १९४९ मे बंद कर दिया गया इससे उसमे लगे १३००० लोगों के सामने बेकारी की समस्या तो पैदा हो ही गई देश में कपड़े के उत्पादन मे भी कमी आ गई, वैसी स्थिति में उसका संचालन राज्य ने सम्भाल लिया तथा उससे होने वाले लाभ को उसके भागीदारों मे बांट दिया। इसे हम राज्य द्वारा प्राइवेट सम्पत्ति के प्रबन्ध का अधिकार कह सकते है। इस प्रकार यहां केवल व्यक्ति के अधिकारों का ही नहीं वरन् राज्य के अधिकारों का उल्लेख भी किया गया है।

ऐसी वे समस्त विधियां जो किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जायेंगी तब ही लागू की जा सकेंगी जबकि वे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजी जायें और उन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाये। सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह कर, अथवा दण्ड (जुर्माना) लागू कर सके तथा सार्वजनिक हित की दृष्टि से किसी सम्पत्ति को नष्ट करा सके।

इस बारे मे यह बात स्मरणीय है कि संविधान बनने के बाद सर्वोच्च-न्यायालय ने कुछ कानूनों को इस प्रकार रद्द किया जिससे सरकार के लिये अपनी योजना को चलाना असंभव हुआ, उसका सहज परिणाम यह हुआ कि संविधान मे प्रथम (१९५१) और चौथे (१९५५) संशोधनों के द्वारा संपत्ति के अधिकार के मामले में संसद को बहुत अधिक शक्ति दे दी गई तथा सर्वोच्च-न्यायालय के अधिकार बहुत अधिक सीमित कर दिये गये हैं। तत्कालीन विधिमन्त्री ने चौथे संशोधन के समय न्यायालय के विरुद्ध अनेक बातें कहीं और कहा कि संसद की सत्ता न्यायालय से अधिक बड़ी है उन्होंने कहा "परन्तु न्यायालयों की व्याख्या के कारण यह संशोधन करना अनिवार्य हो गया है। यह सोचना अधिक उपयुक्त होगा कि हमारे संविधान निर्माताओं ने

नागरिको के अधिकारो की रक्षा के लिये ससद पर विश्वास किया है जैसे कि ब्रिटेन की जनता व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा के लिय ससद पर भरोसा करती हैं।" पाटस्कर, लोकसभा डिबेट्स, खड २ स० १, पृष्ठ २०१७।

(७) सांविधानिक उपचारो का अधिकार

मौलिक अधिकारो का मूल्य तभी तक है जब तक कि वे सामान्यतया सरकार के हस्तक्षेप से मुक्त हो इसके लिए यह व्यवस्था की गई है कि यदि कोई नागरिक कभी यह अनुभव करता है कि राज्य या किसी दूसरे व्यक्ति ने किसी स्थिति में उसके किसी मौलिक अधिकार का अपहरण कर लिया है तो उसे अधिकार दिया गया है कि वह अपना मामला सर्वोच्च-न्यायालय के सामने ले जा सकता है। यदि सर्वोच्च-न्यायालय यह समझता है कि सरकार या किसी व्यक्ति अथवा सस्था के किसी काम से नागरिको के किसी मौलिक अधिकार का अपहरण हुआ है तो वह उन कामो या आदेशो को रद्द करने की घोषणा करके व्यक्ति को उसके अधिकार वापिस दिला सकता है।

सांविधानिक उपचारो का अधिकार सविधान का सबसे महत्वपूर्ण अ ग है, इसके बारे म सविधान के जनक भारत के आधुनिक मनु डॉ० अम्बेडकर ने कहा था कि, "*यदि मुझसे पूछा जाय कि सविधान म सबसे अधिक महत्वपूर्ण अनुच्छेद कौन सा है जिसके बिना सविधान शून्य रह जायेगा तो मै इस अनुच्छेद के सिवाय किसी दूसरे अनुच्छेद की ओर इशारा नही कर सकता। यह सविधान की आत्मा और उसका हृदय है।*' (*सविधान सभा डिबेट्स खण्ड ७, सख्या २३, पृष्ठ ६५३*)

परन्तु हमे यह याद रखना चाहिय कि सविधान ने सांविधानिक उपचारो के अधिकार पर भी प्रतिबन्ध लगाया है। उसने अपने अनुच्छेद ३५९ मे कहा है कि आपात काल की घोषणा होने पर यह अधिकार निलबित (Suspended) रहेगा। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मौलिक अधिकार देश की असाधारण स्थिति मे नागरिको को प्राप्त होने से रोके जा सकते हैं।

सर्वोच्च-न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह नागरिको के अधिकारो की रक्षा के लिए निम्न लेखो (Writs) का प्रयोग कर सकेगा। य लेख सविधान के अ ग हैं और ससद उन्हे साधारणतया छीन नही सकती, उसके लिए उसे सविधान म सशोधन करना होगा। इन लेखो से नागरिको को मौलिक अधिकारो की दिशा मे बहुत रक्षा और आश्रय मिल जाता है। नागरिक सीधे न्यायालय के सामने जाकर बिना कोई मुकदमा चलाय न्यायालय से लेख जारी करके रक्षा की प्रार्थना कर सकता है। न्यायालय को अधिकार है कि वह सन्तुष्ट हो जाने पर लेख जारी करे और आवश्यकता होने पर उसे रद्द भी कर दे। इस प्रकार सर्वोच्च-न्यायालय मौलिक अधिकारो का प्रहरी बन गया है।

लेख—लेख कई प्रकार के होते हैं—बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख (Writ of

Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध का लेख (Writ of prohibiticu), उत्प्रेषण लेख (Certiorari), पदमुक्ति का लेख (Quo-warranto) ।

बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख–लेख का अर्थ है न्यायालय का आदेश । बन्दी प्रत्यक्षीकरण का अर्थ यह है कि न्यायालय किसी बन्दी की प्रार्थना पर बन्दी बनाने वाले को यह आदेश दे सकता है कि बन्दी को सशरीर न्यायालय के सामने पेश किया जाय तथा उसको बन्दी बनाने का कारण बताया जाय । यदि न्यायालय समझता है कि अमुक व्यक्ति को बन्दी बनाने के पर्याप्त कारण नही है तो वह उसे मुक्त कर सकता है । कारागृह मे से भी बन्दी न्यायालय के सामने जाने की माग कर सकता है और यदि न्यायालय उसे स्वीकार कर ले तो बन्दी को न्यायालय के सामने पेश करना ही होता है ।

परमादेश—यह वह आदेश है जो उच्च न्यायालयो द्वारा निम्न न्यायालयो, व्यक्तियो या सस्थाओ के नाम जारी किया जाता है कि वे अपने अमुक कर्तव्य का पालन करें, जैसे किसी नगरपालिका के चुनाव समय पर नही होते तो उसे चुनाव कराने के लिये न्यायालय आदेश दे सकता है । इन आदेशो का मानना अनिवार्य होता है ।

प्रतिषेध का लेख—यह परमादेश का बिल्कुल उल्टा काम करता है । यह लेख न्याय के नियमो का उल्लघन करने पर निम्न न्यायालयो के नाम उच्च-न्यायालयो द्वारा जारी किये जाते हैं, जिनम उन्हे आदेश दिया जाता है कि वे ऐसे मुकदमे न सुनें जो उनके क्षेत्राधिकार के बाहर हो । यह लेख न्यायालयो के अलावा कभी-कभी सार्वजनिक सस्थाओ के नाम भी जारी किए जाते हैं जैसे सब जिला परिषद, नगरपालिका आदि सार्वजनिक सस्थाए अर्द्ध-न्यायिक निर्णय करते हैं तो उनकी कार्यवाही म दोष पाये जाने पर न्यायालय उनकी कार्यवाही को रोक सकते हैं ।

उत्प्रेषण लेख—उत्प्रेषण लेख का अर्थ है मुकदमो को नीचे न्यायालयो से ऊचे न्यायालयों म भेजना । जब प्रतिषेध लेख जारी किए जाते हैं तभी उत्प्रेषण लेख के द्वारा यह आदेश भी दिया जाता है कि निम्न न्यायालय किस उच्च न्यायालय मे मुकदमे को भेजे।

पदमुक्ति का लेख—जब कोई व्यक्ति किसी पद को अवैधानिक रूप से हडप लेता है तो उस स्थिति म उसके विरुद्ध यह लेख जारी किया जाता हैं जिसमे उसे आदेश दिया जाता हैं कि वह पद को खाली कर दे ।

इन समस्त लेखो का उद्देश्य यह है कि अन्याय से रक्षा करने के लिय शीघ्र व्यवस्था की जा सके तथा मामले को न्यायालय के सामने लाया जा सके । मौलिक अधिकारो की रक्षा सर्वोच्च न्यायालय की लेख जारी करने और उनको क्रियान्वित कराने की शक्ति पर ही निर्भर है ।

अधिकारों का निलंबन

जैसा कि कहा जा चुका है कि मौलिक अधिकार आपातकाल मे राष्ट्रपति की घोषणा के द्वारा निलबित किये जा सकते है। वास्तव मे समाज के भीतर व्यक्ति का कोई भी अधिकार चाहे वह कितना भी महत्वपूर्ण क्यो न हो निरपेक्ष अथवा पूर्ण नही हो सकता। जहा एक ओर यह आवश्यक है कि अधिकारो को दुरुपयोग से बचाया जाये वही समाज और राष्ट्र के सामूहिक हितो की रक्षा करने के लिये अधिकारो पर सीमायें लगानी पडती है। सीमाओ का अर्थ अधिकार का निषेध नही होता, वास्तव म य सीमाये ही अधिकारो को वास्तविक बनाती है क्योकि यदि सीमायें न खीची जायें तो अधिकारो की प्राप्ति चन्द लोगो को ही हो सकती है, सब लोगो को अधिकार देने के लिये यह आवश्यक है कि उन पर सीमायें लगायी जायें तथा उनके अतिक्रमण को रोका जाय। कुल मिलाकर हमारे संविधान ने न तो बहुत अधिक भावुकता के साथ आदर्शात्मक व्यवस्था की है और न उसने वास्तविकता को भुलाकर एक अनियन्त्रित शासन की स्थापना ही की है। मौलिक अधिकारो की व्यवस्था जिस प्रकार की गई है वह बहुत ही व्यवहारिक है।

अध्याय १२

राज्य के नीति-निर्देशक तत्व

राज्य के नीति-निर्देशक तत्वो का उद्देश्य जनता के कल्याण को बढावा देने वाली सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है।

—डा० राजेन्द्रप्रसाद

आधुनिक राज्य लोककल्याणकारी राज्य है। वह केवल राजनीतिक या पुलिस राज्य ही नही है अपितु वर्तमान युग मे समाज के मानसिक, नैतिक, बौद्धिक, शारीरिक और सर्वतोमुखी कल्याण के लिये एक उपयुक्त साधन माना जाने लगा है। लोकतत्रात्मक शासन व्यवस्था के लागू होने के परिणामस्वरूप ग्राम जनता राज्य को सदेह की दृष्टि से देखने के बजाय उसे अपने कल्याण के साधन या अभिकरण (Agency) के रूप में देखने लगी है। सरकार मे आज निरकुश और अनुत्तरदायी शासक नही बैठते वरन् वहा जनता के प्रतिनिधि होते हैं जो अपने हर काम के लिये जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं और जिन्हें जनता हर पाच साल बाद नये सिरे से चुनती है, अत यह बहुत स्वाभाविक है कि जनता अपने सामूहिक हितो से सम्बन्धित सारे प्रश्नो को राज्य के हवाले कर दे और उससे यह अपेक्षा करे कि वह उसकी सेवा का एक सक्रिय और सावधान उपकरण सिद्ध होगा।

जनतत्र के साथ लोक-कल्याण की धारणा अभिन्न रूप से जुडी हुई है। वैज्ञानिक प्रगति के युग मे राज्य केवल मात्र साक्षी बनकर तटस्थ नही बैठा रह सकता, उसे सचेष्ट होकर देश के भीतर स्वतत्रता और समानता के सिद्धान्तो का पालन कराना होगा तथा यह देखना होगा कि देश के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम का पूरा प्रतिफल प्राप्त होता है तथा किसी के साथ किसी प्रकार का अन्याय नही होता। वह समाज की ओर से अनाथ और अपाहिज प्रजा के जीवन के लिये भी उत्तरदायी माना जाने लगा है। ब्रिटिश आदर्शवादी विचारक टी. एच ग्रीन के चिन्तन से आज का राजनीतिक चिन्तन बहुत आगे बढ गया है और यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाने लगा है कि राज्य का काम केवल व्यक्ति के विकास के मार्ग की बाधाओ का निवारण करना ही नही है वरन् सक्रिय रूप से उसके कल्याण और सम्यक् विकास के लिये प्रबन्ध करना भी है। भारत ने भी राज्य के कार्यों की इस कल्पना को ही स्वीकार किया है। हमारे राज्य को लोक-कल्याणकारी राज्य (Welfare-State) कहा गया है।

राज्य का मार्गदर्शन—मौलिक अधिकारो का अध्याय संविधान में जोड कर सविधान निर्माताओ ने अपने ऊपर यह उत्तरदायित्व अनुभव किया कि वे सविधान में देश के राजकर्ताओ विधि-निर्माताओ और प्रशासकीय तत्र के सदस्यो पर कुछ कर्तव्य आरोपित करें जिन्हे पूरा करके मौलिक अधिकारो को अधिक व्यवहारिक बनाया जा सके। नागरिक के जो अधिकार हैं राज्य के वे ही कर्तव्य हैं। अत राज्य का मार्गदर्शन करने के लिय उन्होने स्पेन और आयरलैंड की परम्परा के अनुरूप भारतीय-संविधान म राज्य नीति के निर्देशक तत्व नाम से एक अध्याय जोड दिया। यो भारत अपने सावैधानिक इतिहास में इस प्रकार की व्यवस्था से सर्वथा अनभिज्ञ नही था। ब्रिटिश शासन काल म जब कोई भी नया विधान बना कर भारत भेजा जाता था तो गवर्नर जनरल और प्रातीय गवर्नरो के लिय उसम एक आदेश पत्र (Instrument of Instructions) सलग्न किया जाता था जिसमे उनके नाम कुछ आदेश दिये जाते थ तथा उन्हे बताया जाता था कि विधान को लागू करते समय वे किस नीति का अनुसरण करेंगे। १९३५ के भारत शासन अधिनियम में विशेष रूप से यह जोडा गया था। उसमे राज्य द्वारा अनुसरण की जाने वाली नीतियो का उल्लेख होता था।

राज्य का अर्थ यहा केवल सघीय शासन नही है वरन् उसमे राज्यो का शासन भी सम्मिलित है, यहा तक कि ग्राम पचायते भी उसम आती हैं, परन्तु उसके भीतर न्यायालय को शामिल नही किया गया है और यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि इस अध्याय म वर्णन की गई नीतियो के पालन के लिय ससद या कार्यपालिका सर्वोच्च अथवा अन्य किसी न्यायालय के सामने उत्तरदायी नहीं होंगी। कोई नागरिक न्यायालय के सामने जाकर यह शिकायत नही कर सकता कि राज्य ने नीति-निर्देशक तत्वो का पालन नही किया।

मौलिक अधिकार और नीति-निर्देशक तत्व—नीति-निर्देशक तत्वो को सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखना सविधान के लोकतन्त्रीय चरित्र की दृष्टि से बहुत स्वाभाविक है। किसी लोकतत्र में यह सभव नही है कि एक समय पर बैठकर सविधान बनाने वाले लोग शासन व्यवस्था का एक चित्र बनाने से आगे जाकर भविष्य के लिय राज्य की नीतिया और सारा कार्यक्रम भी निर्धारित कर दें तथा आने वाली पीढियो के हाथो को बाध दे। लोकतत्र इस बुनियादी विश्वास पर आधारित है कि आने वाली पीढिया भी वर्तमान पीढी के समान ही बुद्धिमान होगी तथा उनके मन में भी लोकतत्र के प्रति प्रेम होगा, हम उन पर अविश्वास करके नही चल सकते। यदि सविधान ने नीतियो के निर्देशक तत्वों को भी मौलिक अधिकारों की ही भाति न्यायालय के सरक्षण में दे दिया होता तो इसका अर्थ यह होता कि सविधान निर्माता भारत के भावी प्रतिनिधियो को जो ससद राज्य विधान मण्डलो तथा मन्त्रिपरिषदो के सदस्य बनते हमेशा के लिय एक निश्चित नीति से बाध देते तथा उनकी सारी सत्ता का अपहरण स्वय कर लेते। इसे कोई भी लोकतत्रीय देश सहन नही कर सकता। उन्होंने यह ठीक किया कि सविधान के भीतर राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो

का समावेश कर दिया जिसमे उन्होंने आने वाली पीढियो के मार्गदर्शन के कुछ मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है यदि आने वाली पीढिया समझेंगी और उन्हे ठीक लगेगा तो वे अपने पूर्वजो की इच्छा का अनुसरण करेंगी और उनके दिखाये मार्ग पर चलेंगी अन्यथा वे स्वतत्र मार्ग अपना लेंगी, इसमे वे सर्वथा स्वतत्र और सही होंगी।

इस अध्याय को न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखने का कारण एक और भी है। राज्य के पास अलादीन के जैसा कोई चिराग नही होता है, यह बहुत आसान होता है कि राज्य अपने नागरिको के लिय अमुक अमुक काम करने का बोझा उठा ले परन्तु उस सारे काम को तुरन्त करना असभव होता है। देश के सामने नाना समस्यायें होती है, विशेषकर भारत जैसे पिछडे देश मे, जहा हजारो साल की गुलामी और शोषण के बाद देश स्वतन्त्र हुआ, यह बहुत कठिन होता है कि देश को तुरन्त अपने पाव पर खडा कर दिया जाय। सविधान ने राज्य से आशा की है कि वह अमुक नीति का अनुसरण करेगा परन्तु वह उसे वैसा करने के लिय न तो वैधानिक ढग से बाध्य कर सकता है न वैसा करना तनिक भी व्यवहारिक होगा। इस अध्याय का सविधान म इतना ही महत्व है जितना कि किसी समाज के जीवन म अपना लक्ष्य निर्धारित करने का होता है। यह अध्याय राज्य के लक्ष्यो की व्याख्या करता है।

सविधान सभा की चर्चाओ म श्री के सथानम ने यह शका प्रकट की थी कि यदि कोई राष्ट्रपति यह महसूस करता है कि ससद ने किसी ऐसे विधेयक को स्वीकार कर लिया है जो राज्य के नीति-निर्देशक तत्वो के विरुद्ध है और वह इस कारण उस विधेयक को अस्वीकार कर दे तथा मन्त्रिमण्डल को हटा दे तो क्या यह अनुचित माना जायगा जबकि राष्ट्रपति सविधान का रक्षक माना गया है ? वास्तव मे इस प्रकार की कल्पना व्यर्थ के भय पर आधारित है जब हम इस प्रकार सोचते हैं तो शायद हमारे मस्तिष्क मे उस पुराने जमाने की याद बनी हुई है जबकि गवर्नर जनरल और गवर्नर को ब्रिटिश सरकार की ओर से कुछ निर्देशन प्राप्त होते थे और वे उनके अनुसार चलने के लिये मन्त्रिमण्डल के कामो को रदद कर सकते थे, आज हमारे सामने वह परिस्थिति नही है, आज हमारे विधानमडल सघ व राज्यो मे अपने-अपने क्षेत्र में प्रभुता-सपन्न हैं तथा जनता के प्रतिनिधि होने के नाते राज्य की नीतियो के निर्माण मे सर्वथा स्वतन्त्र है। सविधान ने कहा है कि भारत की जनता प्रभुता सम्पन्न है, जनता अपनी प्रभुता का प्रयोग और प्रदर्शन अपने उन प्रतिनिधियो के द्वारा करती है जो ससद और राज्यो के विधानमण्डलो म बैठते हैं। अत यह स्वाभाविक ही है कि ससद और राज्यो के विधानमण्डल राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के आधीन होकर काम न करें। यह और भी स्वाभाविक है क्योकि राष्ट्रपति का निर्वाचन स्वय मे प्रतिनिधि ही करते हैं तथा राज्यपाल तो एक प्रकार से सघीय-मन्त्रिपरिषद् की ओर से मनोनीत व्यक्ति होता है। इस प्रकार नियुक्त होने वाले अधिकारी अपने निर्वाचको और नियुक्त करने वालो के ऊपर ही सत्ता चलायेंगे यह तो कल्पना के बिल्कल बाहर की बात है।

डा० अम्बेडकर ने सविधान सभा में कहा था कि इस अध्याय का लक्ष्य भारत में आर्थिक-लोकतन्त्र की स्थापना करना है। अनुच्छेद ३७ म जहा यह कहा गया है कि राज्य-नीति के निर्देशक तत्व न्यायालयो के क्षेत्राधिकार में नही रखे गये हैं वहाँ यह भी कहा गया है कि ये सिद्धान्त देश के शासन में मौलिक होंगे तथा राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह इन्हे विधियो के निर्माण म लागू करे। इससे सिद्ध होता है कि इन तत्वो का सविधान म बहुत महत्व है।

नीति के सिद्धान्त—सविधान ने अनुच्छेद ३९ में कुछ सिद्धान्तो का उल्लेख किया है तथा उन्हे नीति के सिद्धान्त कहा है। वे इस प्रकार हैं :—

१ सब नागरिक चाहे वे स्त्री हों या पुरुष समान रूप से पर्याप्त मात्रा में आजीविका प्राप्त करने का अधिकार रखते हैं।

२ समाज के भौतिक साधनो का स्वामित्व और उनका नियन्त्रण इस प्रकार वितरित किया जाय कि समाज का अधिकतम सामूहिक हित सम्पन्न हो सके।

३ आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार से सचालित न की जाय कि उसका परिणाम यह हो कि सपत्ति तथा उत्पादन के साधनो का ऐसा केंद्रीयकरण हो जाय जिससे सार्वजनिक हित म बाधा पहुँचे।

४ पुरुषो और स्त्रियो के लिय समान काम के लिये समान वेतन हो।

५ श्रमिको, पुरुषो व स्त्रियो के स्वास्थ्य तथा उनकी शक्ति एवम् बालको की कोमल आयु का दुरुपयोग न हो तथा नागरिको को आर्थिक आवश्यकतावश ऐसे काम करने के लिय विवश न होना पडे जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हो।

६ बाल-अवस्था और जवानी को शोषण एवम् नैतिक तथा भौतिक विनाश से बचाया जाय।

पचायतों की स्थापना—अनुच्छेद ४० ने राज्य से यह अपेक्षा की है कि वह ग्राम पचायतो की स्थापना करे तथा उन्हे ऐसी सत्ता प्रदान करे कि वे स्वायत्त शासन की इकाइयो (Units of Self-Government) की तरह काम कर सकें।

इस बारे म यह बात स्मरणीय है कि हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाधी अपने जीवनकाल म बराबर इस बात पर जोर देते रहे कि भारत मे प्राचीन पचायत-प्रथा को फिर से जीवित किया जाय। वे केवल इतने से ही सन्तुष्ट न थे कि अग्रेज भारत से चले जायें और दिल्ली म स्वराज्य की सौगात आजायें, वे इससे आगे यह चाहते थे कि भारत का प्रत्येक किसान मजदूर भारत की आजादी का आनन्द ले सके, वह अपनी समस्याओ को सुलझाने म प्रत्यक्ष भाग ल, उसे यह आदत न पडे कि वह हर एक बात के लिये सरकार का मुह ताकता रहे। गाधीजी का मानना था कि सच्चे लोकतन्त्र के विकास के लिय भारत जैसे विशाल देश म यह आवश्यक है कि यहा गाव-गाव मे पंचायतों को अधिकाधिक शक्तिया प्राप्त हो एवम् वे स्वराज्य तथा

लोकतन्त्र की प्रारम्भिक इकाइयां बनें जहां गांव-गांव के लोगों को अपना शासन चलाने का प्रशिक्षण मिले और इस प्रकार वे एक ओर तो अपनी स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पुरुषार्थ कर सकेंगे दूसरी ओर देश के शासन के लिये एक योग्य नेतृत्व की पंक्ति तैयार हो सकेगी।

कांग्रेस ने पंचायतों को सत्ता देने के प्रश्न पर विचार करने के लिये बलवतराय मेहता समिति की नियुक्ति की थी जिसकी सिफारिशों के आधार पर अनेक राज्यों में पंचायतों को अधिक शक्तियां दे दी गई हैं तथा उन पर विकास कार्यों की जिम्मेदारी डाल दी गई है। यह योजना सबसे पहले राजस्थान में आरम्भ की गई, इसे लोकतान्त्रिक विकेंद्रीयकरण कहा गया है। इसका उद्घाटन राजस्थान के 'नागौर' नामक नगर में भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने २ अक्तूबर १९५९ में किया। पंचायतों को सत्ता देने का यह प्रयोग भारत का एक मौलिक विचार है और यदि यह आशा के अनुसार सफल रहा तो संसार के सामने लोकतन्त्र को अधिक व्यवहारिक बनाने तथा बिना निरंकुशता के ही समाजवादी समाज-रचना का एक नया पथ प्रशस्त होगा।

शिक्षा, काम और सहायता —राज्य के नीति-निर्देशक तत्व राज्य पर यह कर्तव्य आरोपित करते हैं कि वह अपनी आर्थिक शक्ति और विकास की सीमा के अनुसार यह चेष्टा करेगा कि देश के नागरिकों को शिक्षा व काम पाने का अधिकार प्राप्त हो सकेगा। वह यह भी कहता है कि राज्य यह चेष्टा करेगा कि संविधान लागू होने के दस वर्षों के भीतर अर्थात् १९६० तक देश के चौदह वर्ष की आयु तक के बालकों को निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा उसकी ओर से दी जा सके। राज्य यह चेष्टा भी करेगा कि देश के ऐसे लोगों को जो बेरोजगार हों, बूढ़े, बीमार या अपंग हों अथवा बिना अपनी किसी भूल के कष्ट में हों सार्वजनिक सहायता प्रदान करे।

लोकतन्त्र और समाजवाद दोनों की यह बुनियादी शर्त है कि देश के सब नागरिक शिक्षित हों तथा उन्हें काम मिले। जो लोग कमाने के योग्य नहीं हैं डार्विन के नियम के आधार पर मानव-समाज उन्हें मर जाने के लिये अकेला नहीं छोड़ सकता क्योंकि उसके भीतर मानवीय सहानुभूति, करुणा और दया का भाव मौजूद है, इसी आधार पर हमारा संविधान समाज के दीन-दुखी तत्वों की रक्षा का भार समाज के सामूहिक-संगठन अर्थात् राज्य के ऊपर डालता है।

कार्य की न्यायसंगत तथा मानवीय दशायें —इस अध्याय में कहा गया है कि राज्य इस बात का प्रबन्ध करेगा कि देश के भीतर सब काम करने वाले लोगों के लिये काम की न्यायसंगत और मानवीय दशायें निर्माण हो सकें। भारत में इस अनुच्छेद का बहुत महत्व है। पूंजीवाद का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें पूंजीपति अपने मुनाफे के लिये तो बराबर चिंतन करता है परन्तु वह श्रमिकों की काम करने की दशाओं और उनके जीवन-स्तर के बारे में तब तक सोचने के लिये तैयार नहीं होता जब तक कि वह उसके लिये विवश ही न हो जाये। इस अनुच्छेद ने एक

प्रकार से राज्य को यह आदेश दिया है कि वह ऐसी स्थिति में कान म तेल डालकर बैठा न रहे वरन् वह देश के *श्रमिको के लिय काम की न्यायसगत और मानवीय* दशाओ का निर्माण करे। न्यायसगत से यह अभिप्राय भी है कि राज्य यह देखे कि देश के श्रमिक राष्ट्रीय उत्पादन म एक समुचित और न्यायसगत अ श प्राप्त *करते है या नही। यदि वे अपना उचित अ श प्राप्त करने से वचित किय जाते है* तो राज्य उनके बारे म आवश्यक विधि बनाकर इस बात की व्यवस्था करे कि उन्हे उसकी प्राप्ति हो सके। काम की दशाओं में उनकी शिक्षा तथा स्वास्थ्य रक्षा व मनोरजन का प्रश्न भी सम्मिलित है।

यही अनुच्छेद आगे यह भी कहता है कि राज्य इस बात का प्रबन्ध करेगा कि देश के नारी वर्ग को प्रसव के समय सुविधायें और सहायता उपलब्ध हो सके, इसे मैंटरनिटी रिलीफ या जच्चा-सहायता कहा जाता है। इसमे कोई सन्देह नही है कि भारत मे ससार के किसी भी देश की अपेक्षा नारीत्व का सम्मान और आदर अधिक हुआ तथापि यह भी सत्य है कि यहा नारी को जीवन की सुविधाओ से बहुत अधिक वचित रहना पडा है। राष्ट्र का यह धर्म है कि नारी जब अपनी पवित्र कोख से राष्ट्र के नागरिको को जन्म देती है तब उसे हर प्रकार की सुविधा प्रदान की जाये तथा उसे चिकित्सा सम्बन्धी तथा दूसरी सहायता दी जाय।

जीवन वेतन आदि की सुविधा—अगले अनुच्छेद मे सविधान यद्यपि समाज-*वाद का नाम लेने म तो हिचकता है परन्तु उसने जो लक्ष्य रखे हैं वे किसी भी प्रकार* से समाजवादी लक्ष्यो से कम नही हैं। वह कहता है कि राज्य का यह काम है कि वह केवल एक मौन और बधिर दर्शक बनकर देश के आर्थिक जीवन को देखता न रह वरन् वह उस अखाडे मे सक्रिय होकर उतरे और देश के प्रत्यक निवासी को चाहे वह खेती का मजदूर हो या उद्योग का अथवा और किसी प्रकार का श्रमिक, अपने कानूनो द्वारा यह आश्वासन दे कि उसे कम से कम एक निश्चित जीवन-वेतन अवश्य मिलेगा, काम की दशाये इस प्रकार की होगी कि उसे एक श्रेष्ठ प्रकार का जीवन-स्तर प्राप्त हो सके, वह अवकाश तथा सामाजिक और सास्कृतिक अवसरो का पूरा-पूरा आनन्द व उपयोग कर सके। विशेषकर राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह यह चेष्टा करे कि भारत के गावो मे व्यक्तिगत और सहकारी आधारो पर कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन मिले।

यह व्यवस्था यह प्रकट करती है कि भारत के सविधान निर्माता भारत को एक पूजीवादी देश के रूप म विकसित करने का स्वप्न नही देखते थे वरन् उनके मन में देश के भीतर एक लोक कल्याणकारी राज्य बनाने का उत्साह था। यह कल्पना पुलिस-राज्य की सकीर्ण कल्पना से बहुत भिन्न है जिसमें राज्य सबल और निर्बल के बीच होने वाली अस्तित्व की होड को तटस्थ होकर देखता रहता है इसमें राज्य लोकहित के सम्पादन का एक साधन या यन्त्र बन जाता है तथा वह किसानो मजदूरो के हितो का सरक्षण करता है। यह बहुत न्यायसगत है, किसान मजदूर

सच्ची और असली सम्पत्ति के स्रष्टा और उत्पादक हैं, देश का सारा वैभव उनके पुरुषार्थ पर निर्भर है, अत उनके जीवन और उनकी कार्यक्षमता की रक्षा का प्रश्न एक राष्ट्रीय प्रश्न है, साथ ही इसका मानवीय पक्ष भी है कि सबको उनके पुरुषार्थ का फल मिलना ही चाहिये, उसमें छीना-झपटी या जोर-जबर्दस्ती हो तो राज्य को हस्तक्षेप करके न्याय करना चाहिये।

न्याय-व्यवस्था—*राज्य यह चेष्टा करेगा कि सारे देश के लिये एक समान* व्यवहार-संहिता (Civil Code) तैयार व लागू की जाये जिससे कि देश भर मे व्यवहार सम्बन्धी वादो का न्याय एक ही आधार पर हो सके। सविधान लागू होने के समय देश मे व्यवहार-न्याय की अनेक पद्धतिया प्रचलित थीं, देश के न्याय प्रशासन मे एकरूपता लाने के लिये तथा समस्त जातियो, धर्मों, व प्रदेशो के लोगो को समान न्याय प्राप्त कराने की दृष्टि से इस उपबन्ध का बहुत अधिक महत्व है।

समाज के निर्बल अ गों के लिये—सविधान राज्य के नीति-निर्देशक तत्वो में यह व्यवस्था करता है कि राज्य समाज के निर्बल अ गो के शिक्षा सम्बन्धी और आर्थिक हितों का विकास विशेष सावधानी से करेगा। इन निर्बल अ गो का उल्लेख सविधान की अनुसूचियो मे अनुसूचित जातियो और वर्गों के रूप मे किया गया है। राज्य पर यह कर्तव्य सौंपा गया है कि वह इन जातियो को सामाजिक अन्याय और हर प्रकार के शोषण से बचायेगा।

संविधान का यह उपबध बहुत महत्त्वपूर्ण है। सभ्य समाज की यह पहचान है कि वह सबसे पहले अपने सबसे अधिक निर्बल और पिछडे हुए अ गो के विकास की चिंता करता है। महात्मा गाधी ने समाज के सामने यह लक्ष्य और विचार रखा कि सेवा का काम उन लोगो से आरम्भ करना चाहिये जो समाज मे सबसे हीन दशा मे हैं, इसे वे अ त्योदय का कार्यक्रम मानते थे। रस्किन के अनटु दिस लास्ट का यही अर्थ है कि जो सबसे अन्त मे है समाज की ओरसे सबसे पहले उसकी चिंता की जाये। *समानता की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि राज्य प्रयास करके समाज के सब* अ गो को सशक्त और समर्थ बना देने की चेष्टा करे, समाजवाद की भी यही पहचान है कि उसमे सम्पन्न और निर्धन वर्गों के बीच का भेद मिटता है तथा जो नीचे हैं उन्हे ऊपर उठाया जाता है, यह नही कि धनी अधिक धनी होते जायें और निर्धन और भी अधिक दीन होते चले जायें।

सार्वजनिक स्वास्थ्य का ध्यान—किसी देश का सच्चा धन जहा उसके *नागरिको का चरित्र और उनकी बुद्धिमानी है वही देश का भाग्य उनकी परिश्रम* करने की शक्ति पर बहुत अधिक मात्रा मे निर्भर रहता है। यह शक्ति स्वस्थ रहने और पौष्टिक भोजन पर निर्भर होती है। सविधान राज्य को इस बात के लिये जिम्मेदार ठहराता है कि वह अपनी समस्त प्रजा के आहार में पौष्टिक तत्वो का स्तर तथा जीवन-स्तर व सार्वजनिक स्वास्थ्य को उन्नत बनाने का काम अपने प्रारम्भिक कार्यों में समझेगा और उन्हे सबसे अधिक महत्व देगा।

संविधान इससे भी आगे जाकर राज्य को आदेश देता है कि वह विशेष तौर पर राज्य के भीतर ऐसी नशीली वस्तुओं और दवाओं पर प्रतिबन्ध लगाएगा जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। यहां यह बात स्मरणीय है कि कोई देश यदि प्रगति करना चाहता है तो उसके नागरिकों को कभी भी अपना होश नहीं खोना चाहिए, नशीली चीजों का प्रयोग मनुष्य को होश से वंचित कर देता है। यदि हम अपने देश को सचमुच प्यार करते हैं और उसे सदा-सदा तक आज़ाद बनाये रखना तथा संसार में उसे समृद्ध व सम्मानित देखना चाहते हैं तो हमारा यह धर्म है कि हम नशीली चीजों के प्रयोग को तुरन्त बन्द कर दें। देश का कैसा दुर्भाग्य है कि आज हमारे विद्यार्थी बचपन में ही सिगरेट बीड़ी का विष पीने लगते हैं तथा अपनी बुद्धि व हृदय को दूषित कर लेते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि उनकी स्मृति कमजोर होती जा रही है और परीक्षा फल दिनों दिन खराब होते जा रहे हैं। राज्य को इस बारे में सख्त और मजबूत कदम उठाने चाहियें। जितना परिश्रम हम नशीली चीजों के उत्पादन पर तथा जितना धन उनकी खरीदने पर व्यय करते हैं यदि उस सबका उपयोग दूध घी और फलों के लिए हो तो हमारा देश संसार का सबसे बली राष्ट्र बन सकता है जब तक हम तम्बाकू शराब अफीम आदि को नहीं छोड़ेंगे हम आगे नहीं बढ़ सकते और हमारी आर्थिक स्थिति भी नहीं सुधर सकती।

खेती और पशुपालन का विकास—भारत एक कृषिप्रधान राज्य है अतः यह बहुत उचित ही है कि संविधान राज्य को यह आदेश देता है कि वह देश के भीतर खेती और पशुपालन को आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से पुनर्गठित करे तथा विशेषकर उपयोगी पशुओं की नस्ल सुधारे व गाय तथा दूसरे दुधारू पशुओं के वध पर प्रतिबन्ध लगाए। भारत एक मांसाहारी देश नहीं है यहां की संस्कृति निरामिषाहारी है अतः यहां के भोजन में दूध का बहुत महत्व है इसीलिए गायों के वध का निषेध करने की बात उठाई गई है। साथ ही यहां पशु मानव के आर्थिक प्रयास में निकट के साथी रहे हैं अतः उनकी नस्ल का सुधार होने से निश्चय ही हमारी कार्यक्षमता और उत्पादन में वृद्धि होगी। परन्तु यन्त्रों का देश में जिस तेजी के साथ विकास हो रहा है उसे देखकर ऐसा लगता है कि आज वाले सौ साल के भीतर हमारे पशु का प्रायः एक ही उपयोग रह जायगा कि या तो हम उसे शौक के लिए पालें या फिर खाने के लिए, हमें इस बात पर भली भांति विचार करना होगा कि क्या भारत के लिये यन्त्रों का इतना विकास अनुकूल पड़ेगा ?

प्राचीन स्मारकों की रक्षा—हमारा देश एक बहुत प्राचीन देश है यहां हमारे भूतकालीन इतिहास के अनेक चिन्ह किलों मन्दिरों और भवनों के रूप में देश भर में बिखरे पड़े हैं राज्य को यह काम सौंपा गया है कि वह उन सबकी रक्षा करे, साथ ही तमाम कलात्मक वस्तुओं व राष्ट्रीय महत्व की चीजों की रक्षा करे। उदाहरण के लिए ताजमहल को बनाने वाला प्रेमी मुगल सम्राट शाहजहां आज जीवित नहीं है कि वह अपनी प्रेमिका की स्मृति के उस चिन्ह को सुरक्षित रख सके,

परन्तु वह ताजमहल आज भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति है तथा राज्य का काम है कि उसकी रक्षा का समुचित प्रबन्ध करे, वह आज यह काम कर रहा है।

न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण—लोकतन्त्र के भीतर यह आवश्यक है कि कार्यपालिका या विधायिका को न्याय करने की सत्ता न दी जाय, हमारे देश मे अंग्रेजो के निरंकुश शासन के जमाने से यह परम्परा चली आ रही थी कि सरकार के कार्यपालिका विभाग मे काम करने वाले सरकारी कर्मचारी ही न्याय का काम करते थे। संविधान ने चाहा है कि इस व्यवस्था को बदल कर उनसे न्याय का काम छीन लिया जाये तथा न्यायपालिका को सर्वथा पृथक कर दिया जाये।

अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा के लिये चेष्टा—भारत सदा से एक शांतिप्रिय देश रहा है इस परम्परा के अनुरूप ही संविधान मे लिखा गया है कि राज्य यह चेष्टा करेगा कि—

(१) वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को प्रोत्साहन दे,
(२) राष्ट्रो के बीच सम्मानपूर्ण तथा न्यायपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे,
(३) संगठित राष्ट्रो के बीच होने वाली संधियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय-विधि के प्रति सम्मान की भावना पैदा करे,
(४) अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को पंचो के द्वारा हल करने की भावना को प्रोत्साहन दे।

इस प्रकार हमारा संविधान केवल राष्ट्रीय मामलो मे ही नही हमारे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे भी हमारी नीति का मार्गदर्शन करता है, वह चाहता है कि संसार मे युद्ध का ताडव न हो तथा संसार के लोग शान्ति और प्रेम के साथ अपने जीवन को ऊंचा उठाते चले जायें। हमारी वर्तमान नीति इस नीति के सर्वथा अनुकूल है, हम बराबर यह चेष्टा कर रहे हैं कि हम तटस्थ रहकर संसार मे शांति की ज्योति को उन्नत बनाये रखें।

नीति-निर्देशक तत्वो का अध्याय एक प्रकार से भारतीय संविधान के अन्तःकरण का प्रहरी है, यह संविधान की आत्मा का दर्शन कराता है तथा यह बताता है कि संविधान-निर्माताओ के मन मे राज्य के संचालन के क्या सिद्धान्त थे। यह हमारे पास उन पूज्य पूर्व-पुरुषों की एक पुण्य धरोहर है जिन्होने देश की आजादी के लिए तो अगणित बलिदान किये ही उसको स्थिर बनाने के मंत्र भी हमे प्रदान किये, उनमे से अनेक आज भी जीवित हैं और अनेक जा चुके हैं, जो जीवित हैं वे निष्ठा के साथ इन नीतियो को क्रियान्वित करने की चेष्टा कर रहे हैं, जो जा चुके हैं वे नीले आकाश के पीछे से उत्सुकतापूर्वक यह देखने की चेष्टा कर रहे हैं कि उनकी सन्तान किस प्रकार उनकी धरोहर को सम्भाले हुए है। उनका आशीर्वाद हमारा मार्ग प्रशस्त करेगा।
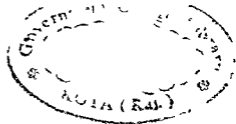
अध्याय : १३

संघ और राज्यों का सम्बन्ध

एक ऐसा सघ जो आसानी से सकट काल मे एकात्मक राज्य मे रूपान्तरित हो सके एक ऐसे सावधानिक ढाचे का रूप ले सकता है जिसका इतिहास मे अभी तक कोई दूसरा उदाहरण नहीं है। यह नवीनता भारत द्वारा लागू की गई है, और यदि व्यवहारिक अनुभव के आधार पर वह सफल सिद्ध हुई तो ऐसा माना जा सकेगा कि ससार के राजनीतिक विचार और व्यवहार को भारत की वह एक मौलिक-देन है।

—एम. आर पालन्दे†

प्रस्तुत पुस्तक के दसवें अध्याय मे भारतीय सविधान के मौलिक लक्षणो का उल्लेख किया गया है, उसमे सविधान के सघात्मक स्वरूप का वर्णन भी किया गया है। उस सदर्भ मे हमने वहा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हमारा सघ एक अपूर्ण सघ है, ऐसा करने के लिय वहा हमने सघ और राज्यों के सम्बन्धो और उनकी शक्तियो के भेद पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। प्रस्तुत अध्याय म अधिक विस्तार के साथ उस प्रश्न की हो चर्चा फिर से की जा रही है। सघात्मक व्यवस्था होने के कारण भारतीय सविधान के विद्यार्थी के लिये यह आवश्यक है कि उसे संघ और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धो का विस्तृत ज्ञान हो, इसी दृष्टि से पुनरावृत्ति का दोष होने पर भी प्रस्तुत अध्याय को यहां जोडना हमने उचित समझा है।

हमारे सविधान मे सघ और राज्यो के सम्बन्धो का वर्णन अलग से उसके ग्यारहवें खण्ड मे किया गया है। इस खण्ड को दो अध्यायों म बाटा गया है, पहले अध्याय में सघ और राज्यों के बीच विधायी सम्बन्धो (Legislative relations) का उल्लेख किया गया है तथा दूसरे अध्याय मे प्रशासकीय- सम्बन्धों (Administrative Relations) का। दूसरे अध्याय के अन्त में अनुच्छेद २६२ म राज्यो के बीच जल सम्बन्धी झगडो के समाधान के बारे में व्यवस्था की गई है और अनुच्छेद २६३ मे राज्यो के आपसी सम्बन्धो के समन्वय की।

सघ और राज्यो के आर्थिक सम्बन्धो का विस्तार से वर्णन बारहवें खण्ड के प्रथम अध्याय में अनुच्छेद २६८ से २८१ तक किया गया है। यहा हम इसी क्रम में

† 'Introduction to the Indian Constitution', 1956 page 245 (Oxford University Press)

इन सम्बन्धों का विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे। संघ और राज्यों के बीच विधायी, प्रशासकीय और आर्थिक तीन प्रकार के सम्बन्ध हैं।

विधायी सम्बन्ध

हमारे संविधान ने यद्यपि भारत में एक संघात्मक शासन व्यवस्था का निर्माण किया है तथापि उसने संघ के साथ ही राज्यों के लिए भी संविधान निर्माण किया है। इसका अर्थ यह है कि संविधान ने राज्यों को यह स्वतन्त्रता नहीं दी है कि वे अपना संविधान स्वयं बना या बदल सकें। संविधान के उस अंश का संशोधन राज्य अकेले नहीं कर सकते जो उनसे सम्बन्धित है। जब तक संघ इस मामले में पहल न करे तब तक राज्य संविधान का संशोधन करने के बारे में कोई कदम नहीं उठा सकते।

संविधान ने देश के शासन का उत्तरदायित्व दो पृथक शासन व्यवस्थाओं को सौंपा है, वे शासन-व्यवस्थायें संघ और राज्यों की हैं। उसने संघ और राज्यों के बीच शासन के विषयों का बंटवारा किया है। यह बंटवारा ३ सूचियों में किया गया है संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। समवर्ती सूची में जो विषय रखे गये हैं उनपर राज्य तब तक विधियां बना सकते हैं जब तक कि संघ उस बारे में अपनी कोई विधि देता। यदि संघ किसी ऐसे विषय पर जो समवर्ती सूची में है कोई विधि बनाता है तो नहीं बना उस विषय पर विविध राज्यों द्वारा बनाई गई विधियां रद्द हो जायेंगी तथा सारे देश में उस विषय पर संघ द्वारा बनाई गई विधि लागू रहेगी। जहां तक संघ सूची और राज्य सूची का सम्बन्ध है उन सूचियों में गिनाये गये विषय साधारण स्थिति में संघ और राज्यों के अधिकार में ही रहते हैं तथा उनके विधान मण्डलों को उनके बारे में विधि बनाने का अधिकार होता है। संविधान ने जिन विषयों का उल्लेख नहीं किया है या जो विषय भविष्य में नये पैदा होंगे वे सब सीधे संघ सरकार के अधिकार में रहेंगे, राज्यों को उनके बारे में कोई सत्ता प्राप्त नहीं होगी। इन शक्तियों को अवशिष्ट शक्तियां (Residuary Powers) कहते हैं, प्रायः संघीय राज्यों में ये शक्तियां संघ को न देकर राज्यों को दी जाती हैं, परन्तु जैसा कि हम दसवें अध्याय में कह चुके हैं भारत एक अपूर्ण संघ है, यहां संघ की सत्ता को मजबूत बनाने की चेष्टा की गई है अतः ये शक्तियां संघ को दी गई हैं। भारत के जो क्षेत्र किसी राज्य में नहीं हैं वे संघ शासित प्रदेश माने जायेंगे तथा उनके बारे में हरेक विषय पर संघ सरकार विधियां बना सकेगी।

राज्य सूची के विषयों पर संघ-संसद का अधिकार—संविधान में कहा गया है कि कुछ परिस्थितियों में संघ-संसद को यह अधिकार होगा कि वह राज्य-सूची के विषयों पर भी विधियां बना सकेगी। ये परिस्थितियां कई प्रकार की हो सकती हैं। यदि राज्य-सभा (Council of States) अपने उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से यह निश्चय कर दे कि राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से राज्य-सूची के किसी विषय पर संघ-संसद के द्वारा विधि बनाया जाना अनिवार्य हो

गया है तो ससद एक वर्ष के लिय उस विषय पर विधि बना सकेगी। यदि ससद द्वारा इस प्रकार बनाई गई विधि को एक वर्ष से अधिक समय तक जारी रखना आवश्यक हो तो राज्यसभा को बार-बार हर वर्ष के बाद उसके लिय उपरोक्त रीति से प्रस्ताव पास करना होगा। राज्यसभा पर इस बारे मे कोई प्रतिबन्ध नही है कि वह कितनी बार लगातार इस प्रकार का निश्चय कर सकती है इस बारे म वह स्वतन्त्र है और जितनी बार चाहे ऐसी किसी विधि के निर्माण की सत्ता वह एक वर्ष के लिय ससद को दे सकती है। यह एक प्रकार से अपने लिय स्वय सत्ता लेने की शक्ति है क्योकि राज्यसभा स्वय ससद का एक सदन ही है परन्तु फिर भी सघीय विधान की दृष्टि से यह सवथा गलत नही है क्योकि राज्यसभा आखिरकार राज्यो के प्रतिनिधियो का सदन है जिनसे यह आशा की जाती है कि वे राज्यो के उचित हितो की रक्षा करेंगे। यद्यपि यह सत्य है कि ऐमी स्थिति मे जब राज्यसभा म उस दल का ही बहुमत हो जाय जो लोकसभा म बहुमत रखता है तब मन्त्रिपरिषद के आदेश पर राज्यसभा किसी विषय को एक वष के लिए सघ को दने का प्रस्ताव कर सकती है और इस प्रकार राज्यो के अधिकारो का अकारण अपहरण किया जा सकता है, परन्तु ऐसा मानना सही नही है। वर्तमान समय म राज्यसभा म भी लोकसभा की ही भाति कांग्रेस दल का बहुमत है तथापि दहेज विधेयक पर राज्यसभा ने लोकसभा के साथ सहमत होने से इन्कार कर दिया है तथा ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जब राष्ट्रपति को दोनो सदनो का सयुक्त अधिवेशन बुलाना होगा तथा दोनो सदन मिलकर कोई निर्णय करेंगे। राष्ट्रीय हितो को हमारे सविधान निर्माताओ ने देश के सघात्मक ढाचे की रक्षा की अपेक्षा बहुत अधिक महत्व दिया है और यह बात बहुत स्पष्ट है कि हमारा सविधान केवल साधारण परिस्थितियो और शान्तिकाल मे ही एक सघीय देश है असाधारण परिस्थितियो और संकट काल म यह एकात्मक राज्य म रूपातरित हो जाता है।

उपरोक्त परिस्थितियो के अलावा जब देश म राष्ट्रपति सकटकाल (आपात्काल) की घोषणा करदे तब भी ससद को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह राज्यसूची के समस्त विषयो पर विधि निर्माण कर सके, परन्तु उसका यह अधिकार आपत्काल की अवधि के सग ही समाप्त हो जाता है तथा इस अवधि मे बनाई गई विधिया उसके छह मास बाद स्वय रद्द हो जायेंगी।

संविधान ने यह भी कहा कि यदि दो या दो से अधिक राज्य किसी समय अपने विधान मण्डलो के सदनो म बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दें कि वे राज्य-सूची के किसी विषय पर ससद द्वारा विधि-निर्माण कराना चाहते हैं तो उस स्थिति मे ससद उन राज्यो के लिय उस विषय या विषयो पर विधि बना सकती है तथा उसके बाद दूसरे राज्य भी अपने अपने विधान-मण्डल के बहुमत की माग पर ऐसी विधियो को अपना सकते हैं।

सविधान संसद को यह अधिकार देता है कि वह किसी अंतर्राष्ट्रीय सधि या

समझौते को भारत मे लागू करने के लिये हर प्रकार की विधिया बना सकती है तथा यदि ऐसी कोई विधि राज्यो के किसी अधिकार के विरुद्ध हो तो भी संघ को वैसी विधियां बनाने का अधिकार होगा।

सविधान राज्यो के राज्यपालो को यह अधिकार देता है कि वे जब उचित समझें राज्य विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोक सकते हैं और राष्ट्रपति उस विधेयक पर गवर्नर को यह आदेश दे सकते हैं कि वह उसे राज्य के विधानमण्डल को अपने सुझाव और सदेश के साथ पुर्नविचार के लिय रखे। ऐसी स्थिति म विधान मण्डल छह मास के भीर उस विधेयक पर पुर्नविचार करके राष्ट्रपति के सामने पेश करेगा।

राज्यपाल को यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यदि वह समझता है कि राज्य-विधानमण्डल का कोई विधेयक राज्य के उच्च-न्यायालय (High Court) की शक्तियो को इस प्रकार कम करता है कि उनके द्वारा उच्च-न्यायालय उस पद से गिर जाता है जो उसे सविधान ने प्रदान किया है तो वह ऐसे विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिय पेश करेगा तथा उस पर अपनी स्वीकृति नही देगा। वित्तीय-विधेयको को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिय नही रोका जा सकता, उन पर राज्यपाल अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है उन्हे लौटाया नही जा सकता।

सविधान का अनुच्छेद २०१ राष्ट्रपति को यह अधिकार देता है कि वह राज्यपाल द्वारा उसकी स्वीकृति के लिय प्रस्तुत किय गय विधेयको को अन्तिम रूप से स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। यहा यह समझ लेना चाहिय कि राष्ट्रपति को एक व्यक्ति के नाते यह अधिकार नही दिया गया है, उसके द्वारा राज्यो के विधानमडलो को सघ सरकार के आधीन कर दिया गया है। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति जो भी निर्णय करेगा उसमे उसका मार्गदर्शन प्रधानमन्त्री करेगा। वास्तव मे वह प्रधानमन्त्री और उसकी मन्त्रिपरिषद का निर्णय ही होगा क्योकि राष्ट्रपति तो एक शोभा का अधिकारी है उसकी सत्ता का वास्तविक प्रयोग प्रधानमन्त्री के हाथो मे होता है। इस प्रकार राज्यो को सघ सरकार के सामने कमजोर बना दिया गया है। राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होता है तथा उसके प्रति ही जिम्मेदार होता है अत जब कभी सघ सरकार किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा पास किये गय किसी विधेयक के विरुद्ध हो तो वह राज्यपाल को यह सदेश दे सकती है कि वह उस विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिय भेजे वहा आने पर उसे अस्वीकृत किया जा सकता है और यो राज्य-विधानमण्डल के उपर सघ सरकार को वीटो अर्थात निषेधाधिकार की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह हमारे सघ की प्रबल-शक्ति का एक प्रबल प्रमाण है।

प्रशासकीय संबंध

सविधान के ग्यारहवें खड का दूसरा अध्याय संघ और राज्यो के प्रशासकीय-सम्बन्धो का वर्णन करता है। आरम्भ मे ही यह कह दिया गया है कि राज्यो में

कार्यपालिका सत्ता का व्यवहार इस प्रकार किया जायेगा कि वहां संसद द्वारा बनाये गए अधिनियमों का पूरी तरह से पालन हो तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति को यह सत्ता प्राप्त होगी कि वह राज्यों को भारत सरकार की ओर से उस बारे में आवश्यक हिदायतें दे सके।

राज्यों पर संघ का नियंत्रण—जैसा कि ऊपर कहा गया है राज्य की कार्यपालिका सत्ता का प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जायेगा कि संघीय सरकार की कार्यपालिका सत्ता के प्रयोग में किसी प्रकार की बाधा पड़े तथा उस बारे में उसे भारत सरकार के आदेशों को मानना होगा।

संविधान कहता है कि संघ सरकार राज्य सरकारों को ऐसे यातायात और संवाद परिवहन के साधनों का निर्माण व उनकी रक्षा करने का आदेश दे सकती है जो उसकी राय में राष्ट्रीय या सामरिक महत्व (Military importance) के हों।

संघ सरकार राज्य सरकारों को उनके अपने क्षेत्र में रेलों की रक्षा के लिये भी निर्देश कर सकती है। इन कामों के करने में राज्य-सरकारों को जो अतिरिक्त व्यय पड़ेगा वह संघ सरकार द्वारा उन्हें दिया जायगा जिसका निश्चय आपसी बातचीत से न होने की स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य-न्यायाधीश द्वारा नियुक्त पंच के निर्णय से होगा।

राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्य सरकार की सहमति लेकर उसे संघ की ओर से कोई काम सौंप सकता है, उस काम को पूरा करने में व्यय होने वाली समस्त राशि संघ सरकार राज्यों को देगी। इसी प्रकार किसी राज्य का राज्यपाल भारत सरकार या उस की सहमति से राज्य की ओर से कोई काम सौंप सकता है।

जल सम्बन्धी झगड़ों का निपटारा—कई राज्यों में होकर बहने वाली नदियों या नदी घाटियों के जल के उपयोग वितरण या नियंत्रण के बारे में विभिन्न राज्यों के बीच होने वाले झगड़ों का निपटारा करने की रीति संसद अपनी विधियों के द्वारा निश्चित करेगी। संसद यह निर्णय कर सकती है कि सर्वोच्च न्यायालय या अन्य कोई न्यायालय इस प्रकार के झगड़ों को हाथ में नहीं लें और उनके लिये अलग से पंच नियुक्त किये जायं।

अन्तर्राज्य परिषद (Inter State Council)—यदि किसी समय राष्ट्रपति को ऐसा लगे कि सार्वजनिक हितों की पूर्ति के लिये ऐसी परिषदों की स्थापना की जानी चाहिये जो विविध राज्यों के बीच उठने वाले झगड़ों की जांच कर सकें और उनके बारे में परामर्श दे सकें, ऐसे विषयों की जांच कर सकें तथा उनके बारे में सलाह दे सकें जिनमें सब या कुछ राज्य, अथवा, संघ तथा एक या उससे अधिक राज्य सामान्य रुचि रखते हों, तथा उन मामलों में नीति व कार्यों के संयोजन की दृष्टि से सिफारिशें कर सकें, तो वह ऐसी परिषदों की नियुक्ति कर सकेगा तथा उनके कार्यों,

संगठन व कार्यपद्धति के नियम बना सकेगा।

संविधान की इस धारा के अन्तर्गत हमारे यहा सारे देश को अनेक क्षेत्रों में विभाजित करके क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना की गई है जिनके प्रशासन का उल्लेख आगे यथास्थान किया जायगा।

आर्थिक सम्बन्ध

संघ और राज्यो के बीच आर्थिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ट हैं। संविधान ने कहा है कि देश म कई प्रकार के कर होगे जिनके प्रमुख भेद निम्न होगे—

१ संघ द्वारा लगाये जाने वाले और राज्यो द्वारा संग्रह किये जाने वाले कर—इन करो को राज्य संग्रह करके अपने पास अपने व्यय के लिए ही रख लेंगे। इन करो मे संघीय सूची म गिनाए गए मुद्रांक शुल्क (Stamp-duties) तथा औषधियो व श्रृंगार की सामग्री पर लगाए जाने वाले कर शामिल होते हैं।

२ संघ द्वारा लगाये जाने वाले और इकट्ठा किये जाने वाले परन्तु राज्यों को सौंप दिये जाने वाले कर—ये कर संघ लगाता और संग्रह करता है परन्तु वह उनसे प्राप्त होने वाली राशि को उन राज्यो के बीच जिनमे वे संग्रह किए जाते हैं संसद के बनाए हुए नियमो के अनुसार बाट देता है। इन करो मे से निम्न का संविधान म उल्लेख किया गया है—

(अ) कृषि योग्य भूमि को छोडकर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर लगाये जाने वाले कर।

(ब) कृषि की भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के रखने पर लगाये जाने वाले कर।

(स) रेलवे समुद्र या वायुमार्ग से लाने ले जाए जाने वाले पदार्थों और व्यक्तियो पर लगाए जाने वाले कर।

(द) रेलवे के भाड़े और सामान किराए पर लगाए जाने वाले कर।

(ध) श्रेष्ठ-चत्वरी (Stock Exchanges) और वायदा बाजारो के सौदो पर लगाये जाने वाले मुद्रांक शुल्क (Stamp-duties) के अतिरिक्त अन्य कोई कर।

(ग) समाचार पत्रो की बिक्री अथवा खरीद तथा उनमे प्रकाशित होने वाले विज्ञापनो पर लगाये जाने वाले कर।

(घ) अन्तर्राज्य व्यापार-वाणिज्य के दौरान मे होने वाली उस खरीद या बिक्री पर जो समाचार पत्रो के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओ से सम्बन्धित है, लगाये जाने वाले कर।

उपरोक्त मदो मे संघीय प्रदेशो के भीतर संग्रह होने वाली राशि संघीय प्रदेशो के लिए ही व्यय की जाएगी वह राज्यो को नही दी जाएगी। संसद यह भी तय करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार-वाणिज्य के अन्तर्गत होने वाली खरीद और बिक्री

किसे कहा जाएगा।

३ सघ द्वारा लागू किये और वसूल किये जाने वाले कर जो सघ तथा राज्यों के बीच बाटे जाते हैं—कृषि से होने वाली आय के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार की आय पर सघ द्वारा आयकर लगाया जाएगा तथा वह ही उसे वसूल भी करेगा। सघ आयकर से प्राप्त होने वाले धन का वितरण अपने और राज्यो के बीच इस प्रकार करेगा कि सघ के लिए निर्धारित प्रतिशत भाग भारत की संचित-निधि म जमा कर दिया जायेगा तथा शेष का वितरण उन राज्यो के बीच होगा जिनम कि कर का सग्रह हुआ है। विविध राज्यो के बीच कर के वितरण का प्रतिशत वित्त-आयोग की सिफारिशो पर राष्ट्रपति (वास्तव म मन्त्रिपरिषद) द्वारा निश्चित किया जायगा। संघीय-क्षेत्रो (Union-territories) से सग्रह होने वाला कर उनम ही वितरित किया जायेगा।

४. सघ द्वारा अपने लिये सग्रह किये जाने वाले अतिरिक्त कर—संघ को अधिकार दिया गया है कि वह उपरोक्त करो के अतिरिक्त कुछ और कर लगा सकता है तथा उन्हें वसूल करके अपने लिए रख सकता है। इस प्रकार सग्रह की जाने वाली राशिया भारत की संचित-निधि मे जमा हो जाती ह।

५. पटसन निर्यात शुल्क के स्थान पर राज्यो को अनुदान—आसाम, उड़ीसा, पश्चिमी बगाल और बिहार राज्यो से पटसन या पटसन से बनी वस्तुओं पर निर्यात शुल्क को उन राज्यो के बीच वितरित करने के बजाय सघ उनको भारत की संचित-निधि मे से सहायता के तौर पर कुछ सहायता-अनुदान दे सकता है।

६. कतिपय राज्यों को सघ से अनुदान—ससद को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों को भारत की संचित-निधि म से कुछ विशेष अनुदान स्वीकृत कर सकती है।

उन राज्यो को भारत की संचित-निधि मे से सहायता अनुदान दिये जायेंगे जो अनुसूचित व आदिम जातियो के कल्याण पर धन व्यय करते हैं तथा उसके लिए भारत सरकार का अनुमोदन प्राप्त कर लेते हैं। असम राज्य को भारत की संचित-निधि म से ऐसी राशिया दी जायेंगी जिनके द्वारा वह अपने राजस्व और व्यय के बीच के अन्तर को पूरा कर सके तथा उसे वे राशिया भी प्राप्त होंगी जो वह भारत सरकार की अनुमति से अनुसूचित आदिम जातियो के कल्याण पर व्यय करता है।

७. कर आरोपित करने वाले विधेयकों पर राष्ट्रपति की पूर्वानुमति—सविधान के अन्तर्गत जब ससद किसी ऐसे कर के बारे म कोई विधेयक विचार के लिए अपने सामने लाना चाहती है जिसम राज्य सरकारो के हित भी निहित हो तो उन पर पहले राष्ट्रपति की यह अनुमति प्राप्त की जाती है कि वे सदन के सामने विचार के लिये प्रस्तुत किये जा सकते ह।

अन्य सम्बन्ध

यह बात हम कई बार दोहरा चुके हैं कि भारतीय-संघ के राज्य संघ की अपेक्षा सत्ता में कमजोर हैं तथा उन्हें बहुत बड़ी सीमा तक संघ की दया पर जीना होता है। यदि कोई राज्य-सरकार संघ सरकार की इच्छा के विरुद्ध चलती है तो संघ सरकार वहा आपात काल की घोषणा करके वहा का शासन राष्ट्रपति के हाथ मे दे सकती है। केरल राज्य में साम्यवादियो की सरकार वैधानिक ढग से स्थापित हुई थी, परन्तु वहा कांग्रेस और दूसरे असाम्यवादी दलो ने उसके विरुद्ध आंदोलन छेड दिया और संघ सरकार ने वहां इस आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। उसके बाद वहा नये सिरे से चुनाव करा लिए गए जिसम साम्यवादी परास्त हो गए और उनकी सरकार नही बन सकी। यह सत्य है कि साम्यवादियो के काम करने का ढग लोकतांत्रिक पद्धति से बहुत मेल नही खाता तथापि यह स्वीकार करना होगा कि यदि इसी प्रकार का आन्दोलन कांग्रेसी सरकार के विरुद्ध चलता तो संघ की कांग्रेसी सरकार वहा राष्ट्रपति शासन आसानी से लागू नही करती। इससे यह सिद्ध होता है कि संघ राज्यो के बारे मे अपनी सत्ता का प्रयोग करने मे राजनीतिक हितो का भी ध्यान रख सकता है, यह संघीय-संविधान के लिए अच्छी परम्परा नही मानी जा सकती।

संविधान ने राज्या को अलग नागरिकता देन का अधिकार नहीं दिया है। भारत के नागरिक ही राज्यो के नागरिक भी होते है। इसके अतिरिक्त न्यायपालिका का सारा अधिकार संघ ने अपने हाथ में रखा है उस बारे म राज्य के पास कोई सत्ता नही है। संघ और राज्यो के बीच एक सबसे महत्वपूर्ण सम्बन्ध प्रशासकीय सेवाओ या लोकसेवाओ का है। राज्यो मे सब महत्वपूर्ण पदो पर काम करने वाले लोकसेवक संघ सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते है और वे संघीय लोकसेवाओं के सदस्य होते है। संघ सरकार उनके द्वारा राज्या के प्रशासन को बहुत अधिक सीमा तक प्रभावित करती है। राज्य का सर्वोच्च-अधिकारी राज्यपाल भी राष्टपति द्वारा नियुक्त होने के कारण एक प्रकार से संघ का प्रतिनिधि होता है और संघ उसके द्वारा राज्य प्रशासन पर पूरा नियन्त्रण कर सकता है।

कुछ लोगो का विचार है कि भारत के राज्यो की शक्तिया बहुत कम हैं और वे वास्तव मे गौरवान्वित म्युनिसिपल सरकारे है। परन्तु यह कहना एक प्रकार मे अतिशयोक्ति होगी। भारत के संघ होने मे सन्देह नही किया जा सकता, साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि यहा संघ और राज्या के बीच दूरी न होकर बहुत निकट का सम्बन्ध है और भारत की एकता को प्रथम स्थान दिया गया है, वह हमारे इतिहास और हमारे स्वभाव के प्रकाश मे उपयुक्त भी था।

अध्याय: १४

संघीय कार्यपालिका : राष्ट्रपति

"हमने इस बात पर विचार किया कि हमे अमेरिकन नमूने का अनुकरण करना चाहिये या ब्रिटिश नमूने का जिसमे एक वंशगत सम्राट होता है जो समस्त प्रतिष्ठा और सत्ता का स्त्रोत होता है परन्तु जो वास्तव मे किसी प्रकार की सत्ता का प्रयोग नही कर सकता। समूची सत्ता ससद के पास रहना है जिसके समक्ष मत्री लोग उत्तरदायी होते हैं। हमे एक निर्वाचित संसद के साथ एक निर्वाचित राष्ट्रपति का समन्वय करना पडा है और ऐसा करने मे हमने राष्ट्रपति के लिये न्यूनाधिक तौर पर ब्रिटिश सम्राट की स्थिति स्वीकार की है। उसकी स्थिति एक सांविधानिक-राष्ट्रपति की है। उसके बाद हम मन्त्रियो के बारे मे विचार करते है, वे वस्तुत. ससद के प्रति उत्तरदायी होते है तथा राष्ट्रपति को परामर्श देते है जो उस परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य है। यद्यपि सविधान मे इस बारे मे कोई निश्चित व्यवस्था नही की गई है कि राष्ट्रपति को अपने मन्त्रियो का परामर्श मानना अनिवार्य हो तथापि यह आशा की जाती है कि इस देश मे भी वैसी परम्परा का विकास हो जायेगा जिसके अनुसार ब्रिटिश सम्राट सदा अपने मन्त्रियो के परामर्श के अनुसार कार्य करता है और हमारा राष्ट्रपति सविधान के लिखित शब्दो के आधार पर नही वरन् इस स्वस्थ परम्परा के आधार पर सब मामलो मे एक सांविधानिक राष्ट्रपति बन जायेगा।"

—डा० राजेन्द्रप्रसाद (भारत के प्रथम राष्ट्रपति) †

शासन व्यवस्था के तीन प्रधान देवता होते है, ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ब्रह्मा

---

† २६ नवम्बर १९४९ को सविधान सभा के सामने भारत के सविधान की प्रति को उसकी अन्तिम स्वीकृति के लिये प्रस्तुत करने से पहले भाषण करते हुए। डा० राजेन्द्रप्रसाद सविधानसभा के अध्यक्ष थे तथा उन्हे ही गणतन्त्र की घोषणा के समय प्रथम राष्ट्रपति का यह सांविधानिक कटक-मुकुट ओढना पडा और उनके जिम्मे यह काम आया कि वे अपनी आशा को मूर्त रूप देने के लिये स्वय ही राष्ट्रपति पद के सांविधानिक और सत्ताहीन स्वरूप के विकास की स्वस्थ परम्परा का निर्माण करें।

अर्थात विधाता जिसे हम आधुनिक युग में विधायिका या विधानमण्डल कहते हैं क्यो कि वह सत्ता एक व्यक्ति के हाथो में न होकर लोकतन्त्रीय देशो में एक मण्डल के हाथो में दी जाती है। विष्णु अर्थात् कार्यपालिका और महेश अर्थात् न्यायपालिका। हमारे राष्ट्र के संघीय शासन मे इन तीनो सत्ताओ को इस प्रकार विभाजित किया गया है —

विधायी सत्ता (Legislative authority) संसद अर्थात् पार्लियामेंट को प्रदान की गई है जिसमे दो सदन होते हैं—लोकसभा और राज्यसभा संसद के साथ विधायी सत्ता में नाममात्र के लिये राष्ट्रपति को भी सम्मिलित कर लिया गया है।

कार्यपालिका सत्ता (Executive authority) भारत के राष्ट्रपति को दी गई है, उसकी सहायता के लिये एक उपराष्ट्रपति की व्यवस्था की गई है और उसको परामर्श देने के लिये मन्त्रिपरिषद की रचना हुई है। इस प्रकार कार्यपालिका विभाग के दो अंग हैं—(१) राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति तथा, (२) मन्त्रिपरिषद, इन्हें हम दूसरे प्रकार से भी वर्गीकृत कर सकते हैं—औपचारिक या नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका। औपचारिक कार्यपालिका का अर्थ यह है कि उसके सदस्य अर्थात राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति नाममात्र के अधिकारी हैं वास्तविक सत्ता का प्रयोग मन्त्रिपरिषद करती है अत उसे वास्तविक *कार्यपालिका* कहा गया है। हम एक अन्य प्रकार से भी कार्यपालिका का वर्गीकरण कर सकते हैं अराजनीतिक और राजनीतिक कार्यपालिका।

अराजनीतिक कार्यपालिका मे हमारे शासन का समस्त प्रशासकीय लोकसेवक वर्ग सम्मिलित है जिसे हम स्थायी कार्यपालिका कह सकते हैं, ये लोग राजनीतिक दलो के सदस्य होने के कारण अपने पद प्राप्त नही करते वरन् योग्यता के आधार पर प्राप्त करते हैं और चाहे किसी भी दल का शासन हो ये अपने पद पर बने रहते हैं।

राजनीतिक कार्यपालिका में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद का समावेश होता है। मन्त्रिपरिषद का निर्माण दलीय आधार पर संसद का बहुसंख्यक दल करता है, वह अस्थायी कार्यपालिका भी कहा जाता है, क्योंकि उसका कोई स्थायित्व नही होता जब संसद मे दलीय स्थिति बदल जाय और अल्पमत बहुमत मे रूपांतरित हो जाये तभी मंत्रिपरिषद बदल जाती है ऐसा भी हो सकता है कि कुछ समय के लिये मन्त्रिपरिषद सर्वथा ही लोप हो जाय। परन्तु *स्थायी कार्यपालिका या लोकसेवायें* कभी भी लोप नही हो सकती वे निरन्तर बनी रहती हैं और उनका काम शासन की उन नीतियो का संचालन करना होता है जिनका निर्माण मन्त्रिपरिषद और संसद के द्वारा होता है। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पद राजनीतिक होते हुए भी निर्दलीय अथवा पक्षातीत होते हैं।

शासन का तीसरा विभाग अर्थात न्यायपालिका हमारे संविधान में *सर्वोच्च-न्यायालय* है। यह संघीय न होकर राष्ट्रीय है, अर्थात् इसका अधिकार क्षेत्र केवल

सघीय विषयो तक ही सीमित नही है वरन् भारत के समस्त क्षेत्र के लिये इकहरी न्यायपालिका की रचना की गई है और देश की सारी न्यायव्यवस्था उसके आधीन होती है, राज्यो को उस बारे मे कोई सत्ता नही दी गई है।

राष्ट्रपति · औपचारिक-कार्यपालिका अधिकारी

भारत सघ के औपचारिक कार्यपालिका-अध्यक्ष को हमारे संविधान ने राष्ट्रपति या प्रेसीडेन्ट कहा है। भारत एक महादेश है यहा अतीत काल मे विविध राजवशों का शासन रहा है ऐसे काल यहा के इतिहास मे रहे हैं जब राजा या सम्राट जनता द्वारा चुना हुआ होता था परन्तु वह चुनाव एक विशेष वश तक ही सीमित होता था। भारत के स्वातन्त्र्य के उपरात हमारे सामने यह प्रश्न आया कि हमारे राष्ट्रीय शासन का अध्यक्ष कौन होगा। हमारे सामने सिवाय इसके और कोई रास्ता नही था कि हम अपने राष्ट्राध्यक्ष का निर्वाचन करें। इसके दो कारण थे, एक तो यह कि हमारे यहा एक ओर तो अनेक राजवश थे उनमे से किसे राष्ट्राध्यक्ष पद के लिये चुना जाय यह एक कठिन समस्या थी, इस प्रश्न को लेकर देश के अनेक राजवशो मे द्वेष का वही पुराना क्रम आरम्भ हो जाता जिसके कारण भारत को पराधीनता का कष्ट भोगना पड़ा था साथ ही भारत के राजाओ ने अपनी प्रतिष्ठा खो दी थी, जनता उन्हे राष्ट्रद्रोही के रूप म देखती थी, ब्रिटिश शासनकाल मे उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता के साथ जो अनुदार व्यवहार किया था तथा अग्रेजो के प्रति जिस भक्ति अथवा दास मनोवृत्ति का परिचय दिया था उससे उनक प्रति जनता के मन में एक प्रकार की घृणा का निर्माण हो गया था और वे राष्ट्रीय गौरव के प्रतीक होने के बजाय भारत की पराधीनता के पहरेदार बन गये थे यदि उनम एक भी शिवाजी या महाराणा प्रताप होता तो यह कठिन था कि उसकी उपेक्षा की जा सकती। दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह था कि देश म स्वतन्त्रता के लिय जिस प्रकार क्रांति के विचार का प्रसार हुआ था उसम लोकतन्त्र की भूख देश के लोकमानस मे जगा दी गई थी और यह सभव नही रह गया था कि स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की आम जनता को देश के शासन म भाग लेने से वचित किया जा सके, अत राष्ट्र के सबसे महान और ऊचे पद को भी भारतीय नागरिको के लिये खुला रखना आवश्यक हो गया, यह संसार मे फैले हुए गणतन्त्रीय विचार के भी अनुरूप था और हम उसे सहज ही साध सके।

योग्यता और व्यक्तित्व—राष्ट्रपति-पद भारत के समस्त नागरिको के लिए खुला हुआ है परन्तु उन्हें उस पद का अभ्यर्थी बनने के लिए कुछ योग्यता रखनी होती है।

राष्ट्रपति पद के अभ्यर्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह—

१ भारत का नागरिक हो,

२ वह कम से कम ३५ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका हो,

३ वह लोकसभा का सदस्य बनने की योग्यता रखता हो,
४ वह अपने नाम-निर्देशन के समय राज्य या सघ शासन के अन्तर्गत किसी वैतनिक पद पर काम न करता हो।
५ यदि वह राष्ट्रपति निर्वाचित होने के समय भारतीय ससद या राज्य-विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य है तो राष्ट्रपति का पद ग्रहण करने की तिथि से वह उस सदन का सदस्य नही रहेगा।
६ राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के बाद वह व्यक्ति किसी दूसरे ऐसे पद को ग्रहण नही कर सकेगा जिससे उसे किसी प्रकार का आर्थिक लाभ होता हो।

ये योग्यताये राष्ट्रपति जैसे अधिकारी के लिए बहुत कम मालूम होती हैं, उसके लिए शिक्षा की कोई शर्त नही लगाई गई, न किसी प्रकार का राजनीतिक अथवा अन्य प्रकार का अनुभव ही मागा गया है। परन्तु हमे यहा यह ध्यान रखना चाहिए कि राष्ट्रपति का पद यद्यपि निर्दलीय है अर्थात् उसके लिए यह आवश्यक है कि वह किसी राजनीतिक दल का सदस्य न रहे तथापि वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक पद है। लोकतन्त्र के भीतर राजनीतिक पदो के लिए किसी प्रकार की शैक्षणिक अथवा अनुभव सम्बन्धी योग्यता अनिवार्य नही मानी जा सकती, क्योकि राजनीति मे सफलता स्वय ही एक बहुत बडी योग्यता है और यदि किसी राजनीतिक पद के लिए कोई व्यक्ति आवश्यक मत प्राप्त कर लेता है तो यह उसके लिए पर्याप्त योग्यता होती है। राजनीतिक पदो से शासन की नीतियो का सचालन होता है, उनका काम केवल इतना है कि वे वहा बैठकर देश की लोकात्मा अथवा लोकमत को अभिव्यक्त करे तथा समस्त देश के शासन का सूत्र उसकी दिशा मे मोड दें। शासन चलाने का काम तो प्रशासक वर्ग करता है वह उस काम के लिए प्रशिक्षित होता है और योग्यता के आधार पर नियुक्त होता है।

विशेषकर भारत मे राजनीतिक पदो के लिए किसी प्रकार की शिक्षा सम्बन्धी योग्यता मागने का अर्थ यह होगा कि देश के राजनीतिक पदो को देश की आम जनता की पहुँच के बाहर कर दिया जायगा जो आमतौर पर अशिक्षित और कम शिक्षित है। महात्मा गाधी कहा करते थे कि वे चाहते हैं कि कोई हरिजन बालिका देश की राष्ट्रपति बने। उनके इस कथन मे लोकतन्त्र की आत्मा छिपी हुई है, वे चाहते थे कि हमारे देश के उपेक्षित और पतित लोग स्वतन्त्रता के बाद गौरवान्वित और महिमान्वित हो सकें तथा हम अपने लोकतन्त्र को अधिक वास्तविक बना सकें।

इस सबके बावजूद पद के उत्तरदायित्वो को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि राष्ट्रपति पद को धारण करने वाला व्यक्ति कुछ चारित्रिक योग्यतायें रखता हो। उसके भीतर सबसे पहला गुण यह होना चाहिए कि वह अत्यन्त शात प्रकृति का व्यक्ति हो, उसके भीतर बहुत ऊची कोटि की सहनशीलता होनी चाहिए कि वह एक पत्थर की प्रतिमा की भाति सरकार के कामो को देखता रहे तथा उसका

समर्थन करता रहे, क्योंकि उसको सरकार के कामों का साक्षी मात्र होकर ही रहना पड़ता है वह अपने मन्त्रियों को सलाह दे सकता है परन्तु सार्वजनिक तौर पर उनकी निन्दा या आलोचना नहीं कर सकता। यदि वह बहुत उत्साही हो और नीतियों के बारे म उसकी अपनी धारणायें बहुत प्रबल होंगी तो वह शांत नहीं रह सकेगा तथा एक योग्य राष्ट्रपति सिद्ध नहीं हो गा।

राष्ट्रपति का पद राष्ट्रीय महत्व का है वह समूचे राष्ट्र की एकता का प्रतीक होता है अत उसके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह ऐसा व्यक्ति हो जो देश के विविध वर्गों राजनीतिक दलों और राज्यों के लोगों का विश्वास प्राप्त कर सके तथा अपनी निष्पक्षता से सबको प्रभावित कर सके। अत यह आवश्यक है कि वह निर्दलीय हो अर्थात किसी राजनीतिक दल का सदस्य न रहे। दल की अपेक्षा उसके सामने राष्ट्र के हितों की रक्षा का प्रश्न होता है।

राष्ट्रपति समूचे राष्ट्र की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक भावनाओं का प्रतीक और राष्ट्र की सत्ता का सर्वोच्च प्रतिनिधि होता है अत यह आवश्यक है कि वह राष्ट्र की इन आकांक्षाओं को समझ सके और देश की सांस्कृतिक व साहित्यिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता हो। उसे राष्ट्रीय महत्व के अवसरों पर राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करना होता है तथा विदेशी राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का स्वागत करना होता है अत ऐसे अवसरों पर अपने आपको राष्ट्रीय आकांक्षा के अनुरूप सिद्ध करने की क्षमता भी उसमे होनी अनिवार्य है। यद्यपि संविधान ने इन योग्यताओं के बारे म कुछ नहीं कहा है परन्तु उसके निर्वाचक निश्चय ही गुणों की खोज मे रहते हैं।

यह अत्यन्त सौभाग्य का विषय है कि हमारे प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसाद इन सब गुणों की साक्षात प्रतिमा हैं। यद्यपि वे इस पद को प्राप्त करने के पहले कांग्रेस के एक महान नेता थे और एक दीर्घकाल से उसका मार्गदर्शन कर रहे थे तथापि राष्ट्रपति बनने के बाद उन्होंने यह परम्परा निर्माण की कि राष्ट्रपति को निर्दलीय होना चाहिए वे राजनीतिक दल की सदस्यता से अलग हो गये तथा उसके बाद न उन्होंने कभी कांग्रेस की किसी सभा मे भाग लिया, न वे उसके किसी अधि-वेशन मे सम्मिलित हुए और न उसके मंच से कोई भाषण ही दिया। सारा राष्ट्र उनमे विश्वास रखता है, हमारे राष्ट्रपति असाधारण रूप से हमारे राष्ट्र की भक्ति और निष्ठा प्राप्त कर सके हैं, सब लोगों को उनकी निष्पक्षता मे पूरा भरोसा है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन

हमारा राष्ट्रपति एक निर्वाचित-अधिकारी होता है। उसके निर्वाचन के लिए संविधान ने परोक्ष निर्वाचन पद्धति (Indirect Election) का आश्रय लिया है। यह पूछा जा सकता है कि राष्ट्रपति को परोक्ष पद्धति से चुनने की व्यवस्था क्यों की गई है, और यदि उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली से ही चुन लिया जाता तो क्या हानि

होने की सम्भावना थी ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत सरल है—

१ सबसे पहली बात तो यह है कि हमारे देश मे एक विशाल जनसख्या निवास करती है तथा यहा लगभग २० करोड नागरिक हैं। यदि राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली से हो तो यह निर्वाचन बहुत कठिन बन जायेगा।

२ इस सम्बन्ध मे दूसरी और सबसे अधिक महत्वपूर्ण कठिनाई यह है कि यदि राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष पद्धति मे किया जाता है तो वह सारे राष्ट्र का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि बन जाता है और उसे सीधे नागरिको से सत्ता प्राप्त हो जाती जिसका परिणाम यह होगा कि वह राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी होता। संसदात्मक लोकतन्त्र मे यह एक खतरनाक विचार है कि राष्ट्र का अध्यक्ष जनता द्वारा चुना जाये और उसके प्रति सीधे ही उत्तरदायी हो वैसी स्थिति मे मंत्रिपरिषद और संसद की बात मानने के लिये उसे किसी प्रकार विवश नही किया जा सकेगा तथा वह उनके दबाव से सर्वथा मुक्त होकर संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की भाति राष्ट्र की कार्यपालिका सत्ता का प्रयोग करेगा। ऐसा होने से देश की शासन-व्यवस्था का ढाचा ही बदल जायेगा और मन्त्रिमण्डलात्मक या संसदात्मक शासन बदल कर अध्यक्षात्मक हो जायेगा। आज तो संसद के दोनो सदन मिलकर राष्ट्रपति को कदाचार के आरोप पर महाभियोग लगाकर हटा भी सकते हैं परन्तु यदि उसे जनता चुनती है तो फिर उसे किसी के द्वारा भी हटाया नही जा सकेगा, और वह सांविधानिक कार्यपालिका-अधिकारी के स्थान पर वास्तविक अधिकारी बन जायेगा। हमारे सविधान ने देश के शासन को अध्यक्षात्मक न बनाकर ससदात्मक बनाया है अत उसके साथ जनता द्वारा चुने हुए राष्ट्रपति का मेल नही बैठता। इस बारे में हमारे प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने ४ जुलाई १९५२ को लोकसभा के सामने भाषण करते हुए कहा था कि, "मैं चाहता हूँ कि यह सदन एक बात याद रखे, शायद हमारे संविधान की प्रकृति को भुला दिया गया है, एक सदस्य ने यहा अमेरिकन सविधान का हवाला दिया था।. . सदस्य को यह समझना चाहिये कि हमारा सविधान अमेरिकन सविधान के नमूने पर नही बनाया गया, यह उससे सर्वथा भिन्न है।.. जब हमने संविधान बनाया तो उस समय उसका निर्माण अमेरिकन नमूने पर नहीं, सही या गलत जो भी है ब्रिटिश नमूने पर किया गया निस्सदेह उसमे कुछ परिवर्तन किये गये, क्योकि ब्रिटेन एक छोटा सा द्वीप है जिसमे एकात्मक शासन है परन्तु हमारा देश बहुत बडा है जिसे अनिवार्यत सघात्मक बनाना पडा है और इसी कारण अन्तर पैदा हो गया है।"

इस प्रकार यह सम्भव और व्यवहारिक नही था कि राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के द्वारा कराने की व्यवस्था की जाती।

निर्वाचन प्रक्रिया—राष्ट्रपति का निर्वाचन करने के लिये एक निर्वाचक मण्डल बनता है इसमें संसद के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यो की विधान-सभाओ के निर्वाचित सदस्य होते हैं।

मतदान के लिये संविधान ने एकल संक्रमणीय मत (Single Transferable Vote) द्वारा आनुपातिक-प्रतिनिधित्व पद्धति (Proportional Representation) की व्यवस्था की है। मतदान गुप्तशलाका पद्धति (Secret Ballot System) द्वारा होता है।

संसद के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्यो के मत राष्ट्रपति के निर्वाचन मे कुल उतने होते है जितने कि समस्त राज्यो की विधानसभाओ के निर्वाचित सदस्यों के होते हैं। राज्यों का आकार भिन्न होने के कारण यह तय करना बहुत कठिन काम था कि प्रत्यक राज्य के निर्वाचको को कितने मत देने का अधिकार हो, उसके लिए निम्न सूत्र बना लिया गया है—

किसी राज्य की विधानसभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतो की सख्या =

$$= \frac{\text{उस राज्य की जनसख्या}}{\text{राज्य विधानसभा के सदस्यो की सख्या} \times १०००}$$

तथा संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतो की सख्या =

$$= \frac{\text{कुल राज्यो की विधानसभाओ के समस्त निर्वाचित सदस्यो के कुल मतो की सख्या}}{\text{ससद के कुल निर्वाचित सदस्यो की सख्या}}$$

राष्ट्रपति के निर्वाचक प्रत्यक्षत जनता के प्रतिनिधि होते हैं अतः राष्ट्रपति का निर्वाचन काफी लोकतन्त्रात्मक हो जाता है। ससद और राज्यो की विधानसभाओ को उसके निर्वाचन का अधिकार देकर निर्वाचन को राष्ट्रीय महत्व प्रदान किया गया है। राज्यो की विधानसभाओ को राष्ट्रपति के चुनाव मे जोडना इस दृष्टि से भी आवश्यक था क्योकि राष्ट्रपति समय-समय पर राज्यो के प्रशासन में भी हस्तक्षेप करता है। अभी तक तो सघ और राज्यो मे कांग्रेस के बहुमत का दलीय छत्र छाया हुआ है और दलीय अनुशासन के नाते दल के समस्त सदस्य उस व्यक्ति को ही अपने मत प्रदान करते हैं जो दल द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है अत राष्ट्रपति के निर्वाचन मे कोई बडी कठिनाई उपस्थित नही होती परन्तु यदि अन्य दल भी राज्यो या सघ म शक्तिशाली हो जायें और कांग्रेस की छत्र-छाया कम हो जाये तो निश्चय ही यह निर्वाचन इतनी सुविधा से सम्पन्न नही हो सकेगा।

राष्ट्रपति का कार्यकाल—संविधान मे कहा गया है कि राष्ट्रपति का कार्यकाल पाच वर्ष होगा। इस अवधि के पश्चात् नये निर्वाचन होगे। संविधान ने एक ही व्यक्ति के अनेक बार राष्ट्रपति पद के लिय चुनाव मे खडे होने और वह पद प्राप्त करने पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया है। हमारे वर्तमान राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जो २६ जनवरी १९५० से अभी तक अपने पद पर विद्यमान हैं वे १९५२ और १९५७ मे दो बार राष्ट्रपति पद के लिय चुनाव जीत चुके हैं, आगे भी उनके पद प्राप्त करने पर संविधान की ओर से कोई बाधा नही है।

संविधान ने ऐसी कोई व्यवस्था नही की है कि यदि राष्ट्रपति कार्य करने

के अयोग्य हो जाये तो उसे उपराष्ट्रपति द्वारा हटाया और उसका स्थान ग्रहण किया जा सके। उसके लिए ससद के दोनो सदनो को प्रस्ताव स्वीकार करना होगा। यदि राष्ट्रपति का पद त्याग-पत्र, मृत्यु अथवा महाभियोग द्वारा रिक्त हो जाये तो उसके स्थान पर तुरन्त तो उपराष्ट्रपति उसके पद का कार्यभार सम्भालेगा परन्तु छ मास के भीतर ही राष्ट्रपति का नया निर्वाचन कर लिया जायेगा और उपराष्ट्रपति अपने पद पर वापिस काम करने लग जायेगा। इस प्रकार चुना गया राष्ट्रपति पूरे पाच वर्ष तक कार्य करता है।

शपथ—राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित होने वाले व्यक्ति को अपना पद सम्भालने से पूर्व एक शपथ लेनी होती है कि वह निष्ठा के साथ राष्ट्रपति पद के कर्त्तव्यो का पालन करेगा और अपनी पूरी शक्ति के साथ संविधान और विधि की सुरक्षा, रक्षा और प्रतिरक्षा करेगा। वह यह भी प्रतिज्ञा करता है कि वह भारत की जनता की सेवा, और उसके कल्याण में अपने को लगायेगा।

वेतन और सुविधायें—राष्ट्रपति के लिये सविधान ने *व्यवस्था* की है कि उसके वेतन और अन्य सुविधाओ के बारे मे ससद विधि बनायेगी, इस बीच मे उसे दस हजार रुपये प्रति मास वेतन के रूप मे तथा वे सब भत्ते और दूसरी सुविधायें मिलेंगी जो उससे पहले गवर्नर जनरल को प्राप्त होते थे।

वेतन और भत्तो के अतिरिक्त राष्ट्रपति को एक निःशुल्क निवास स्थान मिलता है जिसे राष्ट्रपति भवन कहा जाता है। इस भवन की देखभाल तथा उसमें होने वाले नाना आयोजनो और भोजो के लिए एक बडी राशि भत्ते के रूप मे दी जाती है।

राष्ट्रपति के वेतन और भत्तो तथा अन्य सुविधाओ को उसके कार्यकाल में परिवर्तित नही किया जा सकता। साथ ही इनके बारे मे ससद के भीतर किसी प्रकार का मतदान नही हो सकता, य सब राशिया भारत की सचित निधि पर भारित होती हैं। पद से निवृत्त होने पर उसे निवृत्ति वेतन दिया जाता है जिसका निर्णय ससद करती है, वर्तमान समय म वह पन्द्रह हजार रुपया प्रति वर्ष है।

ब्रिटिश सम्राट की ही भाति हमारे राष्ट्रपति को भी कुछ विमुक्तिया प्रदान की गई हैं। उसे बन्दी नही *बनाया जा सकता तथा कारावास* में नही डाला जा सकता। उसके विरुद्ध किसी न्यायालय म कोई दण्ड-कार्यवाही (Criminal Proceedings) नही चलाई जा सकती। कोई दीवानी कार्यवाही करने के दो मास पहले उसे उसकी सूचना देना अनिवार्य है। वह अपने पद से सबधित किसी भी काम के लिये किसी न्यायालय के सम्मुख उत्तरदायी नही होता।

महाभियोग—सविधान ने संसद की उच्चता को प्रमाणित करने के लिए यह व्यवस्था की है कि जब कभी राष्ट्रपति उसकी दृष्टि मे संविधान का उल्लघन करे तथा उसके बारे में दुराचार का अभियोग सिद्ध हो जाये तो ससद उस पर महाभियोग (Impeachment) चलाकर उसे पदच्युत कर सकती है।

महाभियोग चलाने की पद्धति यह है कि संसद का एक सदन राष्ट्रपति के विरुद्ध दोष आरोपित करता है तथा दूसरा सदन उन दोषो की जाच करेगा। दोष लगाने वाले सदन के कम से कम चौथाई सदस्य अपने हस्ताक्षर करके दोषारोपण के प्रस्ताव को कम से कम चौदह दिन पूर्व सदन के पास सूचना और आवश्यक कार्यवाही के लिये भेजेंगे। उसके बाद वह सदन उस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए आहूत किया जायगा तथा यदि वह उस प्रस्ताव को अपनी कुल सदस्य संख्या के दो-तिहाई बहुमत से पास कर देता है तो वह प्रस्ताव अनुसंधान के लिए दूसरे सदन के सामने भेज दिया जायेगा।

इस प्रकार दोष आरोपित कर दिये जाने के बाद संसद का दूसरा सदन या तो स्वय आरोपो की जाच करेगा या उनकी जाच करायगा। राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वह इस प्रकार की जाच मे स्वयं अपना पक्ष उपस्थित करने के लिए उपस्थित हो सकता है अथवा अपना प्रतिनिधि भेज सकता है।

जाच के परिणामस्वरूप यदि जाच करने वाला सदन ऐसा प्रस्ताव अपनी कुल सदस्य सख्या के दो तिहाई बहुमत से पास कर दे कि उसकी दृष्टि मे आरोपित दोष सिद्ध हो गय हं तथा राष्ट्रपति को उन दोषो का अपराधी पाया गया है तो उस प्रस्ताव का अर्थ यह होगा कि राष्ट्रपति उस प्रस्ताव के पास होने की तिथि से ही अपने पद से पृथक माना जायेगा और उसका स्थान तत्काल उपराष्ट्रपति द्वारा ग्रहण कर लिया जायेगा।

राष्ट्रपति की शक्तियां और उसके कार्य

राष्ट्रपति भारत का सर्वोच्च अधिकारी है। वह भारत की राज्यसत्ता का प्रतीक और प्रतिनिधि है। संविधान ने कहा है कि सघ की कार्यपालिका सत्ता राष्ट्रपति मे निहित होगी। यहा सबसे पहले यह आवश्यक है कि हम राष्ट्रपति की शक्तियों की प्रकृति को भली प्रकार समझ लें।

राष्ट्रपति का पद एक शोभा का पद है। वह वास्तव में एक औपचारिक अधिकारी है उसे कोई वास्तविक सत्ता नही दी गई है। यद्यपि उसे संसद के साथ विधिनिर्माण के काम मे जोडा गया है तथापि उसे उस बारे मे कोई वास्तविक सत्ता नही मिली है। इसी प्रकार कार्यपालिका क्षेत्र मे उसकी सत्ता नाम मात्र की है, उसे अपने मन्त्रियो की सलाह माननी ही होती है और वह उसकी अवहेलना तब तक नहीं कर सकता जब तक कि मन्त्रिपरिषद को संसद का बहुमत प्राप्त है। डा० अम्बेडकर जिन्हें हम भारतीय संविधान का मनु कह सकते है, राष्ट्रपति की शक्तियो के बारे में इस प्रकार हमारा मार्गदर्शन करते हैं —

"संविधान मे किस प्रकार के शासन की कल्पना की गई है ? ......संविधान के प्रारूप मे भारतीय सघ के शीर्ष पर एक अधिकारी बैठाया गया है जिसे सघ का राष्ट्रपति कहा गया है। इस अधिकारी के पद का नाम हमे सयुक्तराज्य अमेरिका के

राष्ट्रपति का स्मरण दिलाता है। परन्तु नाम की समानता के अतिरिक्त अमेरिका में प्रचलित शासन-पद्धति और भारत की प्रस्तावित शासन व्यवस्था म और कोई समानता नहीं है। अमेरिकन शासन-पद्धति को अध्यक्षात्मक प्रणाली कहा जाता है। भारत म संविधान का प्रारूप ससदात्मक शासन की योजना करता है। दोनो मौलिक रूप में भिन्न है। अमेरिका की अध्यक्षात्मक प्रणाली मे राष्ट्रपति कार्यपालिका का मुख्य अध्यक्ष होता है, सारा प्रशासन चलाने की सत्ता उसी म निहित है। भारत के संविधान (प्रारूप) मे राष्ट्रपति का स्थान वह है जो ब्रिटिश सविधान मे सम्राट का है। वह राज्य का अध्यक्ष होता है परन्तु कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है परन्तु उस पर शासन नहीं करता। वह राष्ट्र का प्रतीक है। प्रशासन मे उसका स्थान एक औपचारिक मुद्रा के समान है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णय घोषित किय जाते हैं। अमेरिकन सविधान म राष्ट्रपति के आधीन अनेक सचिव (मन्त्री) होते हैं जो विविध विभागो का सचालन करते हैं। इसी प्रकार भारतीय राष्ट्रपति के आधीन अनेक मन्त्री होगे जो विविध प्रशासकीय विभागो का संचालन करेंगे। यहा भी दोनो के बीच म एक मौलिक अन्तर है। अमेरिकन राष्ट्रपति अपने मन्त्रियो द्वारा दिये गय परामर्श को मानने के लिय बाध्य नही है। भारत सघ का राष्ट्रपति सामान्यत अपने मन्त्रियो का परामर्श मानने के लिय बाध्य होगा। वह न तो उनकी सलाह के विरुद्ध कुछ कर सकता है न वह उनकी सलाह के बिना कुछ कर सकता है। अमेरिकन राष्ट्रपति किसी भी समय किसी भी मन्त्री को उसके पद से हटा सकता है। परन्तु भारत के राष्ट्रपति को वैसा करने की कोई शक्ति तब तक नही है जब तक कि उसके मन्त्रियो को ससद के बहुमत का समर्थन प्राप्त है।" (४ नवम्बर १९४८ को सविधान सभा के सामने भाषण करते हुय।)

राष्ट्रपति के बारे म यह आशका नही की जा सकती कि वह संसद की इच्छा की अवहेलना करके किसी शक्ति का प्रयोग कर सकेगा और स्वेच्छाचारी शासक की तरह व्यवहार कर सकेगा। ब्रिटिश सम्राट की भाति वह कोई गलती नही कर सकता, इसका अर्थ यही है कि उसे गलत या सही कुछ भी करने का कोई अधिकार है ही नही। वह अपने मन्त्रियो का एक अच्छा मित्र मार्गदर्शक और सचेतक हो सकता है। समय समय पर वह उन्हें परामर्श दे सकता है। हमारे वर्तमान राष्ट्रपति प्राय प्रधान मन्त्री को पत्र लिखकर विविध विषयो पर अपनी निजी सलाह उसे देते हैं। ऐसे अवसरो पर जब राष्ट्रपति को लगता है कि मन्त्रिपरिषद कोई गलत नीति अपना रही है तो वह उसको चेतावनी दे सकता है कि उस नीति के क्या दुष्परिणाम आने की सम्भावना उसके मस्तिष्क म है, वह उससे कह सकता है कि वह यदि उस नीति का ही अनुसरण करेगी तब भी उसे तो उनका समर्थन करना ही होगा तथापि वह अपना धर्म समझता है कि मित्र के नाते उसे उसकी नीति के दुष्परिणाम के बारे मे सचेत और सावधान कर दे। मन्त्रियो को यह स्वतन्त्रता है कि वे उसकी सलाह मानें या न मानें। वे उसकी राय मानने के

लिये बाध्य नहीं किये जा सकते, क्योंकि वे संसद के सामने उत्तरदायी होते हैं और उससे ही सत्ता प्राप्त करते हैं। जब तक संसद में उनका बहुमत होता है तब तक उन्हें राष्ट्रपति से कोई खतरा नहीं होता।

शक्तियों का वर्गीकरण—राष्ट्रपति की शक्तियों का वर्गीकरण करते समय अनेक विद्वानों ने उसे कार्यपालिका विधायिका और न्यायपालिका विभागों में परम्परागत ढंग से बांटा है। हमारी नम्र मति में यह वर्गीकरण इस प्रकार नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति संघ का सर्वोच्च *कार्यपालिका अधिकारी है, अतः स्वाभाविक रूप* में उसकी सत्ता कार्यपालिका प्रकृति की ही हो सकती है। किसी लोकतन्त्र में किसी अकेले व्यक्ति या अधिकारी को विधायी सत्ता नहीं दी जा सकती। संविधान ने संसद को यह शक्ति प्रदान की है। संसद को आहूत स्थगित और विघटित करने की शक्ति जो उसे दी गई है वास्तव में वह उसकी शक्ति न होकर उसका काम है। हमेशा यह काम कार्यपालिका अधिकारी का ही होता है कि वह विचारात्मक-सभा (Deliberative Body) की बैठकें बुलाये और उनका सत्रावसान आदि करे। इस बारे में राष्ट्रपति को कोई स्वेच्छा की शक्ति प्राप्त नहीं है उसे संसद के बनाये नियमों के अनुसार यह कार्यवाही करनी होती है। जहाँ तक संसद के सामने भाषण देने, उसके विधेयकों पर हस्ताक्षर करने या उन्हें पुनर्विचार के लिये संसद के सामने लौटाने की शक्ति का प्रश्न है वह भी विशुद्धतः कार्यपालिका सत्ता का ही एक प्रयोग है। वह कार्यपालिका के अध्यक्ष के नाते संसद के सामने कार्यपालिका की नीतियों और उसके कार्यों का प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है, उसके इस भाषण का रूप मन्त्रि-परिषद के द्वारा निर्धारित किया जाता है तथा इसमें वह कोई ऐसी बात नहीं कह सकता जो मन्त्रिपरिषद की घोषित नीति के विरुद्ध हो। विधेयकों पर हस्ताक्षर करने का काम केवल प्रमाणित करने के जैसा है। उसके हस्ताक्षर एक अन्तिम मुहर या मुद्रा के सरीखे हैं जिनके होने से विधेयक विधि का रूप ले लेता है और कार्यपालिका के प्रशासकीय विभाग उसे लागू करते हैं। विधियां संसद बनाती है, परन्तु उन्हें लागू करने का काम कार्यपालिका का प्रशासकीय विभाग करता है। प्रशासन तब तक विधियों को लागू नहीं कर सकता जब तक कि उसका अध्यक्ष वैसा आदेश न दे। राष्ट्रपति उसके अध्यक्ष के नाते अपने हस्ताक्षर करके विधि को प्रचारित और लागू करता है। यह विशुद्धतः उसका कार्यपालिका कृत्य है।

इसी प्रकार राष्ट्रपति जब किसी अपराधी के दंड को कम करता, उसे निलंबित करता या क्षमा करता है तो यह उसकी न्यायपालिका सत्ता नहीं है। भारत में सर्वोच्च न्यायपालिका के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की प्रतिष्ठा की गई है और यह असंभव था कि संविधान निर्माता उसके ऊपर किसी दूसरी सत्ता की रचना करके एक अन्तर्विरोध को जन्म देते। राष्ट्रपति अपराधियों के दण्ड आदि को क्षमा करने का कार्य राज्य के सर्वोच्च-न्यायाधीश की हैसियत में नहीं वरन् कार्यपालिका अध्यक्ष के नाते करता है। अपराधी का अपराध जब राज्य के विरुद्ध होता है तब राज्य के

सर्वोच्च प्रतिनिधि के नाते राष्ट्रपति को सहज ही यह अधिकार मिल जाता है कि वह अपने अपराधों को क्षमा कर सके। यदि क्षमा आदि का अधिकार न्यायपालिक प्रकृति का होता तब राष्ट्रपति न्यायाधीश की भांति न्यायालय जमा कर बैठता तथ उसके सामने दोनों पक्ष उपस्थित होते एवं वह अपना निर्णय करता। यहां हम यह कहना चाहते हैं कि राष्ट्रपति किसी प्रकार की न्यायपालिका-सत्ता का प्रयोग नहीं करता, वह न्याय नहीं करता वरन् क्षमा करता है। न्याय और क्षमा में बहुत अंतर है। न्याय किन्हीं निर्धारित नियमों के अनुसार किया जाता है परन्तु क्षमा के लिये इस प्रकार की कोई मर्यादा नहीं हो सकती। वैसे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति किन-किन अपराधों के अपराधियों को क्षमा दे सकता है और किस मात्रा में।

इस प्रकार राष्ट्रपति की शक्तियों को कार्यपालिका शक्तियां मानकर हम उन्हें निम्न प्रकार से वर्गीकृत करना उचित समझते हैं—

(१) सामान्य शक्तियां (General powers)
(२) नियुक्ति की शक्तियां (Powers of appointment)
(३) वित्तीय शक्तियां (Financial powers)
(४) आपात्कालीन शक्तियां (Emergency powers)
(५) अल्पकालीन शक्तियां (Temporary powers)

सामान्य शक्तियां

राष्ट्रपति की सामान्य शक्तियां कई प्रकार की हैं, वे उस तमाम क्षेत्र में लागू होती हैं जिसमें कि संसद को विधियां बनाने का अधिकार है। किसी संधि या समझौते द्वारा भारत सरकार को जो शक्तियां प्राप्त होती हैं वे भी राष्ट्रपति के क्षेत्राधिकार में सम्मिलित होती हैं। सामान्य शक्तियों के मुख्य भेद इस प्रकार हैं—

(क) आदेश निकालने की शक्ति
(ख) संसद के सम्बन्ध में शक्ति
(ग) राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने की शक्ति
(घ) अध्यादेश जारी करने की शक्ति
(च) सर्वोच्च-सेनापति पद
(छ) शासन सम्बन्धी जानकारी पाने का अधिकार।

(क) आदेश निकालने की शक्ति—संघ सरकार की ओर से जितने भी आदेश निकाले जाते हैं वे सब राष्ट्रपति के नाम से निकाले जाते हैं, अनेक आदेशों पर उसके हस्ताक्षर होना अनिवार्य है जिसके बिना न्यायालय आदेश को मान्यता प्रदान करने से मना कर सकता है, वह प्रशासन को ठीक ढंग से चलाने के लिये नियम व उपनियम बना सकता है।

(ख) संसद के सम्बन्ध में शक्ति—संविधान ने राष्ट्रपति को यह काम सौंपा

है कि वह संसद के सम्बन्ध में कुछ कर्तव्यो का पालन और कुछ शक्तियो का प्रयोग करेगा। कहा गया है कि वह समय-समय पर ससद की बैठकें बुलायेगा (आहूत करेगा), परन्तु उसको दो बैठकों के बीच मे साधारणतया छह मास से अधिक का समय नही बीतना चाहिये। इसके अतिरिक्त वह ससद के सत्र (Session) का अवसान अर्थात् सत्रावसान (Prorogue) करता है, एव उसे विघटित (Dissolve) करता है। सत्रावसान का अर्थ यह है कि वह ससद के किसी चालू सत्र अर्थात् उसकी बैठक को समाप्त करने की घोषणा करता है। विघटित करने का अर्थ है उसे भंग करना। यहा यह ध्यान मे रखना चाहिये कि संसद मे राज्यसभा का विघटन नही हो सकता वह एक अखंड और चिरन्जीवि सदन है, केवल लोकसभा को ही विघटित किया जा सकता है।

साधारण विधेयक जब राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिये उसके सामने लाये जाते हैं तो उसे यह अधिकार दे दिया गया है कि वह उन विधेयको को अपने सदेश के साथ संसद के पास पुर्नविचार के लिये वापिस भेज सकता है परन्तु ससद उसे दूसरी बार चाहे किसी रूप में भी भेजे उसे उस पर हस्ताक्षर करके उसे लागू करना होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रपति संसद का आज्ञाकारी सेवक है वह उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ नही कर सकता।

वित्तीय विधेयको के बारे में यह कहा गया है कि जब कभी कोई विधेयक लोकसभा के अध्यक्ष के द्वारा वित्तीय-विधेयक घोषित कर दिया जाता है तब उसे संसद के सामने लोकसभा मे रखने से पहले उस पर राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त की जाती है, राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति तब ही देता है जब कि उसकी मन्त्रिपरिषद उसे वैसा करने का परामर्श दे, अन्यथा वह उस पर अपनी अनुमति प्रदान नही करता ऐसे विधेयक जब ससद द्वारा पास किये जाने के बाद उसके पास हस्ताक्षर के लिये आते हैं तो वह चुपचाप उन पर हस्ताक्षर करके उन्हे लागू कर देता है। वह वित्तीय *विधेयकों को संसद के पुर्नविचार के लिये नही लौटा सकता।*

राष्ट्रपति को संसद के बारे मे यह अधिकार भी दिया गया है कि वह ससद के किसी एक या दोनो सदनों के संयुक्त अधिवेशन मे भाषण कर सकता है तथा कार्यपालिका की ओर से उसके कार्यों व नीतियो का ब्यौरा रख सकता है। उसके ऐसे भाषण मन्त्रिपरिषद के नियंत्रण में तैयार किये जाते हैं वह तो केवल उन्हे पढने भर का काम करता है। *यह भी उसका एक कार्यपालिका कृत्य ही है, वह कार्यपालिका* के अध्यक्ष के नाते संसद के सामने कार्यपालिका के काम की रिपार्ट पेश करता है। सविधान के अनुच्छेद ३६४ ने राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया है कि वह देश के बड़े बन्दरगाहो और वायु-अड्डों (AirBases) को संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि के क्षेत्र से बाहर निकाल दे तथा उनके बारे में कोई फेर बदल कर सके। यह व्यवस्था सभवत. सामरिक अर्थात् सैनिक दृष्टि से की गई है।

(ग) राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने की शक्ति—राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधि

होता है। वह विदेशों में भेजे जाने वाले राजदूतों और अधिकारियों को भारत की ओर से प्रमाणपत्र प्रदान करता है तथा विदेशी राजपुरुषों का स्वागत करता है।

राष्ट्रीय महत्व के अवसरों पर वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। जैसे २६ जनवरी को गणराज्य दिवस के अवसर पर वह तीनों सेनाओं से सलामी लेता है तथा राष्ट्रीय झंडा फहराता है। वर्ष भर में वह अनेक राष्ट्रीय-महत्व के उद्घाटन करता है तथा सभाओं व संस्थाओं में भाषण करता है।

(घ) अध्यादेश जारी करने की शक्ति—राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि जब संसद का अधिवेशन न हो रहा हो उस काल में यदि देश के भीतर किसी विधि का बनाना और उसे लागू करना अनिवार्य हो जाय तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है। अध्यादेशों को न्यायालय संसद की विधियों के समान ही सम्मान देंगे। परन्तु ये अध्यादेश विधि नहीं होते वरन् वे कार्यपालिका आदेश होते हैं जो संसद का अधिवेशन आरम्भ होने के बाद उसके सामने उसकी स्वीकृति के लिये रखे जाते हैं तथा यदि संसद उस बारे में अपना अधिवेशन आरम्भ होने के छह मास के भीतर कोई निर्णय नहीं करती तो वे अध्यादेश रद्द हो जायेंगे। संसद उन्हें इससे पहले भी रद्द कर सकती है या उनके समर्थन में विधि बना सकती है।

कुछ लोगों का विचार है कि अध्यादेश जारी करने की शक्ति राष्ट्रपति की विधि निर्माण की शक्ति है, परन्तु ऐसा नहीं है। यदि अध्यादेश विधि होते तो उन्हें संसद के सामने रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। केवल थोड़े से समय के लिये न्यायालय उन्हें विधि के समान मान लेते हैं ऐसा संविधान ने लिखा है। जब राज्य का काम चलाने में कार्यपालिका को किसी नियम का लागू करना अनिवार्य मालूम होता है और वह उसके लिये संसद का अधिवेशन आरम्भ होने तक रुकना उचित नहीं समझती तो वह इस प्रकार अध्यादेश जारी कर सकती है। राष्ट्रपति को कार्यपालिका शक्ति को अधिक व्यवहारिक बनाने तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यों को पूरा करने की शक्ति देने के लिये यह अधिकार उसे दिया गया है। इस अधिकार का प्रयोग भी वह दूसरे अधिकारों के समान ही अपने मंत्रिपरिषद के परामर्श पर करेगा, स्वेच्छा से नहीं। यदि वह स्वेच्छा से ऐसा करता है तो मन्त्रिपरिषद संसद के भीतर उसको रद्द करके राष्ट्रपति को अपमानित कर सकती है।

(च) सर्वोच्च-सेनापति पद—राष्ट्रपति भारत का सर्वोच्च सेनापति होता है। स्वतन्त्रता से पहले भारत में प्रतिरक्षा सेनाओं का एक सेनापति होता था जो भारत में ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि होता था। गणराज्य की घोषणा के बाद सेनापति का पद राष्ट्रपति को दे दिया गया है। भारत की जल, स्थल और नभ सेनाओं के तीन अलग-अलग प्रमुख होते हैं परन्तु उनमें से किसी को सेनापति नहीं कहा जाता। राष्ट्रपति को शक्ति दी गई है कि उसके आदेश से देश की प्रतिरक्षा सेनायें काम करेंगी, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह संसद की अवहेलना कर सकता है। उसे विधि के अनुसार अपनी शक्ति का प्रयोग करना होगा। युद्ध, शांति,

सशस्त्र सेनायें और समस्त प्रतिरक्षा तैयारी संसद के अधिकार क्षेत्र के भीतर है अत वह इस मामले मे राष्ट्रपति की शक्तियो को कम कर सकती है, वह उसके लिए धन देने से मना कर सकती है, उसके पास यह सबसे बडी शक्ति है। परन्तु कार्यपालिका का अध्यक्ष होने के नाते वैधानिक प्रतिबन्ध न होने पर राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों के परामर्श से सशस्त्र सेनाओ को देश के आतरिक विद्रोह का दमन करने का आदेश दे सकता है, तथा बिना मत्रियो से पूछे ही उन्हे बाह्य आक्रमण का सामना करने का आदेश कर सकता है। तथापि उसे हर स्थिति म मन्त्रियो के सहयोग पर निर्भर रहना होगा क्योकि वे ही ससद की ओर से धन और यातायात आदि की व्यवस्था कर सकते ह। अकेला राष्ट्रपति इस प्रकार सर्वोच्च-सेनापति होने पर भी निरकुश सत्ता का प्रयोग नही कर सकता। राष्ट्रपति सशस्त्र सेना को जो आदेश देगा उसकी भाषा और भावना की रचना सैनिक सेवाओ के प्रमुखो के परामर्श पर तैयार की जायगी। इस प्रकार वास्तव मे राष्ट्रपति किसी सत्ता का प्रयोग नही करता वरन् वह एक दलीय मत्रिपरिषद् और देश की सशस्त्र प्रतिरक्षा सेनाओ के मध्य सम्बन्ध निर्माण करता है। सविधान की यह इच्छा रही है कि सेनाओ को दलीय-मत्रिपरिषद के सीधे सम्पर्क मे आने का न अवसर मिले न उसकी आवश्यकता ही रहे जिससे कि वह दल किसी समय सेना की सहायता से देश की नागरिक स्वतन्त्रताओ का अपहरण न कर सके। यद्यपि हमारे यहा ऐसी व्यवस्था नही है कि युद्ध छेडने से पहले ससद की स्वीकृति लेना आयरलैण्ड की भाति अनिवार्य हो तथापि यह निश्चित है कि जब तक राष्ट्रपति को यह विश्वास न हो कि ससद का बहुमत वैसा करने के पक्ष में होगा तब तक वह युद्ध की घोषणा नही करेगा। इसका यह भी अर्थ है कि यदि किसी समय देश का प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति को यह परामर्श देता है कि युद्ध छेड दिया जाय परन्तु यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास है कि ससद का बहुमत इस प्रश्न पर प्रधान-मन्त्री का समर्थन नहीं करेगा तो वह प्रधानमन्त्री को साफ कह देगा कि वह उस परिस्थिति में बिना ससद की स्वीकृति के वैसा कोई कदम उठाने के लिय तैयार नही है।

(घ) शासन सबधी जानकारी पाने का अधिकार—सविधान ने प्रधानमन्त्री को यह कर्त्तव्य सौंपा है कि वह राष्ट्रपति को मत्रिपरिषद के प्रशासन एव विधि-निर्माण सबधी निर्णय और प्रस्ताव भिजवायगा उसे वे समस्त सूचनाये देगा जो वह मागें तथा यदि राष्ट्रपति चाहता है कि किसी ऐसे मामले को जिसमे किसी मत्री ने बिना मत्रिपरिषद के विचार किय ही कोई निर्णय ले लिया हो मत्रिपरिषद के विचारार्थ पेश किया जाये तो वह वैसा करेगा। इस प्रकार यद्यपि सविधान ने राष्ट्र-पति की शक्ति बहुत सीमित कर दी है तथापि उसका ऐसा प्रयोजन नही मालूम देता कि वह उसे बिल्कुल ही कठपुतली बना दे। उपरोक्त व्यवस्था से यह जान पडता है कि सविधान यह चाहता है कि प्रधानमत्री और मत्रिपरिषद के दूसरे सदस्य राष्ट्र-पति के व्यक्तित्व के दबाव को अनुभव करें और यह न समझें कि वे सर्वथा स्वतत्र

हैं। राष्ट्रपति कार्यपालिका विभाग का अध्यक्ष है, इस नाते मन्त्रिपरिषद उसके आधीन है ही।

नियुक्ति की शक्तियां

राष्ट्रपति को संविधान ने कुछ महत्वपूर्ण नियुक्तियां करने का अधिकार भी दिया है। वह दो प्रकार की नियुक्तियां करता है—एक तो लोक-सेवाओं में होने वाली नियुक्तियां और दूसरी राजनीतिक पदों पर नियुक्तियां, एक तीसरी प्रकार की नियुक्तियां भी वह करता है जिन्हें हम उच्च पदाधिकारियों की नियुक्तियां कह सकते हैं इनमें कुछ आयोग और उनके सदस्य भी सम्मिलित हैं।

जहां तक लोकसेवकों की नियुक्ति का प्रश्न है संविधान ने संसद और राज्य-विधान मण्डलों को यह अधिकार दिया है कि वे अपने-अपने लिए लोकसेवा आयोग बनाकर उसके द्वारा लोकसेवकों की छांट करायें। इस प्रकार लोकसेवकों को चुनने का काम लोकसेवा आयोग करता है और राष्ट्रपति संघीय लोकसेवा आयोग द्वारा चुने गये लोगों को औपचारिक रूप में नियुक्त करता है उन्हें पद से हटाने का अधिकार भी यों तो राष्ट्रपति को दिया गया है तथापि उन्हें हटाने के भी नियम होते हैं जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रपति राज्य में महत्वपूर्ण पदों पर जो अराजनीतिक नियुक्तियां करता है उनमें संघ के *महान्यायवादी, नियंत्रक महालेखक परीक्षक* तथा *सर्वोच्च-न्यायालय* व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश मुख्य हैं। उनके अतिरिक्त वह संघीय लोक सेवा आयोग के सदस्यों और अध्यक्ष को भी नियुक्त करता है। वह अनुसूचित व आदिम जाति अधिकारी, पिछड़ी जाति सुधार आयोग, वित्तआयोग, राष्ट्रभाषा आयोग, निर्वाचन आयोग एवं अन्तर्राज्य परिषद आदि की नियुक्ति करता है।

राष्ट्रपति को कुछ महत्वपूर्ण राजनीतिक नियुक्तियां करने का अधिकार भी दिया गया है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण नियुक्ति प्रधानमंत्री और मन्त्रिपरिषद की है। वास्तव में राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की नियुक्ति के बारे में उस समय कोई स्वतन्त्रता नहीं होती जबकि संसद के भीतर किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो। वैसा होने पर बहुमत दल का नेता ही प्रधानमंत्री होता है और राष्ट्रपति उसे बुलाकर उससे मन्त्रिपरिषद बनाने के लिए कहता है। प्रधानमंत्री उसे मन्त्रिपरिषद के सदस्यों के नाम दे देता है और राष्ट्रपति उन सबको शपथ दिला देता है। परन्तु जब संसद के भीतर अर्थात् लोकसभा के भीतर किसी भी राजनीतिक दल का स्पष्ट बहुमत न हो तो राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की नियुक्ति में स्वतंत्रता तो होती है परन्तु उससे कहीं अधिक परेशानी होती है और वह इस तलाश में रहता है कि वह व्यक्ति कौन है जिसे लोकसभा के बहुमत का समर्थन मिल सके। राष्ट्रपति इस मामले में कोई शक्ति नहीं रखता, उसे यह ध्यान रखना होता है कि लोकसभा उसके बनाये हुए मन्त्रिपरिषद को हटा न दे। प्रधानमंत्री के अतिरिक्त दूसरी महत्वपूर्ण नियुक्ति वह

राज्यो के राज्यपाल की करता है । ये नियुक्तिया वह प्रधान मत्री की सलाह से करता है, और इसी प्रकार वह राज्य की ओर से विदेशो मे भेजे जाने वाले राजदूतो व राजनयिक-प्रतिनिधियो की नियुक्ति भी करता है । जितनी भी राजनीतिक नियुक्तिया हैं वे सब प्रधानमत्री की इच्छा पर निर्भर करती हैं क्योकि राजनीतिक पद लाकसभा के बहुमत प्राप्त दल के ही एकाधिकार म होते है, उन पर ऐसे लोगो का ही नियुक्ति की जा सकती है जो मत्रिपरिषद की नीतियो को जानते और उनम विश्वास रखते हो तथा दल को भी उन पर पूरा भरोसा हो, विशेषकर प्रधानमत्री को, जो लोकसभा मे बहुसख्यक दल का नेता भी होता है ।

यहा हम राष्ट्रपति की मनोनीत करने की शक्ति का उल्लेख भी कर सकते हैं । सविधान के अनुसार वह राज्य सभा मे १२ सदस्यो एवं आवश्यकता पडने पर लोकसभा मे दो आग्ल भारतीय सदस्यो को मनोनीत कर सकता है ।

वित्तीय-शक्तियां

राष्ट्रपति को सविधान ने कुछ ऐसी शक्तिया दी है जो राष्ट्रीय वित्त से सबधित हैं । जैसा कि हम बराबर कहते आय है वास्तव मे ये शक्तिया राष्ट्रपति की ओट मे मत्रि-परिषद को दी गई हैं, राष्ट्रपति तो केवल नाम मात्र का सत्ताधारी है ।

यद्यपि ससदात्मक लोकतंत्र मे निर्णय करने की अन्तिम शक्ति ससद को दी जाती है तथापि शासन के सचालन और उसकी नीतियो के लिए मंत्रिपरिषद उत्तरदायी होती है । राज्य का वित्त एक बहुत जटिल वस्तु होता है, उसका कारण यह है कि एक ओर तो लोकतत्र में यह विचार मान्य किया गया है कि जनता से राज्य तभी कर मागे जबकि वह बिल्कुल ही अनिवार्य हो, दूसरी ओर शासन की सही आवश्यकता का अनुमान केवल उन्ही लोगो को हो सकता है जो वास्तव में प्रशासन का काम सभालते हैं, इस दृष्टि से मत्रिपरिषद ही इस स्थिति मे होती है जिसे राज्य के लिए धन की सही आवश्यकता का बोध होता है, वह ही राज्य की नीतियो का निर्माण करती है अत उसे ही यह ज्ञान रहता है कि उसे शासन के सचालन के लिए कितने धन की और कब आवश्यकता होगी, यदि वह व्यवस्था भग होती है तो उसके लिये यह असम्भव हो जायेगा कि वह शासन का संचालन कर सके । अत सविधान ने यह शक्ति राष्ट्रपति की ओट मे उसे दी है कि वह किसी ऐसे विधेयक को जिसका सबध धन से हो ससद के सामने रखने की अनुमति दे या न दे । यदि ससद उसकी इच्छा के विपरीत राज्य की व्यवस्था मे कोई परिवर्तन करना चाहती है तो इसका अर्थ यह होगा कि उसे मत्रिपरिषद में विश्वास नही रहा है । अत उस अप्रिय स्थिति को टालने के लिये सविधान ने राष्ट्रपति को यह शक्ति दी है कि वह लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा उसके पास भेजे गये धन-विधेयको को ससद के सामने विचारार्थ पेश करने या न करने की अनुमति प्रदान करता है । वह अपनी अनुमति तभी प्रदान करेगा जबकि उसकी मंत्रिपरिषद उसे वैसा करने का

परामर्श देगी।

वार्षिक बजट संसद के सामने रखना—संविधान ने राष्ट्रपति को यह काम भी सौंपा है कि वह प्रत्येक वर्ष राज्य का बजट अर्थात् आय-व्ययक तैयार करा कर संसद के सामने पेश कराय। इसका अर्थ भी यही है कि संविधान ने राज्य का वार्षिक बजट तैयार करने और संसद के सामने रखने का काम कार्यपालिका को सौंपा है। समदात्मक लोकतन्त्र मे ही नही अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली म भी बजट तैयार करने का काम कार्यपालिका ही करती है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में यह काम राष्ट्रपति कराता है।

आपातकोष का नियन्त्रण—देश के आपातकोष (Contingency fund) का नियन्त्रण भी संसद ने राष्ट्रपति को सौंपा है और उसे शक्ति प्रदान की है कि वह राज्य के अप्रत्याशित व्यय (Unforseen expenditure) के लिय उसमें से राशिया दे सकता है। ऐसे व्यय की स्वीकृति बाद मे संसद से लेनी होती है।

वित्त आयोग की नियुक्ति—राष्ट्रपति एक वित्त आयोग की नियुक्ति करता है जो उसे सघ और राज्यो के बीच होने वाले वित्तीय सम्बन्धो के बारे म परामर्श देता है। राष्ट्रपति इस आयोग की सिफारिश के आधार पर सघ और राज्यो के आयकर से प्राप्त होने वाली राशि का वितरण करता है तथा आसाम, बिहार, बगाल और उडीसा को जूट पर प्राप्त होने वाल निर्यात कर के बदले मे आर्थिक अनुदान देता है।

भारत की स्वाधीनता के समय जो देशी नरेश भारत सघ में सम्मिलित हुए थे उनको दी जान वाली प्रिवी पर्स की राशि का निर्धारण भी राष्ट्रपति ही करता है।

आपात्कालीन शक्तिया

हमारे संविधान ने राष्ट्रपति को जितनी शक्तिया प्रदान की हैं उन सबमें सबसे अधिक विवाद उसकी आपात्कालीन शक्तियो के बारे म हुआ है। संविधान ने आपात्काल के बारे म पहले स सोचा है और उसमे शासन-व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा यह तय किया है। उसने निश्चय किया है कि यदि राष्ट्रपति आवश्यक समझे तो आपातकाल म देश की शासन व्यवस्था सघात्मक के स्थान पर एकात्मक हो सकती है और उसका पूरा भार राष्ट्रपति पर रहेगा।

राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वह निम्न परिस्थितियों में आपात् (Emergency) की घोषणा करेगा —

१ युद्ध, आक्रमण अथवा आतरिक उपद्रव शुरू हो जाने पर या उसकी आशका होने पर,

२ राज्यो मे सावधानिक तन्त्र की असफलता पर,

३ राष्ट्र की वित्तीय व्यवस्था बिगडने पर या उसकी आशका होने पर।

(१) सविधान में लिखा गया है कि यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाये कि राष्ट्र में युद्ध, आक्रमण अथवा आतरिक अव्यवस्था की सम्भावना पैदा हो गई है तो वह आपात्काल की घोषणा कर सकता है। ऐसी घोषणा के द्वारा वह शासन व्यवस्था मे निम्न परिवर्तन कर सकता है —

(अ) देश मे एकात्मक शासन की व्यवस्था की घोषणा कर दे तथा ससद को यह अधिकार दे दे कि वह राज्य सूची के विषयो पर भी विधि निर्माण कर सकती है। ऐसी स्थिति म राज्यो की वे विधियां रद्द समझी जायेंगी जो संघीय विधियो के विपरीत हो। इसके अतिरिक्त संघीय कार्यपालिका सारे देश के शासन के लिये समर्थ मानी जायेगी।

(ब) सविधान द्वारा नागरिको को दिय गय भाषण, सघ बनाने, सभा करने, देश मे कही भी घूमने तथा निवास करने, सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने और बेचने तथा कोई भी व्यापार या धन्धा करने के मौलिक अधिकार आपात्काल के भीतर निलंबित (Suspended) रहेंगे। उसे यह अधिकार भी दिया गया है कि यदि वह चाहे तो नागरिको का सांविधानिक उपचारो का अधिकार भी छीन ले।

(स) राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह सघ और राज्यो के बीच राजस्व के वितरण सम्बन्धी व्यवस्था को उस समय के लिय रद्द कर सके।

(२) सविधान के अनुच्छेद ३५६ म कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति को किसी राज्य के राज्यपाल की सूचना पर या अन्य किसी प्रकार इस बारे में विश्वास हो जाय कि अमुक राज्य म सांविधानिक तन्त्र असफल हो गया है तथा वहा सविधान के अनुसार शासन का चलाया जाना तत्कालीन परिस्थितियों मे सम्भव नही रह गया है तो वह उस राज्य मे आपात्काल की घोषणा कर सकता है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद ३६५ कहता है कि यदि राष्ट्रपति यह देखता है कि कोई राज्य सविधान की धाराओं के अनुसार जहा उसे सघ के कार्यपालिका आदेशो का पालन करना चाहिये वैसा नहीं करता है तो राष्ट्रपति ऐसा मान सकता है कि वहा सांविधानिक शासन नहीं चल रहा है उस स्थिति मे भी वह वहा आपात्काल की घोषणा कर सकता है। वह एक घोषणा द्वारा उस राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्ति को स्वय सम्भाल सकता है, विधायी सत्ता सघ ससद को दे सकता है तथा राज्य के भीतर किसी व्यक्ति या अधिकारी से सम्बन्ध रखने वाली सविधान की किसी धारा को लागू होने से पूरी तरह रोक सकता है। ससद को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह इस प्रकार प्राप्त होने वाली विधायी सत्ता राष्ट्रपति को दे सकती है और उसे यह अधिकार भी दे सकती है कि वह उस सत्ता को जिसे चाहे उसे हस्तातरित कर सकता है।

(३) यदि राष्ट्रपति यह समझता है कि देश की अर्थ-व्यवस्था और वित्तीय-स्थिरता सकट म पड गई है तो वह आपात्काल की घोषणा कर सकता है। इस घोषणा के बाद सघ की ओर से राज्यो को वित्तीय मामलो म जो आदेश भेजे जायेंगे वे उन्हें मानने होंगे। राष्ट्रपति इस प्रकार के किसी आदेश द्वारा राज्य सरकारों को

यह कह सकता है कि वे अपने राज्य कर्मचारियो के वेतन और भत्ते कम करें तथा प्रत्यक वित्तीय विधेयक को राज्य-विधान मण्डल द्वारा स्वीकृत हो जाने के बाद उसकी स्वीकृति के लिय उसके पास भेजें ।

इस व्यवस्था के अन्तगत राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वह सघीय कर्मचारियो के वेतन और भत्ते कम कर दे तथा सर्वोच्च-न्यायालय और उच्च-न्यायालयो के न्यायाधीशो के वेतन और भत्ते भी कम कर दे। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि साधारण परिस्थिति मे न्यायाधीशो के कार्यकाल के भीतर उनके वेतन-भत्ते कम करने की शक्ति सविधान ने ससद को भी नही दी है ।

आपात्कालीन शक्तियो पर सांविधानिक प्रतिबन्ध—इन शक्तियो के प्रयोग पर सविधान ने कुछ गम्भीर प्रतिबन्ध लगाय है जो राष्ट्रपति को मनमानी करने से रोकते है। इन प्रतिबन्धो का उल्लेख हम इस प्रकार कर सकते है —

१ आपात्काल की प्रत्यक घोषणा जारी होने के शीघ्र बाद ही ससद के दोनो सदनो के सामने स्वीकृति के लिये पेश की जायेगी ।

२ ऐसी प्रत्येक घोषणा जारी होने के दो मास बीतते ही रद्द हो जायेगी, उसे जारी रखने के लिय या तो राष्ट्रपति उसे दोबारा जारी करेगा या यदि ससद के दोनो सदनो की बैठक हो रही हो तो वे उसे स्वीकार करके उसकी अवधि बढा सकते है ।

३ ससद की स्वीकृति प्राप्त हो जाने की स्थिति मे यह घोषणा अधिक से अधिक एक बार मे छह मास तक जारी रखी जा सकती है । ससद उसे फिर से जारी कर सकता है परन्तु कुल मिलाकर ससद भी उसे एक बार मे लगातार तीन वर्ष से अधिक तक जारी नही रख सकती ।

४ यदि लोकसभा घोषणा के पहले ही विघटित कर दी गई हो या वह घोषणा किय जाने के दो मास के भीतर विघटित कर दी जाये तब उस स्थिति में राष्ट्रपति घोषणा को राज्यसभा के सामने पेश करेगा और उसके द्वारा स्वीकार कर लिय जाने पर वह घोषणा लोकसभा के नय निर्वाचन होने के बाद उसके पहले अधिवेशन में ही पेश की जायगी और यदि लोकसभा उसे स्वीकार नही करती तो वह घोषणा लोकसभा का अधिवेशन आरम्भ होने के ३० दिन के भीतर रद्द हो जायगी ।

राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियो का मूल्याकन हम आगे करेंगे यहा इतना कहना पर्याप्त होगा कि सविधान इन शक्तियो के द्वारा राष्ट्रपति के हाथ मजबूत करना नही चाहता था, उसका प्रयोजन केवल यह था कि देश की अखण्डता बनी रहे, कोई राज्य यदि सघ के विरुद्ध विद्रोह कर दे तो उसे काबू म लाया जा सके और देश की अखण्डता की रक्षा की जा सके दूसरे यह कि देश मे अचानक कोई गम्भीर सकट उपस्थित हो जाय तो कार्यपालिका तुरन्त उसका सामना कर सके। ऐसा न हो कि जितनी देर मे ससद से स्वीकृति ली जाय उतनी देर मे सारा देश अपनी स्वतन्त्रता ही खो बैठे या गम्भीर आर्थिक सकट म फस जाय, इसका तीसरा प्रयोजन यह है कि

सकट का सामना करने के लिए सारे देश की सगठित शक्ति एकत्रित की श्रौर सकट का सामना एकता के साथ किया जा सके। यह बात तो स्पष्ट शान्तिकाल में तो यह सम्भव है कि लोकतात्रिक ढग से शासन चलाया जा सके परन्तु अभी तक राजनीति के क्षेत्र मे इस प्रकार के किसी सिद्धान्त की खोज नहीं की जा सकी है कि युद्ध या दूसरे सकट के समय भी वाद-विवाद श्रौर चर्चाश्रो के द्वारा ही काम किया जा सके, ऐसे समय तो किसी एक व्यक्ति के हाथ में सत्ता देकर सारे राष्ट्र को उसका अनुसरण करना ही होता है यह बात अलग है कि वह व्यक्ति कौन हो, इस बारे म भी साविधानिक स्थिति स्पष्ट है कि राज्य का साविधानिक अध्यक्ष ही ऐसे अवसरो पर भी राज्य के शासन सूत्र अथवा युद्ध का सचालन करेगा, इसी दृष्टि से उसे देश का सर्वोच्च-सेनापति बनाया गया है श्रौर इसीलिए उसे आपात्कालीन शक्तिया दी गई हैं। यह तो सत्य ही है कि वह अपनी शक्तियो का प्रयोग अपने प्रधानमन्त्री की सलाह के अनुसार करेगा। यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि महात्मा गाधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह म भी सघर्ष के समय एक व्यक्ति को सत्याग्रह का अधिनायक (Dictator) बनाना होता था श्रौर स्वय गाधीजी ही वह काम सम्भालते थे, आचार्य विनोबा की शाति सेना के विचार मे भी सेनापति या कमाडर का स्थान है श्रौर वे स्वय उसके कमाडर हैं, उसमें भी आज्ञापालन का आग्रह है। राष्ट्र के जीवन की रक्षा के लिय हम किसी न किसी को अपना नायक चुनना ही होता है। सविधान ने राष्ट्रपति को ही वैसा नायक माना है।

अल्पकालीन शक्तिया

१ सविधान ने कुछ व्यवस्थायें अल्पकाल के लिये की हैं श्रौर उनके बारे मे अधिकाश सत्ता राष्ट्रपति को दी है। राष्ट्रपति को सत्ता दी गई है कि वह ससद का निर्णय होने तक निम्न विषयो के बारे में व्यवस्था कर सकेगा—

भारत की सचित निधि के सग्रह रक्षण श्रौर विनियोग की व्यवस्था—

आयकर से होने वाली आय में से राज्यो को दिय जाने वाले अ श को निर्धारित करना।

कुछ राज्यों को निश्चित कार्यों के लिय सघीय राजस्व में से सहायता अनुदान की राशि निश्चित करना।

२ सविधान ने निम्न विषयो पर कुछ निश्चित समय के लिये व्यवस्था करने का भार राष्ट्रपति पर डाला है—

सविधान ने यद्यपि १९६५ तक अंग्रेजी को बनाये रखने की स्वीकृति दी है तथापि उसने राष्ट्रपति को यह शक्ति दी है कि वह यदि उचित समझे तो उससे पूर्व ही किसी सरकारी काम के लिये हिंदी को प्रचलित कर सकेगा। वह सविधान लागू होने के पांचवें श्रौर दसवें वर्ष पर राष्ट्रभाषा आयोग नियुक्त करेगा तथा उसकी सिफारिशो पर व ससद की राष्ट्रभाषा समिति के निर्णयो के प्रकाश में राष्ट्रभाषा

की प्रगति के लिये आवश्यक कार्यवाही करेगा। १९६५ के पूर्व किसी भी राज्य में अंग्रेजी को बहिष्कृत करने सम्बन्धी प्रस्ताव विधान-मण्डल में तब तक पेश नहीं किया जा सकता जब तक कि राष्ट्रपति उस पर अपनी सहमति प्रदान न कर दे।

अल्पसंख्यकों के बारे में राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि संविधान के प्रारम्भिक दस वर्षों के भीतर यदि उसे लगता है कि संसद के भीतर आंग्ल-भारतीय जाति का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है तो वह संसद में उस जाति के दो सदस्य मनोनीत कर सकता है। आठवें संशोधन द्वारा यह शक्ति सन् १९६९ तक के लिए बढ़ा दी गई है ये शक्तियां समय बीतने पर समाप्त होती जाती हैं।

क्या राष्ट्रपति अधिनायक बन सकता है ?

राष्ट्रपति की शक्तियों का अध्ययन करने से ऐसा लगता है मानो संविधान ने राष्ट्रपति को अधिनायक बनाने का विचार किया हो। इस बारे में अनेक विद्वानों का मत है कि उसकी आपातकालीन शक्तियां ऐसी हैं कि वह यदि पसंद करे तो अधिनायक बन सकता है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये हमें अपने देश के संविधान से थोड़ा हटकर ब्रिटेन के सम्राट की संवैधानिक स्थिति का अध्ययन भी करना होगा और यह पता लगाना होगा कि संसदात्मक लोकतन्त्र के भीतर किस प्रकार इसमें अच्छी व सुरक्षित व्यवस्था की जा सकती थी, तथा राष्ट्रपति क्या वास्तव में सचमुच अधिनायक बन सकता है ? यों तो अधिनायक बनने के लिये किसी पर रोक नहीं लगाई जा सकती, जिसे सेना का समर्थन मिल जाये वह संविधान का अतिक्रमण करके अधिनायक बन सकता है परन्तु देखना यह है कि क्या भारतीय संविधान ने सांविधानिक-अधिनायकत्व की व्यवस्था की है ? प्रश्न यह भी हो सकता है कि यदि अधिनायकत्व सांविधानिक हो तो क्या वह अवांछनीय है, विशेषकर संकटकालीन परिस्थितियों में ?

संसद का विघटन—राष्ट्रपति की शक्तियों में एक महत्वपूर्ण शक्ति लोकसभा को विघटित करने की है। जहां तक राज्यसभा का प्रश्न है वह तो विघटित की ही नहीं जा सकती क्योंकि वह एक स्थायी सदन है। लोकसभा के विघटन के लिये प्रधानमन्त्री की बात मानना क्या राष्ट्रपति के लिये अनिवार्य होगा ? और क्या राष्ट्रपति बिना प्रधानमन्त्री की सलाह के संसद को विघटित कर सकता है ? ये दो प्रश्न इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण हैं।

भारत का राष्ट्रपति वास्तव में ब्रिटिश सम्राट के नमूने का अधिकारी है। ब्रिटेन में यद्यपि सम्राट या सम्राज्ञी को ही राज्य की प्रभुता दी गई है परन्तु व्यवहार में वह किसी शक्ति का प्रयोग नहीं करता, इसीलिये यह कहा जाता है कि वह कोई गलती नहीं करता। जो कुछ करता ही नहीं वह गलती करेगा ही कैसे ? गलती या सही सब कुछ मन्त्रिमण्डल करता है और वह अपने कामों के लिये संसद के सामने उत्तरदायी होता है। अतः स्वाभाविक तौर पर राष्ट्रपति उस समय संसद को विघ-

टित करेगा जब कि प्रधानमन्त्री उसे वैसा करने का परामर्श दे । यदि राष्ट्रपति को यह संदेह हो जाता है कि प्रधानमन्त्री की स्थिति लोकसभा में डावाडोल हो गई है तथा उसका बहुमत उसके साथ नही रहा तो वह लोकसभा को विघटित करने से मना कर सकता है अथवा कुछ समय विरोधी दलो के नेताओ से बातचीत करके यह पता लगाने की चेष्टा कर सकता है कि कोई दूसरा दल अपने को मन्त्रिपरिषद बनाने की स्थिति मे समझता है क्या । यदि उसे यह विश्वास हो जाये कि दूसरा दल मन्त्रिपरिषद बना सकेगा अर्थात् लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त कर सकेगा तो वह लोकसभा को विघटित करने से मना कर देगा और मन्त्रिपरिषद को हटाकर नई मन्त्रिपरिषद बना सकता है । परन्तु यदि प्रधानमन्त्री अभी तक लोकसभा में बहुमत को अपने साथ लिय है तब राष्ट्रपति को ससद का विघटन करना ही होगा । यदि राष्ट्रपति वैसा न करे तो प्रधानमंत्री त्यागपत्र दे देगा और सांविधानिक शासन का चलना असम्भव बना देगा क्योकि ससद मे उसका बहुमत होने से राष्ट्रपति दूसरा मंत्रिपरिषद नही बना सकेगा और उसे उस स्थिति में विवश होकर लोकसभा का विघटन करना ही होगा । इस मामले में हमें ऐसी कोई सम्भावना नही लगती कि राष्ट्रपति अधिनायक हो सकता है । यदि राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह के बिना ही लोकसभा को विघटित कर देता है तो निश्चय ही वह अपनी स्थिति को सकट में डालता है और बहुसख्यक दल से लड़ाई ठानता है क्योंकि बहुसख्यक दल निर्वाचन के समय अपनी नीतियों पर डटा रहकर जनता के समर्थन की माग करेगा और यदि वह फिर से लोकसभा के भीतर बहुमत प्राप्त कर लेता है तो एक प्रकार से यह जनता का निर्णय होगा कि वह राष्ट्रपति द्वारा ससद के विघटन को नापसद करती है तथा वैसी स्थिति मे राष्ट्रपति को अपना पद छोडना होगा या महाभियोग का सामना करना होगा । अपनी मर्जी से ससद को विघटित करने का कोई अवसर राष्ट्रपति को मिलेगा इसकी कल्पना नही की जा सकती ।

प्रधानमन्त्री की नियुक्ति और उसे हटाने की शक्ति—यद्यपि सविधान यह कहता है कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री को नियुक्त करेगा तथा उसको हटा सकेगा, तथापि सविधान दूसरी ओर यह भी कहता है कि प्रधानमन्त्री और उसकी मन्त्रिपरिषद ससद के सामने उत्तरदायी होगा । इसका अर्थ यह है कि जिस दल का लोकसभा मे बहुमत होगा उसका नेता ही प्रधानमन्त्री बन सकेगा और अन्य मन्त्रियो की जो सूची वह राष्ट्रपति के सामने पेश करेगा उसे वह माननी होगी क्योकि मन्त्रिपरिषद दलीय आधार पर दल की स्थिति के अनुसार बनती है अत उस मामले मे राष्ट्रपति हस्तक्षेप नही कर सकेगा । जहा तक प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद के हटाने का प्रश्न है उस बारे मे राष्ट्रपति की शक्ति बहुत सीमित है, वह तब तक किसी प्रधानमन्त्री को हटाने की हिम्मत नही कर सकता जब तक कि ससद म उसका बहुमत मौजूद हो, क्योकि यदि वह वैसा करता है तो उसके सामने यह सांविधानिक सकट आ जायगा कि मन्त्रिपरिषद कौन बनाये । यदि कोई प्रधानमन्त्री ससद का विश्वास खो देता है

तो वह स्वयं ही त्यागपत्र दे देगा, परन्तु यदि वह वैसा न करे तो राष्ट्रपति उससे त्यागपत्र माग सकता है अथवा उसे हटा सकता है। उस समय उसका हटाना उचित होगा क्योकि तब विरोधी दल का नेता प्रधानमन्त्री बनकर अपनी मन्त्रिपरिषद बनाने की स्थिति मे होगा जिसके पीछे बहुमत का समर्थन हो। अत यहा भी राष्ट्रपति की शक्तिया लगभग शून्य ही हो जाती हैं।

प्रसिद्ध सविधान शास्त्री ए ग्लैंडहिल ने अपनी पुस्तक दा इंडियन कान्स्टीट्यूशन मे यह शका प्रकट की है कि सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति अधिनायक हो सकता है। मान लें कि राष्ट्रपति मनमाने ढग से काम करने लगता है तब ससद में उस पर महाभियोग चलाने के लिये प्रस्ताव लाया जाता है। प्रस्ताव चौदह दिन बाद सदन के मत के लिये पेश करने का नियम है इसी बीच मे राष्ट्रपति ससद को भग कर देता है, अब संसद के नये निर्वाचन होंगे उनमे कुछ समय निकल जायेगा और कुल छह महीने तक संसद का अधिवेशन होने से रोका जा सकता है। इस बीच वह अध्यादेश जारी करके शासन चलाता रहेगा, उसके बाद यदि वह आपात्काल की घोषणा करदे तथा सारे देश का शासन हाथ मे ले ले व सेनापति होने के नाते देश की सशस्त्र सेनाओ की सहायता से देश में सैनिक शासन करने लग जाय तो सविधान उस दशा मे उसका कुछ भी नहीं बिगाड सकेगा और वह अधिनायक हो जायेगा।

जर्मनी के वाइमर संविधान मे हमारे संविधान की ही भाति कुछ अधिकार राष्ट्रपति को दिये गये थे उन्हीं की सहायता से वहा संविधान का अतिक्रमण करके अधिनायकवादी शासन की स्थापना की गई थी, अत भारत मे इस स्थिति को कोरी कल्पना का विकार मानना ठीक नही होगा। परन्तु इस शका मे भारत की मानसिक स्थिति को ध्यान में नही रखा गया है, यहा की जनता अपनी स्वतन्त्रता के बारे में बहुत जागरुक हो गई है तथा हमने निश्चित रूप से ब्रिटिश परम्परा का अनुकरण किया है जिसके अनुसार राष्ट्रपति से यह अपेक्षा की गई है कि वह प्रधानमन्त्री के परामर्श के बिना कोई काम नही करेगा। सविधान ने मन्त्रिपरिषद के उत्तरदायित्व के सिद्धात का प्रतिपादन करके राष्ट्रपति की व्यक्तिगत सत्ता का निषेध स्पष्ट तौर पर कर दिया है। हमारे सविधान ने इस मामले मे ब्रिटिश सविधान की हूबहू नक्ल करने की चेष्टा की है। संविधान बनाते समय निर्माता यह भूल गये कि ब्रिटिश संविधान की परम्परायें एक दीर्घकाल मे पडी हैं, और वे वहा के लोगो के स्वभाव का अंग बन चुकी हैं। जब हम लिखित संविधान बनाने बैठते है तो यह आवश्यक नही है कि हम उसकी लिखित धाराओ का अर्थ अलिखित परम्पराओ के सहारे विकसित होने के लिये छोड दें। हमारा सविधान राष्ट्रपति की शक्तियों के बारे में आयरलैंड के संविधान की भाषा का अनुकरण कर सकता था। आयरलैंड में सविधान लिखित रूप में यह व्यवस्था करता है कि प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति नही करेगा वरन् संसद करेगी, वहा राष्ट्रपति को यह अधिकार भी नही दिया गया

है कि वह शासन के मामलो के बारे मे परिचित रहे और वह मन्त्रिपरिषद अथवा संसद को परामर्श दे सके। इस प्रकार उन्होने ब्रिटेन की उस रूढिवादिता का अनुकरण नही किया है जिसके अनुसार ब्रिटिश संविधान के बारे में यह कहावत ठीक जचती है कि "हाथी के दात दिखाने के और खाने के और"। वहा सिद्धात कुछ है तथा व्यवहार कुछ और। लिखित सविधान को सिद्धात और व्यवहार के बीच के इस भेद को जहा तक हो सके कम करना चाहिये परन्तु हमारे सविधान ने उस अन्तर को बनाये रखने की चेष्टा की है।

भारत का राष्ट्रपति और ब्रिटेन का सम्राट—प्रो० लास्की ने कहा है कि सम्राट को वास्तव में किसी प्रकार के स्वेच्छिक अधिकार नही हैं "सम्राट के सार्वजनिक कार्य ऐसे होने चाहियें जिनमे उसे स्वेच्छा के प्रयोग का अवसर न रहे, लोकमत की मान्यता है कि उसे अपने मन्त्रियो का परामर्श मानना चाहिये।"† इसी प्रकार वाल्टर बेजहाट ने लिखा है कि ब्रिटिश सम्राट सविधान का प्रतिष्ठित अग है और मन्त्रिमण्डल उसका सक्रिय अग है जिसके द्वारा वह कार्य करता है तथा शासन करता है। वह सम्राट के अधिकारो को अपने प्रसिद्ध वाक्य में इस प्रकार वर्णन करता है, 'हमारे जैसे साविधानिक राजतन्त्र मे सम्राट को तीन अधिकार हैं—परामर्श देने का अधिकार चेतावनी देने का अधिकार और प्रोत्साहन देने का अधिकार। समझदार तथा बुद्धिमान सम्राट इनसे अधिक और कुछ नही चाहेगा।"§

ब्रिटिश सम्राट और भारतीय राष्ट्रपति समान स्थिति के अधिकारी हैं, वे दोनो अपने अपने देशो के साविधानिक अध्यक्ष हैं तथा अपने कर्तव्यो का पालन एक ऐसे मन्त्रिमण्डल के परामर्श से करते हैं जो अपने-अपने देश म अपने सम्राट या राष्ट्रपति को दी जाने वाली सलाह के लिय अपनी ससद के सामने उत्तरदायी होता है।

यद्यपि भारत के राष्ट्रपति को दी गई कुछ शक्तिया जैसे मन्त्रियो की नियुक्ति उनको हटाना, उनके बीच प्रशासकीय विभागो का वितरण, शासन के ठीक-ठीक सचालन के लिये नियम बनाना ससद को सदेश भेजना और उसके द्वारा पारित विधेयको को पुनर्विचार के लिय वापिस भेजना आदि देखने म ऐसी लगती हैं जैसी कि सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति को प्राप्त हैं, परन्तु वास्तव म भारत का राष्ट्रपति अमेरिकन राष्ट्रपति से भिन्न प्रकार का अधिकारी है, उसे अपने मन्त्रिपरिषद के परामर्श को स्वीकार करना होता है क्योकि वह ससद के प्रति उत्तरदायी होता है, अमेरिकन मन्त्रिमण्डल काग्रेस के प्रति उत्तरदायी न होकर राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी है, वहा मन्त्री लोग राष्ट्रपति के निजी सेवक जैसे हैं, जिन्हें वह जब चाहे हटा सकता है, भारत के मन्त्री राष्ट्रपति के सेवक न होकर ससद के ऐसे विचित्र सेवक हैं

† Parliamentary Govt In England–Laski.
§ The English Constitution–Bagehot,

जो उस पर स्वामित्व रखते हैं क्योकि वहा उनका बहुमत होता है जिसके बल पर वे उससे अपनी बात मनवाते हैं और राष्ट्रपति उन्हे उनके पद से केवल तभी हटा सकता है जब कि वे स्वय ससद द्वारा अविश्वास प्रकट किय जान पर त्यागपत्र नही दे देते। यदि वह बहुमत प्राप्त मन्त्रिपरिषद को स्वेच्छा से हटाने की मूर्खता कर बैठता है तो उस पर संविधान का अतिक्रमण करने का आरोप लगाकर महाभियोग लगाया जा सकता है।

भारतीय राष्ट्रपति की उपरोक्त शक्तियो के बारे में तीसरे और चौथे गणतन्त्रीय सविधानो के अ तर्गत फ्रास के राष्ट्रपति का उदाहरण देना लाभदायक होगा उसे भी इस प्रकार की शक्तिया दी गई थी परन्तु वह बेचारा अपने देश की विधायिका के सामने अपना निजी सदेश जिसके शब्द उसके अपने थे केवल दो बार ही भेज सकता था, एक तो अपने निर्वाचन पर उसे धन्यवाद देने के लिय और दूसरे त्यागपत्र देते समय, शेष सब सदेश मन्त्रिमण्डल की ओर से तैयार करके उसे दे दिय जाते थे जिन्हें वह घोषणा करने वाले की तरह केवल पढ सकता था, उनके शब्दो में कोई हेरफेर नही कर सकता था।

हमारे विचार से ऐसा मानने का कोई कारण नही है कि भारत का राष्ट्रपति अधिनायक हो सकता है। इस धारणा का एक आधार यह है कि सविधान के पिछले दस वर्षो म जो परम्परा इस बारे म बनी है वह आने वाले राष्ट्रपतियो के लिय एक साविधानिक मर्यादा का काम करेगी। पिछले काल म भारत के राष्ट्रपति ने वाल्टर बेजहाट के परामर्श का आदर्श-अनुयायी की भाति अनुकरण किया है उसने कभी भी किसी भी अवसर पर अपने मन्त्रिमण्डल के परामर्श का उल्लघन नही किया तथा अपनी शक्तियो का प्रयोग स्वेच्छा से नही किया। यह परम्परा साविधानिक विधि का स्वरूप ले लेगी और शक्तियो के प्रयोग न किय जाने पर सहज ही राष्ट्रपति की निरकुश शक्तिया समाप्त हो जायेंगी और उनका अस्तित्व केवल कागज पर ही रह जायगा जिससे कि राष्ट्रपति-पद के महत्व और उसकी प्रतिष्ठा मे किसी प्रकार की कमी न आने पाय। सविधान निर्माताओ के सामने एक प्रश्न यह भी था कि यदि वे राष्ट्रपति की साविधानिक मर्यादाओ का उल्लेख लिखित रूप में सविधान में कर देते तो वे उसके लिय राष्ट्र में उस सम्मान को जाग्रत नही कर सकते थे जो ब्रिटेन म वहा की परम्परागत राजशाही को प्राप्त है। भारत के राष्ट्रपति के प्रति भारत की जनता की कोई वश परम्परागत निष्ठायें तो हैं नही, केवल उसकी शक्तियो के अतिरजित वर्णन से ही उसके प्रति निष्ठा का निर्माण किया जा सकता था और वैसा करने की चेष्टा की गई है। 'हाथी के दात दिखाने के और खाने के और' यह न्याय उस पर पूरी तरह से लागू होता है, देखने मे वह भारत का स्वामी है परन्तु व्यवहार मे वह एक प्रतिष्ठित-शून्य है। शून्य का गणित म बहुत महत्व है परन्तु तभी जब कि वह किसी पूर्ण सख्या के बाद में लगाया जाता है, उसके पहले लगाने पर शून्य का कोई मूल्य नही होता। बाद मे शून्य लगाने से उस सख्या का मान भी बढता

है जिसक आगे उसे लगाया जाता है। ठीक इसी प्रकार हमारा राष्ट्रपति एक विशाल शक्ति संम्पन्न शून्य है जिसे मन्त्रिपरिषद अथवा संसद के बहुमत के बाद रखने से उसका उपयोग होता है परन्तु यदि वह अपने आप को ससद के ऊपर रखना चाहे तो न उस को कोई मान प्राप्त होगा और न ससद का ही मान बढेगा।

राष्ट्रपति के अधिनायक हाने पर सबसे बडा प्रतिबन्ध यह है कि बह ससद और राज्य विधानमण्डलो के निर्वाचित सदस्यो द्वारा चुना जाता है, निश्चय ही निर्वाचन करते ममय वे यह देख लेंग कि जिस व्यक्ति को वे मत दे रहे हं वह इस प्रकार का तो नही है कि अपने विचारो में बहुत उग्र और आग्रही हो। यहा हम एक उदाहरण लेते हैं, जिम समय भारत के प्रथम राष्ट्रपति के निर्वाचन का प्रश्न आया उस ममय श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी देश के गवर्नर जनरल थे और वे हर प्रकार से एक कुशल राजनीतिज्ञ, प्रशासक तथा वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ हैं परन्तु उन्हे राष्ट्रपति पद के लिये नही चुना गया, उसका कारण यह नही था कि बहुमत डा० राजेन्द्रप्रसाद जी को वह सम्मान देना चाहता था। यदि वह पद श्री राजाजी को दिया जाता तो निश्चय ही स्वय डा० राजेन्द्रप्रसाद को बहु [illegible]ता होती और वे स्वय मन्त्रिमण्डल के सदस्य बने रहना पसद करते, परन्तु सब लोग यह साफ तौर पर जानते थे कि राजाजी एक निष्क्रिय विचारक नही है, वे बराबर राजनीतिक चिंतन करते हैं उनका चिंतन मौलिक होता है, वे अपने विचारो के प्रति खूब आग्रही हे तथा केवल कांग्रेस के नेताओ मे ही नही सारे देश म उनका बडा सम्मान है तथा उनकी आवाज आदर और श्रद्धा के साथ ही नही सुनी जाती वरन् वह बुद्धिमत्तापूर्ण है यह भरोसा किया जाता है, अत उनसे किसी भी प्रकार यह आशा नही थी कि वे राष्ट्रपति पद के लिये पर्याप्त तटस्थता, निस्पृहता और निराग्रह वृत्ति का परिचय दे सकेंगे। यह डर था कि यदि भारत का प्रथम राष्ट्रपति ही अपनी मत्ता का दावा करेगा और अपने मन्त्रिमण्डल या ससद की इच्छा की अवहेलना करेगा तो उसमे देश मे एक ऐसी सावैधानिक परम्परा का विकास होगा जिसके कारण देश मे समदात्मक शासन का चलना असभव हो जायगा और सारा सावैधानिक ढाचा खण्डित हो जायेगा। इस भय स उन्ह वह पद नही दिया गया तथा उस पद के लिय श्री राजेन्द्र बाबू को चुना गया जो अपनी निस्पृहता म महाराजा जनक के समान महान हैं तथा उस सविधान की रक्षा के लिये जिम्मेदार हैं जिसके वे स्वय पिता हैं।

(२) उपराष्ट्रपति

हमारे सविधान म लिखा है कि भारत का एक उपराष्ट्रपति होगा। उसका निर्वाचन ससद के दोनो सदन सयुक्त अधिवेशन म एकल सक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति से करेंगे। मतदान गुप्त होगा, जिसे गूढशलाका कहते हैं। उपराष्ट्रपति पद के प्रत्येक उम्मीदवार मे निम्न योग्यताओं का होना अनिवार्य है :—

(१) वह भारत का नागरिक हो,
(२) उसकी आयु ३५ वर्ष से कम न हो,
(३) वह राज्यसभा का सदस्य होने के लिये अनिवार्य योग्यता रखता हो,
(४) संघ या राज्य मे किसी लाभ के पद पर न हो।

उपराष्ट्रपति अपने निर्वाचन के बाद संसद या राज्य-विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य नही रह सकेगा तथा अन्य कोई लाभ का पद नही धारण कर सकेगा।

उपराष्ट्रपति का कार्यकाल पाच वर्ष होता है, वह अपने पद के लिये बार-बार खडा हो सकता है, और वह तब तक अपने पद पर बना रहता है जब तक कि उस पद के लिय कोई दूसरा व्यक्ति न चुन लिया जाये। पाच वर्ष पूरे होने से पहले ही सामान्यतया नया उपराष्ट्रपति चुन लिया जाना चाहिय। पाच वर्ष की अवधि के भीतर यदि किसी उपराष्ट्रपति को हटाना हो तो उसके लिये यह आवश्यक है कि राज्यसभा अपने बहुमत से उसके विरुद्ध प्रस्ताव पास करे और लोकसभा उस प्रस्ताव से अपनी सहमति प्रकट करे। वह स्वय भी अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है। अविश्वास के प्रस्ताव की सूचना उसे १४ दिन पूर्व दे दी जाती है।

उपराष्ट्रपति के पद का कोई वेतन और भत्ता नही होता। वह अपने इस पद के साथ ही साथ राज्यसभा का पदेन अध्यक्ष भी होता है तथा उसकी बैठको की अध्यक्षता करता है, उस नाते उसे राज्यसभा के सभापति-पद का वेतन मिलता है।

यद्यपि देखने में ऐसा लगता है कि भारत का उपराष्ट्रपति संयुक्त राज्य अमेरिका के उपराष्ट्रपति के समान ही होता होगा परन्तु उन दोनो मे सिवाय इसके और कोई समानता नही है कि वे दोनो संघीय विधायिका के द्वितीय सदन के सभापति होते हैं, भारत के उपराष्ट्रपति की भाँति अमेरिकन उपराष्ट्रपति सिनेट का अध्यक्ष होता है। परन्तु वहा उसकी शक्तिया और सम्भावनायें भारत की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। यद्यपि भारत मे भी राष्ट्रपति पद रिक्त होने पर उस स्थान को उपराष्ट्रपति ही ग्रहण करता है तथापि यहा वह अधिक से अधिक छह मास तक उस पद पर रह सकता है क्योंकि संविधान के अनुसार इस अवधि में नये राष्ट्रपति का विधिवत् निर्वाचन हो जायगा, और उपराष्ट्रपति वापिस अपना पद ग्रहण कर लेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका मे उपराष्ट्रपति स्थायी तौर पर राष्ट्रपति हो जाता है। उसका कारण यह है कि अमेरिका म उपराष्ट्रपति का निर्वाचन ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार राष्ट्रपति का होता है, तथा उसे भी वही निर्वाचक मण्डल चुनता है जो राष्ट्रपति को चुनता है, अत स्वाभाविक रूप से वह राष्ट्रपति पद के लिये योग्य समझा जाता है, भारत के उपराष्ट्रपति के बारे में ऐसा नही है।

राष्ट्रपति की अनुपस्थिति अथवा बीमारी या अन्य किसी असमर्थता मे वह तब तक उसके कामो को सम्भालता है जब तक कि वह उनको करने मे असमर्थ

रहता है। इस अवधि में उसे राष्ट्रपति को प्राप्त होने वाला वेतन, भत्ता और उसके पद की विभुवितया प्राप्त होती हैं। वह राज्य का एक महत्वपूर्ण अधिकारी होता है और देश का सम्मान प्राप्त करता है।
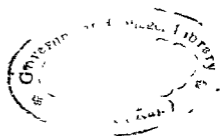
अध्याय १५
संघीय कार्यपालिका : मन्त्रिपरिषद

"ब्रिटिश सविधान का सक्रिय रहस्य यह है कि उसमे कार्यपालिका तथा विधायिका (Legislature) के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध ही नही हैं वरन् वे प्रायः एक दूसरे मे पूरी तरह विलीन हो गये हैं। उनके मध्य सम्बन्ध जोडने वाली कडी कैबिनेट है। इस शब्द का अर्थ है कार्यपालिका कार्यों को पूरा करने के लिये विधायिका द्वारा बनाई गई एक समिति। विधायिका मे अनेक समितिया होती है, परन्तु यह सबसे महान होती है।" "मन्त्रिमण्डल या अन्तरग-मण्डल (कैबिनेट) एक जोडने वाली समिति है, यह एक सधि रेखा है, एक कडी है जो राज्य के विधायी अ ग से कार्यपालिका अ ग को जोडती है। अपने जन्म की दृष्टि से वह विधायिका से सबधित है और अपने कार्यों की दृष्टि से कार्यपालिका से।"

—वाल्टर बेजहॉट ‡

सविधान ने हमारे देश म एक ससदात्मक लोकतत्र की स्थापना की है। ससदात्मक लोकतत्र का सबसे प्रमुख लक्षण यह है कि उसम राज्य की कायपालिका सत्ता का प्रयोग भी विधायिका ही करती है। माटेस्क्यू ने शक्तियो के पृथक्करण का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान निर्माताओ ने जिस प्रकार उसका प्रयोग अपने देश में किया ससदात्मक लोकतन्त्र म वह लागू नही होता। यद्यपि लोकतन्त्र का विचार मूलरूप से राज्य की शक्तियो के पृथक्करण मे विश्वास करता है तथापि ससदात्मक लोकतन्त्र कायपालिका और विधायिका शक्तियो को ससद के ही हाथो मे दे देता है। लोकतन्त्र मे उत्तरदायी शासन का तत्व निहित है। ससदात्मक शासन का मानना है कि यदि कार्यपालिका को सीधे जनता के प्रति उत्तरदायी ठहराया जाय तो वह उत्तरदायित्व बहुत सक्रिय नही होगा अत कार्यपालिका को विधायिका में बैठने वाले जनता के प्रतिनिधियो के सामने उत्तरदायी ठहराना चाहिय जिससे कि वे जनता की ओर से उस पर सक्रियता से आख रख सकें तथा उसे जनता के हितो के विरुद्ध कार्य करने स रोक सकें। जनता के प्रति सीधा उत्तरदायित्व जहा होता है उसे अध्यक्षात्मक-लोकतन्त्र कहते हैं जैसा

‡ The nglish Constitution, Page 9

कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे है, वहा किसी समय कार्यपालिका को ऐसे काम करने से रोकना बहुत कठिन होता है जो जनता के हितो के विपरीत हो, विधायिका तो कोई नियन्त्रण कार्यपालिका के कामो पर प्राय कर ही नही पाती है न्यायालय का नियन्त्रण होता है वह भी जब कोई शिकायत की जाये तब इस प्रकार शासन की निरकुशता से जनता के अधिकारो की रक्षा करने के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने ससदीय लोकतन्त्र की पद्धति का आविष्कार किया। इसम कार्यपालिका जिसे मन्त्रि-मण्डल या मन्त्रिपरिषद कहते ह ससद के बहुमत दल वाले सदस्यो द्वारा बनाई जाती है और उसे अपने हर काम के लिए ससद के सामने जवाब देना पडता है। यदि ससद का बहुमत किसी समय यह अनुभव करता है कि मन्त्रिमण्डल की नीतिया ठीक नही ह तो वह उसका समथन करने से मना कर सकती है और वैसी स्थिति मे उसे त्यागपत्र देकर नय मन्त्रिमडल के लिए स्थान रिक्त कर देना होता है। इसका बहुत ही आधुनिक उदाहरण जहा बिना ससद द्वारा अविश्वास प्रगट किय ही प्रधान मन्त्री को पद त्याग करना पडा ब्रिटेन का है वहा के प्रधान मन्त्री श्री ईडन ने मिश्र के विरुद्ध युद्ध छेड दिया उनके इस काम को ब्रिटन की आम जनता और ससद के सदस्यो ने पसन्द नही किया अत उन्ह अपना पद छोडना पडा, उनके अपने दल क बहुमत होते हुए भी उन्हे दल के नेता के पद से हटना अनिवाय हो गया।

सविधान के अनुच्छेद ७४ म कहा गया है कि राष्ट्रपति के कार्यो मे उसे परामश देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी जिसका नेता प्रधान मन्त्री होगा। आगे कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोक सभा के सामने उत्तरदायी होगी। इससे यह प्रगट होता है कि सघ की उस कार्यपालिका-सत्ता का प्रयोग जो राष्ट्रपति को दी गई है ससद की ओर से नियुक्त की जाने वाली मन्त्रिपरिषद करेगी और वह उस सत्ता के प्रयोग में किय जाने वाले कार्यों के लिए ससद के सामने जवाबदेह होगी। इसी स्थान पर यह भी कहा गया है कि मन्त्री लोग राष्ट्रपति के प्रसाद-काल मे पदो पर रहेंगे अर्थात जब राष्ट्रपति उन्हे नही चाहेगा तब वे हटा दिय जायेंग। राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करने और ससद के सामने उत्तरदायी होने की धाराओ को जब एक साथ अध्ययन किया जाता है तो दोनो म कोई विरोध नही दिखाई देता। राष्ट्रपति देश का कायपालिका अधिकारी है। देश का प्रतिनिधित्व सघ में ससद करती है अत राष्ट्रपति एक प्रकार से ससद की इच्छा का कार्यपालिका-अधिकारी (Executive officer) है, जब ससद किसी मन्त्रिपरिषद मे विश्वास खो देती है तो राष्ट्रपति ससद का कायपालिका अधिकारी होने के नाते उस मन्त्रि-परिषद को पदच्युत कर देता है।

मन्त्रिपरिषद की रचना—इसी प्रकार सविधान ने कहा है कि राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करेगा और उसके परामर्श पर दूसरे मन्त्रियो की नियुक्ति करेगा, परन्तु यहा प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या हमारे देश में सविधान ने अध्यक्षात्मक कायपालिका का निर्माण किया है जिसमें राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों को

स्वयं नियुक्त और पदच्युत करता है ? यदि सविधान यह न लिखता कि मत्रिपरिषद ससद के एक सदन लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगी तो इस प्रश्न का उत्तर हम हा में दे सकते थे। इससे यह स्पष्ट है कि सविधान ने देश मे मत्रिमण्डलात्मक कार्यपालिका की स्थापना की है। कार्यपालिका एक साथ ही मत्रिमण्डलात्मक और अध्यक्षात्मक दोनो नही हो सकती अत सविधान ने मत्रिपरिषद के बारे मे राष्ट्रपति को जो अधिकार दिय हं उन्हे केवल औपचारिक मानना चाहिये। इस मामले में अर्थात् औपचारिक-सत्ता राष्ट्रपति को देने के मामले मे हमारे सविधान ने ब्रिटेन की परम्परा का अनुसरण किया है और इस प्रकार सविघान म एक विरोधाभास पैदा कर दिया गया है। इस स्थान पर हमारा सविधान ब्रिटेन के सविधान की भाति देखने म कुछ और, तथा, वास्तव में कुछ और, बन गया है।

लोकसभा के निर्वाचन के बाद सभा के भीतर प्रत्येक राजनीतिक दल अपने नेता का निर्वाचन करता है। लोकसभा में जिस दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त होता है अर्थात् जिसके सदस्यो की सख्या सभा की कुल सदस्य सख्या के आधे से अधिक होती है, उस दल से आशा की जाती है कि वह मत्रिपरिषद बनायगा अत राष्ट्रपति बहुसख्यक दल के नेता को मत्रिपरिषद बनाने के लिए आमत्रित करता है: यह नेता प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण करता है तथा वह अपने दल के नेताओ से परामर्श करके मत्रिपरिषद के सदस्यो के नामो की एक सूची तैयार करता और राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिय प्रस्तुत करता है। वैधानिक दृष्टि से राष्ट्रपति उस सूची पर कोई आपत्ति नही कर सकता क्योकि प्रधान मन्त्री उसे यह कह सकता है कि यदि राष्ट्रपति को वह सूची स्वीकार न हो तो वह मत्रिपरिषद नही बना सकेगा क्योकि जो नाम उस सूची में लिय गय हे उनके सहयोग के बिना उसे बहुमत का समर्थन मिलने की सम्भावना नही है, तथा उसे अपने दल की ओर से आदेश मिला है कि वह उन व्यक्तियो के नाम मत्रिपरिषद की सूची म सम्मिलित करे। उस स्थिति मे राष्ट्रपति सावैधानिक सकट खडा करना नही चाहेगा। बहुमत दल के नेता द्वारा मत्रिपरिषद न बनाने का अर्थ होता है लोकसभा का विघटन और सावैधानिक सकट, फिर यह भी हो सकता है कि असतुष्ट ससद अपने अपमान के लिये राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाकर उसे पदच्युत कर दे। कोई भी समझदार राष्ट्रपति इस प्रकार के सकट को निमंत्रित नही करेगा और चुपचाप प्रधान मन्त्री द्वारा दी गई सूची को स्वीकार कर लेगा। हा, यह हो सकता है कि वह अपने व्यक्तिगत प्रभाव को काम में ले तथा निजी तौर पर प्रधान मन्त्री को यह समझाय कि अमुक व्यक्ति को मन्त्रिपरियद म लेने से अमुक हानिया हो सकती है, और सम्भव है कि प्रधान मन्त्री उसकी नेक सलाह को मान ले।

सविधान में कहा गया है कि मत्रियो के लिए यह आवश्यक है कि वे ससद के किसी सदन के सदस्य हो, परन्तु अपवाद के तौर पर उसने यह व्यवस्था भी की है कि यदि राष्ट्रपति उचित समझे तो वह किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्री बना सकता

है जो संसद का सदस्य न हो, ऐसे व्यक्ति के लिए यह आवश्यक होगा कि वह पद ग्रहण करने के छ माह के भीतर ससद के किसी भी सदन की सदस्यता प्राप्त कर ले। प्रधान मन्त्री जब दलीय महत्व के आधार पर या विशेष योग्यता के आधार पर किसी व्यक्ति को मन्त्रिपरिषद मे लेना चाहता है तो वह राष्ट्रपति से उसकी सिफारिश करता है, तथा ऐसी व्यवस्था करता है कि उसके दल का कोई सदस्य अपने पद से त्याग-पत्र देकर ससद की सदस्यता का परित्याग कर दे, इस प्रकार मन्त्री बनाये जाने वाला व्यक्ति रिक्त स्थान से चुनाव लडता है और यदि वह निर्वाचन मे सफल हो जाता है तो वह मंत्री बना रहता है अन्यथा हट जाता है। इस बारे मे यह व्यवस्था भी हो सकती है कि राज्य सभा के किसी रिक्त स्थान पर या स्थान रिक्त करा कर उस पर ऐसे व्यक्ति को चुनवा लिया जाये, यह भी सम्भव है कि ऐसे व्यक्ति को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किय जाने वाले बारह सदस्यो मे मनोनीत करा लिया जाये। परन्तु यहा मह कहना अनुचित न होगा कि राष्ट्रपति के अधिकार मे दिये गये बारह स्थान सविधान ने साहित्य, विज्ञान, कला और समाज सेवा के क्षेत्र मे ख्याति प्राप्त व्यक्तियों के लिये सुरक्षित रखे हैं, उन स्थानो का उपयोग राजनीतिक लक्ष्यो के लिये करना सविधान की आत्मा का उल्लघन होगा, दूसरी बात इस बारे मे यह महत्वपूर्ण है कि यदि किसी ऐसे व्यक्ति को जो लोकसभा के निर्वाचन में पराजित हो चुका है इस प्रकार मत्री बनाया जाता है तो वह लोकतन्त्र और जनता की इच्छा का अनादर करना माना जायगा, ऐसा व्यक्ति दलीय दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हो सकता है तथापि एक बार पराजित हो जाने पर उसे तब तक सत्ता से दूर रहना चाहिये जब तक कि वह विधिवत् जनता द्वारा निर्वाचित होकर लोकसभा की सदस्यता न प्राप्त कर ले, ऐसे व्यक्ति को राज्य-विधान सभा द्वारा चुनवाकर या राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत कराकर राज्य-सभा का सदस्य बनवाना भी लोकतन्त्र के लिए बहुत घातक सिद्धान्त है। राज्य-विधान सभा के सदस्यों या राष्ट्रपति किसी को भी यह अधिकार नही है कि वह जनता द्वारा पराजित व्यक्ति को अपनी इच्छा से किसी विधायी-निकाय (Legislative body) मे बैठने के लिए चुनें, यदि वे ऐसा करते हैं तो सविधान तो मौन रहता है परन्तु सैद्धातिक दृष्टि से यह जनता के प्रति गम्भीर विश्वासघात माना जाना चाहिये।

पद की शपथ—मन्त्री लोग अपने पद का भार ग्रहण करने से पूव अपने पद के लिय निश्चित शपथ और शासन के रहस्यो को गुप्त रखने की प्रतिज्ञा लेते है। इन्हें यह शपथ राष्ट्रपति दिलाता है।

वेतन और सुविधायें—मन्त्रिपरिषद के सदस्यो के वेतन, भत्त और अन्य सुविधाओ के बारे मे ससद समय-समय पर व्यवस्था करती है।

मन्त्री कौन होते हैं—प्रधान मन्त्री ससद के भीतर अपने दल के उन सदस्यो के नाम ही मन्त्री-सूची मे सम्मिलित करता है जो (१) उसके विश्वासपात्र होते हैं और साथ ही साथ दल के विश्वासपात्र भी होते हैं, कई बार ऐसा होता है कि कोई

सदस्य यद्यपि प्रधानमन्त्री को तो नापसद हो परन्तु संसद के भीतर उसके दल मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता हो ऐसी स्थिति मे उसे न चाहते हुए भी प्रधान मन्त्री को मन्त्रिपरिषद मे लेना पड सकता है, (२) जिनमे इतनी योग्यता हो कि वे अपने पद से सम्बन्धित उत्तरदायित्वो को पूरा कर सकें। मन्त्री को सरकार के एक या अधिक प्रशासकीय विभागो का अध्यक्ष होना पडता है, अत उसके भीतर इतनी योग्यता होनी चाहिये कि वह प्रशासकीय प्रश्नो को समझ सके साथ ही उसे ईमानदार और निष्पक्ष भी होना चाहिये अन्यथा उसके विभाग मे भ्रष्टाचार फैल जायगा और सारी मन्त्रिपरिषद बदनाम होगी, इसके अतिरिक्त उसमे इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह संसद के सामने भली प्रकार बोल सके तथा अपनी नीतियो की रक्षा में तर्क दे सके, उसमें आलोचना को सुनने और उसे सहन करने की शक्ति भी होनी चाहिये, (३) वह प्रधान मन्त्री के नेतृत्व को स्वीकार करे, यदि वह ऐसा नहीं करता तो चाहे दल के भीतर उसकी स्थिति कितनी ही सुदृढ क्यो न हो वह मन्त्री नही बनाया जा सकता। प्रधान मन्त्री केवल दल का ही नेता नही होता वह देश मे भी लोकप्रिय होता है अत उसकी स्थिति काफी मजबूत होती है और मन्त्रिपरिषद के किसी सदस्य के लिये यह सम्भव नही है कि वह उसकी अवहेलना करे। प्रधान मन्त्री ऐसे मन्त्री को उसके पद से हटाने की सिफारिश राष्ट्रपति से कर सकता है, वह यह भी कर सकता है कि वह स्वयं त्यागपत्र दे दे, उसकी ओर से त्यागपत्र देते ही मन्त्रिपरिषद भंग हो जाती है, परन्तु राष्ट्रपति फिर उसे ही मन्त्रिपरिषद बनाने के लिये बुलायेगा क्योकि वह बहुसंख्यक दल का नेता है, इस बार मन्त्रियो की सूची में वह उस व्यक्ति का नाम शामिल नही करेगा जो उसके नेतृत्व को नही मानता और इस प्रकार वह उससे छुटकारा पा लेगा।

मन्त्रिपरिषद मे सारे देश का प्रतिनिधित्व—मन्त्रियो का चुनाव करते समय प्रधान मन्त्री के सामने एक बडा प्रश्न यह रहता है कि उसका मन्त्रिपरिषद सारे देश का प्रतिनिधि होना चाहिये। भारत एक संघ है यदि देश का कोई राज्य ऐसा है जहा से मन्त्रिपरिषद के लगभग ४० या ५० सदस्यो मे से एक भी मन्त्री नही लिया जाता तो वह राज्य पक्षपात का सन्देह कर सकता है, अत प्रधान मन्त्री को यह ध्यान रखना पडता है कि देश के प्रत्येक राज्य से मन्त्रियो को लिया जाये जिससे किसी को उसके ऊपर सन्देह करने का अवसर न मिले, मन्त्रिपरिषद राष्ट्रीय बन सके तथा उसे देश के हर भाग की पर्याप्त जानकारी हो और सब राज्यो का विश्वास प्राप्त हो। यदि वह ऐसा नही करता तो स्वय उसके दल मे असन्तोष की लहर पैदा हो सकती है जो उसके नेतृत्व को सकट में डाल सकता है तथा मन्त्रिपरिषद को अस्थायी बना सकती है।

संसद के सामने मन्त्रिपरिषद का दायित्व—सविधान ने कहा है कि मन्त्रिपरिषद के सदस्य सामूहिक तौर पर लोकसभा के सामने अपने कामो और अपनी नीतियो के लिये उत्तरदायी होगें। हमारे यहा संसदात्मक शासन की स्थापना की

गई है, ससदात्मक शासन का अर्थ यह होता है कि कार्यपालिका ससद के आदेशो के अनुसार काय करे, लोकतन्त्र म यह अनिवार्य हैं क्योकि ससद के भीतर जनता के वे प्रतिनिधि बैठते हैं जिन्हें देश की जनता देश का शासन और प्रशासन चलाने के लिये अपनी ओर से प्रतिनिधि बनाकर भेजती हैं। अत स्वाभाविक ही है कि मन्त्रिपरिषद ससद के प्रति जवाबदेह हो। मन्त्रिपरिषद वास्तव म ससद की अनेक समितियो म से एक समिति है, उसे हम ससद की कार्यकारिणी समिति कह सकते हैं क्योकि वह *ससद की नीतियो को प्रत्यक्ष आचरण मे क्रियान्वित करती है*, इस दृष्टि से भी यह सर्वथा आवश्यक है कि ससद अपनी कायकारिणी समिति के ऊपर पूरा नियन्त्रण रखे और यह देखे कि वह उसकी रीति-नीति और निर्णय-निश्चय के विपरीत काम नही करती। मन्त्रिपरिषद को ससद के प्रति उचित सम्मान का प्रदर्शन करना चाहिए, जब कभी ससद को ऐसा लग कि मन्त्रिपरिषद ने उसकी इच्छा अथवा आज्ञा की अवहेलना की है या कोई ऐसा काम किया है जिसे वह बिलकुल नापसद करती है तो वह उस मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रकट कर सकती है तथा उसे हटा सकती है। सविधान ने अविश्वास प्रकट करने और मन्त्रिपरिषद को हटाने की शक्ति अकेले लोकसभा को दी है उसका कारण यह है कि वह जनता द्वारा प्रत्यक्षतः चुना हुआ तथा राष्ट्र का प्रतिनिधि सदन है। सविधान ने यह उचित नही समझा कि मन्त्रिपरिषद पर अविश्वास प्रगट करने मे वह राज्यसभा को भी शामिल करे क्योकि उसके सदस्य राज्यो की विधानसभाओ द्वारा चुन जाते हैं अत वे परोक्ष प्रतिनिधि होते हैं। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद के उत्तरदायित्व का अर्थ है लोकसभा के सामने *उसकी जवाबदेही। यो मन्त्रिपरिषद को अपनी नीतियो* का स्पष्टीकरण राज्यसभा के सामने भी करना होता है तथा उसके सदस्य भी मन्त्रिपरिषद की नीतियो और उसके कामो के बारे मे प्रश्न पूछ सकते हैं तथा उन विषयो पर अपना मत प्रगट कर सकते हैं तथापि मन्त्रिपरिषद का भविष्य राज्यसभा की प्रसन्नता या अप्रसन्नता पर निर्भर नही रहता।

लोकसभा अपना अविश्वास प्रगट करने के लिय निम्न साधनो म से किसी का आश्रय ले सकती है—अविश्वास का प्रस्ताव, बजट की अस्वीकृति या उसमे कटौती, मन्त्रियो के वेतन अथवा भत्तो म कटौती, मन्त्रिपरिषद द्वारा समर्थित विधेयक को अस्वीकार करना या उसमें ऐसे सशोधन करना जो मन्त्रिपरिषद को स्वीकार न हो, मन्त्रिपरिषद द्वारा असमर्थित विधेयको को स्वीकार करना, मन्त्रिपरिषद की इच्छा के विरुद्ध सदन के कार्य स्थगन का प्रस्ताव (Adjournment motion) स्वीकार करना।

अविश्वास का प्रस्ताव—लोकसभा के सदस्यो को यह अधिकार है कि यदि कुछ सदस्य अपने हस्ताक्षरो के साथ लोकसभा के अध्यक्ष के सामने एक लिखित आवेदन प्रस्तुत करें कि वे मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखना चाहते हैं तो अध्यक्ष उसकी चर्चा के लिए एक तिथि निश्चित कर देगा और उस दिन

प्रस्ताव पर लोकसभा विचार करेगी, यदि लोकसभा का बहुमत उस प्रस्ताव को रखने की अनुमति दे देता है तो वह प्रस्ताव पेश किया जायेगा और यदि वह लोक-सभा के बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तो मन्त्रिपरिषद को त्याग-पत्र देना होता है।

बजट की अस्वीकृति या उसमे कटौती—लोकसभा को बजट के बारे में अन्तिम सत्ता दी गई है। बजट हमेशा मन्त्रिपरिषद की ओर से सदन के सामने रखा जाता है, सदन को अधिकार है कि वह किसी समय रखे गये बजट को पूरी तरह अस्वीकार कर दे या उसमें कुछ ऐसी कटौतिया कर दे जो मन्त्रिपरिषद को स्वीकार न हो। वह यह भी कर सकती है कि बजट म केवल नाममात्र की कटौती कर दे जैसे कुल बजट में एक नये पैसे की कटौती, ऐसा होने पर भी मन्त्रिपरिषद त्यागपत्र दे देगी क्योकि इस प्रकार की कटौती का प्रयोजन मन्त्रिपरिषद को अपमानित करना तथा उसके प्रति अविश्वास प्रगट करना है, इसे अग्रेजी मे टोकेन-कट या प्रतीक कटौती कहते हैं।

मन्त्रियों के वेतन आदि मे कटौती—मन्त्रिपरिषद को अपमानित करने का एक और साधन लोकसभा के पास है, वह बजट मे चर्चा के समय मंत्रियो के वेतन और भत्तो मे कटौती कर दे, इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्रिपरिषद त्याग पत्र देकर अपने स्थान को दूसरे दल के मन्त्रिपरिषद के लिए रिक्त कर दे। यह कार्यवाही प्रगट करती है कि लोकसभा के बहुमत का विश्वास मन्त्रिपरिषद पर से उठ गया है।

मन्त्रिपरिषद द्वारा समर्थित विधेयक की अस्वीकृति—लोकसभा जब मन्त्रि-परिषद से अप्रसन्न होती है तब वह अपनी अप्रसन्नता का प्रदर्शन इस प्रकार कर सकती है कि वह उसके द्वारा समर्थन प्राप्त किसी विधेयक को या तो सीधे ही अस्वीकार कर दे या उसमे ऐसे गम्भीर संशोधन स्वीकार कर ले जो मंत्रिपरिषद को स्वीकार न हो, यह भी अविश्वास प्रगट करने का एक ढग है और इस स्थिति में भी मन्त्रिपरिषद तुरन्त त्याग-पत्र दे देगी। इसी प्रकार लोकसभा उन विधेयको को स्वीकार करके अपने रोष का प्रदर्शन कर सकती है जो मन्त्रिपरिषद की इच्छा के विपरीत हो।

कार्य स्थगन प्रस्ताव—लोकसभा अपना अविश्वास प्रगट करने के लिए किसी सामयिक घटना को लेकर सदन की चालू कार्यवाही स्थगित करने और उस घटना पर चर्चा करने की माग कर सकती है, मन्त्रिपरिषद द्वारा विरोध किये जाने पर भी यदि कार्यस्थगन प्रस्ताव स्वीकार हो जाता है तो मन्त्रिपरिषद को त्याग-पत्र देना पडता है।

संयुक्त उत्तरदायित्व

- मंत्रिपरिषद के जीवन में सबसे बडा महत्व इस बात का है कि वह एक सयुक्त-सगठन है, वह एक ऐसी टीम है जिसके खिलाडी एक साथ हारते और एक

साथ जीतते हैं, एक की हार सब की हार है और एक की जीत पूरी टीम की जीत है। अंग्रेजी मे कहावत है कि मन्त्रिपरिषद के सदस्य एक साथ तैरते और एक साथ डूबते हैं। मन्त्रिपरिषद जिन नीतियो का निर्माण करती है उसके समस्त सदस्य उन नीतियो का समर्थन करते हैं। यह तो सम्भव नही है कि ५० या ६० लोगो का एक दल हर मामले मे पूरी तरह से सहमत हो जाय, उनमे विचार-भेद रह सकता है परन्तु वे आपसी समझौते और व्यवस्था के द्वारा एक ऐसे निर्णय पर पहुँच जाते हैं जिसे सबका समर्थन मिल जाये। वे अपने आपसी मतभेदो को सार्वजनिक तौर पर ससद के सामने प्रगट नहीं करते, वरन् जब कभी संसद उस नीति को अस्वीकार कर देती है तो मन्त्रिपरिषद के समस्त सदस्य त्याग-पत्र देते हैं।

कई बार ऐसा होता है कि किसी मन्त्री के व्यक्तिगत आचरण या उसके द्वारा किये गये व्यवहार से लोकसभा अप्रसन्न हो जाय और उससे त्याग-पत्र की माग करे, उस स्थिति मे यदि प्रधान मन्त्री समझता है कि सदन की माग उचित है और उसमे नीति का कोई प्रश्न नही है तो वह उस मन्त्री को अकेले ही त्याग-पत्र देने की अनुमति दे सकता है अथवा स्वय बाध्य भी कर सकता है। ऐसे उदाहरण हमारे यहा कई हैं, जैसे वित्त-मन्त्री षणमुखम चेट्टी से बजट के कुछ रहस्य बजट सदन के सामने आने से पहले ही प्रगट हो गये, उन्होने उसके लिए अकेले ही त्याग-पत्र दिया, रेलवे मत्री श्री लालबहादुर शास्त्री से सदन इस बात पर बहुत असतुष्ट हुआ कि वे होने वाली दुर्घटनाओं को रोकने मे बुरी तरह असफल रहे हैं इस पर भी श्री शास्त्रीजी ने अकेले ही त्याग-पत्र देना उचित समझा, इसी प्रकार ससद वित्त मन्त्री श्री टी० टी० कृष्णमाचारी से जीवन बीमा निगम मे होने वाली अनियमितताओ के कारण बहुत अप्रसन्न हो गई और उसने उनकी बहुत भर्त्सना की, वे भी अकेले ही त्याग-पत्र देकर चले गये ऐसे ही अपनी खाद्य नीति की असफलता पर खाद्य मन्त्री श्री अजितप्रसाद जैन भी त्याग पत्र देकर गये। इसके विपरीत ससद के दोनो सदन प्रतिरक्षा मन्त्री श्री वी० के० कृष्ण मेनन की उन नीतियो से जो उन्होने आक्रमणकारी चीन के प्रति प्रयोग की, व उनके उस आचरण से जो उन्होने स्थल-सेना के अध्यक्ष जनरल थिमैया के साथ किया काफी क्षुब्ध हुई और उसने उनकी भरसक इतनी निन्दा की जितनी कि आज तक ससद में किसी मन्त्री की नही हुई तथापि क्योकि प्रधान मन्त्री को यह लगा कि प्रतिरक्षा मन्त्री ने हर प्रकार से उनकी नीति का अनुसरण किया है अत उन्होंने उनके त्याग-पत्र की बात नही उठने दी।

अपमान सहन नहीं कर सकती—भारत की मन्त्रिपरिषद का स्वभाव स्विट्जरलैण्ड की मन्त्रिपरिषद से इस मामले में बिल्कुल उल्टा है कि वह अपना अपमान सहन नही कर सकती। स्विस-मन्त्रिपरिषद विधायिका की आज्ञाकारिणी सेविका होती है और वह अपने अपमान को जेब में डाल लेती है अर्थात् उसे सहन कर लेती है, परन्तु भारत की मन्त्रिपरिषद ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के समान ससद की सेविका नहीं है, वह उसका नतृत्व और नियन्त्रण करती है तथा वह अपना अपमान सहन नहीं कर

सकती है, उसकी नीति को स्वीकार करना ही होता है, और यदि वह वैसा करने से मना करे तो या तो उसे उसके स्थान पर दूसरी मन्त्रिपरिषद बनाने के लिये तैयार रहना चाहिय या उसे अपने विघटन का सामना करना होगा। भारत की मन्त्रिपरिषद लोकसभा के भीतर अपने बहुमत के बल पर एक प्रकार से ससद की स्वामिनी बन जाती है। श्री रैमजे म्योर ने ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के बारे में जो शिकायत की है कि वहा मन्त्रिमण्डल ससद की अवहेलना करके अधिनायक (Dictator) बनता जा रहा है ठीक यही बात कुछ अर्थो म भारत पर भी लागू होती है, इसमे कोई सदेह नही है कि भारत म मन्त्रिपरिषद ने और विशेषकर प्रधानमन्त्री ने ससद के प्रति बहुत अधिक सम्मान का प्रदर्शन किया है, तथापि यह निस्सदेह एक सत्य है कि मन्त्रिपरिषद की स्थिति ससद म बहुत सुदृढ है इसका एक कारण यह भी है कि अभी तक ससद के भीतर व्यवस्थित सुमगठित और सुदृढ विरोधी दल का अभाव है जो काग्रेस के विशाल बहुमत पर व्यवहारिक मर्यादाय और नियन्त्रण लगा सके, दूसरा कारण यह है कि हमारे प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनका सम्मान सारे देश के लोग करते ह तथा सब दलो को उनम बहुत विश्वास है, एक प्रकार से उनके नेतृत्व और व्यक्तित्व के नीचे देश की सारी प्रतिभा और विरोधी वृत्ति दब गई है।

गुप्तकार्यवाही—संयुक्त उत्तरदायित्व की दृष्टि से यह आवश्यक हो गया है कि मन्त्रिपरिषद की सारी कार्यवाही गुप्त रखी जाय, उसके सदस्य इसी लिये रहस्यो के गुप्त रखने की शपथ लेते हैं। यदि मन्त्रिपरिषद मे होने वाली चर्चा को कोई मन्त्री बाहर प्रगट करता है तो उसे उसके पद से हटाया जा सकता है।

मन्त्रिपरिषद और अ तरगमण्डल (Council of Ministers & Cabinet)—सविधान ने राष्ट्रपति को उसके कार्यो मे सहायता देने के लिय एक मन्त्रिपरिषद की रचना का प्रबन्ध किया है, परन्तु हमारे यहा ब्रिटिश परम्परा के आधार पर मन्त्रिपरिषद के भीतर मन्त्रियों का वर्गीकरण आरम्भ हुआ है। आज हमारे यहा निम्न श्रेणियो के मन्त्री होते हैं—

(१) अ तरग मन्त्री (Cabinet Ministers)
(२) मन्त्री (Ministers of State)
(३) उपमन्त्री (Deputy Ministers)

इनके अतिरिक्त अनेक ससदीय सचिव होते हैं जिन्हे पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरीज कहा जाता है।

अन्तरग मण्डल या कैबिनेट का अर्थ है ऐसे थोडे मत्रियो का समूह जो प्रधानमत्री के निकट हो और जिनसे प्रधानमत्री हर विषय पर पूरे विश्वास के साथ चर्चा करता हो। वास्तव में कठिनाई यह है कि मत्रिपरिषद का आकार इतना बडा हो गया है कि उसम लगभग ६० सदस्य हो गये हैं जो सघशासन के विविध प्रशासकीय विभागो को सम्भालते हैं, अत. उनके बीच मे नीतियो की चर्चा नही हो

सकती, इस कारण मंत्रिपरिषद के भीतर एक अन्तरग-मण्डल की रचना हो गई है जिसमे मंत्रिपरिषद के वे सदस्य होते हैं जो या तो स्वय दल के भीतर अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं या जो प्रधानमत्री के बहुत निकट के विश्वासपात्र हैं अथवा जो किसी महत्वपूर्ण मंत्रालय के मत्री हैं जैसे वित्त-विभाग, प्रतिरक्षा विभाग, विदेश-संबध विभाग, योजना विभाग आदि। अन्तरग-मडल मे सदस्यो की संख्या पर कोई पाबन्दी नही है, परन्तु सामान्यत उसमे १५ या १६ सदस्य होते हैं।

अन्य मन्त्री मन्त्रिपरिषद के सदस्य होते हैं परन्तु सामान्यत अन्तरग-मण्डल के सदस्य नही होते, फिर भी जब कभी अन्तरग-मण्डल उनके विभाग से सम्बन्धित विषय पर विचार करे तो उन्हे आमंत्रित कर सकता है। इन मन्त्रियो को सामान्यत. नीतिया तय करने मे कोई भाग नही मिलता क्योकि नीतिया अन्तरग-मण्डल में तय होती हैं, मन्त्रिपरिषद की सभायें तो औपचारिक होती हैं जिनकी अध्यक्षता प्रधानमन्त्री करता है और जिसमे अन्तरग-मण्डल द्वारा निर्धारित नीतिया समर्थन के लिये पेश की जाती हैं।

उपमन्त्री भी मन्त्रिपरिषद के कनिष्ठ सदस्य होते हैं वे सामान्यत सदन के भीतर मन्त्री की अनुपस्थिति म अपने विभागो से सम्बन्धित चर्चाओ मे भाग लेते हैं। संसदीय सचिव का काम भी अपने मन्त्री का प्रतिनिधित्व करना और उसको प्रशासकीय कामो म सहायता देना होता है।

अन्तरग-मण्डल की बैठकें प्रति सप्ताह होती हैं, वे बीच म भी हो सकती हैं, इनकी चर्चायें गुप्त होती हैं और प्राय अनौपचारिक भी होती हैं। औपचारिक चर्चाओ के समय उसका स्थायी सचिव (Cabinet Secretary) भी अपने सहायको के साथ बैठता है तथा उसकी सारी कार्यवाही को लिखता है।

मन्त्रिपरिषद के कार्य और शक्ति

मन्त्रिपरिषद के कार्यो का एक लम्बी सूची तैयार की जा सकती है, वास्तव मे वह संघीय शासन की सचालिका है, उसकी स्थिति बिल्कुल केन्द्रीय है, उसके एक ओर राष्ट्रपति है और दूसरी ओर संसद। वह उन दोनो की शक्तियो का प्रयोग स्वय करती है इस प्रकार उसकी स्थिति केवल महत्वपूर्ण ही नही सुदृढ भी बन गई है उसके हाथ म संघ की समस्त कार्यपालिका और विधायी-सत्ता केन्द्रित हो गई है।

इस प्रकार मन्त्रिपरिषद के कार्यो की दोहरी सूची तैयार की जा सकती है, एक ओर उसको कार्यपालिका शक्तिया हैं, दूसरी ओर विधायी शक्तिया। यहा इनका वर्णन हम क्रमश करेंगे।

कार्यपालिका शक्ति और कार्य—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है मन्त्रिपरिषद राष्ट्रपति को दी गई सब शक्तियो का प्रयोग करती है। इन शक्तियो का प्रयोग करने में उसे दो प्रकार के काम करने होते हैं एक तो ऐसे जिनमें निर्णय करना होता है और दूसरे प्रशासकीय। जिन मामलों मे उसे निर्णय करना होता है उनमें प्रमु-

खतः राष्ट्रपति द्वारा की जाने वाली नियुक्तिया, अध्यादेश जारी करने का समय और विषय, सकटकाल या आपातकाल की घोषणा तथा अन्य कार्यपालिका सम्बन्धी नीतियो के विषय हैं।

निर्णय करने के अतिरिक्त मन्त्रिपरिषद के सदस्य सघीय प्रशासन के भिन्न-भिन्न विभागो के अध्यक्ष भी होते हैं, उनके ऊपर अपने-अपने विभाग के सचालन की जिम्मेदारी भी है। यहा एक बात का उल्लेख करना आवश्यक होगा कि प्रशासन में मन्त्रिपरिषद का कार्य बहुत सीमित है। प्रशासन के सचालन का मुख्य भार राज्य की लोकसेवाओ (Public-Services) पर होता है। य लोग स्थायी सेवाओ के सदस्य होते हैं और इनका चरित्र अराजनीतिक होता है। य अपने काम मे विशेषज्ञ माने जाते हैं। मन्त्रियो को हम प्रशासन के भीतर अकुशल या नौसिखिया तत्व मान सकते हैं, ये लोग प्रशासन के मामले में विशेषकर अपने विभाग के कामो मे विशेषज्ञ हो यह आवश्यक नही है। शासन को कुशलता के साथ चलाने के लिये यह एक अच्छी बात मानी गई है कि उसके भीतर मन्त्री और स्थायी-लोकसेवक का मिश्रण होता है। आम तौर पर प्रशासन के बारे में लोगो का अनुभव ऐसा है कि यदि एक विभाग में दो विशेषज्ञ अध्यक्ष होगे तो उस विभाग का कार्य सुचारु रूप से से नही चल सकता। मन्त्री का काम विभाग के भीतर कार्यकुशलता या विशेषज्ञान का तत्व लागू करना नही है, उसका काम केवल इतना है कि वह अपने विभाग म ससद द्वारा निर्धारित नीतियो को लागू करे। आम तौर पर नौकरशाही का यह स्वभाव होता है कि वह रूढिवादी हो जाती है तथा उसके भीतर एक प्रकार की निष्क्रियता आ जाती है, मन्त्री का काम यह है कि वह अपने विभाग के कार्यों म ससद के द्वारा निश्चित कार्यक्रम के पालन पर ध्यान दे तथा नौकरशाही को रूढिवादी और निष्क्रिय होने से रोके। एक प्रकार से मन्त्री का काम अपने विभाग मे लोकतन्त्रीय तत्व का समावेश कराना है। यद्यपि निर्णय करने की अन्तिम शक्ति मन्त्रियो के ही पास होती है तथापि लोकसेवक उसको बहुत बडी सीमा तक प्रभावित कर सकते हैं, एक तो उनके पास सारी जानकारी होती है अत वे किसी विषय पर विचार करते समय अपने विभाग के मन्त्री के लिय बहुत सहायक होते हैं, नीतिया बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि मन्त्रिपरिषद के सामने तथ्य किस प्रकार रखे गये हैं। लोकसेवक (Public-Servant) यह भी कर सकता है कि वह मौखिक रूप मे या लिखकर अपने मन्त्री को यह सूचित कर दे कि जिस नीति का निर्माण वह करना चाहता है उसके क्या परिणाम हो सकते हैं तथा उस नीति के खतरनाक परिणामो के बारे मे भी मन्त्रिपरिषद को सावधान कर सकता है। इस कार्य म उसकी सेवायें सुरक्षित रहती हैं और मन्त्रिपरिषद उसे उसको किसी राय के कारण कोई हानि नही पहुँचा सकती। प्राय ऐसा होता है कि लोकसेवक राज्य की नीतियो को बहुत अधिक सीमा तक नियमित और नियन्त्रित करते हैं।

मन्त्री को अपने विभाग के बारे मे पर्याप्त जानकारी रखनी होती है, जब

ससद में उससे कोई प्रश्न उसके विभाग के बारे मे पूछा जाता हैं तो वह उस प्रश्न को विभाग के सचिव के पास भेज देता है, सचिव अपने सहायको के द्वारा आवश्यक जानकारी तैयार करायेगा और वह उस जानकारी को मन्त्री के सुपुर्द कर देगा। इस प्रकार दी जाने वाली जानकारी के लिय सचिव उत्तरदायी होता हैं, यदि वह कोई सूचना गलत देता हैं तो इसके लिय उससे जवाब मागा जा सकता हैं। मन्त्री ससद के सामने विभाग के सचिव से प्राप्त होने वाली सूचना ही रखता है, नीतियो के प्रश्न पर वह स्वय बोलता है उस बारे मे वह अपने सचिव से कोई परामर्श नही करता।

नियुक्तियो के मामले मे राज्यपालो और राजदूतो आदि की नियुक्ति में प्रधान मन्त्री प्राय बहुत दिलचस्पी लेता है उसका कारण यह है कि ये लोग सघ सरकार के प्रतिनिधि होते हैं तथा राज्यपाल राज्यो में व राजदूत विदेशो मे सघ की नीति के अनुसार कार्य करते व उसकी नीति का प्रतिनिधित्व करते हैं, अत प्रधान मन्त्री यह चाहता है कि ये लोग उसके विश्वासपात्र हो, विशेषकर राजदूत।

विधायी शक्तिया और कार्य—मन्त्रिपरिषद एक ससदीय समिति है जिसका कार्य राज्य के सचालन के काम मे ससद का नेतृत्व करना है। ससदात्मक-शासन भी आधुनिक लोकतन्त्र की भाति प्रतिनिधि-मूलक है तथा बहुमत नियम (Majority rule) के द्वारा सचालित होना है। इसका अभिप्राय यह है कि उसके सारे निर्णय बहुमत के द्वारा होते है ऐसी स्थिति म मत्रिपरिषद बहुत मजबूत बन जाती है क्योकि उसके पीछे बहुमत का समर्थन रहता है। मत्रिपरिषद का नेता प्रधान मन्त्री होता है वह लोकसभा का नेता भी माना जाता है।

ससद के जितने कार्य है उन सब का पालन मन्त्रिपरिषद करती है, इनमे प्रमुख ये हैं—प्रशासन का नियत्रण, विधियो का प्रारूप तैयार कराना, वित्तीय प्रस्ताव रखना, राज्य की नीतियो का निर्धारण करना और विदेश सम्बन्धो का नियमन।

जहा तक प्रशासन के नियन्त्रण का प्रश्न है उसके बारे मे हम वर्णन कर चुके हैं कि किस प्रकार मन्त्री लोग ससद की ओर से प्रशासन का सचालन करते हैं। यहा यह और बता देना लाभदायक होगा कि प्रशासन की ऐसी समस्त जानकारी जो प्रगट करने मे देश की कोई हानि होने की सम्भावना नही है ससद के सामने रखने का काम मन्त्रिपरिषद करती है, उससे ही ससद को यह ज्ञात होना है कि उसकी बनाई गई नीतियो को किस प्रकार लागू किया जा रहा है।

विधेयको की रचना का काम आज के युग में बहुत महत्वपूर्ण एव जटिल हो गया है, उसके लिए विशेषज्ञो की सहायता की आवश्यकता होती है तथा सरकारी विभागो के पास उसके बारे मे जो तथ्य होते हैं उनका ज्ञान होना आवश्यक होता है। यह सब सामग्री मन्त्रिपरिषद को आसानी से उपलब्ध होती है ससद के सदस्यों को व्यक्तिगत तौर पर वे सब सुविधायें उपलब्ध नही होती। साथ ही ससदात्मक

लोकतन्त्र मे नये विधि-प्रस्ताव जिन्हे विधेयक कहा जाता है संसद के सामने रखने का अधिकार मन्त्रिपरिषद को भी दिया गया है क्योकि उसके सदस्य संसद के सदस्य होते हैं। वे लोग केवल संसद के सामने विधेयक पेश ही नही करते वरन् उनका सक्रिय समर्थन करते हैं एव उन्हे पास कराने के लिए अपना प्रभाव काम मे लेते हैं। जहा तक मन्त्रिपरिषद द्वारा रखे गये विधेयको के पास होने का प्रश्न है उसके बारे मे यह तो निश्चित ही मानना चाहिये कि वे प्राय सब स्वीकृत किये ही जायेंगे, यदि संसद किसी विधेयक को स्वीकार करने से मना कर देती है तो वह मन्त्रिपरिषद त्यागपत्र दे देगी तथा ऐसा व्यक्ति दूसरी सरकार बनायगा जो ससद के बहुमत का विश्वास प्राप्त कर सके।

साधारण विधियो के प्रस्ताव ससद का कोई भी सदस्य किसी भी सदन में पेश कर सकता है परन्तु वित्तीय विधेयक लोकसभा के सामने रखने की अनुमति राष्ट्रपति से लेनी होती है, वास्तव मे राष्ट्रपति का अर्थ है मन्त्रिपरिषद। यदि मन्त्रिपरिषद किसी वित्तीय विधेयक का ससद के सामने रखा जाना उचित नही मानती है तो वह राष्ट्रपति को परामर्श देगी कि उस विधेयक को लोकसभा के सामने पेश करने की अनुमति न दी जाये। इस प्रकार वित्तीय मामलो मे मन्त्रिपरिषद को एकाधिकार प्राप्त हो गया है। बजट लोकसभा के सामने मन्त्रिपरिषद की ही ओर से रखा जाता है, उसे सदन मे वित्त-मन्त्री प्रस्तुत करता है। संसद के दूसरे सदस्यो को यह अधिकार नही है कि वे बजट मे लगाये गय करो को बढाने या किसी नये खर्च का प्रस्ताव सदन के सामने रख सकें। वे कर कम करने तथा व्यय घटाने के प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकते हे।

राज्य की नीतियो का निर्माण वास्तव मे ससद के भीतर न होकर मन्त्रिपरिषद में होता है। वह अपनी नीतियो पर संसद की स्वीकृति ले लेती है, जैसा कहा जा चुका है यदि ससद मन्त्रिपरिषद की नीतियो को अस्वीकार कर दे तो वह अपने पद से त्याग-पत्र दे देगी। प्राय प्रधान मन्त्री देश की विदेश नीति के बारे मे संसद मे वक्तव्य देते हैं, इसी प्रकार खाद्य मन्त्री खाद्य-नीति के बारे में, उद्योग मन्त्री उद्योग नीति के बारे मे और वाणिज्य मन्त्री वाणिज्य-व्यवसाय-नीति के बारे मे ससद को सूचित करते हैं, यदि ससद चाहे तो उन वक्तव्यो पर वाद विवाद हो सकता है तथा ससद उन वक्तव्यो म बताई गई नीतियो के पक्ष या विपक्ष में मत दे सकती है।

प्रधान मन्त्री का पद और उसका महत्व

संसदात्मक शासन में सत्ता का प्रमुख केन्द्र प्रधान मन्त्री होता है। प्रधान मन्त्री के बारे में कहा जाता है कि वह मन्त्रिपरिषद रूपी वृत्त-खण्ड की मुख्य शिला (Key-stone of the Cabinet-arch) के समान है। उसके बारे में यह भी कहावत है कि वह एक चन्द्रमा के समान है तथा उसके मन्त्री तारो के समान, यह

उपमा हमारी दृष्टि से ठीक नही है, चाहे देखने म ऐसा लगता हो कि मन्त्रिपरिषद के भीतर प्रमुखता की दृष्टि से प्रधान मन्त्री तारो म चाद जैसा है परन्तु वास्तव में जब अमावस्या म चन्द्रमा बिल्कुल नही निकलता तारे तब भी निकलते हैं जबकि मन्त्रिपरिषद म ऐसा नही होता, प्रधान मन्त्री के डूबते ही सारा मन्त्रिपरिषद डूब जाता है अर्थात् उसके पद से हटते ही सारा मन्त्रिपरिषद पदच्युत हो जाता है। जैनिग्स ने प्रधान मन्त्री की तुलना ग्रहो के बीच म सूर्य से की है, यह उपमा पहली उपमा से अधिक सही है परन्तु उसके बारे म भी यह सावधानी रखनी होगी कि जिस प्रकार अनेक ग्रह और नक्षत्र सूर्य से प्रकाश पाते हैं वैसे मन्त्री लोग अपनी सत्ता प्रधान मन्त्री से प्राप्त नही करते। मन्त्रिपरिषद की सत्ता का स्रोत संसद है, उसमे बहुमत दल और दल के भीतर अनेक प्रभाव तथा गुट सत्ता के केन्द्र होते हैं, और अनेक बार प्रधान मन्त्री को अपनी इच्छा के विपरीत व्यक्तियो को मन्त्रिपरिषद मे लेना होता है क्योकि दल मे उनकी स्थिति सुदृढ होती है और उन्हें दूर रखने से प्रधान मन्त्री की स्वय की शक्ति कमजोर हो सकती है।

भारत म प्रधान मन्त्री के बारे मे लिखते समय हम साविधानिक दृष्टि से अधिक सोचना चाहिये। हमारे प्रथम प्रधान मन्त्री एक असाधारण पुरुष हैं, वे देश के एक सम्मान्य नेता हैं, उनके प्रति देश मे राष्ट्रीय-लोकनायक जैसा भाव है, कई लेखको ने उनके उदाहरण से भारत के प्रधान मन्त्री के बारे मे कुछ निष्कर्ष निकाल लिए हैं और यह कहना उचित माना है कि भारत का प्रधान मत्री अपने मत्रियो के साथ सबधो मे स्वामी के समान शक्तिशाली होता है, एक विद्वान ने तो यहा तक लिखा है कि देश के साधारण निर्वाचन प्रधान मत्री के लिए ही होते हैं। हमारे नम्र विचार से किसी विशेष समय पर किसी एक व्यक्ति के प्रभाव को साविधानिक व्यवस्था के रूप मे स्वीकार करना उचित नहीं है। यह बात बहुत निश्चित विश्वास के साथ कही जा सकती है कि श्री नेहरूजी के बाद प्रधान मंत्री बनने वाला व्यक्ति इतना अधिक शक्तिशाली नही होगा, साथ ही काग्रेस को ससद म जो विशाल और असतुलित बहुमत प्राप्त है वह भी श्री नेहरूजी की असतुलित शक्ति और असाधारण प्रभाव का कारण है। जिन लोगो ने देश के राजनीतिक विकास का गम्भीरता के साथ अध्ययन किया है वे कह सकते हैं कि गत दस वर्षों म श्री नेहरू की स्थिति में बहुत अन्तर आ गया है। आरम्भ मे वे एक राष्ट्र पुरुष और राष्ट्रीय नेता के रूप में अविरोधी स्थिति म थे, परन्तु आज वह स्थिति धीरे-धीरे समाप्त हो रही है, यह एक बहुत अच्छा लक्षण है। विरोधी दल ज्यो-ज्यो ससदीय प्रक्रिया म अनुभवी होते जा रहे हैं त्यो-त्यो वे प्रधान मन्त्री की कटु आलोचना करने लगे हैं। प्रधान मन्त्री एक दलीय-व्यक्ति है और उसे दलीय नेता के रूप मे ही सम्मान प्राप्त होता है, यह सच है कि वह देश के शासन का प्रधान अधिकारी होता है परन्तु ससद के भीतर उसकी दलीय स्थिति पर बल दिया जाना चाहिए, भारत में धीरे-धीरे यह अनुभव किया जा रहा है और श्री नेहरूजी की स्थिति दलीय नेता के समान बनती जा रही है। देश में

अन्य दलों के अतिरिक्त एक नया दल स्वतन्त्र दल के नाम से सगठित हुआ है जिसमें श्री नेहरू की टक्कर के राष्ट्रीय नेता श्री राजगोपालाचारी ने नेहरूजी की आलोचना भीषण ढंग से करनी आरम्भ की है इसका प्रभाव यह आया है कि दूसरों की जबान भी खुली है। यह कहना किसी प्रकार भी न्यायसगत नहीं है कि प्रधान मंत्री के निर्वाचन के लिए ही साधारण निर्वाचन होते हैं। प्रधान मन्त्री ससदात्मक लोकतन्त्र में एक विशिष्ट स्थान रखता है यह सत्य है परन्तु यदि हम उसे भी असतुलित सत्ता दे देते हैं तो निश्चय ही हमारी लोकशाही का स्वरूप विकृत हो जाता है। जहा तक स्वय श्री नेहरूजी का सबध है उन्होंने अपने दल के विशाल बहुमत के रहते हुए भी ससद के प्रति बहुत अधिक सम्मान का प्रदर्शन किया है। कई अवसर ऐसे आये जब उनके साथी मन्त्रियों ने ससद को अप्रसन्न कर दिया परन्तु उन्होंने ससद के सम्मान का पूरा ध्यान रखा और अपने साथियों की भूलों को सुधारा। यद्यपि वे नहीं चाहते थे तथापि उन्हें ससद की भावना का सम्मान करने के लिये श्री टी टी कृष्णमाचारी और श्री अजितप्रसाद जैन जैसे मन्त्रियों को छोड़ना पड़ा। वे चाहते तो ससद में अपने बहुत बड़े समर्थन के बल पर ससद की भावना की अवहेलना भी कर सकते थे परन्तु उन्होंने वैसा न करना ही लोकतन्त्रीय परम्पराओं के निर्माण की दृष्टि से आवश्यक समझा। ब्रिटेन में भी हम इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं जहा ससद में बहुमत का समर्थन होते हुए भी किसी प्रधान मन्त्री ने अपने साथियों को छोड़ना उचित समझा है तथा दल ने अपने प्रधान मंत्री तक को छोड़ने में आपत्ति नहीं की है। जब देश और ससद ने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश सरकार की अबीसीनिया सबधी नीति असफल रही है तो प्रधान मंत्री सर बाल्डविन ने उस नीति के लिये उत्तरदायी मंत्री सर सैम्युअलहोर का त्याग करना ही उचित समझा वहा तो उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जब स्वय प्रधान मंत्री ससद के भीतर बहुमत होते हुए भी ससद की भावना का सम्मान करने के लिए अपने पद से हटे हैं, इनमें एक थे श्री चेम्बरलेन जो हिटलर के साथ अपनी चर्चा असफल रहने के कारण स्वय अपना पद छोड़ गये इसी प्रकार मिश्र पर आक्रमण करने पर ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री ईडन ने अनुभव किया कि उनकी नीति को ससद और देश ने पसन्द नहीं किया अत उन्होंने बहुमत का समर्थन होने पर भी पद छोड़ दिया। इस सब आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्रधान मंत्री हो या मंत्री सब को लोकतन्त्रीय ढाचे के भीतर ससद और जनता की भावना का सम्मान करना होता है।

प्रधान मंत्री की सही सांविधानिक स्थिति अपने मंत्रिमण्डल में समान पदाधिकारियों के बीच में प्रथम या प्रमुख की है (Primus inter pares)। वह अपने मंत्रिमण्डल का आधार तो अवश्य है परन्तु वह उसका स्वामी कदापि नहीं है। अन्य मंत्री उसके सेवक नहीं होते तथा वह उन्हें जब चाहे तब अपनी निरकुश मर्जी से उस भांति नहीं हटा सकता जैसे कि संयुक्त राज्य अमरिका का राष्ट्रपति अपने मंत्रियों का स्वामी होता है और उन्हें अपनी निजी इच्छा के आधार पर नियुक्त

और पदच्युत कर सकता है। प्रधान मत्री और मन्त्रिपरिषद के बीच उनके दल की शक्ति होती है। लोकतन्त्र और अधिनायकवाद में दलो की स्थिति मे बहुत अन्तर होता है। *अधिनायकवादी देशो मे अधिनायक या डिक्टेटर के आदेश पर दल चलता* है परन्तु लोकतन्त्रात्मक देशो मे दलो का सगठन भी लोकतन्त्रीय आधार पर होता है तथा दल का नेता दल का स्वामी नही बल्कि उसके बहुमत का प्रतिनिधि होता है अत उसके *लिय यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने दल के बहुमत* को अपने साथ बनाय रखे, तथा इस बात की सावधानी रख कि वह अपने दल के भीतर प्रभावशाली लोगों को अप्रसन्न नही कर रहा है। उनको अप्रसन्न करके वह अपनी *स्थिति कमजोर बना लेगा*

प्रधान मन्त्री के प्रमुख काय—मन्त्रिपरिषद का चक्र प्रधान मत्री की धुरी के चारो ओर घूमता है उसके काय बहुविध ह तथा वह सघशासन के सचालन के लिये अन्तिम रूप मे उत्तरदायी होता है।

प्रधान मन्त्री का सबसे पहला काम यह है कि वह अपने मन्त्रिपरिषद का निर्माण करे मन्त्रिपरिषद का निर्माण हो जाने के बाद वह विभिन्न मन्त्रियो के बीच विविध प्रशासकीय विभागो का वितरण करता है। उसका यह काम कई बार बहुत कठिन होता है मन्त्रियो की अपनी अपनी पसन्द होती है और यह निश्चित है कि प्रधान मन्त्री के लिय इस मामले म सब को सतुष्ट करना सम्भव नही होता अत वह अपने प्रमुख साथियो के परामश से विभागा का वितरण करता है प्रमुख विभाग मन्त्रिपरिषद के वरिष्ठ सदस्यो के बीच बाट लिए जाते हैं तथा इन लोगो को मिला कर अन्तरग मण्डल का निर्माण किया जाता है जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

प्रधान मन्त्री के लिए सबसे बडा सिरदद यह होता है कि वह सरकार के सब विभागो और मन्त्रालयो के मध्य समन्वय और सामजस्य स्थापित करता है उनके बीच वही एक सामान्य सूत्र होता है। यह सिद्धात मान लिया गया है कि प्रधान मत्री *समूचे प्रशासन के लिय अन्तिम रूप स उत्तरदायी* होता है अत वह प्रत्यक विभाग के मामल मे पूरी दिलचस्पी रख सकता है।

सावैधानिक दृष्टि से प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति से यह निवेदन कर सकता है कि वह अमुक मन्त्री को उसके पद से *हटान का आदेश जारी कर दे। यह माना गया* है कि सयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को पूरी तरह स लागू करने के लिय प्रधान मत्री को मन्त्रियो की नियुक्ति और उनको हटाने की पूरी शक्ति दी जाय। डाक्टर अम्बेडकर न सविधान सभा म कहा था कि 'मेरे विचार मे सयुक्त उत्तरदायित्व दो सिद्धान्तो क द्वारा लागू किया जा सकता है पहला सिद्धात यह है कि मन्त्रिपरिषद का कोई व्यक्ति प्रधान मत्री की इच्छा क विपरीत नही लिया जायगा, दूसरा यह कि यदि प्रधान मत्री किसी व्यक्ति को अपने मन्त्रिपरिषद स हटाना चाहे तो उस किसी भी स्थिति म मन्त्रि-मण्डल म बना रहन नही दिया जाना चाहिय। निश्चय ही

प्रधान मन्त्री अपने इस अधिकार का प्रयोग बहुत कठिन परिस्थिति मे ही करना चाहेगा, वह पहले तो दलीय स्थिति पर इस प्रकार के कार्य के प्रभाव को आकने की चेष्टा करेगा उसके बाद वह कोशिश करेगा कि वह मन्त्री स्वयं ही त्याग-पत्र देने को तैयार हो जाय। सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ म इस प्रकार के मामले मे यह रीति व्यवहार म लाई जाती है कि अवाछित व्यक्ति को किसी दूसरे पद पर दूर के किसी क्षेत्र म राजधानी से बाहर भेज दिया जाता है, वहा एक दल के कठोर अनुशासन और अधिनायकवादी सगठन के कारण यह सम्भव हो जाता है हमारे देश में वह सम्भव नही है और उचित भी नही है।

प्रधान मन्त्री मन्त्रिपरिषद का अध्यक्ष होता है वह उसकी सब बैठको की अध्यक्षता करता है। अन्तरग-मण्डल की चर्चाओ म वह अध्यक्षता तो करता ही है, वहा वह सामजस्य की स्थापना भी करता है, सब मन्त्री यह जानते है कि जब तक प्रधान मन्त्री अपने विचार को बदल ही न ले तब तक सारी चर्चा के अन्त मे उसकी बात स्वीकार करनी ही होगी।

प्रधान मन्त्री के ऊपर सविधान ने यह उत्तरदायित्व सौंपा है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद के निर्णयो तथा देश के प्रशासन के बारे म सारी जानकारी नियमित रूप से दे। इस जानकारी के साथ ही वह उसे शासन के सचालन मे परामर्श भी देता है। प्रधान मन्त्री के परामर्श का वास्तविक अर्थ होता है उसका निर्णय, और उस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर अनिवार्य रूप से होते ही हैं। वह राष्ट्रपति को यह परामर्श भी देता है कि वह लोकसभा को भग कर दे। राष्ट्रपति यदि यह देखता है कि प्रधान मन्त्री को लोकसभा मे बहुमत प्राप्त है तब वह लोकसभा को विघटित कर देता है परन्तु यदि वह देखता है कि प्रधान मन्त्री लोकसभा के अविश्वास के भय से सदन को विघटित कराना चाहता है तो वह उसके लिए मना भी कर सकता है। होता यह है कि बहुमत रहते हुए भी जब प्रधान मन्त्री ससद के विघटन का प्रस्ताव राष्ट्रपति के सामने रखता है उस समय उसके मन म यह विचार होता है कि जिस समय वह विघटन कराना चाहता है उस समय उसका दल अपनी प्रतिष्ठा के उत्कर्ष पर है तथा उस समय निर्वाचन होने से उसका दल पुन पाच वर्ष के लिये सत्ता प्राप्त कर सकता है। परन्तु जब किसी प्रश्न पर ससद उसका साथ न दे और तब वह उसका विघटन कराना चाहे तब वास्तव मे वह ससद को डरा कर उसका समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तथा यदि ससद इस पर भी उसका साथ न दे तो वह अपने दल को ससद मे अविश्वास के अपमान से बचा लेता है तथा जनता से यह बात छिपा लेता है कि उसका दल ससद म बहुमत के स्थान पर अल्पमत मे आ चुका था। प्रधान मन्त्री एक और अवसर पर भी लोकसभा का विघटन करा कर नय निर्वाचन कराना चाह सकता है, वह अवसर किसी ऐसे प्रश्न के उपस्थित होने पर आता है जिस पर वह राष्ट्र का मत जानना चाहे, तब वह जनता के सामने उसका विश्वास प्राप्त करने के लिए जाता है।

प्रधानमन्त्री के हाथ मे अनुग्रह की शक्ति भी है। यद्यपि उसकी यह शक्ति सयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की अपेक्षा बहुत कम है तथापि वह काफी महत्व-पूर्ण है। वह राष्ट्रपति को उन नामो की सूची देता है जिसके आधार पर राष्ट्रपति विविध राजनीतिक पदो जैसे गवर्नर, राजदूत, अनेक आयोगो और मण्डलो के सदस्य आदि पर नियुक्तिया करता है। वह राष्ट्रपति की क्षमा आदि की शक्ति के बारे मे भी उसे परामर्श देता है। अध्यादेश जारी करने मे भी वह राष्ट्रपति का मार्गदर्शन करता है। आपातकाल की घोषणा के बारे मे भी राष्ट्रपति के लिये यही सुरक्षित मार्ग है कि वह प्रधानमन्त्री के कहने पर या उससे परामर्श लेकर आपात की घोषणा करे, उस स्थिति मे ससद उसके कार्य का अनुमोदन कर सकेगी अन्यथा उसे ससद के सामने अपमान ही उठाना होगा। इस प्रकार प्रधान मन्त्री का पद एक केन्द्रीय पद बन जाता है।

प्रधान मन्त्री का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह ससद का नेता होता है। ससद में लोकसभा का अध्यक्ष और राज्यसभा का सभापति अपने-अपने सदनो की समयतालिका और कार्यविधि उसके परामर्श से निश्चित करते हैं। प्रधानमन्त्री ही उन्हे यह परामर्श देता है कि दोनो सदनो म समय का विभाजन किस प्रकार होगा, कब कौन विधेयक प्रस्तुत किया जायगा तथा प्रश्न कब पूछे जायेंगे। किसी सदन मे जब कोई विवादग्रस्त प्रश्न उपस्थित हो जाता है या कोई सदस्य कार्य-स्थगन प्रस्ताव रख देता है तो लोकसभा का अध्यक्ष व राज्यसभा का सभापति प्रधानमन्त्री की राय उस मामले म जान लेता है, यह आवश्यक नही है कि वह उसके अनुसार निर्णय करे, परन्तु बहुधा प्रधानमन्त्री की सलाह मान ली जाती है। अध्यक्ष और सभापति प्रधानमन्त्री को किसी समय स्वय सदन के सामने कोई वक्तव्य देने के लिये कह सकते हैं।

प्रश्नो के समय संसद आलोचना के रग म होती है, उस समय उसका सामना करना बहुत कठिन होता है, प्रधानमन्त्री उस समय वहा उपस्थित रहकर अपने साथियो का साहस बढाता है तथा यदि कही उसे आवश्यकता प्रतीत होती है तो वह स्वय आगे आकर किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए खडा होता है। सदन इसे बहुत पसन्द करता है, वह चाहता है कि प्रधानमन्त्री अधिक से अधिक बार सदन के सामने अपनी नीतियो का स्पष्टीकरण करे। प्रश्नो का काल सरकार के लिये बहुत संकट का समय सिद्ध हो सकता है यदि उत्तर देने में सदन को असन्तुष्ट कर दिया जाये या असंसदीय भाषा का प्रयोग किया जाये तो मन्त्रिपरिषद की स्थिति खराब हो सकती है, स्वयं अध्यक्ष भी उसके लिय उसे प्रताडना कर सकता है।

प्रधानमन्त्री का स्थान—लोकतन्त्र के साथ लोक कल्याणकारी राज्य की कल्पना के जुड जाने से राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। राज्य का कार्यक्षेत्र जितना व्यापक होता जा रहा है मन्त्रिपरिषद की शक्ति भी उतनी ही विस्तृत होती जा रही है, क्योंकि राज्य की ओर से कार्यपालिका तो वही है। मंत्रि-

परिषद की शक्ति का अर्थ है प्रधानमन्त्री की शक्ति। ब्रिटिश संविधान के प्रसिद्ध समालोचक श्री रैमसे म्योर का मानना है कि अन्तरग-मण्डल (कॅबिनेट) के हाथो म देश की सारी सत्ता केन्द्रित होती जा रही है, वह शासन म अधिनायक बन गई है, तथा अन्तिम रूप म यह अधिनायक सत्ता एक व्यक्ति अर्थात् प्रधानमन्त्री के हाथो में चली गई है। उसका मानना है कि प्रधानमन्त्री अमेरिकन राष्ट्रपति से भी अधिक शक्तिशाली हो गया है। इस आलोचना में सत्य का एक अंश है, न इस सत्य से निषेध किया जा सकता है और न इसे इसके सकीर्ण अर्थ मे स्वीकार ही किया जा सकता हैं। लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली मे अधिनायक सत्ता का उल्लेख करना एक बहुत बडी असंगति हैं। सत्ता का यह स्वभाव ही हैं कि वह किन्ही निश्चित हाथो में केन्द्रित हो जाया करती हैं। ससदीय शासन मे सत्ता प्रधानमन्त्री के हाथो में केन्द्रित हो जाती हैं। परन्तु इस कारण वह अधिनायक नही बन जाता क्योकि उसके चारो ओर स्वतन्त्रता के अनेक पहरेदार हरदम रहते हैं जो उस पर आख रखते हैं, इनमें ससद के भीतर बैठने वाले विरोधी दलो के सदस्यो का नाम गिनाया जा सकता हैं। इसके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री की सत्ता साविधानिक मर्यादाओ से सीमित हैं, वह सर्वोच्च-न्यायालय से परिमित बनती हैं तथा पाच वर्षो के बाद उसे जनता के सामने जनता के मत लेने के लिय जाना होगा, यह विचार उसे सत्ता के निरंकुश प्रयोग से रोके रखता हैं, और सबसे ऊपर यह कि वह व्यक्ति जो आज प्रधानमन्त्री बना हैं राजनीति के क्षेत्र म एक लम्बे समय तक प्रशिक्षण प्राप्त कर चुका होता हैं, उसका सारा चिंतन लोकतन्त्र के विचार से ओतप्रोत होता हैं तथा वह अधिनायकवादी ढग के लिये सर्वथा अयोग्य होता हैं। एक बार जब श्री नेहरूजी पर यह आरोप लगाया गया कि वे भारत के अधिनायक हो गये हैं तो उन्होंने उसका यही उत्तर दिया कि वे लोकतन्त्र के दीर्घ प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप स्वभाव से अधिनायक बनने के अयोग्य हो चुके हैं।

प्रधानमन्त्री और राज्यो का शासन—प्रधानमन्त्री की स्थिति भारत के राज्यो के शासन के सम्बन्ध मे भी बहुत सुदृढ हो गई है। व्यवहार में जहा उसका एक कारण यह है कि प्रधानमन्त्री जिस दल का बहु-प्रतिष्ठित नेता है वही दल समस्त राज्यो में शासन चला रहा है, वही साविधानिक दृष्टि से प्रधानमन्त्री एक अधिक शक्तिशाली सघ का प्रमुख शासक होने के नाते राज्यो के शासन को बहुत प्रभावित करने की स्थिति मे है। सविधान के विकास के तौर पर देश मे राष्ट्रीय-विकास परिषद नामक सस्था का निर्माण किया गया है जिसमे समस्त राज्यो के मुख्यमन्त्री बैठते हैं तथा जिसकी अध्यक्षता प्रधानमन्त्री करता है, यह परिषद सब राज्यो के विकास कार्यो का चित्र बनाती है तथा उस बारे में निर्णय लेती है। ऐसे महत्वपूर्ण मामले मे प्रधानमन्त्री को नेतृत्व करने की जो शक्ति मिली है उससे हमारा सघ और भी अधिक मजबूत बन गया है।

राज्यो मे रहने वाले राज्यपाल भी प्रधानमन्त्री की पसन्द के व्यक्ति होते है, उनके द्वारा भी वह राज्यो के शासन को काफी प्रभावित कर सकता है, विशेषकर जब उसे किसी राज्य मे आपातकाल की घोषणा करानी हो तो वह राज्यपाल का ही सहारा लेता है, जैसा केरल मे हुआ। प्रधानमन्त्री राज्यो के शासन का भी नियन्त्रण करने लगा है।

बहुदलीय ससद और मिश्रित मन्त्रिपरिषद

भारत की ससद मे बहुदलीय राजनीति का विकास हुआ है, आज उसमे लगभग १४ राजनीतिक दल हैं। अभी तो कांग्रेस ऐसी स्थिति मे है कि उसे ससद में विशाल बहुमत प्राप्त है, परन्तु ऐसी स्थिति आ सकती है कि ससद मे किसी भी राजनीतिक दल का स्पष्ट बहुमत न हो। उस परिस्थिति मे राष्ट्रपति के ऊपर यह काम आ पडता है कि वह ससद के भीतर या बाहर से ऐसे व्यक्ति की खोज करे जो लोकसभा के आधे से अधिक सदस्यो का समर्थन प्राप्त कर सके और मन्त्रिपरिषद बना सके। यहा यह अनिवार्य हो जायगा कि अनक दलो के सदस्य मिलकर एक मिश्रित मन्त्रिमण्डल (Coalition-Cabinet) का निर्माण करें। ऐसे मन्त्रिपरिषद बहुत कम स्थायी होगे चौथे-गणतन्त्रीय सविधान तक फ्रास में यही होता रहा और वहा सरकारें शपथ लेने के दो घण्टे के भीतर तक भी बदलती रही हैं। मिश्रित-मन्त्रि-परिषद के मार्ग मे सबसे बडी कठिनाइया दो है पहली तो यह कि अनेक दलो के लोग किसी एक दल के नेता को अपना नेता कैसे मान लें, वैसा करने मे वे अपना अपमान समझते है तथा उसे अपने दल के भविष्य के लिय बुरा समझते हैं, दूसरी कठिनाई यह आती है कि मिश्रित-मन्त्रिपरिषद के भीतर भाग लेने वाले अनेक दल किसी एक मिश्रित कार्यक्रम पर सहमत नही हो पाते जिसे सब दल समाधान कारक पा सकें और अन्त मे जाकर कार्यक्रम या नेतृत्व के प्रश्न पर मिश्रित-मन्त्रिपरिषद टूट सकती है। यह एक खतरनाक प्रयोग है जिससे हम जितने बच सकें उतना ही देश का हित है। बहुदलीय व्यवस्था देश को सक्रिय, प्रभावशाली और स्थायी शासन देने मे असमर्थ रहेगी और उस सबके अभाव मे देश प्रगति नही कर सकेगा।

द्विदलीय पद्धति की अनिवार्यता—ससदात्मक लोकतन्त्र के लिये सबसे अच्छा मार्ग यही है कि देश मे दो राजनीतिक दल प्रमुख रूप से अपने को संगठित करें तथा उनमें से एक को जनता किसी समय सत्ता दे। ससदात्मक लोकतन्त्र में बहु-सख्यक दल की निरकुशता पर अकुश लगाये रखने के लिये तथा देश को किसी भी समय एक विकल्प-मन्त्रिपरिषद देने के लिए एक प्रबल विरोधी दल की आवश्यकता होती है। ब्रिटेन मे विरोधी दल को भी वही सम्मान प्राप्त होता है जो सत्ता-प्राप्त दल को होता है उसके नेता को सरकार की ओर से वेतन मिलता है तथा वह समस्त राष्ट्रीय अवसरो पर उपस्थित रहता है। हमारे देश में भी इस परम्परा के विकास की गुजायश है, परन्तु यह तभी सम्भव है जब देश के भीतर दो प्रमुख दल हो।

आशा की जा सकती है कि हम इस दिशा में बढ़ेंगे, अभी तो स्वराज्य को आये थोड़ा ही समय बीता है इस कारण राजनीतिक दल वैसे बढ रहे हैं जैसे वर्षा ऋतु में कुकुरमुत्ता बढता है। धीरे-धीरे सब चीजें स्थिर होगी और देश अधिक स्थिरता के साथ ससदीय लोकतन्त्र के पथ पर अग्रसर हो सकेगा यही हमारी आशा और आकाक्षा है।
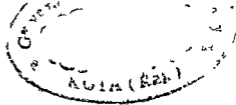
अध्याय . १६
संघीय विधायिका : संसद

'हमने शासन-व्यवस्था का लोकतन्त्रात्मक स्वरूप इसलिये अपनाया है कि यह हमारे लोगो की प्रतिभा के अनुकूल है। हमारे देश की प्रथम संसद व्यापक वयस्क मताधिकार के आधार पर १३ मई, १९५२ को गठित हुई थी। यह लोकतंत्र के इतिहास मे स्वत एक महत्वपूर्ण और अद्वितीय अनुभव था। इसके पहले कभी भी इतने विशाल निर्वाचक वर्ग ने अपने मताधिकार का प्रयोग नही किया था। यह उन लोगो की राजनीतिक जागृति को एक चुनौती थी जिन्होने अभी हाल मे ही पूर्ण राष्ट्रत्व प्राप्त किया था। हम इस चुनौती के अनुकूल सिद्ध हुए, यह संविधान के निर्माताओ के राजनीतिक-बुद्धि परिपाक के प्रति एक श्रद्धांजली है।"

—म० अनन्तशयनम् आयगार, अध्यक्ष, लोकसभा †

'विचार शक्ति के अभाव मे समाज नष्ट हो जाता है।' ये शब्द आज से अनेक शताब्दियो पूर्व एक हिब्रू धर्मगुरू ने अपने शिष्यो को कहे थे। ये पवित्र शब्द उस समय जितने उपयोगी रहे होग आज यह कहना कठिन है परन्तु हम दावे के साथ यह कह सकत हैं कि आज के युग में य शब्द एक महान सत्य का उद्घाटन करते हैं तथा हमारे सामने एक गम्भीर चेतावनी प्रस्तुत करते हैं।

आज हम लोकतन्त्र के युग मे जी रहे हैं, जिसके भीतर व्यक्ति की गरिमा और मानव जीवन की पवित्रता को आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। कहा जाता है कि लोकतन्त्र के भीतर व्यक्ति अपने स्वय के शासन में रहता है, परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि समाज के भीतर उसे ऐसा अवसर प्राप्त हो कि वह दूसरो के साथ बैठकर चर्चा कर सके तथा वहा न वह दूसरो से यह कहे कि तुम मुझ से सहमत हो जाओ अन्यथा मै तुम्हारा सिर फोड दूगा, न दूसरे ही उससे ऐसा कहे। चर्चा के लिय जब व्यक्ति समाज म बैठें तो उनम आपस मे यह समझौता रहे कि वे चर्चा करेंगे और हरेक को यह अधिकार होगा कि वह अपने-अपने निजी विचारो को यदि दूसरो के अनुकूल न बना सके तो उन्हे लिए रहेंगे। इसके साथ ही

† लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'प्रथम संसद : स्मृतिग्रन्थ' के आमुख मे।

राज-काज को और दूसरे काम धधे को व्यवहार मे चलान के लिए यह भी बात उपचेतन म रहेगी कि जहा सावजनिक हित के प्रश्न आयेंग वहा कायक्रम के तय करने म व्यक्ति बहुसख्या के साथ रहेगा और यदि कोई निणय उसकी इच्छा के विरुद्ध होता है तब भी वह उसको मा य करेगा तथा विरोधियो को उनका विचार बदल कर अपने पक्ष म लाने की चेष्टा करेगा। लोकत त्र इस विचार पर आधारित है। पुराने जमाने मे विचारो के मतभेद सुलझाने के लिए विद्वान लोग शास्त्रार्थ करते थे और राजनीतिज्ञ शस्त्र का आश्रय लेते थे लोकत त्र ने सिर काटने के बदले सिर बदलने की धारणा को मा य किया तथा ऐसी व्यवस्था की कि जनता के प्रति निधि एक स्थान पर एकत्रित बठकर जनता की इच्छा और उसकी आवश्यकता के अनुसार विधियो का निर्माण कर। लोकत त्र ने विधियो क निर्माण का काम जनता के प्रतिनिधियो को दिया।

विधायिका।—भारतीय सविधान ने भारत म एक ससदात्मक लोकत त्र की नीव डाली है। इसका अथ यह है कि शासन मे विधियो के निर्माण का काम जनता के प्रतिनिधियों को सौंपा है। सघ मे विधि निर्माण का काम करने वाली सस्था को ससद कहते ह तथा राज्यों म विधानमण्डल।

सविधान के पाचवें खड के दूसरे अध्याय म ससद का वणन किया गया है। उसके अनुच्छेद ७९ म कहा गया है कि सघ के लिए एक ससद होगी जिसमें राष्ट्रपति और दो सदन होंग जो क्रमश राज्यसभा और लोकसभा कहलायग। यहा हमें अपनी सघीय विधायिका के चरित्र का थोडा अध्ययन करना चाहिय उससे हम उसकी रचना शक्तियो तथा काय पद्धति को समझने मे सहायता मिलेगी।

भारतीय सविधान ने देश के भीतर एक सघ की स्थापना की है जिसम १५ राज्यो (१ मई १९६० के दिन बम्बई राज्य को खडित करके महाराष्ट्र और गुजरात नामक दो राज्यो का निर्माण किया गया है) और कुछ सघीय क्षेत्रों का समावेश किया गया है। उनम स प्रत्यक राज्य को सविधान ने शासन की कुछ शक्ति दी है जिसका वणन राज्य सूची म किया गया है। हम पीछे इस बारे मे काफी चर्चा कर चुके ह कि भारत के सघ का क्या स्वरूप है। यहा इतना कहना पर्याप्त होगा कि सघ के कारण भारत की सघीय विधायिका के भीतर दो सदनो का होना अनिवाय हो गया है। सघीय शासन म सयुक्त राज्य अमेरिका ने यह परम्परा डाली कि विधायिका म एक सदन ऐसा हो जिसम राज्यो के प्रतिनिधि बठें जो राज्यों के हितो की देखभाल और उनकी रक्षा कर। अमेरिका में उस सदन को सिनट कहा जाता है और उसमें प्रत्यक सम्मिलित राज्य की ओर से दो प्रतिनिधि बैठते ह जिससे छोटे और बडे सब राज्यो को समानता प्राप्त हो जाती है। भारत म लोकप्रिय सदन को जिसे जनता प्रत्यक्ष मतदान से चुनती है लोकसभा कहा गया है तथा द्वितीय सदन को राज्यसभा। हमारी राज्यसभा यद्यपि सयुक्त राज्य अमेरिका के आधार पर बनाई गई है तथापि दोनो की रचना मे बहुत अ तर है इसका वणन यथास्थान किया

जावेगा। यहा इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि हमारे यहा दूसरे सदन की स्थिति सिनेट जैसी नही है, न वह वे काम ही करती है जो सिनेट करती है। वास्तव मे बात यह है कि हमारे सविधान निर्माता यह मानते थे कि लोकप्रिय सदन पर नियन्त्रण रखने और कुशल सलाह प्राप्त करने के लिए दूसरा सदन बहुत लाभदायक होगा। इसके अतिरिक्त उनके सामने ब्रिटेन का उदाहरण था साथ ही अपने देश के भीतर काफी लम्बे समय से द्विसदनात्मक विधायिका का अनुभव भी उन्हे था। ब्रिटिश सरकार ने अपने देश की भाति भारत म भी एक सदन ऐसा बनाया था जिसमे वह निहित स्वार्थों वाले व अपने समर्थक लोगो को स्थान देती थी। नया सविधान बनाते समय निर्माताओ के समक्ष यह समस्या आई कि वे द्वितीय सदन तो बनाना चाहते थे परन्तु उसे निहित-हितो का अड्डा नही बनाना चाहते थे, अत उन्होंने इस प्रकार से उसका सगठन किया कि सघीय रचना के अनुसार द्वितीय सदन की आवश्यकता तो पूरी हो ही जाये, वह विधि-निर्माण के काम मे सक्रियता के साथ पूरा सहयोग भी दे सके और इस प्रकार एक द्विसदनात्मक विधायिका के लाभ सघ शासन को प्राप्त हो सकें। भारत मे राज्यसभा को अमेरिकन सिनेट जैसा शक्तिशाली नही बनाया गया है, यद्यपि उसे साधारण विधियो के निर्माण में लोकसभा के समान शक्ति ही प्राप्त है तथापि वित्तीय मामलो मे लोकसभा का निर्णय ही अन्तिम माना जाता है, व्यवहार मे इस प्रकार लोकसभा के हाथ मे ही सारी शक्ति चली जाती है।

राष्ट्रपति

अध्याय १४ में हमने भारत के राष्ट्रपति के पद और उसकी शक्तियो का वर्णन करते समय यह बात स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि किस प्रकार भारतीय राष्ट्रपति ससद का अङ्ग है और वह विधि-निर्माण मे क्या काम करता है। सविधान ने ससद के अनिवार्य अ ग के तौर पर राष्ट्रपति को माना है, तथापि हमे यह बात नही भूलनी चाहिय कि सविधान का यह प्रयोजन कभी नही था कि राष्ट्रपति संघीय-विधायी सत्ता का स्वय प्रयोग करेगा या उसके हाथ मे कोई अन्तिम सत्ता रहेगी, उसको दी जाने वाली समस्त सत्ता औपचारिक है तथा वास्तव में कार्यपालिका के प्रमुख के नाते उसे विधायिका के साथ जोडा गया है। यहा एक बात बहुत अच्छी तरह समझ लेनी चाहिय कि हमारे देश मे मत्रिमण्डलात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना की गई है जिसम कार्यपालिका और विधायिका के बीच प्राय कोई विभाजक रेखा नही खीची जा सकती। संसदात्मक या मत्रिमडलात्मक शासन का यह बुनियादी सिद्धान्त है कि उसमे कार्यपालिका विधायिका का अ ग होती है या उसके द्वारा बनाई जाती है।

राष्ट्रपति ससद के साथ औपचारिक ढग से सबधित है, वह ससद के सत्रो का उद्घाटन करता है, वित्तीय विधेयको को लोकसभा में पेश करने की अनुमति प्रदान करता है, ससद द्वारा पारित विधेयको को अपने हस्ताक्षर करके प्रचारित

करता है, तथा जब वह उचित समझे किसी साधारण विधेयक को सदनों के पुनर्विचार के लिए अपने सन्देश के साथ लौटा सकता है। इस प्रकार वह जो कार्य भी करता है अपने प्रधान मन्त्री के परामर्श से करता है, परन्तु वह प्रधान मन्त्री का परामर्श तब तक ही मानता है जब तक कि प्रधान मन्त्री को लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त है।

लोकसभा

ससद मे राष्ट्रपति के अतिरिक्त दो सदन होते है, इनमे से एक को लोकसभा और दूसरे को राज्यसभा कहते हैं। लोकसभा ससद का लोकप्रिय सदन है, अर्थात् इसमे जनता के प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गय सदस्य बैठते हैं।

रचना—सविधान में कहा गया है कि लोकसभा मे अधिक से अधिक ५२२ सदस्य हो सकते हैं। इनम से अनुच्छेद की धारा १ के अनुसार ५०० सदस्यो का निर्वाचन राज्यो की जनता करती है, तथा अधिक से अधिक २० सदस्यों का निर्वाचन सघीय-प्रदेशो मे किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद ३३१ राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान करता है कि यदि वह समझता है कि लोकसभा मे आग्ल-भारतीय जाति का समुचित प्रतिनिधित्व नही हुआ है तो वह अधिक से अधिक दो सदस्यो को उस जाति मे से मनोनीत कर सकता है।

कार्यकाल—लोकसभा का कार्यकाल केवल ५ वर्ष है। यह पाच वर्ष की अवधि उस तारीख से गिनी जाती है जिस तारीख को निर्वाचन के बाद उसकी पहली बैठक होती है।

राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह चाहे तो प्रधानमन्त्री के परामर्श पर लोकसभा का विघटन पाच वर्ष पूरे होने से पहले भी करदे। राष्ट्रपति किन स्थितियो मे लोकसभा का विघटन करना स्वीकार करता है और किन में नही यह वर्णन हम पीछे राष्ट्रपति नामक अध्याय मे कर चुके हैं।

ससद को यह अधिकार दिया गया है कि वह आपात्काल की स्थिति मे अपने कार्यकाल को एक बार मे एक वर्ष तक के लिय बढा सकती है। परन्तु संसद के इस अधिकार पर यह सीमा लगा दी गई है कि आपातकालीन घोषणा समाप्त होने के बाद वह छह महीने से अधिक के लिये अपनी अवधि नही बढा सकेगी। जिस दिन आपात्काल समाप्त हो जायगा उसके ठीक छह मास के पश्चात्, यदि राष्ट्रपति पहले ही लोकसभा को उसके पूर्व ही विघटित न कर दे तो वह स्वय विघटित मान ली जायेगी।

यहा एक बात ध्यान रखने योग्य है कि संविधान की इच्छा राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियो के बारे मे यह है कि राष्ट्रपति इन शक्तियो का प्रयोग ससद के परामर्श से करे तथा उसे आपात्काल के दौरान मे लोकसभा को विघटित करके नये निर्वाचनो का कठिन काम न करना पड़े।

सदस्यों की योग्यता—लोकसभा का सदस्य होने के लिये यह आवश्यक है कि उम्मीदवार भारत का नागरिक हो, कम से कम २५ वर्ष की आयु वाला हो, तथा संसद द्वारा निर्धारित अन्य योग्यतायें रखता हो।

निर्वाचन की पद्धति—लोकसभा के सदस्यों का निर्वाचन दो भागों में होता है। ५०० तक सदस्यों का निर्वाचन राज्यों की जनता कर सकेगी तथा २० सदस्यों का निर्वाचन सघीय प्रदेशों में संसद द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार होता है। प्रत्येक राज्य को लोकसभा के भीतर उतने स्थान दिये जायेंगे जितने कि उसकी जनसख्या के अनुपात से उसके हिस्से मे आते हो। स्थानो का वितरण इस प्रकार होगा कि आम तौर पर सब राज्यों में प्रतिनिधियो की संख्या और जनसंख्या के बीच अनुपात लगभग समान रहेगा। प्रत्येक जनगणना के उपरान्त ससद द्वारा नियुक्त अधिकारी प्रत्यक राज्य को विविध प्रादेशिक-निर्वाचन क्षेत्रो म विभाजित करेगा। परन्तु निर्वाचन क्षेत्रो का यह पुनर्गठन किसी भी प्रकार राज्यों के बीच स्थानो के वितरण की योजना को प्रभावित नही करेगा।

निर्वाचन क्षेत्रो के पुनर्गठन के बारे में एक बात बहुत सावधानी से समझने की है कि पुनर्गठन के समय जो राजनीतिक दल सत्ता म है वह इस प्रकार निर्वाचन क्षेत्रो में परिवर्तन करा सकता है कि उसके समर्थको की सख्या निर्वाचनक्षेत्रो में अधिक दृढ हो जाये। सयुक्त राज्य अमेरिका म इस प्रथा को जैरीमैडरिंग कहते है, जिसके अनुसार निर्वाचनक्षेत्रो को शासक-दल की सुविधा के अनुसार बदल लिया जाता है। भारत मे ऐसा होने की सम्भावना कम है। उसका कारण एक तो यह है कि हमारे यहा मतदाताओं की सख्या बहुत अधिक है जिस कारण सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्र बनाना सरल नही रह जाता दूसरे हमारे यहा प्रत्यक निर्वाचन के पूर्व निर्वाचन क्षेत्रो का पुनर्गठन नही होता बरन् वह प्रत्यक जनगणना के उपरात होता है।

राज्य के भीतर निश्चित स्थानो के अनुसार निर्वाचनक्षेत्रो के पुनर्गठन के बारे मे एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जहा तक सम्भव होगा यह चेष्टा की जायगी कि प्राय. सभी निर्वाचन क्षेत्रो म जनसख्या का अनुपात समान ही रहे।

निर्वाचन प्रत्यक्ष होगा और उसके लिये एक निर्वाचन आयोग की नियुक्ति होगी जो सरकार के दबाव से मुक्त रहेगा अर्थात् उसको निष्पक्ष बनाय रखने की व्यवस्था की गई है। निर्वाचन गुप्त मतदान प्रणाली के अनुसार होगा, तथा वह गूढ मतदान शलाका पद्धति (Secret Ballot System) के अनुसार होगा। प्रत्यक व्यक्ति को एक मत देने का अधिकार होगा और यह उसका पूर्ण अधिकार होगा कि वह जिसे चाहे उसे अपना मत दे और उसे कोई भी इस बात के लिय विवश नही कर सकता कि वह यह बताय कि उसने अमुक निर्वाचन म किस व्यक्ति या दल को अपना मत दिया। मताधिकार नागरिकता की वह पुण्य-धरोहर है तथा

लोकतन्त्र मे व्यक्ति का वह पवित्र अधिकार है जिसके समुचित प्रयोग पर देश के शासन का स्वरूप निर्भर करता है। मताधिकार के सही प्रयोग द्वारा हम अपने लिये अच्छी या बुरी, उदार या उग्र किसी भी प्रकार की सरकार बना सकते हैं।

निर्वाचन के लिये अनेक उम्मीदवारो में जिसे अधिक मत प्राप्त होगे वही निर्वाचित कर लिया जायेगा, यह आवश्यक नही है कि उसे कुल मतो का बहुमत प्राप्त हो।

पद ग्रहण करने की शपथ—लोकसभा के सदस्य अपने निर्वाचन के पश्चात् सदन की पहली बैठक आरम्भ होने पर या किसी दूसरे समय अध्यक्ष के आदेशानुसार अपने पद से सम्बन्धित शपथ ग्रहण करते है। सविधान के अनुच्छेद ९९ में शपथ लेना अनिवार्य कहा गया है।

सदस्यो की उपस्थिति—सदन के भीतर सदस्यों की उपस्थिति के लिये यह व्यवस्था की गई है कि सदन की बैठक मे सम्मिलित होने से पहले प्रत्येक सदस्य अपनी उपस्थिति के हस्ताक्षर सदन के सचिव की उपस्थिति म पजिका के भीतर करता है।

सदन के अधिकारी : अध्यक्ष और उपाध्यक्ष

लोकसभा अपने निर्वाचन के पश्चात् अपनी पहली बैठक में प्राय सबसे पहला कार्य यह करती है कि वह अपने दो अधिकारियो अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती है। अध्यक्ष के निर्वाचन की तारीख राष्ट्रपति तय करता है। अध्यक्ष को अंग्रेजी मे स्पीकर कहा जाता है, जबकि वह सदन मे प्राय सबसे कम बोलने वाला सदस्य होता हैं, क्योकि उसका काम स्वयं बोलना न होकर दूसरे सदस्यो को बोलने का अवसर देना हैं। अध्यक्ष को बहुत बोलने का अवसर तभी मिलता हैं जब कि सदन के सदस्य सदन के भीतर व्यवहार करने का ढंग न जानते हो अर्थात् सदन म बोलना न जानते हो तथा अपने अधिकार का दुरुपयोग करें या सदन के अनुशासन का उल्लघन करने लगें।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनो के लिये यह आवश्यक हैं कि वे सदन के सदस्य हो, तथा यदि किसी कारण वे सदन मे अपना स्थान खो बैठें तो उन्हे अपना पद रिक्त करना होगा।

उपाध्यक्ष के निर्वाचन की तारीख अध्यक्ष तय करता हैं और सदन का सचिव उसको सूचना सदस्यो को दे देता हैं।

अध्यक्ष सदन के आरम्भ में या समय-समय पर जैसा भी वह उचित और आवश्यक समझे सदन के सदस्यो के भीतर से छह नाम छाटकर एक ऐसी प्रधान-मण्डल की सूची तैयार करता हैं जिसे अंग्रेजी में 'पैनल ऑफ चेयरमैन' कहा जाता हैं। इस प्रधानमण्डल के सदस्य, अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनो की अनुपस्थिति में सदन की अध्यक्षता करते हैं। प्रधानमण्डल के सदस्यो में से कौन कब सदन की अध्य-

क्षता करेगा यह स्वय अध्यक्ष या उसकी अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष तय करता है।

उपाध्यक्ष या प्रधानमण्डल का कोई सदस्य जब सदन की अध्यक्षता करता है तब उसे वे तमाम शक्तिया प्राप्त होती है जो कि सदन के अध्यक्ष को प्राप्त होती हैं।

अध्यक्ष का पद और उसके कार्य व शक्तियां—लोकसभा का अध्यक्ष सदन के भीतर सर्वोच्च पदाधिकारी होता है। यद्यपि सदन के भीतर प्रधानमन्त्री और दूमरे मन्त्री भी उपस्थित होते ह परन्तु वहा सब लोगो को अध्यक्ष के आदेशो का पालन करना होता है तथा अध्यक्ष की अनुमति के बिना अथवा उसके विपरीत कुछ भी कहने का अधिकार नही है।

हमारे सविधान ने ससदात्मक लोकतन्त्र की स्थापना के द्वारा ब्रिटिश परम्परा का अनुकरण किया है। अध्यक्ष के मामले मे भी हमने वही आदर्श अपने सामने रखा है। ब्रिटिश लोकसभा का अध्यक्ष एक निर्दलीय व्यक्ति होता है तथा वह जब तक चाहे तब तक लोकसभा के लिए निर्विरोध चुन लिया जाता है और अध्यक्ष बनाया जाता है। वहा यह परम्परा विकसित हो गई है कि एक बार अध्यक्ष बनने के बाद वह व्यक्ति जब तक चाहे तब तक अध्यक्ष बनता रह सकता है (Once a Speaker always a Speaker)। हमने भी अपने देश में इस परम्परा को निबाहने की चेष्टा की है। हमारे सर्वप्रथम अध्यक्ष श्री जी० बी० मावलकर एक बार लोकसभा के अध्यक्ष बनने के बाद जब तक जीवित रहे तब तक लोकसभा के अध्यक्ष बने रहे। उनके बाद श्री अनन्तशयनम् आयगार जब से अध्यक्ष बने ह् तब से निरन्तर चल रहे हैं।

ब्रिटिश स्पीकर दलीय राजनीति से अलग होता है वह सदन के भीतर प्रत्यक दल के सदस्यो के साथ समान और न्यायपूर्ण व्यवहार करता है। सदन की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह किसी राजनीतिक दल का अखाडा बनने के बजाय एक राष्ट्रीय मच का रूप धारण करे जहा कि देश के विविध और विरोधी विचारो वाले प्रतिनिधि सम्मिलित होकर विभिन्न विचार-धाराओ को मुक्त रूप से अभिव्यक्त कर सके तथा जनता की आकाक्षाओ का सही प्रतिनिधित्व कर सके। लोकतन्त्र इस बात पर आधारित है कि ससद के भीतर सदस्यो को अपने विचार प्रकट करने का कितना वास्तविक अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार तभी सुरक्षित रह सकता है जब कि सदन का अध्यक्ष निष्पक्ष हो और सबको यह अवसर दे कि वे अपने अपने विचार चाहे वे सरकार के पक्ष में हो या विरोध म हो प्रगट कर सकें †

---

† It is his duty to Safeguard fair play in debate, free speech, liberty of opinion and to protect the rights of minorities to have their views heard'. Mr Clifton

हमारे प्रथम लोकसभा-अध्यक्ष स्व० गणेश वासुदेव मावलंकर ने इस बारे में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—"यद्यपि हम इस बात के औचित्य मे विश्वास रखते हैं कि अध्यक्ष के पद और उसकी स्थिति के बारे में वे परम्परायें विकसित हो जो ब्रिटेन मे हुई हैं तथापि अनेक कारणो से भारत म उनकी ज्यो की त्यो नक्ल करना सम्भव नही है। सब लोग यह स्वीकार करते हैं कि अध्यक्ष को निष्पक्ष, दलातीत तथा सदन व सदस्यों के विशेषाधिकारो का सरक्षक होना चाहिय। परन्तु व्यवहारिक प्रश्न ये उठते है कि क्या अध्यक्ष अपने राजनैतिक दल का सदस्य बना रह सकता है, तथा क्या उसे पूर्णत राजनीति का परित्याग कर देना चाहिये। .. ... यह बात बहुत स्पष्ट है कि जो लोग विविध विधान मण्डलो मे अध्यक्ष बने हैं वे कल तक अपने दल के सक्रिय सदस्य थे और देश की राजनीति में महत्वपूर्ण भाग ले रहे थे। उनका अपना मानसिक झुकाव और उनके दल की आवश्यकता दोनो यह माग करते हैं कि उन्हे पूरी तरह से राजनीति का परित्याग नही कर देना चाहिये। अत एक समझौता ही किया जा सकता है। आज भारत में अध्यक्ष उस प्रकार राजनीतिक जगत से बाहर नही है जैसा कि ब्रिटेन म है। यद्यपि हम ब्रिटिश परिपाटी का महत्व स्वीकार करते हे तथापि हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस समय ब्रिटिश परिपाटी हमारे सामने एक आदर्श की भाति रहेगी जिसे हम कुछ समय बाद प्राप्त कर सकेंगे। फिलहाल अध्यक्ष राजनीतिज्ञ बने रह सकता है तथापि उसकी कार्यवाही पर बहुत व्यापक रोक लगायी जायेगी। . .. सक्षेप में, उसे किसी ऐसे प्रचार के साथ अपने नाम को नही जोडना चाहिय या कोई ऐसी राय नही प्रगट करनी चाहिये जिसके कारण उसकी अध्यक्ष पद की स्थित मे परेशानी पैदा हो जाये या लोगो को ऐसा लगे कि अध्यक्ष पक्षपात करता है.. ... ।"

अध्यक्ष की स्थिति के इस विवरण के बाद उसकी शक्तियो का वर्णन उचित होगा। अध्यक्ष के काम दो प्रकार के हैं। सबसे पहला काम तो वह यह करता है कि सदन की बैठकों मे जो कि उसके सभापतित्व म होती हे पूरी तरह शाति बनी रहे। उसके लिय हमने ब्रिटिश ससद की उस परम्परा का अनुकरण किया है कि सदन के भीतर बोलने के लिये अध्यक्ष की अनुमति प्राप्त करनी चाहिये तथा उसके लिये अध्यक्ष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया जाये। यदि कई लोग एक साथ बोलने के लिये खडे हो जायें तो केवल वही व्यक्ति बोलना आरम्भ करेगा जिसका नाम अध्यक्ष पुकारता है।

अध्यक्ष का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह किसी विधेयक के प्रस्तुत किये जाने पर उसके बारे मे यह निर्णय दे कि वह वित्तीय-विधेयक तो नही है और

Broen, the speaker of the House of Commons (In Parliamentary Government in Britain by S Bailey & others, Hansard society's publication)

यदि वह वित्तीय विधेयक हो तो उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिय भेज दे। वित्तीय-समितियों इत्यादि से वह यह कह सकता है कि वे निर्धारित समय के भीतर अपना काम पूरा करें तथा उन्हे अधिक समय देने से इन्कार कर सकता है।

अध्यक्ष सदन के भीतर अनुशासन लागू करता है यदि कोई सदस्य अनुशासन भग करता है तो अध्यक्ष उसे उस दिन भर के लिय सदन से निकल जाने का आदेश दे सकता है। यदि कोई सदस्य निरन्तर सदन के काय म बाधा डालता रहे तो अध्यक्ष को अधिकार है कि वह ऐसे सदस्य को सदन की सदस्यता से कुछ समय के लिय निलम्बित कर दे यह अवधि सदन की शष अवधि से अधिक नही हो सकती। इस पर यदि सदन यह प्रस्ताव पास कर कर दे कि सदस्य के निलम्बन को समाप्त कर दिया जाय तो वैसा कर दिया जाता है।

यदि सदन के भीतर गम्भीर अनुशासन हीनता फैल जाय तो अध्यक्ष को अधिकार है कि वह किसी निश्चित समय के लिये सदन की बैठक को स्थगित कर दे। अध्यक्ष को अनुशासन बनाय रखने के काम म मदद करने के लिय कुछ अधिकारी सदन मे होते ह इन अधिकारी को सारजन्ट एट आम्स कहते है।

अध्यक्ष समय समय पर सदन की कायवाही के बारे म सांविधानिक अथवा वैधानिक प्रश्न उठाने तथा सदन के सामने दूसरे महत्वपूण मामले रखने की अनुमति सदस्यो को प्रदान कर सकता है। वह सदन की कायवाही सम्बन्धी नियमो और सांविधानिक उपबन्धो की व्याख्या करता है। यदि वह समझता है कि किसी सदस्य ने अपने भाषण म असंसदीय भाषा का प्रयोग किया है तो वह उसके भाषण के तत्सम्बन्धी अ श को सदन की कार्यवाही में से निकालने का आदेश दे सकता है, अर्थात् ऐसे शब्दों पर चिन्ह लगाकर पृष्ठ के अन्त मे यह लिख दिया जाता है कि य शब्द अध्यक्ष के आदेश से कायवाही म से निकाले जाते ह।

सदन की कायवाही से सम्बन्धित कागजो और आलेखो आदि के प्रकाशन का अधिकार अध्यक्ष को ही है, वह वैसा करने की अनुमति प्रदान करता है।

सदन की कायवाही निश्चित करने का अधिकार भी अध्यक्ष को ही है और वह कोई भी सत्र आरम्भ होने से पहले प्रधानमन्त्री के परामश से काम की सूची तयार करता है तथा यह तय करता है कि किस दिन किस बारे म चर्चा होगी। इसी प्रकार वह सदस्यो के प्रश्नो को लेता है और उनम से जिन्हे पूछने की वह अनुमति प्रदान करता है वे प्रश्न सम्बन्धित सदस्य द्वारा निश्चित समय पर सदन के भीतर मन्त्रिपरिषद से पूछा जाता है। यहा यह बात ध्यान म रखनी चाहिय कि सदन में सारी कायवाही अध्यक्ष के नाम से होती है तथा प्रत्यक सदस्य उसे सम्बोधित करके ही बोलता है। सदस्य आपस म सीधे एक दूसरे के साथ वाद विवाद या चर्चा नही कर सकते उन्ह अपना भाषण अध्यक्ष को सम्बोधित करके देना होता है।

सदन के भीतर दर्शक-दीर्घाओ म उपयोग की व्यवस्था भी अध्यक्ष ही

करता है। सदस्यो के अतिरिक्त और किसा को वह सदन मे प्रवेश करने से मना कर सकता है तथा जब चाहे तब उन्हे सदन से बाहर जाने के लिये आदेश दे सकता है।

यों तो हमारे यहा ब्रिटेन की अनेक ससदीय परिपाटियो को अपनाया गया है तथापि उनमे से अनेक को हमारे यहा मान्यता नही दी गई है उसका मुख्य कारण यह है कि हमारे यहा लाकसभा के प्रथम अध्यक्ष स्व० श्री गणेश बासुदेव मावलकर बहुत मेधावान और स्वतन्त्र बुद्धि के व्यक्ति थे और वे यह सहन नही कर सकते थे कि हमारे *यहा ब्रिटिश परम्पराओं का अन्धानुकरण किया जाय।* स्वय उनके शब्दो मे 'यद्यपि में हाउस अॅव कॉमन्स की परिपाटियो का सम्मान करता हू फिर भी में समझता हू कि हमें अपने हृदय मे यह महसूस नही करना चाहिय कि हम किसी बात को सही या उचित मानने के लिए केवल इसी कारण बाध्य हं क्योकि हाउस अॅव कॉमन्स मे उस बात को उसी रूप म स्वीकार किया गया है। कुछ मामलों मे वहा के रीति-रिवाजो की एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है और इसीलिए वहा पर कुछ विचित्र परिपाटिया भी हें। जहा तक हमारे सविधान और हमारे विधानमण्डलो का सम्बन्ध है हमारे देश में ऐसी कोई पृष्ठभूमि नही है। अत हमे अपनी परम्परायें और परिपाटिया स्वय बनानी पडेंगी। पर हा, हमे ब्रिटेन की परम्पराओ का सम्मान करना चाहिए और उनसे शक्ति प्राप्त करनी *चाहिय। मानवीय अनुभवो के उदाहरण* के रूप में उनका विशेष मूल्य है पर हमारी स्थिति में पैदा होने वाले विचित्र मामलो में पथ-प्रदर्शन के लिए उनका कोई महत्व नही है।"

ब्रिटिश लोकसभा का अध्यक्ष सदन के भीतर सभापतित्व करते समय विग और गाउन पहनता है, वह जब सदन म आता है तो जुलूस के साथ आता है, सभा की दैनिक कार्यवाही प्रारम्भ होने से पूव अध्यक्ष और पादरी सभा मे प्रार्थना करवाते हैं। सभा के अधिकार को प्रकट करने के लिए एक गदा होती है। परन्तु भारत मे इस तरह की कोई बात नही होती, न अध्यक्ष का जुलूस होता है, न वह विग और गाउन पहनता है, न हमारे यहा लोकसभा मे किसी प्रकार की प्रार्थना होती है, इसका कारण यह है कि हमारा देश एक धर्मनिरपेक्ष लोकराज्य है अत वहा किसी प्रकार की प्रार्थना को स्थान नही दिया गया है अभी हाल ही में ससद के एक सदस्य ने वहा एक प्रस्ताव रखा था कि सभा के आरम्भ में प्रत्यक सदस्य एक प्रकार की प्रार्थना का उच्चारण करे जिसमे भगवान का नाम भले ही न रहे ईमानदारी से कार्य करने की *प्रतिज्ञा रहे, परन्तु अभी तक हमारी लोकसभा का अध्यक्ष* किसी प्रकार की प्रार्थना नही करवाता। न हमारे यहा लोकसभा के अधिकार का प्रदर्शन करने के लिए अध्यक्ष की मेज पर कोई गदा ही रखी जानी है।

लोकसभा के अध्यक्ष के वेतन आदि के बारे म ससद विधि बनाती है। अध्यक्ष को जब अपना त्याग-पत्र देना होगा तो वह अपना त्याग-पत्र उपाध्यक्ष को देगा तथा उपाध्यक्ष अपना त्याग-पत्र अध्यक्ष को देगा। लोकसभा को यह अधिकार

दिया गया है कि वह अपने अध्यक्ष को सदन के समस्त सदस्यों का संख्या के बहुमत से हटा सकती है। इसके लिए संविधान ने कहा है कि यदि किसी सदस्य को अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखना है तो वह चौदह दिन पूर्व अपने इस इरादे की पूर्व सूचना देगा। जिस बैठक मे अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर चर्चा होगी उसकी अध्यक्षता वह नही करेगा, वह सदन मे रहकर अपने विरुद्ध लगाये गये आरोपो का उत्तर दे सकता है। यदि प्रस्ताव के पक्ष मे सदन के कुल सदस्यो का बहुमत आ जाता है तो अध्यक्ष अपने पद से हट जायेगा और सदन उसके स्थान पर किसी दूसरे को अध्यक्ष चुन लेगा। अध्यक्ष के नये चुनाव की तारीख राष्ट्रपति घोषित करता है। सदन के विघटित होने पर अध्यक्ष अपना पद नही छोडता, वह नई संसद की पहली सभा की अध्यक्षता करता है और नया अध्यक्ष निर्वाचित होने पर पद छोडता है।

सदन के भीतर मतदान के समय साधारणतया अध्यक्ष अपने मत का प्रयोग नही करेगा परन्तु यदि ऐसी स्थिति आ जाये जबकि किसी प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में उपस्थित सदस्यो के समान मत हों तब अध्यक्ष अपने निर्णायक मत (Casting Vote) द्वारा प्रस्ताव के बारे मे अन्तिम निर्णय करने मे मदद करता है। इस प्रकार स्वभावत उसके हाथ मे अकेले ही निर्णय करने की सत्ता आ जाती है। ऐसे अवसर प्राय: नही आते हैं।

अध्यक्ष के बारे मे एक बात बहुत स्पष्ट समझनी चाहिए कि उसके चरित्र का सबसे महत्वपूर्ण और अनिवार्य गुण निष्पक्षता होना चाहिये, यदि वह बहुमत दल का पक्ष लेता रहे और सदन के भीतर चर्चाओं का इस प्रकार नियमन करे कि शासक दल को ही सदन का अधिकाश समय मिल जाये तथा विरोधी दलो को अपना पक्ष रखने और सरकार की आलोचना करने का अवसर ही न मिले तो इसमें तो कोई सन्देह नही कि वह बहुमत के बल पर अध्यक्ष बना रह सकता है परन्तु वह इस प्रकार लोकतन्त्र की जडें उखाडने वाला ही सिद्ध होगा। यदि विरोधी दलो को सदन के भीतर अपने विचार प्रकट करने का अवसर नही मिलेगा तथा उन्हे वहा विधि निर्माण के कार्य मे भाग लेने का अवसर नही मिलेगा तो वे निश्चय ही अपना विरोध प्रकट करने के लिए प्रतिक्रियात्मक और अलोकतंत्रीय मार्गों को अपनायेंगे तथा देश के सामने एक खूनी क्रांति की सम्भावना पैदा हो सकती है। लोकतन्त्र का मुख्य आधार सहनशीलता है। अध्यक्ष इस सहनशीलता का प्रहरी होता है, उसका यह धर्म है कि यदि शासक दल असहनशील बनना भी चाहे तो वह उस पर अंकुश लगाये रखे तथा सदन के भीतर पर्याप्त मात्रा म विरोध के प्रदर्शन का अवसर प्रदान करे, उससे जहा एक ओर यह लाभ होता है कि विरोधी दलो को गुप्त ढंग से काम करने के लिए प्रोत्साहन नही मिलता वहीं यह भी लाभ है कि विरोधी पक्षो द्वारा सरकार के कामों पर कडी निगाह रखी जाती है तथा मन्त्रिपरिषद के सदस्य साव-धान रहकर काम करते हैं। चर्चाओं के समय दोनो पक्षो पर प्रकाश पड़ जाता है

तथा भले बुरे को पहचानने म मदद मिलती है। साथ ही उस स्थिति मे देश का राजनीतिक प्रशिक्षण होता है।

हमारा विचार है कि ससद की आवश्यकता बहुमत दल के लिए इतनी नही होती जितनी कि विरोधी दलो के लिय होती है। शासक दल के सदस्य वस्तुत ससद के भीतर वहुत कम शक्ति का प्रयोग कर पाते है क्योकि सरकार म उनके नता होते हैं जिनका समर्थन करना उनक लिय अनिवाय ही नही स्वाभाविक भी होता है साथ ही दलीय अनुशासन और सचेतक को व्यवस्था उन्हे स्वतन्त्र रूप से बोलने और मत देने से रोकती है। बहुसख्यक दल तो प्राय अपने नेताओ के कहने म चलता है, अत सदन की विशप उपयोगिता यही है कि उसम सरकार के विरोधियो को बोलने और सरकार की आलोचना करने का अवसर मिल, यह भी कि वे वहा बैठकर शासन की नीतियो और उसके कार्यो के दोष निकालें तथा यह सिद्ध करने की चेष्टा करें कि सही नीति क्या होनी चाहिय जिससे जनता शासक दल के बारे मे सावधानी का प्रयोग कर सके तथा अगल निर्वाचनो म यदि चाहे तो विरोधी दलो मे से किसी को जिसकी नीतियो से वह सन्तुष्ट हो चुन सके। लोकतन्त्र का मूल आधार शासक-दल का समय-समय पर बदलता रहना है। यदि शासक दल बदलता नही है तो यह डर पैदा हो जायगा कि निरन्तर सत्ता प्रयोग से शासक-दल प्रमादशील और अधि नायकवादी हो जाय तथा लोकतन्त्र समाप्त हो जाय। इस बारे मे लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष गणेश वासुदेव मावलकर ने लिखा है 'किसी समय पर किसी दल की सदस्य सख्या चाहे कितनी भी हो उसम यह सम्भावना निहित रहती है कि वह किसी न किसी समय देश की सरकार का निर्माण कर सकता है। बहुमत दल द्वारा सरकार बनाई जाती है परन्तु इसका यह अथ नही है कि दूसरे दलो को शून्यता की स्थिति प्रदान कर दी जाय, सरकार को भी चाहिय कि वह किसी दल की न तो अवहेलना करे और न उसका तिरस्कार ही करे।' आग वह कहते हैं कि "भारतीय ससद और राज्य विधान मण्डलो के भीतर सरकार के पीछे तो विशाल और अनुशासित बहुसख्यक दल है परन्तु उसका विरोध पक्ष सगठित नही है। समतात्मक लोकतत्र की दृष्टि से इसे एक बाधा माना जा सकता है। चाहे कोई व्यक्ति हो या दल उसके लिए यह असम्भव है कि वह काफी लम्बे समय तक शासन करने म उस पतन से बच सके जिसकी ओर सत्ता का प्रयोग अनिवार्यत ल जाता है।'

राज्यसभा : रचना और सगठन

ससद के दूसरे सदन का नाम राज्य सभा है। आरम्भ मे इसे राज्य-परिषद कहा गया था बाद मे इसके नाम को बदलकर राज्य सभा किया गया। अ ग्रेजी में इसे कॉउंसिल ऑफ स्टेट कहा जाता है। इसम सदस्यो की सख्या अधिक से अधिक २५० होती है, जिनम से १२ सदस्यो को राष्ट्रपति साहित्य, विज्ञान, कला और समाज सेवा के क्षेत्र म विशेष योग्यता के आधार पर मनोनीत करता है। उसके

अतिरिक्त अधिक से अधिक २३८ सदस्यो का निर्वाचन राज्यो और सघीय-प्रदेशो की ओर मे किया जायेगा । राज्यो और सघीय प्रदेशों के बीच राज्य सभा के स्थानों का वितरण सविधान की चौथी अनुसूची म किया गया है। उसके अनुसार अभी तक केवल २२० स्थान वितरित किए गए ह । यह वितरण इस प्रकार है—

१	आंध्र प्रदेश	१८
२	आसाम	७
३	बिहार	२२
४	बम्बई	२७
५	केरल	९
६	मध्य प्रदेश	१६
७	मद्रास	१७
८	मैसूर	१२
९	उड़ीसा	१०
१०	पजाब	११
११	राजस्थान	१०
१२.	उत्तर प्रदेश	३४
१३	पश्चिमी बंगाल	१६
१४	जम्मू और काश्मीर	४
१५	दिल्ली	३
१६	हिमाचल प्रदेश	२
१७	मणिपुर	१
१८	त्रिपुरा	१
		२२०

सदस्यता के लिये योग्यता—राज्यसभा के लिये केवल वे लोग ही उम्मीदवार हो सकते हैं जो भारत के नागरिक हो, जिनकी आयु कम से कम ३० वर्ष हो और जो संसद द्वारा निर्धारित योग्यताओ को पूरा करते हो ।

निर्वाचन पद्धति—राज्यो के प्रतिनिधियो का निर्वाचन प्रत्येक राज्य में उसकी विधानसभा के निर्वाचित सदस्य करेंगे। निर्वाचन के लिए यह बात बहुत महत्वपूर्ण है कि केवल जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों को ही राज्यसभा के सदस्यों के निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार दिया गया है, मनोनीत सदस्यो को नहीं। निर्वाचन के लिये आनुपातिक पद्धति का आश्रय लिया गया है तथा मतदान एकल सक्रमणीय मत पद्धति से होता है ।

सघीय प्रदेशो म उनके प्रतिनिधियो का निर्वाचन करने के लिये क्या ढग अपनाया जाय यह तय करने का अधिकार सविधान ने संसद को दिया है।

यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार राज्यसभा के लिये परोक्ष

निर्वाचन पद्धति को क्यो पसन्द किया गया है। इस बारे मे यह समझना लाभदायक होगा कि राज्यसभा का मुख्य कार्य एक संघात्मक शासन के भीतर राज्यो के हितो की रक्षा करना है। राज्यसभा एक ऐसा सदन है जिसमे राज्यो के प्रतिनिधि बैठते हैं अत स्वाभाविक तौर पर राज्यो की विधानसभाओ के निर्वाचित सदस्यो को यह अधिकार दिया गया है कि वे राज्य के प्रतिनिधियो को निर्वाचित कर सकें। परोक्ष निर्वाचन का प्रभाव इसकी शक्तियो पर पडा है, यो तो साधारण विधि निर्माण में इसे लोकसभा के बराबर शक्ति दी गई है तथा यह आवश्यक है कि किसी विधेयक पर दोनो सहमत हो तभी वह विधि बन सकती है, तथापि वित्तीय मामलो मे लोकसभा को ही अन्तिम सत्ता दी गई है, यह लोकतन्त्र के सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य हो गया था क्योकि जनता द्वारा प्रत्यक्ष मत से निर्वाचित सदन की वित्तीय-शक्तियो पर एक ऐसे सदन को बाधा डालने का अधिकार नही दिया जा सकता जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष ढग से न चुना गया हो।

राज्यसभा का सभापति और उपसभापति—राज्यसभा को यह अधिकार नही दिया गया है कि वह अपना सभापति चुन सके। भारत के उपराष्ट्रपति ही राज्य-सभा के पदेन सभापति होते है। राज्यसभा से यह अपेक्षा की गई है कि वह अपने निर्माण के बाद यथाशीघ्र अपने लिये एक उप-सभापति का निर्वाचन कर लेगी तथा जब जब वह पद रिक्त होगा तब तब उस पद के लिये निर्वाचन करेगी। सभापति का कार्यकाल ५ वर्ष और उपसभापति का ६ वर्ष है।

लोकसभा की भाति राज्यसभा को यह अधिकार नही दिया गया है कि वह अपने सभापति को हटा सके, उसके हटाने की विधि का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। राज्यसभा अपने उपसभापति को उसके पद से हटा सकती है। इसके लिये किसी प्रस्ताव की सूचना चौदह दिन पहले देनी होती है तथा यदि उस प्रस्ताव के पक्ष मे सदन की कुल सदस्य सख्या का बहुमत आ जाता है तो उपसभापति अपने पद से हट जायगा। वह स्वय भी चाहे तो अपना त्यागपत्र सभापति को दे सकता है। यदि उपसभापति किसी कारण से राज्यसभा का सदस्य न रहे तो उसे अपना स्थान त्याग देना होता है। वह उस समय सदन की अध्यक्षता नही करता जबकि उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव सदन मे चर्चा के लिय पेश हो, वह ऐसे अवसर पर सदन की कार्यवाही में भाग ले सकता है। यही विधि उपराष्ट्रपति पर भी लागू होती है।

राज्यसभा के सभापति के कार्य लोकसभा के अध्यक्ष के कार्यों के समान ही हैं और उसे अपने सदन के मामले मे वैसी ही शक्तिया प्राप्त हैं। सदन मे विभाजन के समय समान मत होने की स्थिति मे सभापति निर्णायक मत देता है।

राज्यसभा का कार्यकाल—राज्यसभा एक स्थायी सदन है वह कभी विघटित नही होती। राष्ट्रपति जब ससद का विघटन करता है उसका अर्थ केवल लोकसभा का विघटन होता है। इसके सदस्यो का कार्यकाल ६ वर्ष होता है। प्रत्यक दूसरे वर्ष सदन के एक तिहाई सदस्य अपने कार्यकाल के छह वर्ष पूरे हो जाने पर निवृत्त

हो जाते हैं और उन स्थानों की पूर्ति के लिये उनके राज्यों की विधानसभायें, उन्हीं या दूसरे व्यक्तियों को निर्वाचित कर सकती हैं। इस प्रकार सदन में अधिक अनुभवी लोगों के मिलने की सम्भावना हो गई है।

सभापति और उपसभापति का वेतन आदि—संसद अपनी विधि द्वारा यह तय करती है कि राज्यसभा के सभापति और उपसभापति को कितना वेतन और भत्ता आदि प्राप्त होगा। इस बारे में संसद अपनी विधियों को जब चाहे तब बदल सकती है।

संसद के विशेषाधिकार

संसद के जिम्मे एक महत्वपूर्ण काम होता है और वह है देश के शासन का संचालन। इस काम को पूरा करने के लिये यह आवश्यक है कि उसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हों। हमारी संसद के सदस्यों को ब्रिटिश लोकसभा के सदस्यों के समान विशेषाधिकार और सुविधायें प्रदान की गई हैं।

(१) संसद के सदस्यों को सबसे पहला विशेषाधिकार यह है कि वे सदनों के भीतर जो चाहे कह सकते हैं उसके लिये उन्हें किसी न्यायालय के सामने नहीं ले जाया जा सकता। उनकी इस स्वतन्त्रता पर दोनों सदनों के अपने नियम ही सीमायें लगाते हैं बाहर की कोई सत्ता उन्हें वैसा करने से नहीं रोक सकती।

(२) संसत्सदस्यों को व्यवहार सम्बन्धी मामलों में संसद के किसी सत्र के आरम्भ और समाप्त होने के चौदह दिन पहले और बाद तक गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। दण्ड सम्बन्धी मामलों में यह मर्यादा नहीं होती।

(३) संसद के सदनों को अधिकार है कि वे अपने आन्तरिक मामलों और प्रक्रिया का स्वयं नियमन कर सकें और उसके लिये विधियां बना सकें। वे अपने आन्तरिक मामलों को जिस प्रकार निपटाते हैं उसमें कोई न्यायालय हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

(४) सदनों को अधिकार है कि वे सदस्यों के अतिरिक्त दूसरे व्यक्तियों को सदन में आने से रोक सकें वे जिन लोगों को सदन की बैठकों में दर्शक दीर्घाओं में बैठने की अनुमति देते हैं उन्हें भी किसी समय सदन में से बाहर जाने का आदेश दे सकते हैं।

(५) संसद और उसकी समितियों को यह अधिकार है कि वे जब चाहें देश के किसी भी व्यक्ति को अपने सामने बुला कर किसी विषय पर कोई जानकारी देने के लिये कह सकती हैं। इस आदेश का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य होगा।

(६) संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपने विशेषाधिकार के भंग करने वालों को दण्ड दे सके। वह इस मामले में न्यायालय की भांति काम करती है, तथा सदनों के सदस्यों अथवा बाहर के किसी व्यक्ति को सदनों के भीतर

या बाहर किसी विशेषाधिकार के भग करने का आरोप सिद्ध होने पर दण्ड दे सकती है।

विशेषाधिकार भग प्राय निम्न प्रकार हो सकता है—जब ससद के किसी सदस्य को रिश्वत दी जाती है या उसके द्वारा ससद के भीतर किये गये किसी काम के लिये डराया, धमकाया या अपमानित किया जाता है तो ससद अपने सदस्य और बाहर के व्यक्ति दोनो के विरुद्ध कार्यवाही कर सकती है।

यदि ससद का कोई सदस्य या बाहर का व्यक्ति ससद या उसकी समितियो को अपमानित करता है तो उसके विरुद्ध ससद कार्यवाही कर सकती है। इसी प्रकार ससद के आदेशो की अवहेलना करने या उसके कार्य मे बाधा डालने पर भी ससद दण्ड दे सकती है।

विशेषाधिकार समिति—विशेषाधिकार का प्रश्न सदन मे अध्यक्ष की अनुमति से उठाया जा सकता है। विशेषाधिकार के प्रश्न पर विचार करने के लिये एक विशेषाधिकार समिति बनाई गई है। अध्यक्ष ऐसे मामले स्वय किसी सदस्य के कहने पर इस समिति को भेजता है। विशेषाधिकार समिति मे सरकारी और विरोधी दोनो पक्षो को समुचित प्रतिनिधित्व दिया जाता है। विशेषाधिकार समिति के सामने साक्षी देने से इन्कार करना या किसी प्रश्न का उत्तर न देना सदन की मानहानि समझी जाती है और उसके लिये सम्बन्धित व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है।

समिति अपनी सिफारिश अध्यक्ष को देती है। अध्यक्ष उसे सदन के सामने पेश करता है। यदि सदन उस मामले मे दण्ड देना उचित समझता है तो वह तीन प्रकार के दण्ड दे सकता है, चेतावनी, ताडना और कारावास का दण्ड। लोकसभा द्वारा कारावास का दण्ड दिये जाने पर बन्दी प्रत्यक्षीकरण की अनुमति नही दी जाती। कारावास की अवधि सत्रावसान या लोकसभा के विघटन के समय तक ही होती है उससे अधिक नही बढाई जा सकती।

देश के समाचार पत्रो को ससद के विशेषाधिकारो का ध्यान रखना होता है उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे ससद की कार्यवाही को ठीक प्रकार प्रकाशित करें तथा उसकी आलोचना करने में ससद के सम्मान का ध्यान रखें। विचार की आलोचना की जा सकती है परन्तु ससद के प्रति किसी प्रकार का असम्मान या अविश्वास प्रकट नही किया जा सकता, वह देश की लोक-प्रतिनिधि सस्था है और प्रभुता का प्रयोग करती है।

ससदसदस्य ससद द्वारा निश्चित वेतन और दैनिक व अन्य भत्ते प्राप्त करते हैं। इस बारे मे ससद को जब चाहे तब नये सिरे से नियम बनाने का अधिकार है।

ससद के सदस्यो की अयोग्यतायें और पद रिक्त होना

सविधान के अनुच्छेद १०२ मे कहा गया है कि निम्न प्रकार का व्यक्ति ससद का सदस्य नही हो सकेगा —

(१) यदि वह भारत सरकार या राज्य सरकार के अन्तर्गत कोई लाभ का पद धारण किये हो। मंत्रियो के पद लाभ के पद नही माने जाते।

(२) यदि उसका मस्तिष्क ठीक न हो और किसी न्यायालय ने उसके बारे में वैसी घोषणा कर दी हो।

(३) यदि वह दिवालिया हो।

(४) यदि वह भारत का नागरिक न हो या उसने स्वेच्छा से किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वीकार कर ली हो, अथवा उसने किसी विदेशी राज्य के प्रति *राजभक्ति या वफादारी की शपथ ली हो।*

(५) यदि वह ससद की किसी विधि द्वारा अयोग्य ठहरा दिया गया हो।

पद रिक्त होना—सविधान में कहा गया है कि निम्न परिस्थितियो में ससत्सदस्यो का पद रिक्त हो जायगा तथा रिक्त स्थानो को नये निर्वाचनो के द्वारा (जिन्हे उपनिर्वाचन (By election) कहा जाता है) भरा जायेगा :—

(१) कोई भी *व्यक्ति एक समय पर ससद के दोनो सदनो का सदस्य नही* हो सकता अत उस व्यक्ति को जो एक साथ दोनो सदनों मे निर्वाचित हो जाता है किसी एक सदन मे स्थान छोडना होगा।

(२) इसी प्रकार कोई एक व्यक्ति एक ही समय पर ससद के किसी सदन और किसी राज्य की विधानसभा का सदस्य नही हो सकता, उसके लिये यह अनिवार्य होगा कि वह दोनो में से किसी एक विधायिका मे अपने पद का त्याग करे। यदि व्यक्ति किसी एक स्थान का परित्याग नही करता है तो राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित *समय के बाद संसद में उसकी सदस्यता समाप्त हो जायगी और वह केवल विधान*-सभा का सदस्य रह जायेगा।

(३) यदि ससद के किसी सदस्य मे ऊपर बताई गई किसी प्रकार की अयोग्यता पैदा हो जाती है तो उसका पद रिक्त हो जायेगा, तथा वह सदस्य स्वयं भी किसी समय अध्यक्ष या सभापति के नाम लिखित त्यागपत्र के द्वारा सदस्यता का परित्याग कर सकता है।

(४) यदि कोई सदस्य किसी सदन की बैठको मे बिना पूर्व स्वीकृति के लगातार साठ दिन तक उस अवधि मे होने वाली सदन की प्रत्येक बैठक से अनुपस्थित रहता है तो सदन को अधिकार है कि वह उस स्थान को रिक्त घोषित कर दे।

संसद की सत्ता और उसके कार्यों की प्रकृति

भारत मे ससद ब्रिटेन की ससद के समान प्रभुता सम्पन्न नहीं है, यहा ससद की शक्ति पर कई मर्यादायें लगी हुई है, इनमे से प्रमुख ये हैं—संघीय स्वरूप (सघ बनने के कारण भारत की शासन सत्ता सघ और राज्यो के बीच बाट दी गई है, ससद केवल सघीय विधानमण्डल के रूप म ही काम करती है), दूसरे हमारे यहा सविधान ने नागरिको को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान किये हैं जिनका उल्लंघन

ससद नही कर सकती, तीसरे सविधान दुष्परिवर्तनीय है जिसके कारण ससद को सविधान के प्रत्येक भ ग का संशोधन करने की सत्ता नही दी गई है, चौथे, सविधान ने अपनी रक्षा का भार सर्वोच्च-न्यायालय पर सौंपा है, जिसके कारण सर्वोच्च-न्यायालय को न्यायिक समीक्षा करने का अधिकार प्राप्त हो गया है अर्थात वह ससद द्वारा बनाई गई किसी विधि को असाविधानिक घोषित करके उसे लागू करने से मना कर सकता है।

कई विचारको का मानना है कि मन्त्रिपरिषद की बढती हुई शक्ति ने भी ससद की सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाया है। हमारे विचार से ऐसा कहना उचित नही होगा क्योकि ससदात्मक या मत्रिमण्डलात्मक शासन में यह बात अन्तर्निहित ही है कि ससद की ओर से एक ऐसा मन्त्रिमण्डल बनाया जायगा जो उसके बहुमत का समर्थन प्राप्त करके उसकी ओर से उसके कार्यों को पूरा करेगा। मन्त्रिपरिषद ससद की कार्यकारिणी समिति के समान है और वह उसकी ओर से ही काम करती है, ऐसी स्थिति मे उसे ससद की शक्तियो पर प्रतिबन्ध मानना सर्वथा अयुक्तिसगत होगा।

ससद के कार्यों को हम निम्न प्रकार विभाजित कर सकते हैं —

(१) मन्त्रिपरिषद का निर्माण और उसका नियन्त्रण,
(२) राष्ट्रीय नीतिया निर्धारित करना,
(३) विधिया (Laws) बनाना,
(४) वित्तीय विधेयको तथा सघ के वार्षिक बजट पर स्वीकृति देना,
(५) प्रशासन का नियन्त्रण
(६) विदेशो के साथ युद्ध, सन्धि व अन्य सम्बन्धो की स्वीकृति देना,
(७) राष्ट्रीय प्रश्नो पर वाद विवाद द्वारा लोकमत का निर्णय,
(८) राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति आदि पदाधिकारियों का निर्वाचन करना तथा उन्हे व दूसरे अधिकारियो को पदच्युत करना,
(९) आपातकालीन परिस्थितियो मे राज्यों के लिय विधिया बनाना,
(१०) अपने विशेषाधिकार के भग होने पर उसके सम्बन्धित मामलो को सुनना और उस बारे म निर्णय करना।
(११) सविधान का सशोधन करना।

१ मन्त्रिपरिषद का निर्माण करना—ससद का सबसे महत्वपूर्ण काम कार्यपालिका का निर्माण करना है। प्रसिद्ध विद्वान बेजहॉट ने कहा है कि, "ससद का निर्माण विधिया बनाने के लिय होता है परन्तु उसका मुख्य कार्य कार्यपालिका का निर्माण और उसे बनाय रखना हो गया है।" (द इगलिश कॉन्स्टीट्यूशन)

हेराल्ड लास्की ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ पार्लियामेन्टरी गवर्नमेंट इन इग्लैंड में लिखा है कि, 'लोकसभा का सबसे प्रमुख कार्य यह है कि वह सरकार का निर्माण करे तथा उसे सार्वजनिक कार्यों के सचालन के लिय औपचारिक सत्ता दे या देने से

मना करे।" देश के शासन का संचालन इस बात पर निर्भर करता है कि संसद किस प्रकार की मन्त्रिपरिषद का निर्माण करती है। वास्तव में संसद मन्त्रिपरिषद के बनाने के मामले में बहुत स्वतन्त्र नहीं होती जनता निर्वाचनों के समय ही किसी राजनीतिक दल के प्रति अपना भुकाव प्रकट कर देती है और एक प्रकार से कहा जा सकता है कि मन्त्रिपरिषद किस दल का बनेगा यह निर्णय करने की शक्ति जनता के हाथ में आ गई है इसका श्रेय द्विदलीय-राजनीति की पद्धति को है। हां, यदि संसद में अनेक दल हों जिनमें से किसी को भी पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो तो वैसी स्थिति में संसद को ही यह निर्णय करने का अवसर मिलता है कि मन्त्रिपरिषद में कौन लोग होंगे और कौन नहीं, वह मन्त्रिपरिषद कब तक काम करेगा तथा उसे कब हटाया जाना चाहिये। द्विदलीय संसद में मन्त्रिपरिषद प्राय निश्चित ही रहता है और संसद उसके निर्माण तथा उसको हटाने में बहुत अधिक स्वेच्छा का प्रयोग नहीं कर सकती।

फिर भी सैद्धान्तिक रूप में यह मानना होगा कि मन्त्रिपरिषद बनाने और उसे बनाये रखने या हटाने का काम संसद करती है, तथा यह भी कि यह काम बहुत महत्वपूर्ण है। संसद एक स्थायी मन्त्रिपरिषद का निर्माण करके देश को एक स्थायी और अधिक दृढ़ शासन प्रदान कर सकती है तथा समय पड़ने पर देश को उसकी तानाशाही नीतियों से बचा भी सकती है।

२. राष्ट्रीय नीतियां निर्धारित करना—संसद का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय नीतियों का निर्माण करना है। शासन किस प्रकार चलाया जायगा इस बारे में मन्त्रिपरिषद का मार्गदर्शन करने के लिए तथा उसके हाथ मजबूत करने के लिये संसद राष्ट्रीय नीतियों का निर्धारण करती है। संसद देश के सामने शासन के लिये उत्तरदायी होती है अतः यह उसका एक प्रधान कर्तव्य है कि वह शासन की नीतियों पर पूरा नियन्त्रण रखे। इस कर्तव्य को पूरा करने के लिए संसद समय-समय पर कार्यपालिका से उसके कार्यों तथा उसकी नीतियों के बारे में पूछताछ करती रहती है तथा जहां कहीं उसे ऐसा लगता है कि मन्त्रिपरिषद ने उसके द्वारा निर्धारित नीति का उल्लंघन किया है वहीं वह उससे इसके लिए उत्तर मांगती है तथा असन्तुष्ट होने पर उस मन्त्रिपरिषद को हटा कर उसके स्थान पर दूसरी परिषद का निर्माण करती है।

३ विधियां बनाना—जैसा कि बेजहॉट ने कहा है संसद का निर्वाचन जनता प्रमुखतः विधियां बनाने के लिए करती है। यह काम ऐसा है जो एकमात्र उसके ही अधिकारक्षेत्र में है तथा जिस पर उसका पूरा नियन्त्रण होता है, अर्थात् उसकी स्वीकृति के बिना कोई विधि नहीं बनाई जा सकती। शासन के संचालन में विधियां बनाने का काम सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है, किसी देश में जैसी भली या बुरी विधियां होंगी उन्हीं के अनुसार कार्यपालिका प्रशासन का नियमन व न्यायपालिका न्याय करती है। विधियां किस प्रकार बनाई जाती हैं इसका उल्लेख

हमने आगे किया है।

४ वित्तीय विधियों तथा संघ के वार्षिक बजट पर स्वीकृति—लोकतन्त्रात्मक शासन के आरम्भ से ही यह विचार लोगो के मन मे रहा है कि जनता को तब तक कोई कर देने के लिये नही कहा जा सकता जब तक कि उसके अपने प्रतिनिधि ही उन करो को लागू न करें तथा वे इस प्रकार सग्रह होने वाले धन को व्यय करने के ढग पर नियन्त्रण न रखते हो। सयुक्तराज्य अमेरिका के स्वातन्त्र्य संग्राम के नेता जार्ज वाशिंगटन ने स्वतन्त्रता सग्राम के समय वहा की जनता को एक नारा दिया था, वह आगे चलकर लोकतन्त्र का एक ठोस आधार बना, वह है—प्रतिनिधित्व के बिना कोई कर नही लगाया जा सकता।

इस प्रकार संसद संघ के आर्थिक प्रशासन पर पूरा नियन्त्रण रखती है। सविधान ने स्पष्ट रूप से कहा है कि भारत का राष्ट्रपति प्रतिवर्ष वित्तीय वर्ष समाप्त होने से पूर्व ससद के सामने सघ सरकार का बजट पेश करायेगा तथा संसद उसे स्वीकार या अस्वीकार करेगी। ससद को यह अधिकार नहीं दिया गया है कि वह बजट के बाहर जाकर किसी नये व्यय का प्रस्ताव रख सके या किसी नये कर को जनता पर आरोपित कर सके, उसे यह सत्ता अवश्य है कि वह बजट म लगाये गये करो को रद्द कर दे अथवा व्यय के लिये की गई धन की किसी माग को अस्वीकार कर दे। व्यवहार मे यह शक्ति अब ससद के पास नही रही है, यदि वह बजट मे कोई ऐसा सशोधन स्वीकार कर लेती है जो मन्त्रिपरिषद को स्वीकार्य न हो तो इसका बहुत गम्भीर अर्थ होता है, वह यह कि मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र दे देना चाहिये। यहा यह भी समझ लेना चाहिये कि मन्त्रिपरिषद ससद में बहुमत रखती है उस स्थिति मे यह आम तौर पर सम्भव नही है कि ससद के भीतर उसके द्वारा रखा गया बजट अस्वीकृत हो जाये या इस प्रकार सशोधित हो जाये जो उसकी इच्छा के विरुद्ध और विपरीत हो।

ससद के वित्तीय नियन्त्रण में यह बात भी सम्मिलित है कि ससद को यह देखना चाहिय कि उसके द्वारा दी गई धनराशि का सरकार द्वारा ठीक उसी प्रकार प्रयोग हुआ है या नही जिस प्रकार और जिस काम के लिये वह दी गई थी। इस काम को पूरा करने के लिये सविधान ने संसद को मदद के लिये एक नियन्त्रक महालेखा परीक्षक (Comptroller & Auditor General) के पद की स्थापना की है जिसके साथ उसका विशाल कार्यालय होता है जो सरकार के समस्त हिसाब-किताब को रखने की विधि तय करता है तथा उसकी जाच करता है। प्रत्येक वर्ष यह हिसाब की जाच के बारे मे अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत करता है जिसे राष्ट्रपति तुरन्त संसद के सामने रख देता है। यह रिपोर्ट या प्रतिवेदन ससद के सदस्यो को यह बताता है कि सरकार के विविध विभागो ने किस प्रकार धन का व्यय किया है। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक बहुत स्वतन्त्र होता है तथा वह निर्भीकतापूर्वक सरकार की आलोचना कर सकता है। इस प्रकार संसद

सरकार की निंदा कर सकती है तथा उससे माग कर सकती है कि वह अधिक सतर्कता से काम करे।

५ **प्रशासन का नियन्त्रण**—संसद देश के प्रशासन के लिए भी उत्तरदायी है उसे यह देखना होता है कि संघीय प्रशासन उसके द्वारा बनाई गई नीतियो का अनुसरण कर रहा है या नही तथा वह उसकी इच्छाओ को क्रियान्वित कर रहा है या नही। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए उसकी ओर से मन्त्रिपरिषद के सदस्य प्रशासकीय विभागो को सम्भालते है। संसद केवल इतने से ही सन्तोष नही कर लेती कि उसकी ओर से मन्त्री लोग प्रशासकीय विभाग सम्भाले वरन् वह इससे भी आगे जाकर समय समय पर विविध प्रशासकीय विभागो के बारे मे संसद के भीतर सम्बन्धित मन्त्रियो से जानकारी मागती है तथा यदि आवश्यकता हो तो वह उसकी आलोचना, निन्दा या प्रशसा भी करती है।

प्रशासन के नियन्त्रण के लिए संसद स्थगन प्रस्ताव आदि का प्रयोग भी करती है इनका वर्णन आगे उपयुक्त स्थल पर किया जायगा।

६ **विदेशों के साथ युद्ध सन्धि व अन्य सम्बन्धों की स्वीकृति देना**—संसद देश की शांति के साथ ही साथ सुरक्षा के लिए भी उत्तरदायी है। इस कृत्य को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि विदेशो के साथ रखे जाने वाले सब प्रकार के सम्बन्धो पर संसद की स्वीकृति ली जाय तथा उसे समय समय पर विदेश नीति के बारे मे प्रधानमन्त्री द्वारा आवश्यक जानकारी दी जाय। इस बारे मे यह समझना लाभदायक होगा कि प्रधानमन्त्री के लिए कूटनीतिक अथवा सामरिक कारणो से कई बार यह सम्भव नही होता कि वह हर समय संसद के सामने प्रत्येक विषय की पूरी जानकारी रख सके।

७ **राष्ट्रीय प्रश्नो पर वाद विवाद द्वारा लोकमत का निर्माण**—संसद का यह एक परम्परागत कार्य है कि वह विविध राष्ट्रीय प्रश्नो पर वाद विवाद करे और लोकमत का निर्माण करे। इस वाद विवाद के प्रसग मे वह जनता की शिकायतो की भी चर्चा कर सकती है और उसके बारे मे सरकारी दृष्टिकोण जान सकती है।

वर्तमान काल मे जब कि राज्य लोक कल्याण का एकमात्र साधन बन गया है तथा उसने अपने ऊपर समाज की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति का दायित्व ले लिया है यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है कि संसद समय समय पर उसके बारे मे बारीक से बारीक बात की चर्चा करे जिससे कि जनता को उसके बारे मे पूरी जानकारी मिल सके। जनता को यह जानकारी देना केवल इसलिए ही आवश्यक नही कि लोकतन्त्र मे जनता का सरकार की नीतियो पर अन्तिम नियन्त्रण रहता है इसलिए उसको जानकारी होनी चाहिए वरन् इसलिए भी कि लोक कल्याण की योजनाए तब तक सफल नही हो सकती जब तक कि जनता उनमे सक्रिय रुचि न ले तथा उनको अपना न मान ले। केवल सरकारी कर्मचारियो के बल पर कोई भी योजना सफल नही हो सकती।

८ पदाधिकारियों का निर्वाचन और उन्हें हटाना—संसद को संविधान ने यह काम सौंपा है कि वह राज्यों की विधानसभाओं के साथ राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग ले, उपराष्ट्रपति को चुने तथा उसे यह शक्ति दी है कि वह महाभियोग चलाकर राष्ट्रपति को तथा निश्चित प्रक्रिया के अनुसार उपराष्ट्रपति सर्वोच्चन्यायालय व उच्च-न्यायालयों के न्यायाधीशों को उनके पद से हटा सके। संसद को यह सत्ता देकर संविधान ने उसकी प्रभुता और प्रतिष्ठा में वृद्धि की है। जहा तक राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति का प्रश्न है वे तो राजनीतिक पदाधिकारी है उन्हें हटाने की शक्ति संसद के पास होना एक साधारण बात है परन्तु न्यायाधीशों को हटाने की संसद की शक्ति असाधारण है तथा वह इस तथ्य की द्योतक है कि संविधान निर्माता यह चाहते थे कि यद्यपि न्यायालय सर्वथा स्वतन्त्र रहे तथापि वे न्याय के ऐसे रूप का विकास करने से रोके जा सकें जो लोकतन्त्रीय आकाक्षाओं के विपरीत हो, अत उन्होने न्यायालयों को लोक-प्रतिनिधियों अर्थात् संसद के नियन्त्रण म रखा है। यह लोकतन्त्र के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है तथा जनता की शक्ति का गौरव बढाने वाली व्यवस्था है।

९ आपातकालीन परिस्थितियों मे राज्यों के लिये भी विधिया बनाना—संविधान ने ऐसी व्यवस्था की है कि आपातकाल म राज्य-सूची के विषयो पर संसद चाहे तो स्वय विधिया बना सकती है अथवा वह राष्ट्रपति को यह शक्ति दे सकती है कि वह स्वय या उसका प्रतिनिधि इस शक्ति का प्रयोग करे।

समय-समय पर राज्यसभा भी राज्यसूची के किसी ऐसे विषय को सीमित अवधि के लिय संसद को दे सकती है जिसे वह राष्ट्रीय महत्व का समझती हो।

१० अपने विशेषाधिकार के भग होने पर—संसद के विशेषाधिकार के बारे में हम वर्णन कर चुके हैं संसद को यह अधिकार है कि यदि संसद का कोई सदस्य या बाहर का व्यक्ति या संस्था उसके किसी विशेषाधिकार को भग करे तो वह उस प्रकार के मामलो को सुन सकती है और उसके बाद यदि उसकी दृष्टि मे दोष सिद्ध हो जाता है तो वह दण्ड की व्यवस्था कर सकती है।

११ संविधान का संशोधन करना—हम पीछे यह बता चुके हैं कि हमारा संविधान दुष्परिवर्तनीय है अर्थात संसद को सारे संविधान का संशोधन साधारण विधि-निर्माण की प्रक्रिया के अनुसार करने का अधिकार नहीं है। तथापि वह एक अंश का संशोधन साधारण विधि निर्माण की प्रक्रिया से, दूसरे का विशेष प्रक्रिया से तथा तीसरे अंश का संशोधन राज्यों के विधानमण्डलो के साथ मिलकर कर सकती है। इस प्रकार संविधान के संशोधन के साथ वह अभिन्न रूप से जुडी हुई है।

अपने इन कामो के अतिरिक्त संसद अपनी आतरिक व्यवस्था के नियमो का निर्माण करती है, तथा अनेक छोटे-मोटे काम करती है। संसद का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह एक ऐसे राष्ट्रीय मञ्च का रूप ले लेती है जिसके द्वारा देश की जनता को राजनीति की शिक्षा मिलती है तथा लोकमत का निर्माण होता है।

संसद के बहुविध कार्यों के प्रसग म हम उसके एक अत्यत महत्वपूर्ण कार्य को

नहीं भूल सकते, यह कार्य है देश के लिये नेतृत्व की पंक्ति तैयार करना। लोकतन्त्र में नेतृत्व की महान आवश्यकता होती है। संसद के भीतर राजनीतिक कार्यकर्ताओं को शासन के संचालन का प्रशिक्षण प्राप्त होता है तथा वे यह सीखते हैं कि लोकतन्त्र में किस प्रकार धीरज और शांति के साथ काम करना होता है। संसद के भीतर धीरे-धीरे देश के लिये भावी नेतृत्व तैयार होता है। आज हम देखते हैं कि किस प्रकार ब्रिटेन में संसद के भीतर से देश के नेतृत्व का प्रशिक्षण हुआ है। जिन ईडन और मैकमिलन का नाम हम आज से बीसों वर्ष पहले ब्रिटिश संसद की चर्चाओं में सुना करते थे वे ही धीरे-धीरे आगे आये और एक के बाद दूसरे ने देश के प्रधानमन्त्री पद का भार सम्भाल कर नेतृत्व किया। इस प्रकार संसद एक महाविद्यालय का रूप ले लेती है जहां प्रतिनिधियों का सैद्धान्तिक व व्यवहारिक प्रशिक्षण होता है।

संसद की कार्यवाही के नियम

हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि संविधान द्वारा लागू की गई सीमाओं की मर्यादा के भीतर संसद के दोनों सदनों को *अलग-अलग अपनी कार्यवाही संचालित करने के लिये नियम बनाने का अधिकार है। दोनों सदनों के मध्य आपसी सम्बन्धों* और उनके संयुक्त सत्र के बारे में नियमों की रचना राष्ट्रपति करता है परन्तु उस काम में वह अध्यक्ष और सभापति की सहायता लेता है। दोनों सदनों में नियम बनाने के लिये एक एक नियम-समिति होती है जिसमें १५ सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति लोकसभा का अध्यक्ष तथा राज्यसभा का सभापति नई संसद के आरम्भ होने समय करता है तथा अपने सदन में अध्यक्ष या सभापति ही नियम-समिति का प्रधान होता है।

संसद के दोनों सदनों के सत्रों को राष्ट्रपति आहूत करता है आहूत करने का अर्थ है बैठक बुलाना, वह ही यह भी तय करता है कि सदन किस स्थान पर और किस समय समवेत (बैठक के लिए इकट्ठे) हों। राष्ट्रपति के पास यह शक्ति भी है कि वह दोनों सदनों के सत्रों का सत्रावसान (Prorogue) कर सकता है, सत्रावसान का अर्थ है किसी चालू सत्र को बन्द करना यानी बैठक को समाप्त करना। *राष्ट्रपति लोकसभा को विघटित भी कर सकता है विघटन का अर्थ है भंग करना* यानी तोड़ना और उसके बाद नए चुनाव कराना।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि संविधान ने यह स्पष्ट कहा है कि संसद के किसी भी सदन के दो सत्रों के बीच में किसी भी परिस्थिति के अन्दर छह मास से अधिक का समय नहीं बीत सकता। इस प्रकार यदि किसी समय राष्ट्रपति *संसद को भंग कर देता है तो उसे लोकसभा के नए निर्वाचन इस प्रकार कराने होंगे* कि भंग होने वाली लोकसभा के अन्तिम सत्र और नई लोकसभा के पहले अधिवेशन के बीच में छह मास से अधिक का समय नहीं व्यतीत होना चाहिए।

संसद के दोनों सदनों को यह अधिकार है कि वे जब चाहें अपने अधिवेशनों

यानी सत्रों को स्थगित (Adjourn) कर सकते हैं। सत्र की कार्यवाही को स्थगित करने के लिये रखे जाने वाले प्रस्ताव सदन की दैनिक कार्यवाही आरम्भ होने के पूर्व सदन के अध्यक्ष, सम्बन्धित मन्त्री और सदन के सचिव के पास भेज दिये जाते हैं। प्रस्ताव रखने की अनुमति सदन का अध्यक्ष देता है परन्तु यदि अध्यक्ष द्वारा अनुमति दिये जाने के बाद भी सदन का कोई सदस्य उस पर आपत्ति उठाता है तो अध्यक्ष सदन के उन सदस्यों से अपने स्थान पर उठने के लिये कहेगा जो स्थगन प्रस्ताव रखे जाने के पक्ष में हों, यदि इस प्रकार उठने वाले सदस्यों की संख्या ५० से अधिक होगी तो अध्यक्ष प्रस्ताव रखने की अनुमति देगा अन्यथा वापिस ले लेगा और ऐसा समझा जायेगा कि सदन ने स्थगन प्रस्ताव रखने की अनुमति नहीं दी है।

गणपूर्ति—संसद के दोनों सदनों के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक सदन की बैठक आरम्भ होने से पूर्व उसमें उसकी सदस्य संख्या का कम से कम दसवां भाग उपस्थित हो। इसे गणपूर्ति या कोरम कहते हैं। यदि किसी समय किसी सदन में निर्धारित गणपूर्ति नहीं होती है तो सदन के प्रधान अर्थात् अध्यक्ष तथा सभापति का यह कर्तव्य है कि वह सदन की कार्यवाही स्थगित कर दे। किसी सदन में यदि कोई स्थान रिक्त हो तो भी सदन की कार्यवाही चालू रहेगी, एवं यदि सदन के किसी सत्र के बाद यह बात ज्ञात हो कि सदन की कार्यवाही में किसी ऐसे व्यक्ति ने भाग लिया या मतदान किया है जिसे वैसा करने का अधिकार नहीं था तो उसके कारण सदन की वह कार्यवाही अवैधानिक नहीं मानी जायगी। सदन की कार्यवाही विहित है या नहीं इस बारे में किसी न्यायालय के भीतर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता, तथा सदन के सदस्य और अधिकारी अपने किसी ऐसे कार्य के लिये जिसका सम्बन्ध सदन की कार्यवाही से हो किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं होते।

जिन मामलों में किसी सदन के विशेष बहुमत की आवश्यकता नहीं होती वे दोनों सदनों में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से निर्णय किये जाते हैं। अध्यक्ष अथवा सभापति को पहली बार में मत देने का अधिकार नहीं होता परन्तु यदि किसी प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में मतों की संख्या समान हो जाये तो वह निर्णायक मत (Casting Vote) देता है। जब अध्यक्ष या सभापति को लोकसभा या राज्यसभा में किसी निश्चित प्रश्न पर सदस्यों का मत जानना होता है तो उसके लिये यह प्रक्रिया होती है कि अध्यक्ष किसी सदस्य के प्रस्ताव पर एक प्रश्न सदन के सामने रखता है तथा सदन का निर्णय मांगता है। अध्यक्ष सदन के सदस्यों से कहेगा कि वे प्रश्न का उत्तर हां या ना में दें। आवाज को सुनकर अध्यक्ष निर्णय घोषित करता है कि, मेरी राय में प्रस्ताव के पक्ष में निर्णय दिया गया है या विपक्ष में दिया गया है।' यदि अध्यक्ष के निर्णय का विरोध सदस्यों द्वारा नहीं किया जाता तो अध्यक्ष उस वाक्य को दो बार दोहराता है तथा निर्णय उसी प्रकार माना जाता है। परन्तु यदि अध्यक्ष के निर्णय को चुनौती दी जाती है तो अध्यक्ष लाब्बी को खाली करने का आदेश देता है और कहता है कि जो सदस्य प्रस्ताव के पक्ष में हों वे दाहिनी

ओर और जो विपक्ष मे हो वे बायी ओर एकत्रित हो जायें। उसके बाद प्रत्येक सदस्य मतदान सूची म अपनी सख्या का उच्चारण करता है तथा मतदान-क्लर्क उस सूची म उसकी सख्या पर नाम लगाता है व उसका नाम पुकारता है। इस प्रकार मतदान होता है।

यदि अध्यक्ष समझता है कि उसके निर्णय को चुनौती देने का कोई ठोस आधार नही है तो वह पक्ष और विपक्ष के सदस्यो को क्रमश. अपने-अपने स्थान पर उठने के लिय कहेगा और वही उनकी सख्या गिनकर निर्णय की घोषणा कर देगा।

यदि निर्णय के लिय लाब्बी का आश्रय लिया जाता है तो सदन का सचिव मतो की गणना करके अध्यक्ष को पक्ष और विपक्ष के मतो की सूची प्रस्तुत कर देता है और अध्यक्ष निर्णय की घोषणा करता है।

संसद की कार्यवाही हिन्दी या अंग्रेजी म होती है, परन्तु यदि कोई सदस्य इन दोनो मे से कोई भी न जानता हो तो अध्यक्ष या सभापति की अनुमति मिलने पर वह अपनी भाषा म बोल सकता है।

राष्ट्रपति द्वारा ससद मे भाषण और सदेश—सविधान मे कहा गया है कि राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह दोनो सदनो म पृथक-पृथक अथवा दोनो के सयुक्त अधिवेशन के सामने भाषण दे सके और ऐसे अवसर पर सदस्यो की उपस्थिति अनिवार्य होगी।

यदि राष्ट्रपति किसी समय ऐसा समझता है कि उसे किसी सदन को किसी विधेयक के बारे म या अन्य कारण से कोई सदेश भेजना चाहिय तो वह सदेश भेज सकता है और जिस सदन के पास ऐसा सदेश भेजा जाता है वह उस पर सुविधा क अनुसार चर्चा करेगा तथा जिस प्रश्न पर राष्ट्रपति न ध्यान खिचाया है उस पर ध्यान देगा।

अनुच्छेद ८७ मे कहा गया है कि नय निवाचनो के बाद ससद क प्रथम सत्र के प्रारम्भ में तथा प्रत्यक वर्ष सत्र आरम्भ होन के पूर्व राष्ट्रपति दोनो की सयुक्त बैठक के सामने भाषण देगा तथा उन्ह यह बतानगा कि उन्ह किस लिय समवत (इकट्ठा) किया गया है। उसके भाषण क बाद अलग-अलग दोनो सदनो म राष्ट्रपति के लिय धन्यवाद का प्रस्ताव रखा जाता है जिसपर वादविवाद होता है।

राष्ट्रपति का भाषण प्रधानमन्त्री तैयार करता है जिसम वह अपनी नीतियों और योजनाओ का वर्णन करता है, यदि ससद राष्ट्रपति क प्रति रख गय धन्यवाद के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है तो इसका अर्थ यह होता है कि ससद को मन्त्रिपरिषद में विश्वास नही है और उसक परिणामस्वरूप मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देना होता है।

मन्त्रिपरिषद का कोई भी सदस्य ससद के किसी भी सदन म भाषण द सकता है परन्तु वह मत केवल उस सदन मे ही दे सकता है जिसका कि वह सदस्य है। भारत के महान्यायवादी (Attorney General) को भी यह अधिकार है कि

वह चाहे जिस सदन के समक्ष भाषण दे सकता है परन्तु वह किसी भी सदन म मत नही दे सकता।

लोकसभा मे कार्यपद्धति—लोकसभा की नियमावली म कहा गया है कि अध्यक्ष सदन के नेता अर्थात प्रधानमन्त्री से परामर्श करके सदन के कार्य की सूची और उसका कार्यक्रम तय करेगा। प्रत्यक शुक्रवार के अ तिम अढाई घटे सदन मे आरम्भ होने वाले निजी सदस्यो के प्रस्तावो पर चर्चा के लिय सुरक्षित रखे जाते हैं। अध्यक्ष इसके लिय कोई दूसरा दिन भी तय कर सकता है।

आम तौर पर सदन की बैठक पूर्वाह्न म ११ बज आरम्भ होगी तथा सामान्यतया सायकाल ५ बज समाप्त हो जायगी। अध्यक्ष इसम हेरफेर कर सकता है।

प्रत्यक दिन बैठक का पहला एक घण्टा प्रश्नो और उनके उत्तरो के लिय सुरक्षित रखा गया है।

लोकसभा मे चर्चाओ की पद्धति

लोकसभा म सदस्यो को विविध राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ की चर्चा का पर्याप्त अवसर देने की चेष्टा की गई है। यहा हम उन अवसरो म प्रत्यक का सक्षिप्त वर्णन करने की चेष्टा करेंगे।

प्रश्नोत्तर—सदन की दैनिक कायवाही आरम्भ होने पर सबसे पहला घण्टा प्रश्नोत्तर काल कहलाता है। सदस्य जो प्रश्न पूछना चाहते हैं उन्हे लिखकर वे अध्यक्ष के पास भेजते हैं। सामान्यतया प्रश्न दिय जाने के दस दिन बाद उत्तर के लिये आता है। प्रश्न तीन प्रकार के होते हैं तारांकित अतारांकित और अल्पसूचना प्रश्न। तारांकित प्रश्न का अथ है वे प्रश्न जिन पर प्रश्न पूछने वाले सदस्य तारे का चिन्ह लगा देते हैं, उसका अथ यह होता है कि वे उसका मौखिक उत्तर चाहते हैं तारा न लगाने पर लिखित उत्तर दिया जाता है। अल्पसूचना प्रश्न व होते हैं जो किसी विशेष समस्या से सम्बन्धित हो और जिन्हे अध्यक्ष दस दिन से कम समय म उत्तर देने के लिय स्वीकृति दे दे। परन्तु यदि सम्बन्धित मन्त्री दस दिन से कम समय मे उत्तर देने मे असमर्थ हो तो वह प्रश्न दस दिन पश्चात ही उपस्थित किया जाता है।

किसी प्रश्न का उत्तर सम्बन्धित-मन्त्री के दिय जाने पर यदि अध्यक्ष अनुमति दे दे तो उससे ऐसे अनुपूरक प्रश्न पूछे जा सकते हैं जिनका सम्बन्ध उस उत्तर मे कही गई बातो मे ही होगा। किन प्रश्नो को सदन मे पेश करने की अनुमति दी जायगी और किनको नही यह निणय स्वय अध्यक्ष करता है। प्रतिदिन प्रश्नो की एक सूची तैयार कर ली जाती है और क्रमश सदस्यो को प्रश्न रखने की अनुमति दी जाती है।

प्रश्नोत्तर काल ससदीय कार्यकलाप का सबसे महत्वपूर्ण अ ग है। इस काल म सदस्यो की जागरुकता तथा मन्त्री की तत्परता की कसौटी होती है। प्रश्नो के उत्तरो के बहान स सरकारी कार्य की जानकारी जनता को प्राप्त होती है। यह नहीं

समझना चाहिए कि प्रश्न काल मन्त्रियों के लिये एक कड़ा और अप्रिय समय होता है, वास्तव में इस काल में उन्हें यह अवसर प्राप्त होता है कि वे विभिन्न प्रश्नों के बारे में अपनी नीति को सदन में और उसके द्वारा जनता के सामने रख सकें तथा उसकी विवेचना कर सकें। तथापि इतना स्वीकार करना होगा कि प्रश्नकाल में उनसे सावधानी, सयम और हाजिरजवाबी की अपेक्षा होती है। दर्शक दीर्घाओं के लिये प्रश्नोत्तरकाल सबसे अधिक दिलचस्पी का विषय होता है। वे सरकार और सदस्यों के बीच की नोकझोंक और हंसी के फौव्वारों का आनन्द लेते हैं। दर्शकों को अपने प्रतिनिधियों के पैंतरे भी उस काल में देखने को मिलते हैं। प्रश्नोत्तरकाल में सदस्यों की विनोदी प्रवृत्ति को काफी प्रोत्साहन मिलता है और उसके प्रयोग के लिये पर्याप्त अवसर भी मिल जाता है।

आधे घण्टे की चर्चा—लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष श्री मावलकर इस बात से बहुत चिन्तित थे कि बात-बात पर सदन के सामने कार्यस्थगन प्रस्ताव रखने से सदन के नियमित कार्य में बहुत अधिक बाधा पड़ती है अतः उन्होंने ऐसे साधनों की खोज की जिनके द्वारा सदस्यों को *स्थगन प्रस्ताव* के बिना ही *आवश्यक सामयिक* समस्याओं पर चर्चा करने का अवसर मिल जाय। आधे घण्टे की चर्चा ऐसा ही एक साधन है।

यदि सदन के सदस्य किसी प्रश्न के उत्तर से सन्तुष्ट न हों तो अध्यक्ष आधे घण्टे की चर्चा का अवसर दे सकता है। इसके द्वारा सदस्यों को अधिक खुलकर चर्चा करने व प्रश्न से सम्बन्धित मामलों पर वाद विवाद करने का अवसर मिल जाता है।

अल्पकालीन चर्चा—इसी प्रकार अल्पकालीन चर्चा का नियम बना है। यदि कोई सदस्य चाहता है कि सदन किसी अविलम्बनीय सार्वजनिक महत्व के प्रश्न पर चर्चा करे और वह अध्यक्ष से उसकी अनुमति मांगता है तो अध्यक्ष सदन की अन्य *कार्यवाही रोक कर उसे वैसा करने की अनुमति दे सकता है। देखने में ऐसा लगता* है कि यह स्थगन प्रस्ताव जैसा ही है। परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि अल्पकालीन चर्चा में कोई निर्णय नहीं किये जाते, केवल चर्चायें होती हैं जिसमें दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाते हैं तथा सरकार जवाब दे देती है। स्थगन प्रस्ताव की भांति इसका उद्देश्य सरकार की निन्दा करना नहीं होता वरन् केवल सरकार का ध्यान किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर सदन के सदस्यों की ओर दिलाना होता है।

ध्यान दिलाने की सूचना—इसके अन्तर्गत कोई सदस्य अध्यक्ष की अनुमति से किसी समस्या को तुरन्त सदन के सामने रख सकता है तथा उस पर चर्चा कर सकता है, सरकार को उसका उत्तर तुरन्त देना होता है, परन्तु यदि वह वैसा करने की स्थिति में न हो तथा समय चाहे तो उसे समय भी दिया जाता है। इस प्रकार स्थगन प्रस्ताव का बार-बार सहारा लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

स्थगन प्रस्ताव—यदि सदन का कोई सदस्य यह अनुभव करता है कि किसी आवश्यक समस्या पर सदन की सारी कार्यवाही बन्द करके तुरन्त चर्चा की जानी

चाहिए तो वह अध्यक्ष से स्थगन प्रस्ताव पेश करने की अनुमति मागता है और यदि वह अनुमति मिल जाती है तो सदन का सारा काम रोक कर उस समस्या की चर्चा की जाती है। विरोधी दलो को इस बात का पर्याप्त अवसर मिल जाता है कि वे किसी प्रश्न पर सरकार की भरपूर निन्दा कर सके तथा सरकार को यह अवसर मिल जाता है कि वह अपनी नीतियो का स्पष्टीकरण कर सके। स्थगन प्रस्ताव के विषय पर चर्चा के बाद सदन कोई निर्णय ले सकता है उस समय यदि सदन का मत यह हो जाता है कि सरकार की नीतिया ठीक नही है तो वह सरकार की इच्छा के विरुद्ध कोई निर्णय कर सकता है तथा मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देने के लिय बाध्य कर सकता है। स्थगन प्रस्ताव पर सदन की अनुमति भी लनी होती है उसकी प्रक्रिया का उल्लेख हम इसी अध्याय में पीछे कर चुके है।

राष्ट्रपति का अभिभाषण और विधेयक—चर्चा के अन्य अवसर सदस्यो को राष्ट्रपति के अभिभाषण के लिय रखे गय धन्यवाद के प्रस्ताव पर और विधेयको पर वाद विवाद के समय प्राप्त होते है। इन अवसरो का सदुपयोग करने से लोकमत को प्रशिक्षित किया जा सकता है, देश के लिय उत्कृष्ट नीतियो का निर्माण किया जा सकता है और सरकार की तानाशाही पर पर्याप्त नियन्त्रण लगाया जा सकता है।

ससद मे दूसरे सदन का महत्व और दोनो सदनो के सबध

फ्रास के महान सविधान-शास्त्री ऐबे सीयस ने कहा था कि यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन से असहमत हो तो वह उददण्ड हो जाता है और यदि वह सहमत हो तो निरर्थक भी हो जाता है। इस विचार का राजनीति विज्ञान मे अपना स्थान है तथापि यह भी सत्य है कि स्वय फ्रास ने एक-सदनात्मक विधायिका का प्रयोग नही किया है वहा भी दो सदन बनाय गय ह। यह माना गया है कि एक-सदनात्मक विधायिका निरकुश हो सकती है। सर हैनरी मेन ने कहा है कि 'द्वितीय सदन चाहे कैसा भी हो न होने से अच्छा है।' इस प्रकार ससार के प्राय सभी लोकतन्त्रात्मक देशो ने अपने यहा द्वितीय सदन की स्थापना की है।

भारत की स्थिति इस मामल म सघीय रचना के कारण और भी अधिक द्वितीय सदन के पक्ष म है। हमारे सविधान ने लोकसभा और राज्यसभा को वित्तीय मामलो को छोडकर शप मामलो म समान सत्ता प्रदान की है। राज्यसभा साधारण विधियो क निर्माण मे बहुत सहयोग दती है क्य कि सविधान के अनुसार उनको उसम भी आरम्भ किया जा सकता है। इस प्रकार समय की काफी बचत हो जाती है।

इसके अतिरिक्त राज्यसभा लोकसभा द्वारा पारित विधेयको पर पुनर्विचार करती है तथा बारीकी के साथ उनके दोषो को निकाल कर उन्हे अधिक पूर्ण बनाने

मे मदद करती है।

राज्यसभा मे प्रश्न पूछे जा सकते हैं तथा अन्य प्रस्तावो पर चर्चा हो सकती है इस प्रकार वह संसद के कार्य को पूरा करने मे बहुत सहयोग प्रदान करती है।

जहा तक दोनो सदनों के सम्बन्ध का प्रश्न है, सविधान ने इस बारे मे कोई भी बात अस्पष्ट नही रखी है। साधारण विधियों के बारे मे यदि दोनो सदन किसी एक विधेयक पर सहमत नही होते है तो वह विधेयक अन्तिम निर्णय के लिय दोनो सदनो के सयुक्त अधिवेशन के सामने पेश किया जायगा। सयुक्त अधिवेशन को राष्ट्रपति बुलायेगा और उसकी अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करेगा। कुछ लोगो का ऐसा मानना है कि राज्यसभा सदा ही संयुक्त अधिवेशन मे लोकसभा से हार जायेगी। इस विचार म दोष यह है कि यहा यह मान लिया गया है कि संयुक्त अधिवेशन में दोनों सदन अलग-अलग मत देंगे, ऐसा नही होता, वहा सदस्य सदन की हैसियत से नही व्यक्तिगत हैसियत म ससद के सदस्य के नाते मत देते हैं तथा यह आवश्यक नही है कि लोकसभा के समस्त सदस्य राज्यसभा का विरोध करें व राज्यसभा के समस्त सदस्य लोकसभा के विपक्ष मे मत दें। यह हो सकता है कि किसी समय लोकसभा में ५२२ मे से २५० सदस्य किसी विधेयक के विपक्ष मे हो तथा राज्यसभा के १३७ सदस्य भी उस विधेयक के विरोध म मत दे इस स्थिति म दोनो के कुल ७७२ सदस्यो मे से ३८७ सदस्य विधेयक के विरोध मे और ३८४ उसके पक्ष मे रह जायेंगे और विधेयक लोकसभा की स्वीकृति के बावजूद भी राज्यसभा की इच्छा के अनुसार अस्वीकृत हो जायगा। हालांकि कांग्रेस के विशाल बहुमत के कारण अभी ऐसी कोई सम्भावना नही है तथापि एक समय ऐसा आ सकता है जब शासक दल को सदन मे बहुत ही संकीर्ण बहुमत प्राप्त हो और उस स्थिति में राज्यसभा लोकसभा के समान ही शक्तियों का प्रयोग कर सके।

धन-विधेयक राज्यसभा मे आरम्भ नही किये जा सकते तथा वह लोकसभा के प्रस्तावो को चौदह दिन से अधिक अपने पास नही रोक सकती। लोकसभा इस बात के लिये बाध्य नही है कि वित्तीय मामलो मे वह राज्यसभा के संशोधनो को माने, यदि वह चाहे तो वैसा करने से मना कर सकती है तथा विधेयक अपने मूल रूप मे राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिये चला जायगा जो उस पर अविलम्ब हस्ताक्षर करेगा।

इस सम्बन्ध मे हमारे प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने ६ मई १९५३ को राज्यसभा में एक वक्तव्य देकर राज्यसभा की स्थिति का स्पष्टीकरण किया था, उन्होंने कहा, 'हमारे सविधान के अन्तर्गत ससद दो सदनों से मिलकर बनती है और उनमे मे प्रत्येक सदन संविधान द्वारा निर्धारित क्षेत्र के भीतर रह कर कार्य करता है। हमें अपने अधिकार उस सविधान से प्राप्त होते हैं। कभी-कभी हम ब्रिटेन की ससद के सदनों की प्रथाओं और परम्पराओं के प्रति निर्देश करते हैं और कभी-कभी

गलती से इन्हे उच्च सदन या निम्न सदन कहने लगते ह। मै इसे सही नही समझता हूँ, न ही ब्रिटिश ससद की प्रक्रिया की ओर निर्देश करने से लाभ होगा जो प्रारम्भ में राजा की सत्ता के विरुद्ध और बाद मे लार्ड सभा और लोकसभा के बीच सघर्ष के फलस्वरूप कही सदियो म जाकर बन सकी है हमारी ससद की पृष्ठभूमि म इस प्रकार का कोई इतिहास नही है भले ही अपना सविधान बनाने म हमने अन्य लोगो के अनुभवो से लाभ उठाया हो। इसलिय हमारे सविधान को ही हमारा मार्गदर्शक होना चाहिय। इसी कारण उसम राज्यसभा और लोकसभा के कार्यों का स्पष्टतया उल्लेख कर दिया गया है। इनम से किसी भी सभा को उच्च अथवा निम्न सदन के नाम से पुकारना ठीक नही है। सविधान की सीमाओ के अन्दर रहते हुये प्रत्येक सभा को अपनी प्रक्रिया का विनियमन करने का पूर्ण अधिकार है। कोई भी सभा अकेले ससद नही कहला सकती है। दोनो सभाये मिलकर ही भारत की ससद का निर्माण करती हैं। सविधान अथवा जनतान्त्रिक-ढाचे की सफलता के लिये इन दोनो सभाओ का पूर्ण सहयोग से काम करना बडा आवश्यक है। वास्तव मे य सभायें एक ही ढाचे के दो भाग हैं, यदि इनमे सहयोग तथा अनुग्रहण की भावना नही होगी ता सविधान के ठीक रूप से कार्य करने के मार्ग मे कई बाधायें उत्पन्न हो सकती हैं। सविधान मे वित्त सम्बन्धी कुछ मामलो को छोडकर जिन पर एकमात्र लोकसभा का अधिकार है, अन्य सब बातो म दोनो सदनो को बराबर माना गया है। कौन-कौन से विषय वित्त सम्बन्धी विषय ह इसका अन्तिम निर्णय अध्यक्ष करता है।" ‡

ससद मे समिति प्रथा

ससद के कार्यों की सूची देखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके काय साधारण प्रकार के नही हे। उनको पूरा करने के लिय विशेष ज्ञान और विचार-विमर्श की आवश्यक्ता हाती है। ५०० या २५० सदस्यो का सदन गम्भीर और वैज्ञानिक चिन्तन के लिय अनुपयुक्त होता है अत ससद के लिये यह अनिवार्य हो गया है कि वह सदनो की ओर से ऐसी समितियो की स्थापना करे जो किसी विषय पर विशेष अध्ययन करके उसके पक्ष और विपक्ष म अपने वैज्ञानिक और निष्पक्ष मत को सदनो के सामने रखें जिससे कि ससद को निर्णय लेने म सुविधा हो। ससद के सदन वस्तुत राजनीतिक चर्चा के लिय होते हैं। शासन, विधिनिर्माण और प्रशासन के टैक्निकल काम के लिय उसे अनिवार्यत समितियों की सहायता लेनी होती है।

परन्तु एक बात बहुत स्पष्ट है कि भारत म ब्रिटेन की भाति समितियो को अत्यधिक और अनावश्यक महत्व नही दिया गया है यहा समितियो को ससद की

‡ प्रथम ससद स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ५२ से उद्धृत।

अनुपूरक, सहायक और उसके कार्यों म साधन मात्र माना गया है। वे ससद मे सत्ता का प्रयोग नही करती। सयुक्तराज्य अमेरिका और फ्रास से भी हमारी समितिया भिन्न प्रकार की हैं, क्योकि वे कार्यपालिका पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही रखती।

ससद की समितियो को तीन श्रेणियो म वाटा जा सकता है—(१) तदर्थ समितिया या विशिष्ट समितिया, (२) स्थायी समितिया और (३) वित्तीय समितिया।

तदर्थ समितिया—य समितिया अस्थायी होती हैं तथा किसी विशेष कार्य के लिय सदन द्वारा नियुक्त की जाती है। इनम सबसे प्रमुख ससद के सामने आने वाले विधेयको के लिय नियुक्त की जाने वाली प्रवर समितिया (Select-Committees) हैं। उनके अतिरिक्त लाभपद मम्बन्धी समिति, रेलवे अभिसमय समिति, हिन्दी पर्याय-समिति आदि इसके दूसरे उदाहरण हैं।

स्थायी समितिया (Standing Committees)—स्थायी समितियो की स्थापना अध्यक्ष या सभापति के द्वारा स्थायी तौर पर की जाती है। य समितिया नियमित रूप से अपने कार्यों को पूरा करती हैं तथा ससद के सामने अपनी जाच और चर्चा का निष्कर्ष प्रस्तुत करती है। इन समितियो को कार्य प्रवृत्ति की दृष्टि से निम्न वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—

(अ) जाच करने वाली समितिया
याचिका समिति और विशेषाधिकार समिति

(ब) छानबीन करने वाली समितिया
सरकारी आश्वासनो सम्बन्धी समिति और
आधीनस्थ विधान सम्बन्धी समिति

(स) सभा के प्रशासन स सम्बन्धित समितिया
सभा की बैठको से अनुपस्थिति सम्बन्धी समिति,
कार्यमन्त्रणा समिति
गैरसरकारी सदस्यो के विधेयको और सकल्पो सम्बन्धी समिति
नियम समिति

(द) ससद के सदस्यो की सुविधाओ का प्रबन्ध करने वाली समितिया
सामान्य प्रयोजन समिति,
आवास समिति
पुस्तकालय समिति
ससद सदस्यो के वेतन तथा भत्तो सम्बन्धी सयुक्त समिति।

वित्तीय समितिया (Finance Committees)—सामान्य वित्तीय नियन्त्रण के लिये ससद ने दो समितियो का निर्माण किया है। इनम से एक समिति को प्राक्कलन समिति (Estimates Committee) और दूसरी को लोकलेखा समिति

(Public Accounts Committee) कहते हैं।

प्राक्कलन समिति का निर्वाचन सम्पूर्णत लोकसभा द्वारा किया जाता है। इसके सभापति को अध्यक्ष द्वारा समिति के सदस्यो मे से मनोनीत किया जाता है। यह समिति लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है।

लोकलेखा समिति म दोनो सदनो के सदस्य होते है, किन्तु अधिकाश सदस्य लोकसभा से ही लिय जाते हैं। भारत का नियन्त्रक महालेखा परीक्षक ससद के सामने जो प्रतिवेदन पेश करता है उसम सरकारी विभागो की जो कोई आलोचना की जाती है लोकलेखा समिति उन आलोचनाओ की जाच करती है तथा उस बारे म अपनी उपपत्तिया व सिफारिशें सदन के सामने प्रस्तुत करती है। वह अनाधिकृत व्यय आदि के बारे म भी जाच करती है और ससद को वित्तीय-प्रशासन की व्यवस्था म सहायता देती है।

लोकसभा और राज्यसभा दोनो समितियो का प्रयोग करती हैं तथा दोनो की समितिया लगभग एक सी ही होती हैं। कुछ समितिया दोनो की सम्मिलित होती हैं, जैसे लाभपद सम्बन्धी समिति म दोनो सदनों के सदस्य लिय गय थे। समितिया ससद के कार्य को सरल बना देती हैं तथा उनके भीतर विशेष ज्ञानयुक्त राजनीतिज्ञो का प्रशिक्षण होता है जो अधिक निकटता से शासन की समस्याओ का गहरा अध्ययन करते हैं, इस प्रकार समितियो के द्वारा ससद के भीतर नेतृत्व की दूसरी पंक्ति तैयार होती है।

ससद मे विधि-निर्माण की प्रक्रिया

ससद का सबसे प्रमुख काय विधियो (कानूनो) का बनाना है। इस कार्य को हम दो भागो मे विभाजित करेंगे—(१) साधारण विधियो का निर्माण और (२) वित्तीय विधियो का निर्माण।

इस सम्बन्ध मे कुछ भी लिखने से पहले हम यह उचित समझते हैं कि हम यहा जिन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग कर रहे हं उनका अर्थ आरम्भ मे दे दिया जाय।

विधि—विधि के लिय उर्दू म कानून और अग्रेजी मे लॉ शब्दो का प्रयोग होता है। ये राज्य के वे आदेश हैं जिनका पालन करना प्रत्यक नागरिक, सस्था अथवा राज्य की सीमा और अधिकारक्षेत्र म रहने या काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है, तथा वैसा न करने पर दण्ड की व्यवस्था राज्य की ओर से होती है। विधिया अनेक प्रकार की होती है, परन्तु यहा हमारा सम्बन्ध दो प्रकार की विधियो से है—अधिनियम और अध्यादेश।

अधिनियम—अधिनियम को अग्रेजी म ऐक्ट कहते हैं। यह वह राज्य-नियम या विधि है जो ससद द्वारा पारित की गई है तथा जिस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो गय हैं।

पारित करना या पारण—अंग्रेजी में जिसे पास करना कहते हैं उसे हम अपनी राष्ट्रभाषा में पारित करना या पारण कहते हैं। इसका अर्थ है स्वीकार किया जाना, संविधान के अनुसार जितने मतों की आवश्यकता हो उतने मत किसी प्रस्ताव के पक्ष में आ जाने पर वह पारित माना जाता है।

अध्यादेश—जब संसद का अधिवेशन न हो रहा हो उस समय यदि कोई ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है जिसमें किसी विधि का राज्य की ओर से प्रचारित किया जाना आवश्यक हो जाता है तो वैसी स्थिति में राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह अपनी ओर से आदेश जारी कर दे। इस प्रकार के आदेश को अध्यादेश या आर्डिनेंस कहते हैं। ये न्यायालयों द्वारा विधि के समान ही लागू किये जाते हैं।

विधेयक—संसद के किसी सदन में जब कोई प्रस्ताव इसलिये रखा जाता है कि संसद उसे पारित करके राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजे, तो उस प्रस्ताव को विधेयक कहते हैं। विधेयक एक ऐसा प्रारूप (Draft) होता है जो संसद में विधि के रूप में मान्य करने के लिये रखा जाता है। इसे अंग्रेजी में 'बिल' कहते हैं।

विधेयक कई प्रकार के होते हैं, इनके दो वर्गीकरण बहुत प्रमुख हैं—(१) साधारण व धन विधेयक, (२) सरकारी व गैरसरकारी विधेयक। साधारण विधेयक वे विधेयक हैं जिनका सम्बन्ध किसी भी प्रकार धन के व्यय या कर लगाने से नहीं होता। धन विधेयक धन के व्यय, कर के संग्रह या अन्य लेन-देन से संबंधित होते हैं।

सरकारी विधेयक उन विधेयकों को कहते हैं जो मंत्रिपरिषद की ओर से संसद के सामने रखे जाते हैं तथा गैरसरकारी विधेयक सदस्यों द्वारा निजी तौर पर पेश किये जाते हैं।

प्रक्रम—प्रक्रम शब्द के लिये अंग्रेजी में स्टेज शब्द प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ है स्थिति या दशा। संसद में जब विधेयक पेश किये जाते हैं तो उन्हें अधिनियम बनने से पहले कई स्थितियों में से होकर गुजरना पड़ता है उन स्थितियों को ही प्रक्रम कहते हैं।

पुरःस्थापन—सदन में विधेयक पेश करने को पुरःस्थापन करना कहते हैं। इसे अंग्रेजी में इन्ट्रोड्यूस करना कहते हैं।

प्रवर समिति—समितियों के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि विधेयकों पर विचार करने के लिये प्रवर समितियाँ होती हैं, इन्हें अंग्रेजी में सेलेक्ट कमिटीज कहते हैं, इनका निर्माण विधेयकों पर गहरा अध्ययन और चिंतन करने के लिये होता है, ये अस्थायी होती हैं।

वाचन—विधेयक के विविध प्रक्रमों में से एक महत्वपूर्ण प्रक्रम वाचन भी है। इसे अंग्रेजी में रीडिंग कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है पढ़ा जाना, परन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि उसमें विधेयक को पढ़ा ही जाय। वाचन में चर्चा के लिये अवसर होता है।

साधारण विधियों का संसद द्वारा निर्माण

साधारण विधेयक संसद की किसी भी सभा मे पुरःस्थापित किये जा सकते हैं। किसी भी सभा मे उसके सदस्य ही विधेयक पुरःस्थापित कर सकते हैं, परन्तु मन्त्रिपरिषद के सदस्यो को यह छूट दी गई है कि वह चाहे जिस सभा मे विधेयक पुरःस्थापित कर सकते हैं, वे अपना मत उसी सदन म देते हैं जिसके वे सदस्य होते हैं।

गैरसरकारी सदस्यो के विधेयको के लिये यह आवश्यक माना गया है कि वे सूचना देने के एक मास बाद सभा मे रखे जा सकेंगे, परन्तु यदि अध्यक्ष को यह विश्वास हो जाय कि विधेयक का सम्बन्ध किसी ऐसे प्रश्न से है जो तात्कालिक महत्व का है तो वह इस अवधि को घटा सकता है। गैरसरकारी सदस्यो को विधेयक की परीक्षा और छानबीन करने तथा उसे वैधानिक रूप देने मे सभा का सचिवालय सहायता करता है।

विधेयक को अनेक प्रक्रमो मे से होकर गुजरना पडता है, इनमे सबसे पहले विधेयक का पुरःस्थापन होता है। जो सदस्य या मन्त्री सभा मे कोई विधेयक रखना चाहता है उसके लिय वह सभा की अनुमति मागता है। सभा की अनुमति मिलने पर वह विधेयक पुरःस्थापित किया जाता है। कई बार अध्यक्ष या सभापति विधेयक को पहले से ही राजपत्र (गजट) मे प्रकाशित करा देता है उस स्थिति में बिना सदन की अनुमति मागे ही उसे पुरःस्थापित कर दिया जाता है। यदि सभा की अनुमति प्राप्त करते समय कोई सदस्य उसका विरोध करता है तो अध्यक्ष विधेयक के प्रस्तुतकर्ता और उसके विरोधी को एक संक्षिप्त वक्तव्य देने के लिये कहता है और उसके बाद बिना किसी वाद विवाद के उसे सभा के सामने मतदान के लिये रख सकता है। यह विधेयक का प्रथम-वाचन कहलाता है।

द्वितीय वाचन को दो प्रक्रमो मे बाटा गया है। पहले प्रक्रम मे सभा स्वय विधेयक के सिद्धान्त पर विचार करती है, तत्पश्चात् उसे प्रवर समिति के पास विचार के लिय भेजा जा सकता है। प्रवर समिति उस पर खडश विचार करती है तथा उस पर अपना प्रतिवेदन सभा के सामने रख देती है। समिति के प्रतिवेदन पर केवल समिति का अध्यक्ष हस्ताक्षर करता है।

प्रवर समिति का प्रतिवेदन सभा के सामने आने पर द्वितीय वाचन का दूसरा प्रक्रम आरम्भ होता है। सभा यह भी कर सकती है कि विधेयक को प्रवर-समिति को सौंपे बिना ही उस पर विस्तृत विचार आरम्भ कर दे। इस प्रक्रम मे विधेयक पर खडवार चर्चा होती है। इस प्रक्रम मे विधेयक मे संशोधन प्रस्तावित किये जा सकते हैं तथा यदि वे बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिय जायें तो उन्हे विधेयक मे सम्मिलित कर लिया जाता है।

द्वितीय वाचन के उपरान्त तृतीय वाचन का प्रक्रम आता है, इसमें सभा के सदस्य इस प्रश्न पर मतदान करते हैं कि विधेयक को सभा द्वारा पारित किया जाये

या नही। यदि विधेयक के पक्ष में सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो जाता है तो विधेयक सभा द्वारा पारित हो जाता है तथा सभा का अध्यक्ष या सभापति उसे दूसरी सभा के अध्यक्ष या सभापति के पास अपने हस्ताक्षर के साथ दूसरी सभा द्वारा विचार किये जाने के लिये भेज देता है। दूसरी सभा में भी विधेयक इन्ही तीन वाचनो के प्रक्रमो मे से गुजरता है तथा यदि दोनो सदन विधेयक के एक रूप पर सहमत हो जायें तो विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिये भेज दिया जाता है। राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो जाने पर विधेयक अधिनियम बन जाता है तथा विधि का रूप ले लेता है, परन्तु यदि राष्ट्रपति चाहे तो विधेयक पर हस्ताक्षर किये बिना ही अपने सन्देश के साथ विधेयक को दोनो सभाओं के अलग-अलग पुनर्विचार के लिये भेज सकता है, तब दोनो सभायें राष्ट्रपति के सुझावो पर विचार करेंगी तथा वे इस मामले में स्वतन्त्र होगी कि वे राष्ट्रपति के सुझावों को माने या न मानें। इस बार दोनो सभाओं की सहमति होने पर जब विधेयक राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है तो चाहे उसके सुझाव स्वीकार किय गये हो या नही, वह उस पर हस्ताक्षर करता है और उसे लागू कर दिया जाता है।

एक सदन विधेयक को पारित करके दूसरे सदन मे भेजता है तब दूसरा सदन चाहे तो उसे उसी रूप मे स्वीकार कर सकता है, और यदि वह आवश्यक समझे तो उसमे कुछ सशोधन कर सकता है, सशोधित विधेयक पुन पहली सभा मे भेजा जाता है जो उसे स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है, यदि वह दूसरे सदन के सशोधन को अस्वीकार कर देती है तो विधेयक को फिर से उसके पास लौटाया जाता है और यदि दूसरा सदन अपने संशोधन पर डटा रहे तो यह मान लिया जाता है कि दोनो सदनो मे विरोध उत्पन्न हो गया है और उस विरोध की सूचना राष्ट्रपति को दे दी जाती है। यदि दूसरा सदन पहले सदन द्वारा भेज गय विधेयक को एकदम अस्वीकार कर दे या छह मास तक उसे अपनी मेज पर पडा रहने दे तथा उस अवधि मे उस पर कोई निर्णय न ले तो भी यह मान लिया जाता है कि दोनो सभाओं के बीच विरोध पैदा हो गया है। यदि इस छह मास के पहले ही लोकसभा विघटित हो जाती है तो विधेयक राज्यसभा द्वारा अपने पास बिना निर्णय के रोके रखने पर रद्द हो जाता है।

दोनो सभाओं के असहमत होने पर राष्ट्रपति एक तारीख निश्चित करके दोनो सभाओं का सयुक्त अधिवेशन बुलायगा जिसकी अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करेगा। सयुक्त अधिवेशन में दोनो सभाओं के दशमाश सदस्य उपस्थित हो तो अधिवेशन की गणपूर्ति (कोरम) मान ली जायगी। निर्णय उपस्थित और मत देने वाले सदस्यो के बहुमत से होगा। सयुक्त अधिवेशन के सामने आने पर विधेयक में कोई ऐसे सशोधन नही रखे जा सकते जो पहले प्रस्तावित सशोधनो से सम्बन्धित न हो, इस बारे मे अध्यक्ष का निर्णय अतिम माना जायेगा।

धन विधेयकों के पारण की प्रक्रिया

जब कोई विधेयक किसी सभा मे रखा जाता है तो लोकसभा के अध्यक्ष से यह पूछा जाता है कि वह विधेयक धन विधेयक तो नही है, यदि वह उसे धन विधेयक घोषित कर देता है तो उस विधेयक को केवल लोकसभा मे ही पुरःस्थापित किया जा सकेगा। अध्यक्ष इस मामले में किसी से परामर्श करने के लिय बाध्य नही है, वह अपने विवेक से ही यह निर्णय करता है कि कोई विधेयक धन सम्बन्धी है या नही, निश्चय ही उसे इस कार्य म उसका सचिवालय मदद करता है वह चाहे तो वित्त-मन्त्रालय से भी सलाह ले सकता है।

धन विधेयको को अध्यक्ष सबसे पहले राष्ट्रपति के पास भेज देता है। यदि राष्ट्रपति उसे लोकसभा मे रखने की अनुमति दे देता है तो उस पर आगे कार्यवाही आरम्भ होगी अन्यथा नही। सविधान म कहा गया है कि प्रत्यक वित्तीय वर्ष की समाप्ति से पूर्व राष्ट्रपति लोकसभा के सामने आय-व्ययक (बजट) रखायेगा। आय-व्ययक भी धन विधेयक होता है।

धन विधेयको के बारे मे राज्यसभा के अधिकार प्राय नगण्य हैं वह ऐसे विधेयको को केवल १४ दिन तक रोक सकती है, तथा इस अवधि के भीतर वह विधेयक को अपनी सिफारिश के साथ लोकसभा के पास लौटा देती है। लोकसभा को अधिकार है कि वह चाहे तो उसकी सिफारशो को स्वीकार करे या न करे : वह जिस रूप में भी चाहे धन-विधेयक को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिये भेज देती है। राष्ट्रपति धन विधेयको को ससद के पुनर्विचार के लिय नही लौटा सकता, वह लोकसभा द्वारा भेजे गये धन विधेयक पर तत्काल हस्ताक्षर करके उसे अधिनियमित करता है, ऐसा न करना सविधान का अतिक्रमण माना जायगा।

धन विधेयक दो प्रकार के होते है १ आय व्यय के प्रस्ताव, २ अन्य धन-विधेयक।

आय-व्यय के प्रस्ताव के दो खण्ड होते हैं—वित्त विधेयक और विनियोग विधेयक।

अन्य धन–विधेयको में निम्न लिखित प्रमुख है—

१ किसी कर (tax) का आरोपण (imposition) उत्सादन (abolition), परिहार (remission), परिवर्तन (alteration) या विनियमन (regulation),

२ भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने अथवा अन्य प्रकार के वित्तीय-दायित्वों (Financial-Respousibilities) से सम्बन्धित विधि का सशोधन करने के नियमो का निर्माण।

३ भारत की सचित निधि (Consolidated Fund) अथवा आकस्मिकता-निधि (Contingency Fund) की रक्षा तथा ऐसी किसी निधि म से धन निकालना या उसमे धन डालना।

४. भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग।

५ किसी व्यय को भारत की सचित निधि पर भारित (Charge) घोषित करना अथवा ऐसी किसी राशि को बढाना ।

६. भारत की सचित निधि या भारत के लोकलेखे (Public Account) मे कोई धन प्राप्त करना, ऐसे धन की निकासी, व रक्षा करना, अथवा सघ या राज्यो के लेखो (Acconnts) का लेखा-परीक्षण (Audit) ।

आय-व्ययक (बजट) के पारण की विधि

सविधान के पाचव खण्ड के अनुच्छेद ११२ म कहा गया कि राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के लिये अनुमानित आय और व्यय का ब्योरा ससद के सामने रखवायेगा। वास्तव मे आय-व्ययक तैयार करने का काम वित्त विभाग का है । वह उसको तैयार करके मन्त्रिपरिषद के अन्तरग-मण्डल के सामन रखता है और जब उस पर मन्त्रिपरिषद की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो उसे लोकसभा मे प्रस्तुत कर दिया जाता है ।

सविधान मे कहा गया है कि आय-व्ययक के दो भाग होगे विनियोग-विधेयक (Appropriation Bill) और वित्त-विधेयक (Finance Bill) ।

विनियोग विधेयक—व्यय सम्बन्धी प्रस्तावो को विनियोग विधेयक कहा जाता है । विनियोग विधेयक के दो भाग होते हं । इनम से एक भाग भारत की सचित निधि (Consolidated Fund of India) से सम्बन्धित होता है और दूसरा राजस्व-व्यय कहलाता है ।

भारत की सचित निधि मे सम्बन्धित व्यय दो प्रकार के होते हैं— (१) वे राशिया जिन्हे सविधान ने भारत की सचित निधि पर भारित (Charge) घोषित किया है तथा (२) वे राशिया जो दूसरे खर्चे के लिय भारत की सचित निधि से मागी जायें ।

जहा तक भारत की सचित निधि पर पहले से भारित राशियो का प्रश्न है, उनके बारे में संसद को कोई परिवर्तन करने का अधिकार नही है, वह उनके बारे म मतदान भी नही कर सकती । इतना अवश्य है कि वह उन पर चर्चा कर सकती है । किसी वर्ष जो नई राशिया सचित निधि म से मागी जाती हैं उनके बारे म ससद को अधिकार है कि वह उन्ह स्वीकार करे या न करे ।

ससद द्वारा स्वीकृत सचित निधि पर भारित राशियों की मात्रा उससे अधिक नहीं हो सकती जितनी कि वह ससद से मागी गई है । उनमे प्रधानत निम्न राशिया होती हैं—१ राष्ट्रपति का वेतन और उसके भत्ते व उसके पद से सम्बन्धित अन्य व्यय । २ राज्यसभा के सभापति और उपसभापति तथा लोकसभा के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते । ३ भारत सरकार जिन ऋणों के लिय उत्तरदायी है उनका भुगतान, इसम ऋण का ब्याज नय ऋण लेने का व्यय तथा उनके भुगतान का व्यय आदि भी सम्मिलित है । ४. सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतन,

भत्ते और निवृत्ति-वेतन (Pensions), स्वाधीनता के पूर्व सघीय-न्यायालय मे काम करने वाले न्यायाधीशो का निवृत्ति-वेतन, तथा भारत के समस्त उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो का निवृत्ति-वेतन । ५ भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के तथा उसके विभाग के वेतन, भत्ते व निवृत्ति वेतन सम्बन्धी समस्त प्रशासकीय व्यय । ६ किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के निर्णय के आधार पर भारत सरकार द्वारा चुकाई जाने वाली राशिया । ७ इनके अतिरिक्त अन्य कोई व्यय जिसे ससद या सविधान सचित निधि पर भारित घोषित कर दे ।

ससद ऐसा कोई सशोधन प्रस्तावित नही कर सकती जिसके परिणामस्वरूप भारत की सचित निधि पर भारित राशि म कोई परिवर्तन होता हो । लोकसभा का अध्यक्ष यह निणय करेगा कि इस अनुच्छेद के अ तर्गत कौन से सशोधन सभा मे पेश करने की अनुमति नही दी जा सकती । विनियोग-अधिनियम के विधिवत् पारित हुए विना सचित निधि मे से धन नही निकाला जा सकता ।

विनियोग विधेयक को लोकसभा म इस प्रकार पेश किया जाता है कि प्रत्येक विभाग के लिये मागी गई धन की राशि स्पष्टरूप से सभा के सामने आ जाये । सभा के सदस्यो को अधिकार है कि वे व्यय की मदो में कोई सशोधन पेश कर सके या उनमें कटौती के प्रस्ताव रख सकें । कटौती के प्रस्ताव सामान्यतया तीन प्रकार के होते हैं—नीति विरोधी कटौती, मितव्ययता कटौती और प्रतीक कटौती । नीति विरोधी कटौती म अत्यत अल्प राशि जैसे, कुल बजट म या किसी विशेष विभाग के लिये मागी गई राशि में एक रुपये की कटौती पेश की जाती है । ऐसी कटौती का प्रस्ताव रखते समय प्रस्तावक को स्पष्ट रूप से यह बताना होता है कि वह सरकार की किस नीति या किन नीतियो से असतुष्ट है । वह जिन नीतियो का उल्लेख अपने प्रस्ताव में करता है उनके बारे म ही विवाद करने का अधिकार उसे दिया जाता है ।

मितव्ययता कटौती के प्रस्ताव मे यह बताया जाता है कि देश की आर्थिक स्थिति के प्रसग म अमुक व्यय की राशि मे कमी कर दी जाये यह प्रस्ताव भी रखा जा सकता है कि अमुक व्यय की मद को एकदम बजट मे से निकाल ही दिया जाय और इस प्रकार कुल व्यय की राशि को घटा दिया जाय । ससद के सदस्यो को यह अधिकार नही है कि वे विनियोग विधेयक म प्रस्तावित धन की मात्रा म बढोतरी करने का प्रस्ताव रख सकें । सरकार की मागें घटाई जा सकती हैं, वढाई नही जा सकती ।

प्रतीक कटौती का प्रस्ताव तब रखा जाता है जब कोई सदस्य सरकार की नीति के विरुद्ध कोई शिकायत पेश करना चाहता है । इस प्रकार की कटौती मे सौ रुपये की कटौती का प्रस्ताव रखा जाता है तथा यह बताया जाता है कि प्रस्तावक सरकार की किस नीति की शिकायत करना चाहता है ।

कटौती के प्रस्ताव तभी स्वीकार किये जाते हैं जबकि अध्यक्ष उस की अनुमति दे । अध्यक्ष किन परिस्थितियो म कटौती प्रस्ताव रखने की अनुमति देगा

इस बारे में संसद ने अपनी प्रक्रिया के नियमो मे विस्तार से वर्णन किया है।

विनियोग विधेयक को भी साधारण विधेयको की भांति तीन वाचनो में से होकर गुजरना होता है, उसे प्रवर समिति के पास नही भेजा जाता। सारा सदन ही उस पर विचार करता है। उसके प्रथम वाचन में कोई वाद-विवाद नही होता तथा दूसरे वाचन के समय साधारण प्रकार की चर्चा होती है। तीसरे वाचन के समय उसमें सशोधन रखे जाते हैं तथा विस्तृत वाद-विवाद होता है। प्रधान-मन्त्री की सलाह से अध्यक्ष यह तय करता है कि वाद-विवाद के लिये कितना समय दिया जा सकता है।

वित्त-विधेयक—वित्त-विधेयक का सम्बन्ध आय के प्रस्तावो से होता है। सरकार अगले वित्तीय वर्ष में किये जाने वाले व्यय के लिये धन प्राप्त करने के हेतु आय के जो साधन तलाश करती है उनका वर्णन वित्त-विधेयक में किया जाता है। इसमे करो के प्रस्ताव होते है। यह जिस दिन सदन में पेश किया जाता है उसी दिन से इसमे प्रस्तावित कर लागू कर दिये जाते है। वास्तव मे बजट का यह अंश बहुत ही गुप्त होता है, यदि किसी भी प्रकार वित्त-विधेयक के प्रस्ताव लोकसभा के सामने उसके पेश होने से पहले ही प्रकाशित हो जाते हैं तो यह वित्त-मन्त्री की अयोग्यता मानी जाती है तथा वैसी स्थिति में उसे त्यागपत्र तुरन्त देना पडता है। ब्रिटेन मे ऐसे अनेक उदाहरण हैं, हमारे यहा भी श्री षणमुखम चेट्टी को इसी कारण वित्त-मन्त्री पद से त्यागपत्र देना पडा था। इसका कारण यह है कि यदि कर के प्रस्ताव उनके विधिवत् लागू होने से पहले ही प्रगट हो जाते हैं तो व्यापारी या दूसरे लोग उन करो से बचने के रास्ते निकाल सकते है।

वित्त-विधेयक पर विचार करने के लिये सदन खोज-बीन सदन के रूप में समवेत (assemble) होता है तथा संसद को यह अधिकार नही है कि वह कर के किसी प्रस्ताव मे कोई वृद्धि कर सके या किसी नये कर का प्रस्ताव रख सके। वह सरकार द्वारा प्रस्तावित करो को स्वीकार कर सकती है या उनमे सशोधन द्वारा कमी कर सकती है, वह उन्हें अस्वीकार भी कर सकती है।

यदि संसद कोई ऐसा सशोधन स्वीकार कर लेती है जो विनियोग विधेयक या वित्त विधेयक के भीतर ऐसे परिवर्तन करता है जो मन्त्रिपरिषद को स्वीकार न हो तो इसका परिणाम यह होगा कि मन्त्रिपरिषद त्यागपत्र दे देगी और उसके स्थान पर नयी मन्त्रिपरिषद का निर्माण किया जायगा। साधारण तौर पर तब तक ऐसा नही होता जब तक कि संसद के भीतर किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत होता है। यदि सभा में किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत न हो तथा कई दलों की मिलीजुली मन्त्रिपरिषद हो तो यह सम्भव है कि सम्मिलित दलो में नीति पर मतभेद हो जाय और मन्त्रिपरिषद भंग हो जाये।

लोकसभा द्वारा पारित कर दिये जाने पर बजट सम्बन्धी प्रस्ताव राज्यसभा के पास भेज दिये जाते हैं जो उन्हें अपनी स्वीकृति या सिफारिशो के साथ लोकसभा

के पास १४ दिन के भीतर लौटा देती है। यदि इस अवधि में वह उन्हे न लौटाये तो यह मान लिया जाता है कि प्रस्ताव दोनो सदनो द्वारा पारित कर दिये गये हैं। यदि लोकसभा को राज्यसभा की कोई सिफारिशें मान्य होती है तो वह उन्हे स्वीकार करके विधेयको में संशोधन कर लेती है अन्यथा उन्हे अस्वीकार कर देती है। लोक-सभा द्वारा अन्तिम निर्णय किये जाने पर अध्यक्ष विधेयकों को अपने हस्ताक्षर से प्रमाणित करके राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिये भेज देता है। राष्ट्रपति इन विधेयकों को पुर्नविचार के लिये नही लौटा सकता, वह उन पर तुरन्त हस्ताक्षर कर देता है तथा इस प्रकार वे विधेयक अधिनियम बन जाते है और विधि का स्वरूप ले लेते हैं।

वित्तमन्त्री का भाषण—बजट को लोकसभा के विचार के लिये पेश करते समय वित्तमन्त्री एक भाषण देता है। यह बहुत महत्वपूर्ण भाषण होता है, इसमे वह सरकार की नीतियों का उल्लेख करता है तथा यह बताता है कि पिछले वर्ष में संसद द्वारा दी गई धन राशि को किस प्रकार व्यय किया गया और प्रस्तुत वर्ष मे सरकार किन किन नई योजनाओ को हाथ मे लेगी।

पूरक आय व्ययक—कई बार ऐसा होता है कि सरकार वर्ष भर के व्यय के बारे में जो अनुमान लगाती है वह सही नही निकलता तथा शासन के संचालन के लिये अधिक धन की आवश्यकता होती है, ऐसी स्थिति में सरकार संसद के सामने पूरक बजट पेश करती है तथा लोकसभा उसे विधिवत स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। पूरक बजट भी राष्ट्रपति की अनुमति मिलने पर ही पेश किया जा सकता है।

विविध प्रकार के अनुदान

संसद सरकार का काम चलाने के लिये समय-समय पर विविध प्रकार के अनुदान (Grant) स्वीकृत करती है, इनमे प्रमुख ये हैं—लेखानुदान, प्रत्ययानुदान तथा अपवादानुदान।

लेखानुदान (Votes on Account)—भारत सरकार का वित्त वर्ष १ अप्रैल को आरम्भ होता है तथा ३१ मार्च को समाप्त हो जाता है। यह आवश्यक नही है कि संसद वार्षिक बजट को अनिवार्य रूप से ३१ मार्च तक पारित कर ही दे। ऐसी स्थिति में यदि सरकार के संचालन के लिये धन न दिया जाये तो वह १ अप्रैल को बन्द हो जायेगी। इस स्थिति को टालने के लिये संविधान ने यह व्यवस्था की है कि विनियोग विधेयक पारित होने तक सरकार का व्यय चलाने के लिये अनुमानित व्यय के आधार पर लोकसभा कुछ पेशगी राशि स्वीकार कर सकती है। इस अनुदान को लेखानुदान कहते हैं।

प्रत्ययानुदान (Votes on Credit)—कई ऐसे अप्रत्याशित व्यय भारत सरकार के सामने आ जाते हैं जिनकी प्रकृति बहुत अनिश्चित होती है या जो इस प्रकार के गम्भीर होते हैं कि उनका उल्लेख ब्योरे के साथ बजट में नही किया जा

सकता। लोकसभा को सत्ता दी गई है कि वह ऐसे व्यय के लिये मन्त्रिपरिषद के प्रत्यय अर्थात् विश्वास के आधार पर आवश्यक राशि स्वीकृत कर दे, इसी कारण इसे प्रत्ययानुदान कहा गया है।

अपवादानुदान (Exceptional Grants)—किसी वित्तीय वर्ष मे चालू सेवाओं के अतिरिक्त किसी सेवा के लिये अपवाद के तौर पर सरकार को लोकसभा कुछ धन दे सकती है, इसे अपवादानुदान कहा जाता है।

इन अनुदानो के अतिरिक्त सविधान ने राष्ट्रपति को यह शक्ति दी है कि वह आकस्मिकता-निधि (Contingency-Fund) म से किसी अनुदान की स्वीकृति दे दे। ऐसे अनुदानो पर बाद मे लोकसभा की स्वीकृति लेनी होती है।

लोकसभा को यह सत्ता दी गई है कि वह इन अनुदानो के लिये स्वीकार की गई धनराशि भारत की सचित निधि मे से निकालने की स्वीकृति दे सकती है।

न्यायिक समीक्षा
(Judicial-Review)

भारत का सविधान लिखित है तथा भारत की प्रभुता वैधानिक दृष्टि से सविधान में निहित है। सविधान ने अपनी प्रभुता की रक्षा के लिय सर्वोच्च-न्यायालय को अपना प्रहरी नियुक्त किया है। सविधान ने सर्वोच्च-न्यायालय को यह अधिकार दिया है कि वह ससद द्वारा पारित विधियों और राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गय अध्यादेशो तथा राज्य-विधानमण्डलो द्वारा पारित विधियो व राज्यपालो द्वारा जारी किय गये अध्यादेशो की जाच कर सके तथा इस वैधानिक जाच म यह पाया जाये कि इनम से किसी ने सविधान की किसी धारा का उल्लघन किया है तो वह ऐसी विधियो और ऐसे अध्यादेशो को रद्द घोषित कर दे। न्यायालय के इस अधिकार को न्यायिक समीक्षा का अधिकार कहते है।

न्यायिक समीक्षा ने संसद के ऊपर बहुत बडा प्रतिबन्ध लगा दिया है, इसके कई कारण हैं। सबसे पहली बात तो यह कि लोकतन्त्रात्मक शासन म शक्तियों का इस प्रकार पृथक्करण करना आवश्यक होता है कि शासन के तीनो अगो—कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका म से कोई भी स्वेच्छाधारी न बन सके। न्यायिक समीक्षा ने ससद को निरकुश बनने से रोका है। दूसरा कारण यह है कि सविधान ने सघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की है, यदि ससद पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाता तो यह सम्भव नही था कि राज्यो की स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सकती। तीसरा कारण यह है कि सविधान न भारत के नागरिको को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान किये हैं उनमें एक अधिकार यह भी है कि यदि उनके अधिकारो का अपहरण किया जाये तो वे सर्वोच्च-न्यायालय में न्याय की माग कर सकते है, केवल आपातकाल में ही उन अधिकारो को निलम्बित किया जा सकता है। निलम्बन और छीनने मे बहुत अन्तर है। निलम्बन का अर्थ है कुछ समय के लिये

रोक देना यह छीनना नही होता।

इस प्रकार ससद के हाथो से संविधान की रक्षा के लिये न्यायिक समीक्षा की योजना को स्थान दिया गया है। इस अधिकार का प्रयोग भारत का सर्वोच्च-न्यायालय सघ और राज्यो के विधानमण्डलो द्वारा बनाई गई विधियों को रद्द करने के लिये कर चुका है और यह सिद्ध हो चुका है कि देश के भीतर लोकतन्त्र की रक्षा और नागरिको के भीतर सुरक्षा का भाव बनाये रखने के लिय इसकी बहुत आवश्यकता है।
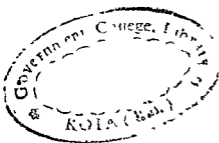
अध्याय १७

राष्ट्रीय न्यायपालिका

(National-Judiciary)

(सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय व निम्न न्यायालय)

"सर्वोच्च-न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर सब न्यायालयो के लिये बन्धनकारी होगी।"

—अनु० १४४, भारतीय सविधान।

इस अध्याय के शीर्षक मे हमने राष्ट्रीय न्यायपालिका शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द के महत्व को समझ लेना हमारे लिये आवश्यक होगा। भारत के सविधान ने यद्यपि देश के भीतर एक सघात्मक-शासन की व्यवस्था की है तथापि न्यायपालिका की शक्तियो को संघ और राज्यो के बीच वितरित नही किया गया है। संघ और राज्यों मे कार्यपालिका और विधायिका अलग-अलग बनाई गई हैं और वे अपनी सत्ता सीधे संविधान से प्राप्त करती हैं अर्थात् वे एक दूसरे के नियन्त्रण से सामान्यतया मुक्त हैं, परन्तु न्याय-व्यवस्था के क्षेत्र में एक इकहरी न्यायपालिका का निर्माण किया गया है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि अलग-अलग राज्यो म अलग-अलग उच्च-न्यायालय होते हैं तथापि वे स्वतन्त्र नही होते वे सब एक राष्ट्रीय न्यायपालिका के अग हैं और भारत के सर्वोच्च-न्यायालय के आधीन होते हैं।

हमारे सविधान ने सर्वोच्च-न्यायालय को सघीय न्यायालय नही कहा है,क्योकि वह वास्तव म केवल संघीय न्यायालय ही नही है वरन् राष्ट्र का सर्वोच्च न्यायालय है। इसमें कोई सदेह नही है कि वह सघीय न्यायालय के कार्यों को भी पूरा करता है। सयुक्तराज्य अमेरिका मे सघीय न्यायालय को सर्वोच्च न्यायालय कहा जाता है और राज्यों के न्यायालयों को भी, जबकि वास्तव में वहां सर्वोच्च-न्यायालय केवल संघीय-न्यायालय का ही काम करता है, राज्यों के न्यायालयों के ऊपर उसे कोई शक्ति प्राप्त नही है, वह उनके निर्णय के विरुद्ध अपीलें नही सुन सकता तथा उनके निर्णयो को तब तक रद्द नही कर सकता जब तक कि वे सविधान के विरुद्ध न हों। प्रारम्भ मे ही यह अन्तर ध्यान म रखकर चलने से भारत के सर्वोच्च न्यायालय के स्वरूप को समझने मे सुविधा रहेगी।

राष्ट्रीय न्यायपालिका का सगठन जिस प्रकार किया गया है उसमें सर्वोच्च-न्यायालय शिखर पर है, उसके नीचे प्रत्येक राज्य मे एक उच्च-न्यायालय है। उच्च-न्यायालयों के नीचे तीन प्रकार के न्यायालय होते हैं जिन्हे व्यवहार न्यायालय (Civil

Courts), दण्ड-न्यायालय (Criminal Courts), और राजस्व न्यायालय (Revenue Courts) कहा जाता है। इनमे से पहले दोनो जिला स्तर पर बनाये जाते है तथा राजस्व न्यायालय के तौर पर प्रत्येक राज्य मे एक राजस्व-निगम या रेवेन्यू बोर्ड होता है, उसके नीचे कमिश्नर का राजस्व-न्यायालय तत्पश्चात् कलक्टर, डिप्टी क्लेक्टर, तहसीलदार, नायब तहसीलदार होते हैं।

भारत का सर्वोच्च-न्यायालय
(Supreme Court of India)

शासन के तीन प्रधान अ ग होते है-कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका। लोकतन्त्र के जन्म के बाद से न्यायपालिका का महत्व विशेष तौर पर बहुत अधिक बढ गया है और यद्यपि जनता को उसके निर्माण मे कोई भी शक्ति प्राप्त नही होती तथापि वह उसे अपने अधिकारो और अपनी स्वतन्त्रता का प्रहरी मानती है तथा उसकी ओर आशा भरी निगाह से देखती है।

स्वाधीनता से पहले १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत भारत मे एक सघीय न्यायालय की स्थापना को गई थी तथा उसके निर्णयो के विरुद्ध अपीलें सुनने का अधिकार प्रिवि-परिषद की न्यायिक समिति (Judicial Committeé of the Privy Council) को था। स्वतन्त्रता के बाद सर्वोच्च-न्यायालय को ये दोनो शक्तिया दे दी गई हैं। उसके कार्यों का वर्णन करने से पहले यह उचित और आवश्यक होगा कि हम उसकी रचना का अध्ययन करें।

रचना—सविधान ने लिखा है कि भारत का एक सर्वोच्च न्यायालय होगा जिसम एक मुख्य न्यायाधीश और सात अन्य न्यायाधीश होंगे, परन्तु यदि संसद किसी समय चाहे तो वह न्यायाधीशो की संख्या बढ़ा सकती है। (अनुच्छेद १२४) ससद ने न्यायाधीशों की सख्या बढाई है, इस बारे मे लोकसभा ने २७ अप्रैल १९६० को एक विधेयक पारित किया है जिसके अनुसार न्यायाधीशो की सख्या १३ कर दी गई है।

न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति सर्वोच्च-न्यायालय और राज्यो के उच्च-न्यायालयों के उन न्यायाधीशो के परामर्श से करेगा जिनसे परामर्श लेना वह आवश्यक समझे। सविधान मे स्पष्ट रूप से यह उल्लेख कर दिया गया है कि जब मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति की जायेगी तो मुख्य-न्यायाधीश का परामर्श अवश्य लिया जायगा।

सर्वोच्च-न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिय यह आवश्यक है कि कोई व्यक्ति भारत का नागरिक हो तथा—

या तो वह किसी एक उच्च न्यायालय म या अनेक उच्च-न्यायालयों में निरन्तर कम से कम पाच वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो,

या भारत के किसी उच्च न्यायालय मे दस वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो, यदि वह अधिवक्ता बनने के बाद जिला-न्यायाधीश या उससे किसी ऊंचे

न्यायिक पद पर रहा हो तो वह काल भी इन दस वर्षों मे गिना जायेगा,

या वह राष्ट्रपति की दृष्टि में एक विशिष्ट न्यायवेत्ता (Jurist) हो।

सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीश अपनी नियुक्ति के पश्चात् तब तक अपने पद पर रह सकते है जबतक कि वे ६५ वर्ष की आयु पूरी न कर लें। परन्तु यदि वे उससे पहले ही अपने कार्य भार से मुक्त होना चाहे तो वे राष्ट्रपति के नाम त्यागपत्र देकर अपने पद से मुक्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त सविधान ने कहा है कि यदि संसद की दोनो सभाये—लोकसभा और राज्यसभा अपनी सदस्य संख्या के बहुमत से और मतदान के समय उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से किसी न्यायाधीश के विरुद्ध सिद्ध-कदाचार (Proved Misconduct) या अयोग्यता के आधार पर प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत करें तब राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर से आदेश जारी करके उस न्यायाधीश को उसके पद से हटा सकता है। किसी न्यायाधीश के विरुद्ध प्रस्ताव रखने के ढग और उसके विरुद्ध लगाये गये आरोपो की जाच की रीति के बारे मे अन्तिम निर्णय संसद ही करती है।

न्यायाधीश का पद ग्रहण करने से पूर्व उस पद पर नियुक्त किये गये व्यक्ति को राष्ट्रपति या राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त अधिकारी के समक्ष अपने पद की शपथ ग्रहण करनी होती है। शपथ की भाषा सविधान की तीसरी अनुसूची में दी गई है।

संविधान ने यह प्रतिबन्ध लगाया है कि जो व्यक्ति एक बार भारत के सर्वोच्च-न्यायालय मे न्यायाधीश के पद पर काम कर चुका हो वह भारत के किसी न्यायालय या किसी अधिकारी के सामने वकालत नही कर सकेगा। इस प्रतिबन्ध का प्रयोजन यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद की प्रतिष्ठा कम न हो तथा यह भी कि यदि उसके मन म यह बात रहेगी कि उसे पदमुक्त होने के बाद किसी अधिकारी या न्यायालय के सामने वकालत करनी है तो हो सकता है कि वह उसके प्रति उदार हो जाये तथा न्याय करने म ढिलाई से काम ले। न्यायाधीशो को निष्पक्ष तथा सबल बनाये रखने के लिय यह आवश्यक है कि उन पर इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगाया जाये।

मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की स्वीकृति लेकर सर्वोच्च-न्यायालय के किसी सेवा-निवृत्त (Retired) न्यायाधीश से प्रार्थना कर सकता है कि वह कुछ समय के लिये सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीश की हैसियत म पुनः कार्य करे, परन्तु वह ऐसा करने के लिये बाध्य नही होगा। यदि वह ऐसा करना स्वीकार कर लेता है तो उसे उसके पद के समस्त वेतन, भत्ते और सुविधायें प्राप्त होगी।

यदि किसी समय मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त हो या किसी कारण से वह अनुपस्थित हो तो राष्ट्रपति अस्थायी तौर पर उस पद पर काम करने के लिय सर्वोच्च-न्यायालय के किसी न्यायाधीश की नियुक्ति कर सकता है। ऐसे भी अवसर आ सकते है जब सर्वोच्च-न्यायालय मे इतने न्यायाधीश उपस्थित न हो जितने कि किसी समय गणपूर्ति (Quorum) के लिय आवश्यक होते है उस स्थिति मे मुख्य-

न्यायाधीश राष्ट्रपति की अनुमति लेकर किसी उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश को सर्वोच्च-न्यायालय म काम करने के लिय आमन्त्रित कर सकता है। वह जिस उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश को आमन्त्रित करता है उसके मुख्य-न्यायाधीश से परामर्श करना उसके लिय आवश्यक होता है तथा उसे यह भी देख लेना होता है कि जिस व्यक्ति को आमन्त्रित किया जा रहा है वह सर्वोच्च-न्यायालय म न्यायाधीश के पद पर काम करने के लिय संविधान द्वारा निर्धारित योग्यता रखता है। ऐसे व्यक्ति को सर्वोच्च-न्यायालय के काय को प्राथमिकता देनी होती है तथा उसे उस पद का वेतन आदि प्राप्त होता है।

सविधान ने दूसरी अनुसूची म सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन निश्चित किया है उसम कहा गया है कि मुख्य-न्यायाधीश को ५००० रुपय प्रतिमास और न्यायाधीशो को ४००० रुपय मासिक वेतन अपने कायकाल म मिलगा। इसके अतिरिक्त उन्ह कुछ भत्ते और सुविधाये भी दी जाती ह, इनके बारे म संसद निर्णय करती है, परन्तु संविधान ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी है कि किसी व्यक्ति के न्यायाधीश नियुक्त होने के बाद उसके वेतन भत्ता आदि म इस प्रकार परिवर्तन नही किया जा सकता कि इससे उसे आर्थिक हानि पहुँचे। केवल आर्थिक-सकट काल में ही उनके वेतन आदि कम किय जा सकते हैं। यह सब राशि भारत की संचित निधि पर भारित होती है तथा ससद उस पर मतदान नही कर सकती। यह प्रतिबंध इसलिय लगाया गया है जिससे कि किसी समय ससद सर्वोच्च-न्यायालय को अपने प्रभाव म लने के लिय आतंकित न कर सके। यदि ससद को किसी भी समय न्यायाधीशों को आर्थिक हानि पहुँचान की शक्ति दे दी जाय तो न्यायपालिका की निष्पक्षता सकट मे पड जायगी और उससे लोकतन्त्र को चोट पहुँचेगी।

सर्वोच्च-न्यायालय का प्रधान कार्यालय दिल्ली म होगा तथा समय-समय पर मुख्य-न्यायाधीश राष्ट्रपति की अनुमति लेकर यह निर्णय कर सकता है कि उसकी बैठकें भारत के किसी भी स्थान पर हो सकती हैं।

सर्वोच्च-न्यायालय अभिलख न्यायालय (Court of Record) है और उसे तत्संबंधी सभी शक्तिया दी गई हैं। उस यह शक्ति भी है कि वह अपना अपमान होन पर अपराधी को दण्ड दे सके।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

सर्वोच्च-न्यायालय के कार्यक्षेत्र को हम दो प्रकार विभाजित कर सकते हैं—राजनीतिक दृष्टि से और वैधानिक दृष्टि से। राजनीतिक दृष्टि से देखने पर सर्वोच्च-न्यायालय के कार्यों का विभाजन इस प्रकार होगा—सघीय न्यायालय के कार्य, नागरिको के मौलिक अधिकारो व सविधान का सरक्षण, न्यायिक समीक्षा (Judicial Review), परामर्श सम्बन्धी कृत्य, मुकदमा और अपीलो की सुनवाई।

संघीय न्यायालय का कार्य—भारत एक सघ है, यहा राज्य की सत्ता सघ

और राज्यों के बीच तीन सूचियों के द्वारा वितरित की गई है। इस प्रकार यह स्वाभाविक है कि सत्ता के प्रयोग के बारे में समय-समय पर संघ और राज्यों के बीच तथा आपस म राज्यों के बीच उलझनें पैदा हों और मतभेद उठें, इसके लिये यह आवश्यक है कि उनके समाधान के लिये एक संघीय न्यायालय हो जो संविधान की धाराओं के अनुसार उनके झगड़ों को सुलझाए। संयुक्तराज्य अमेरिका ने इस दिशा म जो मार्ग दिखाया है, हमारे संविधान ने उसी मार्ग का अनुसरण किया है। हमारा सर्वोच्च-न्यायालय यह कार्य करता है। इस प्रकार हम उसे संघीय-न्यायालय की संज्ञा दे सकते हैं।

मौलिक अधिकारों और संविधान का संरक्षण—इस मामले म भी संविधान ने संयुक्तराज्य अमेरिका की व्यवस्था का अनुसरण किया है। देश म एक लिखित संविधान होने के कारण यह अनिवार्य हो गया है कि उसकी रक्षा का भार किसी पर सौंपा जाये। यह काम संसद और मन्त्रिपरिषद को नहीं दिया जा सकता था क्योंकि उनके ही हाथों से तो संविधान की रक्षा करनी थी अतः संविधान ने स्वयं अपनी रक्षा का भार सर्वोच्च-न्यायालय के हाथों म सौंपा है और यह अपेक्षा रखी है कि जब कभी सर्वोच्च-न्यायालय को यह बताया जायगा कि संविधान का किसी ओर से अतिक्रमण हो रहा है तो वह उसकी रक्षा करेगा।

साथ ही संविधान ने नागरिकों को जो मौलिक अधिकार प्रदान किय हैं उनम यह अधिकार भी नागरिकों को दिया है कि जब कभी उन्हें लगे कि उनके किसी मौलिक अधिकार का अपहरण सरकार को या किसी व्यक्ति की ओर से हो रहा है तो वे सर्वोच्च-न्यायालय से यह मांग कर सकते हैं कि वह उन्हें उनके अधिकार वापिस दिलावे। आपातकाल को छोड़कर सर्वोच्च-न्यायालय हमेशा नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करेगा। संविधान ने उसे उनका प्रहरी नियुक्त किया है।

न्यायिक समीक्षा—संविधान का प्रहरी होने के नाते जब सर्वोच्च-न्यायालय के सामने ऐसे मामले लाये जाते हैं जिनमें यह कहा जाता है कि किसी विधि या आदेश के द्वारा संविधान का अतिक्रमण या उल्लंघन किया गया है तो वह उस शिकायत की जांच करता है तथा यदि जांच के बाद वह यह पाता है कि वास्तव में संविधान का उल्लंघन किया गया है तो उसे यह अधिकार है कि वह उस विधि को चाहे वह संसद द्वारा बनाई गई हो या किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा असांविधानिक बताकर रद्द कर दे इसी प्रकार वह राष्ट्रपति, राज्यपाल या अन्य किसी कार्यपालिका अधिकारी के आदेशों को भी असांविधानिक बताकर लागू करने से मना कर सकता है।

इससे हमें ज्ञात होता है कि बात की बात म ही सर्वोच्च-न्यायालय इतना शक्तिशाली बन गया है कि वह जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाई हुई विधियों रद्द कर सकता है, परन्तु यदि हम शान्ति के साथ चिन्तन करें तो हमें ज्ञात होगा। संविधान की आत्मा की रक्षा और शासन की स्थिरता बनाये रखने के लिये

व्यवस्था बहुत अनिवार्य है। यह कहना शायद उचित नही होगा कि जनता को अपने प्रतिनिधियों की अपेक्षा एक निष्पक्ष न्यायालय म अधिक विश्वास होता है तथापि यह तो माना ही जा सकता है कि यदि सविधान बनाया गया है तो उसका सम्मान होना ही चाहिय।

परामर्श सम्बन्धी कार्य—सविधान ने सर्वोच्च-न्यायालय को यह काम सौपा है कि जब कभी राष्ट्रपति किसी वैधानिक प्रश्न पर उसका परामर्श लना चाहे तो उसे वह देना होगा। यह व्यवस्था इसलिय की गई है जिससे कि कोई विधि बनाते समय पहले से ही इस बात की सावधानी बरती जा सके कि विधि सविधान की धाराओं के अनुकूल हो, अन्यथा यह भय रहता है कि सर्वोच्च-न्यायालय उसको असाविधानिक घोषित न कर दे। परन्तु हम यह बात याद रखनी चाहिय कि इस प्रकार परामर्श देने के परिणामस्वरूप कुछ लोगो के हितो को हानि पहुँच सकती है। ऐसा ही मत प्रिवि-परिषद की न्यायिक समिति ने भी प्रकट किया था।

हमारे सविधान ने यह व्यवस्था १९३५ के अधिनियम से ली है परन्तु दोनो मे बहुत अन्तर है, पहला अन्तर तो यह है कि १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल सघीय न्यायालय से केवल वैधानिक प्रश्नो पर ही परामर्श माग सकता था परन्तु हमारे सविधान म कहा गया है कि राष्ट्रपति वैधानिक और वास्तविक दोनो प्रकार के मामलो मे परामर्श माग सकता है। दूसरा अन्तर यह है कि १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत न्यायाधीश इस बात के लिये बाध्य नही थे कि वे गवर्नर जनरल को परामर्श दे परन्तु हमारे सविधान ने सर्वोच्च-न्यायालय के कामो की सूची म यह काम सम्मिलित करके उसे परामर्श देने के लिए बाध्य किया है। यो सामान्यतया सघीय न्यायालय गवर्नर-जनरल द्वारा माग जाने पर परामर्श देता ही था ऐसा कोई दृष्टान्त नही है कि उसने मना किया हो।

यहा सयुक्तराज्य अमेरिका की प्रणाली का उल्लेख करना लाभदायक होगा। वहा सर्वोच्च-न्यायालय इस प्रकार से परामर्श देने के लिय बाध्य नही है, वह तब तक किसी विषय पर अपना अभिमत प्रकट नही करता जब तक कि वह मामला मुकदमे के रूप मे उसके सामने नही आता। एक बार वहा के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन ने सर्वोच्च न्यायालय के सामने किसी प्रस्तावित सधि के बारे म कुछ प्रश्न रखे थे परन्तु सर्वोच्च-न्यायालय ने उनका उत्तर देने से इन्कार कर दिया था।

यहा यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि सविधान ने यह नही कहा है कि सर्वोच्च-न्यायालय द्वारा दिया गया परामर्श राष्ट्रपति को अनिवार्य तौर पर मानना होगा तथापि यह बात एक तथ्य के रूप मे स्वीकार करनी होगी कि यदि राष्ट्रपति उसे मानने से मना कर देता है तो जब वह मामला मुकदमे के रूप म न्यायालय के सामने लाया जायगा उस समय न्यायालय उसे रद्द कर सकता है अत शासन की प्रतिष्ठा बचाने के लिय न्यायाधीशो का दृष्टिकोण जान लेना अच्छा रहता है तथा उसको मानना और भी अच्छा रहता है। इस बारे मे दूसरी बात यह है कि क्या न्यायाधीश

अपनी सलाह से बंधते हैं और उसके लिये उत्तरदायी ठहराये जा सकते हैं। निश्चय ही वे किसी सलाह के लिये उत्तरदायी नही ठहराये जा सकते, यानी उनसे यह नही कहा जा सकता कि उन्होने अमुक परामर्श क्यो दिया। साथ ही साथ यह भी नही माना जा सकता कि वे अपने परामर्श से बंधते हैं। हो सकता है कि परामर्श देने के बाद परिस्थितिया बदली हो और परामर्श देने के समय जो स्थिति रही हो बाद मे निर्णय लिये जाने पर उसमे परिवर्तन हो गया हो या कर दिया गया हो ऐसी स्थिति मे यह असभव नही है कि जिस बारे मे राष्ट्रपति पहले से सर्वोच्च-न्यायालय का परामर्श ले चुका हो और उसको स्वीकार कर लिया गया हो, सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीश यह महसूस करें कि उनके परामर्श को स्वीकार कर लिये जाने के बावजूद जो वैधानिक प्रस्ताव आये हैं तथा जो विधियां बनी हैं वे सविधान के विपरीत हैं ऐसी परिस्थिति मे वे उन्हे असावैधानिक घोषित कर सकेंगे। परन्तु सर्वोच्च-न्यायालय के अपने सम्मान की दृष्टि से यह आवश्यक है कि ऐसे अवसर न आयें। वह पहली बार मे ही मामले का गम्भीर चिंतन करके परामर्श दे ताकि उसे उस स्थिति को अन्त तक निबाहने मे सुविधा रहे। यदि सर्वोच्च-न्यायालय किसी मामले मे परामर्श कुछ दे और मुकदमे के रूप मे सामने आने पर निर्णय कुछ दूसरा दे तो स्वयं उसका ही मान घटेगा और वह एक महान विसंगति होगी जिससे वह सदा बचना चाहेगा।

मुकदमों और अपीलो को सुनवाई का कार्य—सर्वोच्च-न्यायालय के इस कार्य का वर्णन हम उसके वैधानिक दृष्टि से किये गय कार्य विभाजन के प्रसंग मे करेंगे।

वैधानिक दृष्टि से हम उसके कार्यों को निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—

(१) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original Jurisdiction)
(२) पुनर्विचार का क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdiction)
(३) पुनरावलोकन का क्षेत्राधिकार (Power of Review)
(४) सविधान की व्याख्या का अधिकार (Power to Interpret Constitution)
(५) न्याय की प्रक्रिया निश्चित करने का अधिकार
(६) राष्ट्रपति को परामर्श देने का कर्तव्य (Advisory Jurisdiction)
(७) नियुक्तियां करने और सेवा की दशायें निर्धारित करने का अधिकार

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार—सविधान ने कहा है कि सर्वोच्च-न्यायालय को निम्न मामलो में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार होगा अर्थात् निम्न विषयो से सम्बन्धित मुकदमे सीधे उसके सामने पेश हो सकेंगे—

भारत सरकार और एक या अधिक राज्यो की सरकारो के बीच के विवाद, या

भारत सरकार तथा एक या अनेक राज्यो व एक तथा अनेक राज्यों के बीच के विवाद, या

दो या अधिक राज्यों के बीच के विवाद।

इस बारे में यह स्मरणीय है कि इन विवादों में वैधानिक अधिकारों के अस्तित्व या उनकी सीमा का प्रश्न निहित होना चाहिये। ये मामले ऐसी सन्धियों, समझौतों, अधिकार पत्रों आदि से सम्बन्धित नहीं हो सकते जो संविधान लागू होने से पहले अस्तित्व में आये थे और संविधान लागू होने के बाद भी चालू हैं।

पुनर्विचार का क्षेत्राधिकार—यह क्षेत्र तीन प्रकार का होता है विशेष मामलों में व्यवहार के वादों में और दण्ड के मामलों में उच्च-न्यायालयों के निर्णयों पर पुनर्विचार।

*उच्च-न्यायालयों के निर्णयों पर सर्वोच्च-न्यायालय उन सब मामलों में पुनर्वि*चार कर सकता है जिनके बारे में उच्च न्यायालय ने यह प्रमाणित कर दिया हो कि उन मामलों में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित विधि का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है। या उच्च न्यायालय इस प्रकार का प्रमाण पत्र न दे तब भी यदि सर्वोच्च न्यायालय को यह सतोष हो जाय कि किसी मामले में संविधान की व्याख्या का महत्वपूर्ण *वैधानिक प्रश्न निहित है तो वह उस मामले में अपने सामने अपील करने की विशेष* अनुमति प्रदान कर सकता है या उच्च-न्यायालय स्वयं ही प्रमाणपत्र दे और अपील करने की अनुमति दे दे तब मुकदमे का कोई पक्ष इस आधार पर कि उस प्रश्न का गलत ढंग से निर्णय किया गया है सर्वोच्च-न्यायालय के सामने पुनर्विचार के लिये आवेदन कर सकता है।

व्यवहार के वादों (Cases) के बारे में संविधान में कहा गया है कि किसी उच्च न्यायालय के निर्णय अथवा डिग्री के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में तभी पुनर्विचार *के लिये प्रावेदन किया जा सकेगा जबकि—*

उच्च-न्यायालय यह प्रमाणित करे कि प्रथम न्यायालय में जब वाद (Case) पेश हुआ था उसमें बीस हजार रुपये से कम की राशि पर झगड़ा नहीं था तथा पुनर्विचार करते समय भी वह राशि इससे कम नहीं थी और न उस समय कम है, यह राशि संसद द्वारा इस बारे में बनाये विधान के अनुसार कम या अधिक हो सकती है, या उस वाद में प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः उतनी ही राशि या उतने ही मूल्य की सम्पत्ति का प्रश्न निहित है, या वाद सर्वोच्च-न्यायालय में पुनर्विचार के लिये ले जाने योग्य है। *यदि उच्च-न्यायालय यह कहे कि उस वाद में कोई पर्याप्त वैधानिक* प्रश्न निहित है तो भी अपील हो सकती है।

दण्ड वादों (Criminal-Cases) के मामले में निम्न आधारों पर अपील हो सकती है—(क) कि उच्च-न्यायालय ने किसी निम्न न्यायालय के ऐसे आदेश को बदल कर जिसमें प्रार्थी को दण्ड मुक्त कर दिया गया था मृत्यु दण्ड दे दिया है, या उसने अपने निम्न न्यायालय से मुकदमा अपने यहां मंगाकर सुनवाई करने के बाद प्रार्थी को मृत्यु दण्ड दे दिया है, या वह इस बात को प्रमाणित कर दे कि मामला सर्वोच्च-न्यायालय में पुनर्विचार के लिये जाने योग्य है। इस बारे में

संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह यह तय कर सकती है कि किन अन्य परिस्थितियों में वह दण्डवादों पर पुनर्विचार के लिये आवेदन स्वीकार कर सकता है।

अनुच्छेद १३६ में कहा गया है कि सर्वोच्च-न्यायालय को यह अधिकार है कि वह किसी भी मामले में पुनर्विचार के लिये विशेष अनुमति दे सकता है। यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उसे सेनाओं के बारे में कोई अधिकार नहीं है।

पुनरावलोकन का क्षेत्र—संसार के दूसरे सर्वोच्च-न्यायालयों के समान ही भारतीय सर्वोच्च-न्यायालय भी अपने निर्णयों से बंधा हुआ नहीं है। यह अपने निर्णयों का भी पुनरावलोकन कर सकता है, तथा यदि उचित समझे तो उन्हें बदल भी सकता है।

संविधान की व्याख्या करने का अधिकार—इसका वर्णन हम इसी अध्याय में पीछे कर चुके हैं।

न्याय की प्रक्रिया निश्चित करने का अधिकार—संविधान में यह कहा गया है कि सर्वोच्च-न्यायालय को यह अधिकार होगा कि वह अपने और दूसरे न्यायालयों के लिये न्याय की प्रक्रिया निर्धारित कर सकेगा। उसकी इस शक्ति पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण रहता है।

राष्ट्रपति को परामर्श देने का कर्तव्य—इसके बारे में भी हम वर्णन कर चुके हैं।

नियुक्तियों आदि का अधिकार—सर्वोच्च-न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपने निम्न कर्मचारियों की नियुक्ति कर सकता है तथा उनकी सेवाओं की दशायें निर्धारित कर सकता है परन्तु यदि राष्ट्रपति चाहे तो यह सब नियुक्तियां लोकसेवा आयोग द्वारा कराने की व्यवस्था करा सकता है।

क्षेत्र का विस्तार

संसद को अधिकार है कि वह किसी संघीय विषय के बारे में सर्वोच्च-न्यायालय को अधिक अधिकार दे सकती है तथा यदि भारत सरकार और किसी राज्य की सरकार में आपस में कोई समझौता हो जाय तथा उसके आधार पर संसद प्रस्ताव पास कर दे तो संघ और राज्य के बारे में सर्वोच्च-न्यायालय के अधिकारक्षेत्र में विस्तार किया जा सकता है।

यदि संसद उचित समझे तो मौलिक अधिकारों के अलावा दूसरे मामलों में भी सर्वोच्च-न्यायालय को बन्दी प्रत्यक्षीकरण उत्प्रेषण आदि लेख जारी करने की शक्ति दे सकती है। वह ऐसा भी कर सकती है कि इस संविधान में जो कार्य सर्वोच्च-न्यायालय को सौंपे गये हैं उनको पूरा करने के लिये उसे कुछ ऐसी पूरक शक्तियां

प्रदान कर दे जो भले ही संविधान की किसी धारा के प्रतिकूल हो।

सर्वोच्च-न्यायालय की कार्यविधि

सर्वोच्च न्यायालय के समस्त निर्णय तथा उसके द्वारा घोषित विधियां भारत म समस्त न्यायालयो को माननी होगी। साथ ही संविधान ने अनुच्छेद १४४ में यह आदेश भी दिया है कि भारत के समस्त असैनिक व न्यायिक अधिकारी सर्वोच्च-न्यायालय की सहायता करेगे, अर्थात वे उसके निर्णयो के विरुद्ध कोई काम नही करेंगे। इससे बढकर सर्वोच्च-न्यायालय की प्रतिष्ठा बढाने वाली धारा संविधान म दूसरी नही हो सकती थी। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे संविधान-निर्माता सर्वोच्च-न्यायालय को देश के शासन प्रबन्ध मे सर्वोपरि और सर्वोच्च स्थान देना चाहते थे। हमारे संविधान ने न्याय पर बहुत बल दिया है इसका एक कारण यह भी है कि पराधीनता के अन्धेरे काल मे हमे यदि किसी वस्तु का सबसे अधिक कष्ट रहा तो वह न्याय का अभाव ही था, विदेशी शासक हमे न्याय नही दे सके, वे यहा रहे यह सबसे बडा अन्याय हमारे साथ हुआ परन्तु वे इतने से ही सन्तुष्ट नही थे उन्होंने हमारे सारे अधिकारो का अपहरण करके हम अपने देश म ही विदेशी और दास सरीखा बना दिया था, अत स्वाधीनता के उपरान्त हमारी यह आकाक्षा बहुत ही उचित और सही थी कि हम सबसे अधिक चिन्ता न्याय की करें तथा न्यायालय के आदेश को सबसे ऊंचा स्थान दें। इसीलिये हमने अपने न्यायालय को सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) कहा है।

सर्वोच्च न्यायालय किसी विधि की सांविधानिकता के बारे म तब तक कोई निर्णय नही देगा जब तक कि उसके सामने ऐसे मामले नही आते जिनमे कोई पक्ष अमुक विधि (Law) से अपनी हानि होती देखकर न्यायालय से न्याय की माग न करे। राजनीतिक प्रकार के झगडो के बारे म सर्वोच्च-न्यायालय न कोई विचार करता है और न कोई निर्णय ही देता है।

न्यायालय अपने समस्त निर्णयो की घोषणा खुले न्यायालय म सार्वजनिक रूप से करता है यहा तक कि राष्ट्रपति द्वारा जिन मामलो मे उसका परामर्श मागा जाता है उनके बारे म भी वह अपने निर्णय खुले न्यायालय म घोषित करता है। निर्णय बहुमत से किये जाते हैं। प्रत्येक न्यायाधीश को अधिकार है कि वह बहुमत से सहमत न हो तथा अपना निर्णय अलग से घोषित करे।

संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित महत्वपूर्ण वैधानिक प्रश्नो पर विचार करने के लिये कम से कम पाच न्यायाधीश बैठते हैं। राष्ट्रपति को परामर्श देते समय भी इतनी संख्या होनी आवश्यक है।

सर्वोच्च-न्यायालय की स्वतन्त्रता

प्रसिद्ध दार्शनिक मॉन्टेस्क्यू ने लोकतन्त्र के भीतर नागरिक स्वतन्त्रता की

रक्षा के लिये यह आवश्यक माना था कि शासन के तीनों अंग स्वतन्त्र रखे जायें तथा उसने न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक बल दिया था। यह विचार सारे जगत में मान्य हुआ है। साम्यवादी जगत मे इस बारे मे निश्चय ही दूसरे ढंग की मान्यताएँ है। भारत ने अपने भाग्य को लोकतन्त्र के साथ अभिन्न रूप से जोड लिया है अत उसके सामने यही एक मार्ग रह गया था कि वह अपने सर्वोच्च-न्यायालय को स्वतन्त्र बनाये, परन्तु यह सम्भव नही है कि सरकार के विभिन्न अंग एक दूसरे से सर्वथा पृथक कर दिये जायें, जहा तक न्यायालय का सम्बन्ध है उसके बारे में संविधान ने बहुत सावधानी से ऐसी व्यवस्था की है कि उसकी निष्पक्षता बनाये रखी जा सके। यहा हम सक्षेप में उसका उल्लेख करेंगे।

संविधान ने चेष्टा की है कि सर्वोच्च-न्यायालय को मन्त्रिपरिषद और संसद दोनों के दबाव से मुक्त रखा जा सके। इसके लिये इसने सबसे पहला प्रबन्ध तो यह किया है कि सर्वोच्च-न्यायालय सम्बन्धी समस्त व्यय भारत की सचित निधि पर भारित होता है, ससद उस पर चर्चा कर सकती है परन्तु वह उस पर मत नही दे सकती तथा यह भी कि किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के समय उसे जो वेतन, भत्ते तथा अन्य सुविधायें मिलती है उसके कार्यकाल मे उन्हें घटाया नही जा सकता। यदि वैसा किया जा सकता तो ससद न्यायाधीशो पर वेतन आदि कम करने का दबाव डालकर अपनी बात मानने के लिये उन्हें बाध्य कर सकती थी, परन्तु अब यह सम्भव नही रह गया है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति यद्यपि राष्ट्रपति करता है, यानी वह शक्ति कार्यपालिका को दी गई है, परन्तु उन्हे हटाने की शक्ति उन्हें न देकर संसद को दी गई है, व्यवहार मे इसका कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता क्योंकि हमारे यहा संसद मे सदा मन्त्रिपरिषद का बहुमत होने के कारण उसके लिये ससद से अपना कहना मनवा लेना कठिन नही होता, संविधान भी इस तथ्य से परिचित था अत उसने यह व्यवस्था की है कि संसद के दोनों सदनों में किसी न्यायाधीश को हटाने का प्रस्ताव कुल सदस्य संख्या के बहुमत से और उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई मतों से पारित होना चाहिये। इससे यह लाभ हुआ है कि एक तो संसद के दोनों सदनों में कार्यवाही होने से यह कार्यवाही खुली होती है सरकार चुपके से कुछ नही कर सकती, जनता उसके बारे मे अवगत रहती है इस कारण सरकार का यह साहस नही हो सकता कि वह केवल इसलिये ऐसी कार्यवाही करे जिससे कि वह किसी ऐसे न्यायाधीश को जो उसकी बात मानने से मना करता है दण्ड दे सके, साथ ही दो तिहाई बहुमत का उपलब्ध होना भी सरल नहीं होगा। निश्चय ही यदि किसी राजनीतिक-मतभेद के कारण सरकार ससद के द्वारा किसी न्यायाधीश को हटवाना चाहेगी तो संसद मे सरकार के विरोधी पक्ष के लोग उस प्रस्ताव के पक्ष मे अपना मत नहीं देंगे और इस प्रकार दो तिहाई बहुमत मिलना असम्भव हो जायगा। यह व्यवस्था न्यायाधीशों की निष्पक्षता का संरक्षण करती है तथा उन्हें निर्भयता के साथ

काम करने की हिम्मत देती है ।

सविधान ने यह व्यवस्था भी की है कि ससद का कोई भी सदन न तो उन प्रश्नो की चर्चा कर सकेगा जो सर्वोच्च-न्यायालय या किसी दूसरे न्यायालय के सामने न्याय के लिय प्रस्तुत हो, न वे उसके किसी निर्णय के बारे मे ही कोई चर्चा कर सकते हैं ।

जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं सर्वोच्च न्यायालय अपने और अन्य न्यायालयो के लिय कार्य प्रणाली निर्धारित कर सकता है, इस व्यवस्था के द्वारा भी वह दूसरा के अनावश्यक हस्तक्षेप से बच जाता है ।

सेवा निवृत्त होने के बाद न्यायाधीशा को निवृत्ति वेतन दिया जाता है तथा उन पर यह प्रतिबन्ध है कि वे भारत के भीतर किसी न्यायालय के सामने वकालत नही कर सकेंगे । यह प्रवन्ध इसलिय किया गया है जिससे कि सर्वोच्च-न्यायालय की प्रतिष्ठा की रक्षा की जा सके और उसकी निष्पक्षता बनाई रखी जा सके ।

यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि सर्वोच्च न्यायालय ससद द्वारा पारित किसी अधिनियम को और राष्ट्रपति के किसी कार्यपालिका आदेश को असाविधानिक घोषित कर दे तब वे सिवाय इसके कुछ नही कर सकते कि अपनी इच्छा के अनुसार सविधान को सशोधित करने की चेष्टा करे । उस स्थिति म सर्वोच्च-न्यायालय को कोई आपत्ति नही होगी, किसी समय सविधान की जो धारायें होती हैं उनकी रक्षा करना उसका काम है ।

राष्ट्रपति को कुछ मामलो म न्यायालय द्वारा दण्ड दिय जाने के बाद क्षमा करने, दण्ड की उग्रता घटाने इत्यादि के अधिकार सविधान ने दिय हैं । कई बार लोग राष्ट्रपति के इस अधिकार को सर्वोच्च-न्यायालय की स्वतन्त्रता म बाधक मानते हैं । १६ अप्रैल १९६० को पटना मे अखिल भारतीय विधि और शान्ति व्यवस्था सम्मेलन म जिसका आयोजन सार्वजनिक-प्रशासन की भारतीय-परिषद (Indian Council of Public Administration) ने किया था, वैधानिक और प्रशासनिक समिति ने अपने प्रतिवेदन म यह शिकायत की कि कार्यपालिका न्यायपालिका के कार्यो में बाधा डालती है और उसका उदाहरण इस प्रकार दिया— 'ऐसे उदाहरण हैं जहा यद्यपि एक सरकारी कर्मचारी के बारे मे यह सिद्ध हो गया कि उसने अपराध किया है तथा न्यायालय ने उसे दण्ड दे दिया तथापि सरकार ने ऐसे आदेश दे दिय कि उस व्यक्ति को दण्ड भोगने की आवश्यकता नही है।' यहा इशारा बबई के राज्यपाल द्वारा जलसेना के कमोडियर नाणावटी की सजा को निलबित करने की घटना की ओर किया है । इस घटना की खबर देश मे काफी चर्चा हुई है जो वास्तव मे बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है । स्वय बबई उच्च-न्यायालय ने ३० मार्च १९६० को अपनी पूरी बेंच मे यह निर्णय किया कि राज्यपाल का आदेश वैधानिक और साविधानिक है । न्यायाधीशो ने अपने निर्णय म इस प्रश्न पर बहुत उदारता से विचार किया। उन्होने कहा कि "हमेशा यह बात स्वीकार की गई है कि दया, क्षमा और दण्ड के

निलवन की शक्ति न्यायपालिका को छोडकर किसी दूसरी शक्ति के हाथो मे रखी जाये। विधि कभी-कभी इतनी कठोर हो सकती है कि उसकी कठोरता को कम करना न्याय के हित के लिये आवश्यक हो सकता है। अनुभव बताता है कि न्यूनतम दण्ड भी कभी-कभी अनावश्यक रूप से कठोर हो जाता है।" उन्होने आगे कहा कि "उस शक्ति को काफी व्यापक होना चाहिये क्योंकि यह कल्पना नही की जा सकती कि उस शक्ति का प्रयोग किन किन मामलो मे करना आवश्यक या वाछनीय होगा। यह शक्ति वस्तुत न्याय की सहायक या पूरक है तथा यह उदारता और मानवता के तौर पर प्रयोग की जाती है जिससे कि न्याय हो सके।"

इस प्रकार हमे यह स्वीकार करना होगा कि राष्ट्रपति और राज्यपाल जब अपने क्षमा-अधिकार का प्रयोग करते हैं तो वे न्यायालय के काम में बाधा नही डालते वरन् सविधान के आदेश के अनुसार न्याय के कार्य मे सहायक होते हैं। उनके द्वारा इस शक्ति के प्रयोग का गलत अर्थ लगाने की चेष्टा करने से हमारा वातावरण सुधरने के स्थान पर बिगडता है अत. अकारण ही हमे वैसा प्रयास नही करना चाहिये। सविधान के विद्यार्थी के नाते हमारा काम यह नही है कि हम व्यक्तियो के प्रयोजनो मे जायें, हम तथ्यो को उनके सावैधानिक स्वरूप म देखने की चेष्टा करनी चाहिये।

उच्च-न्यायालय

(High Court)

सविधान के अनुच्छेद २१४ मे कहा गया है कि प्रत्येक राज्य मे एक उच्च-न्यायालय होगा। यदि ससद चाहे तो एक से अधिक राज्यो के लिए एक ही उच्च-न्यायालय की स्थापना कर सकती है या किसी राज्य के उच्च-न्यायालय का कार्य-क्षेत्र किसी सघ-क्षेत्र (Union Territory) तक विस्तृत कर सकती है। यह न्यायालय अभिलेख न्यायालय का काम करेगा तथा अपने अपमान के लिये दण्ड दे सकेगा। उसके निर्णय उसके आधीन न्यायालयो को मान्य होगे।

सगठन—प्रत्येक उच्च-न्यायालय म एक मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीश होगे जिनकी सख्या राष्ट्रपति निर्धारित करेगा।

न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा, इस काम मे वह सर्वोच्च-न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश जिस राज्य म नियुक्तिया करनी है उसके राज्यपाल और उच्च-न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करेगा।

न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु प्राप्त करने तक अपने पद पर रहेंगे। इस बीच में वे स्वय राष्ट्रपति के नाम अपना त्यागपत्र दे कर कार्य भार से मुक्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति उन्हें ठीक उसी प्रकार उनके पद से हटा सकता है जिस प्रकार सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीशो को ससद के प्रस्ताव पर हटाया जा सकता है।

योग्यता—उच्च-न्यायालय मे वे व्यक्ति ही न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किये जा सकते है जो भारत के नागरिक हो, तथा जो या तो दस वर्ष तक भारत में किसी न्यायिक-पद पर रहे हो या देश के किसी उच्च-न्यायालय के सामने दस वर्ष तक अधिवक्ता के तौर पर वकालत कर चुके हो।

अतिरिक्त न्यायाधीश—संविधान ने राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया है कि यदि उसे ऐसा लगे कि किसी उच्च-न्यायालय के सामने बहुत सा काम इकट्ठा हो गया है तो वह आवश्यक योग्यतावाले व्यक्तियो को अतिरिक्त-न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है। ऐसे व्यक्ति अधिक से अधिक दो वर्ष तक पद धारण कर सकेंगे। राष्ट्रपति उनकी अवधि निर्धारित करता है।

कार्यवाहक मुख्य-न्यायाधीश—जब किसी कारण से मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त हो तब राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उस पद के कार्य करने के लिये नियुक्त कर सकता है।

इसी प्रकार जब किसी न्यायाधीश का पद रिक्त होता है तो राष्ट्रपति उसके स्थान पर किसी अस्थायी न्यायाधीश की नियुक्ति कर सकता है।

शपथ—न्यायाधीशो को अपना पद ग्रहण करने से पूर्व अपने पद की शपथ लेनी होती है, जिसका उल्लेख संविधान की तीसरी सूची म किया गया है। शपथ राज्य के राज्यपाल या उसके द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति की उपस्थिति मे ली जाती है।

स्थानान्तरण—भारत राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करके उच्च-न्यायालय के किसी न्यायाधीश को किसी दूसरे उच्च-न्यायालय मे कार्य करने के लिये स्थानातरित कर सकता है।

इस प्रकार न्यायाधीशो का पद स्थानातरण के कारण भी रिक्त हो सकता है। कई बार उनको सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीश के रूप मे नियुक्त कर दिया जाता है तब भी उनका पद उच्च-न्यायालय मे रिक्त हो जाता है।

वेतन, भत्ते व अन्य सुविधायें—उच्च-न्यायालयो के न्यायाधीशो के वेतन, भत्ते आदि के बारे मे भी संविधान ने सर्वोच्च-न्यायालय जैसे नियम ही बनायें हैं, उसमें कहा गया है कि मुख्य-न्यायाधीश को प्रतिमास ४००० रुपये और न्यायाधीशो को ३५०० रुपये वेतन के तौर पर मिलेंगे। भत्तो व अन्य सुविधाओं के बारे मे संसद नियम बनायेगी।

यहा यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि उच्च न्यायालय से सम्बन्धित वेतन, भत्तो व अन्य प्रशासकीय कार्यों पर होने वाला व्यय राज्य की संचित निधि पर भारित होता है, या न्यायालय के शुल्क आदि से होने वाली आय राज्य की संचित निधि में जमा होती है।

नियम बनाने व नियुक्तियां करने की शक्ति—उच्च-न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपने विभाग से सम्बन्धित नियुक्तिया कर सके व

नियम बना सके परन्तु इस मामले में उस पर राज्यपाल का नियन्त्रण रहता है और वह चाहे तो उसके लिये दूसरी व्यवस्था कर सकता है।

उच्च-न्यायालय का क्षेत्राधिकार

संविधान ने राज्यों के उच्च-न्यायालयों को वही क्षेत्राधिकार प्रदान किया है जो उन्हें संविधान लागू होने से पहले प्राप्त था। यह तीन प्रकार का है—प्रारम्भिक, व्यवहार सम्बन्धी व दण्ड सम्बन्धी। राज्य के उच्च-न्यायालय को यह अधिकार भी दिया गया है कि वह राज्य के आधीन न्यायालयों की व्यवस्था करे।

वह अपने आधीन समस्त न्यायालयों और न्यायाधिकरणों (Tribunals) का निरीक्षण कर सकता है, उनसे उनके कार्य का विवरण मंगा सकता है, उनकी कार्य पद्धति के नियम बना सकता है उनके अधिकारियों द्वारा रखी जाने वाली पुस्तकों, प्रविष्टियों (Entries) और हिसाब बहियों का स्वरूप तय करता है। वह उन न्यायालयों में काम करने वाले समस्त शेरिफों, क्लर्कों व अधिकारियों तथा उनके सामने वकालत करने वाले मुख्तयारों, वकीलों और अधिवक्ताओं के शुल्क की दरें तय कर सकता है।

ये सब काम वह राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति लेकर ही कर सकता है। उसे सेनाओं सम्बन्धी किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के बारे में किसी प्रकार की कोई सत्ता प्राप्त नहीं है।

उच्च-न्यायालय अपने क्षेत्र में काम करने वाले किसी निम्न न्यायालय से किसी ऐसे मुकदमे को अपने पास मंगा सकता है जिसमें उसकी राय में सांविधानिक व्याख्या से सम्बन्धित कोई महत्वपूर्ण वैधानिक प्रश्न निहित हो ऐसे मामलों को वह स्वयं निपटा सकता है या केवल वैधानिक प्रश्न पर अपना निर्णय देकर उसे उस न्यायालय के पास अन्तिम निर्णय के लिये वापिस भेज सकता है जिससे कि उसने उसे मंगाया था। वह न्यायालय उच्च न्यायालय के निर्णय के प्रकाश में अपना निर्णय देगा।

संविधान ने उच्च-न्यायालय को यह अधिकार दिया है कि वह सर्वोच्च-न्यायालय की ही तरह अनेक लेख जारी कर सकेगा, जैसे बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख, उत्प्रेक्षण लेख आदि। वह अपने क्षेत्र के भीतर किसी भी व्यक्ति, सत्ता अथवा सरकार को निर्देश व आदेश दे सकता है तथा लेख जारी कर सकता है। इसकी यह शक्ति किसी प्रकार भी सर्वोच्च-न्यायालय की शक्ति को सीमित या प्रभावित नहीं करती।

संसद विधि बनाकर किसी भी उच्च-न्यायालय की शक्तियों में वृद्धि कर सकती है। जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, उनके स्थानान्तरण और पदोन्नति आदि के बारे में निर्णय करते समय राज्यपाल उस क्षेत्र के उच्च-न्यायाधीश से परामर्श लेगा। इस प्रकार उच्च-न्यायालय को अपने क्षेत्र में लगभग वैसी सत्ता ही प्राप्त है जैसी कि

देश में सर्वोच्च-न्यायालय को मिली हुई है।

उच्च-न्यायालय के महत्व या उसकी स्वतन्त्रता के बारे मे अलग से कुछ लिखने की आवश्यकता नही है क्योकि वह राष्ट्रीय-न्यायालय का एक अभिन्न अग है तथा उसके बारे म हम काफी विस्तार के साथ चर्चा कर चुके हैं। सविधान ने स्पष्ट कहा है कि उसके न्यायाधीशो के वेतन, भत्ते और सुविधाये उनके कार्यकाल मे नही घटाय जा सकते, उनका व्यय राज्य की सचित निधि पर भारित होता है, तथा उनको हटाने के लिय ससद को उसी प्रकार कार्यवाही करनी पडती है जैसी कि सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीशो के बारे म की जाती है। उनके निर्णय पर ससद या राज्य विधान मण्डल म वाद-विवाद नही किया जा सकता।

उच्च-न्यायालय के न्यायाधीशो पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि वे सर्वोच्च-न्यायालय या उन उच्च-न्यायालयो को छोडकर जिनम उन्होंने काम नही किया है और किसी न्यायालय के सामने वकालत नही कर सकेंगे। अर्थात् वे न तो उस उच्च-न्यायालय के सामने वकालत कर सकेंगे जिसम वे न्यायाधीश रह चुके हैं, और न उच्च-न्यायालय से नीचे किसी न्यायालय म वकालत कर सकेंगे इस व्यवस्था से उनकी प्रतिष्ठा और निष्पक्षता दोनो की रक्षा हो सकेगी।

राज्य सरकारो को उच्च-न्यायालयो के बारे म कोई सत्ता प्राप्त नही है वे सीधे सर्वोच्च-न्यायालय के आधीन होते है।

आधीन-न्यायालय
(Subordinate Courts)

सविधान मे जिला न्यायालय व उसमे नीचे न्यायालयों का उल्लेख किया गया है। उसमे कहा गया है कि राज्यपाल उच्च-न्यायालय से परामर्श करके जिला न्यायाधीशो की नियुक्ति, पदोन्नति तथा स्थानान्तरण करेगा।

जिला-न्यायाधीशो के पद पर नियुक्त होने वाला व्यक्ति भारत का नागरिक होना चाहिये तथा वह या तो पहले से राज्य या सघ की सेवा म हो अथवा वह कम से कम सात वर्ष तक वकील या अधिवक्ता रहा हो तथा उसके नाम की सिफारिश उच्च-न्यायालय द्वारा की गई हो।

जिला न्यायाधीशो के अतिरिक्त राज्य की न्यायिक सेवा के अन्य पदो पर नियुक्तियाँ करने के लिय राज्यपाल राज्य के लोक सेवा आयोग और उच्च न्यायालय से परामर्श करके नियम बनायगा।

राज्य की न्यायिक सेवाओं म जिला-न्यायाधीश से नीचे पद पर काम करने वाले समस्त व्यक्तियों की पदोन्नति, स्थानातरण और अवकाश की स्वीकृति का अधिकार तथा जिला-न्यायालयो व अन्य आधीन न्यायालयों पर नियन्त्रण की शक्ति उच्च-न्यायालय के पास रहेगी। ये कर्मचारी उच्च-न्यायालय के आदेशो के विरुद्ध अपील

कर सके।

संविधान ने बताया है कि जिला-न्यायाधीश से उसका तात्पर्य निम्न अधिकारियों से है—नगर व्यवहार-न्यायालय का न्यायाधीश, अतिरिक्त जिला-न्यायाधीश, संयुक्त जिला-न्यायाधीश, सहायक जिला-न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालय का मुख्य-न्यायाधीश, मुख्य प्रेसीडेन्सी-दण्डाधीश (Chief Presidency-Magistrate), अतिरिक्त मुख्य प्रेसीडेन्सी-न्यायाधीश, सत्र-न्यायाधीश (Sessions Judge), अतिरिक्त सत्र-न्यायाधीश तथा सहायक सत्र-न्यायाधीश।

राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि वह सार्वजनिक-सूचना निकाल कर यह घोषणा कर दे कि उपरोक्त धारायें राज्य के भीतर किसी श्रेणी के दण्डाधीशों (Magistrates) पर भी उन मर्यादाओं के भीतर लागू होंगी जिनका उल्लेख वह उस सूचना में करता है।

जिला-न्यायालय

जिला-न्यायालय दो भागों में विभाजित होता है—व्यवहार (Civil) और दण्ड (Criminal)। व्यवहार-न्यायालय में लघुवाद-न्यायालय, मुंसिफ तथा व्यवहार-न्यायाधीश (Civil Judge)। इस न्यायालय का सबसे बड़ा अधिकारी जिला-न्यायाधीश (District-Judge) होता है जिसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं।

दण्ड (Criminal Law) के मामलों में सबसे पहले तो तीन श्रेणियों के दण्ड-न्यायाधीश होते हैं जिन्हें प्रथम द्वितीय और तृतीय श्रेणी के दण्डाधिकारी (Magistrates) कहा जाता है।

इन न्यायालयों के निर्णय पर पुनर्विचार के आवेदन सत्र-न्यायालय (Sessions-Court) में सुने जाते हैं। सत्र-न्यायालय मृत्यु-दण्ड भी दे सकता है, उस पर उच्च-न्यायालय की स्वीकृति लेनी आवश्यक होती है। उसके निर्णयों के विरुद्ध अपीलें उच्च-न्यायालय सुनता है। इस न्यायालय का सबसे बड़ा अधिकारी सत्र-न्यायाधीश (Sessions Judge) कहलाता है।

राजस्व-न्यायालय
(Revenue-Courts)

उपरोक्त न्यायालयों के अतिरिक्त राज्य के भीतर राजस्व के मामलों को निपटाने के लिए अलग से राजस्व-न्यायालय होते हैं, इनमें सबसे पहला न्यायालय तहसीलदार का होता है उसके ऊपर एस डी एम का न्यायालय होता है, इसके बाद कलक्टर और कमिश्नर के न्यायालय होते हैं। राज्य का सबसे बड़ा राजस्व-न्यायालय राजस्व निगम (Revenue Board) कहलाता है। कलक्टर, कमिश्नर व राजस्व निगम राजस्व सम्बन्धी मुकदमों की सुनवाई के साथ ही छोटे न्यायालयों

से आने वाले पुनर्विचार के आवेदन भी सुनते है तथा निर्णय करते हैं। राजस्व-निगम के निर्णयो पर की जाने वाली अपीले राज्य का उच्च-न्यायालय सुनता है।

पंचायती-न्यायालय

संविधान ने राज्य के नीति-निर्देशक तत्वो मे अनुच्छेद ४० मे राज्य से यह अपेक्षा की है कि वह ग्राम पचायतो की स्थापना करेगा तथा उन्हे ऐसी शक्तिया देगा जिसके द्वारा वे स्वायत्त-शासन की इकाइयो की तरह काम कर सके। राज्यो ने इस दिशा मे महत्वपूर्ण कदम उठाये है और गावो मे केवल साधारण पचायते ही नही न्याय-पचायतें भी स्थापित की है। प्रत्येक राज्य ने इनका संगठन अपने ही ढग से किया है। ये न्याय-पचायतें छोटे झगडो को ही निपटाती हैं।

वर्तमान न्याय-प्रणाली

प्रस्तुत प्रसग मे यह अनुचित न होगा कि हम वर्तमान न्याय-प्रणाली के बारे मे दो शब्द अपनी ओर से कहे। हमारे देश को अग्रेजो मे यह विरासत मिली थी कि कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनो के कार्यों को एक ही व्यक्ति के हाथ मे रखा जाये। यह परम्परा हम अभी तक पूरी तरह नही छोड पाय हैं। एक ओर तो हमारे जिलाधीश और उसके आधीन अधिकारी जिले की शान्ति-व्यवस्था व प्रशासन के लिये उत्तरदायी होते है दूसरी ओर वे दण्डाधिकारी (Magistrate) के रूप मे न्याय की सत्ता का प्रयोग भी करते हैं। इस स्थिति मे सम्बन्धित व्यक्ति को न्याय मिलने मे कठिनाई होती है। न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक है कि न्यायाधीश के पास कोई प्रशासकीय काम न हो तथा वह राज्य सरकार के दबाव मे काम न करता हो।

हमारी न्याय-व्यवस्था अभी तक सर्वजन-सुलभ नही बन पाई है उसमे दो बडे दोष ये हैं कि एक ओर तो वह बहुत खर्चीली है, दूसरी ओर उसमे विलम्ब बहुत होता है। व्यक्ति मुकदमा लडते-लडते समाप्त हो जाता है और मुकदमा समाप्त नही होता। हमे यह भी कहना चाहिये कि न्यायालयों म जिन व्यक्तियों के विरुद्ध मामले ले जाये जाते हैं उनके साथ बहुत अच्छा व्यवहार नही होता, व्यक्ति की गरिमा की दृष्टि से यह आवश्यक है कि जब तक अपराध सिद्ध न हो तब तक व्यक्ति को किसी प्रकार की हानि नही पहुँचनी चाहिय। यद्यपि सिद्धान्त म यह बात मानी गई है तथापि पुरानी व्यवस्था कुछ इस तरह जड जमा कर बैठ गई है कि सुधार हो ही नही पा रहा है। इसमे सबसे बडा दोष पुलिस की मनोवृत्ति का है जिसने अपना काम आतक पैदा करना समझ लिया है। यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है, लोकतन्त्र के भीतर पुलिस लोकसेवी बनती है न कि लोक के लिय भय का माध्यम।

हमारे न्यायालय गावो से बहुत दूर है, सारी व्यवस्था शहरों मे करने का रिवाज चालू है, जिसके कारण गाव के लोगो को बहुत कठिनाई उठानी पडती है।

न्याय सहज, सस्ता और निकट तथा तुरन्त होना चाहिये। तभी वह न्याय होता है अन्यथा अच्छे से अच्छा न्याय भी निरर्थक हो जाता है। हम आशा है कि ज्यों-ज्यों हमारा गणराज्य प्रौढता की ओर जायगा त्यों-त्यों हमारी अन्य व्यवस्थाओं के साथ ही न्याय-व्यवस्था भी सुधरती जायगी। यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारा संविधान न्याय के बारे में बहुत सावधान है उसने प्रस्तावना में भी यह कहा है कि हमारे गणराज्य का लक्ष्य व्यक्ति को विविध प्रकार का न्याय प्राप्त कराना है।
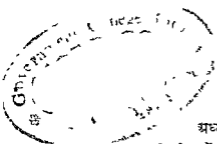
अध्याय : १८

लोकसेवायें (Public Services)

'एक बार नीति निर्धारित हो चुकने के बाद लोकसेवाओं के सदस्यों कर यह निश्चित कार्य है कि वे उस नाति का पूर्ण सद्भावना के साथ अनुसरण कर चाहे वे उसमे सहमत हो या न हो।'

—ब्रिटिश राजकीय आयोग

मानव समाज मे ज्यो-ज्यो शासन की कला का विकास हुआ है त्यो-त्यो शासन के विविध अङ्गो के बीच कार्यो का विभाजन और शक्तियो का पृथक्करण होता गया है। शासन के तीन प्रधान अङ्ग है, जिनमे से एक अङ्ग का *काम यह है कि वह शासन-*सचालन के लिये समय-समय पर निर्णय करे, दूसरे अङ्ग का काम इन निर्णयो को कार्यान्वित करना है, तीसरा अङ्ग शासन के नियमों के अनुसार झगडो का निपटारा और न्याय करता है। इन्हे हम क्रमशः विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका कहते है।

सघीय कार्यपालिका के वर्णन म हम पीछे यह बता चुके है कि कार्यपालिका के मोटे तौर पर दो भाग हाते है—स्थायी कार्यपालिका और अस्थायी कार्यपालिका, इन्हे हम अराजनीतिक कार्यपालिका और राजनीतिक कार्यपालिका भी कह सकते हैं।

राजनीतिक कार्यपालिका को मन्त्रिपरिषद कहा जाता है जिसका वर्णन पीछे पन्द्रहवें अध्याय मे किया जा चुका है। इसके सदस्य राजनीतिक दलो के सदस्य होते है तथा वे अपने दल की निर्वाचनो म विजय पर पद ग्रहण करते हैं तथा पराजय होने पर पद छोडकर चले जाते है, अत उनका पद अस्थायी होता है। इनका काम शासन की नीतियों को तय करना है य शासन के प्रत्यक्ष सचालन म बहुत कम भाग ले पाते है क्योकि न तो इनके पास उसके लिय आवश्यक समय ही होता है और न ये उसके लिय प्रशिक्षित ही होते ह। ये लोग नौसिखिये (Amateure) होते हैं जो शासन के मूलभूत सिद्धान्तो को तो समझते हैं परन्तु उसके सचालन मे निपुण या विशारद नही होते।

लोकसेवायें

अराजनीतिक कार्यपालिका मे शासन का वह अङ्ग आता है जो स्थायी तौर पर अपने पदों पर रहता है तथा जिसकी नियुक्ति राजनीतिक कारणो से नही वरन् योग्यता और प्रशिक्षण क आधार पर होती है। इसके सदस्यो को इस बात से कोई

वास्ता नही होता कि कौन दल सत्ता म है और कौन नही । मंथरा ने कैकेयी से,कहा था कि–'कोउ नृप होय हम का हानि, चेरी छाडि नहि होउव रानी ।' यह लोकसेवाओ की मनोवृत्ति है, अर्थात् उन्हे इस बात से कोई प्रयोजन नही है कि देश का राजनीतिक प्रशासन किसके हाथो म है, उनका काम केवल यह है कि उन्ह मन्त्रिपरिषद, राष्ट्रपति या ससद द्वारा जो भी आदेश दिये जाते है वे उनका पालन करें । यदि वे समझते हैं कि अमुक नीति ठीक नही है तब भी उनका धर्म यही है कि वे ईमानदारी के साथ उसको क्रियान्वित करें ।

स्थायी कार्यपालिका अर्थात लोकसेवको के दो प्रमुख कार्य हैं—(१) पहला तो यह कि उनके पास जो तथ्य हो उन्हे वे राजनीतिक कार्यपालिका-अधिकारियो अर्थात् मन्त्रियो के सामने पेश करें तथा यदि उन्ह लगता है कि मन्त्रियो की कोई नीति ठीक नही है या दोषपूर्ण है तो उन्हे उस बारे म सावधान कर दे । (२) दूसरा काम यह है कि उन्हे सर्वोच्च-कार्यपालिका अधिकारी अर्थात् राष्ट्रपति या राज्यपाल की ओर से जो आदेश प्राप्त हो वे निष्ठा के साथ उनका पालन करें तथा शासन की नीतियों के अनुसार काम करे ।

लोकसेवाओ के सदस्य देश के नागरिक होते है परन्तु जब तक वे लोकसेवक बने रहते हैं तब तक उनके नागरिकता के अधिकार सीमित रहते हैं । नागरिकता के तीन राजनीतिक अधिकारो—मत देना, निर्वाचन के लिये खडे होना, और पद पाना, म से वे केवल प्रथम और अन्तिम का ही प्रयोग कर सक्ते है दूसरे का नहीं अर्थात् वे किसी निर्वाचन के लिय खडे नही हो सकते, यदि वे वैसा करते हैं तो उन्हे अपने लोकसेवा सम्बन्धी पद से त्यागपत्र देना होगा । उन्हे यह स्वतन्त्रता है कि वे किसी भी राजनीतिक दल के सदस्य को अपना मत दें परन्तु उन्ह यह अधिकार नही है कि वे किसी राजनीतिक दल या व्यक्ति के लिय सक्रिय प्रचार कर सकें तथा उसकी खुलेआम सहायता कर सकें जिससे कि उनके पद की शक्ति का प्रयोग होता हो ।

निष्पक्ष नियुक्ति—लोकतन्त्रात्मक होने के कारण हमारे सविधान ने देश के समस्त नागरिकों को विकास के समान अवसर दिये है इसी प्रकार सरकारी पद पाने का अवसर भी सबको समान रूप से दिया गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि प्रत्यक व्यक्ति सरकारी-सेवा का सदस्य बना लिया जायेगा । लोकसेवाओ का काम विशेष योग्यता और शक्ति का होता है अत हमारे सविधान ने ऐसी व्यवस्था की है कि लोकसेवको को निष्पक्ष ढग से नियुक्त किया जा सके। किसी पद के लिये जो योग्यता निर्धारित की गई है उस योग्यता वाले समस्त व्यक्ति उस पद के लिये अपना आवेदन पत्र भेज सकते है तथा इस प्रकार जितने व्यक्तियों के आवेदन आते हैं उन सबके बीच योग्यता की प्रतियोगिता करा ली जाती है उसमे जो सबसे श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं उन्हे सेवा म नियुक्त कर दिया जाता है । निष्पक्ष नियुक्तिया ही लोकतन्त्र की आधारशिला हैं यदि लोकसेवाओ मे निष्पक्षता नही होगी तो देश की शासन-व्यवस्था

बिगड जायगी और लोकतन्त्र समाप्त हो जायगा। हमारे सविधान ने इस बारे मे पूरी सावधानी रखी है तथा ऐसा प्रबन्ध किया है कि यह निष्पक्षता बनाये रखी जा सके।

भारतीय लोकसेवाये

सविधान के खण्ड १४ के प्रथम अध्याय म कहा गया है कि सघ और राज्यों के काय का सचालन करने के लिय लोकसेवाये बनाई जायँगी तथा जो लोग लोकसेवाओ तथा पदा पर नियुक्त किय जायेंग उनके भर्ती करने व उनकी सेवाओ की दशाये तय करने के लिय सम्बन्धित विधायिका अधिनियम बनायगी। सम्बन्धित विधायिका से तात्पर्य यह है कि सघीय–लोकसेवाओ के बारे में सघ-ससद और राज्यों की लोकसेवाओ के बारे म राज्यों के विघानमण्डल। जब तक ऐसी व्यवस्था नही की जाती तब तक यह काम सघीय लोकसेवाओ के लिय राष्ट्रपति और राज्यो की लोकसेवाओ के लिये राज्यपाल करेंगे।

कार्यकाल—सघ की सुरक्षा-सेवा या लोकसेवा मे कार्य करने वाले समस्त व्यक्ति राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त (During Pleasure) अपने पद पर रहेगे, तथा राज्यो के कर्मचारी राज्यपाल के प्रसाद–पर्यन्त। यदि किसी ऐसे कारण से जिसम कर्मचारी का दोप न हो राष्ट्रपति या राज्यपाल किसी कर्मचारी को उसके पद से हटाना चाह (पद विसर्जन हो जाने के कारण या अधिक योग्य व्यक्ति की नियुक्ति के कारण) तो उस कर्मचारी को प्रतिधन (Compensation) दिया जायगा।

सघ या राज्य क किसी भी कर्मचारी को किसी ऐसे अधिकारी द्वारा उसके पद से नही हटाया जायगा जिसका पद उसकी नियुक्ति करने वाले अधिकारी के पद से नीचा हो। किसी भी कर्मचारी को तब तक उसके पद से न तो हटाया जा सकता है न उसकी पदावनति (पद घटाना) की जा सकती है जब तक कि उसे इस बात का पर्याप्त अवसर न दे दिया गया हो कि वह अपने विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही के विपक्ष में अपना बचाव दे सके। यह धारा उन मामलो म लागू नही होगी जहा व्यक्ति को ऐसे आचरण के परिणाम स्वरूप हटाया जा रहा हो जिसके कारण पहले ही उसे दण्ड-आरोप (Criminal-Charge) पर सजा मिल चुकी हो, अथवा जहा पद-च्युत करने की सत्ता रखने वाला अधिकारी यह महसूस करता है कि किसी ऐसे कारण से जिसका उसने लिखित म उल्लेख कर दिया है उस कर्मचारी को वैसा अवसर देना व्यवहारिक दृष्टि से ठीक नही होगा, या राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल यह समझता है कि सुरक्षा सम्बन्धी कारणो से उस व्यक्ति को वैसा अवसर देना ठीक नही होगा।

अखिल भारतीय सेवायें—यदि राज्यसभा अपने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से यह निश्चय कर देती है कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से एक या अनेक अखिल भारतीय सेवायें बनाना आवश्यक है जो संघ और राज्यों दोनों के काम आयें तो संसद विधि बनाकर उनकी व्यवस्था कर सकती है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत भारतीय प्रशासकीय सेवा (Indian Administrative Service), व भारतीय पुलिस सेवा (Indian Police Service) का उल्लेख संविधान में किया गया है परन्तु उसके बाद भारतीय लेखा तथा लेखा-परीक्षण सेवा (Indian Accounts & Audit Service) व भारतीय अरण्यसेवा (Indian Forest Service) आदि दूसरी कुछ सेवायें भी अखिल भारतीय स्तर पर शुरू की गई हैं।

अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्य संघ-शासन में गृहमन्त्रालय के आधीन होते हैं तथा उनका नियन्त्रण संघीय लोकसेवा आयोग के द्वारा होता है। जब वे राज्यों में सेवा करने के लिये भेजे जाते हैं तो राज्य का शासन उनको न पदच्युत कर सकता है और न वह उनकी पदावनति कर सकता है, वह या तो संघ सरकार से कहकर उन्हें अपने यहां से हटवा सकता है या एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित कर सकता है। जब वे राज्यों की सेवा में होते हैं तब उनके वेतन भत्ते आदि सम्बन्धित राज्य के कोष से दिये जाते हैं। प्राय सभी राज्यों में समस्त महत्वपूर्ण पदों पर अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्य काम करते हैं, जैसे प्रत्येक जिला-कलक्टर सामान्यत. भारतीय प्रशासकीय सेवा (I A S) का सदस्य होता है।

संघीय लोकसेवायें—संघीय लोकसेवाओं में से कुछ के नाम हम यहां गिना सकते हैं—भारतीय प्रशासकीय सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय विदेश सेवा, भारतीय लेखा तथा लेखा-परीक्षण सेवा, सैनिक लेखा सेवा, भारतीय रेलवे लेखा सेवा, भारतीय तटकर व मदकर सेवा, भारतीय आयकर सेवा, भारतीय डाकतार सेवा, भारतीय अरण्य सेवा।

राज्य-लोकसेवायें—राज्यों में भी विविध कार्यों की पूर्ति के लिये अनेक लोकसेवायें बनाई गई हैं, इनमें प्रमुख ये हैं—राज्य प्रशासकीय सेवा, राज्य पुलिस सेवा, राज्य शिक्षा सेवा, राज्य स्वास्थ्य सेवा, राज्य अरण्य सेवा, राज्य विश्वकर्म सेवा (अरण्य का अर्थ है फौरेस्ट और विश्वकर्म का इंजीनियरिंग)।

इनके अतिरिक्त कृषि, सिंचाई, समाज कल्याण आदि अनेक विभागों के लिये सैकड़ों कार्यकर्ता राज्य में काम करते हैं। सेवाओं का वर्गीकरण प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ श्रेणियों में किया गया है। आशा है कि समाजवाद के विकास के साथ ही हमारा यह श्रेणि-विभाजन मिटेगा नहीं तो कम से कम घट तो जायेगा ही।

लोकसेवा आयोग

(Public Service Commissions)

संविधान के चौदहवें खण्ड के दूसरे अध्याय में लोकसेवा आयोगों का वर्णन किया गया है। उसमें कहा गया है कि संघीय सेवाओं के लिए एक लोकसेवा आयोग होगा तथा प्रत्येक राज्य के लिए एक-एक लोकसेवा आयोग होगा। यदि दो या अधिक राज्यों के विधान मण्डल ऐसा निर्णय करें कि उनके लिए एक सम्मिलित लोकसेवा आयोग बनाया जायगा तो संसद संयुक्त राज्य लोकसेवा आयोग के लिए व्यवस्था कर सकती है जिसे संयुक्त आयोग कहा जायगा।

यदि किसी समय किसी राज्य का राज्यपाल संघीय लोकसेवा आयोग से प्रार्थना करे कि वह राज्य की किसी ऐसी या अनेक या सब आवश्यकताओं को पूरा करे तो राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो जाने पर वह वैसा कर सकता है।

नियुक्तियाँ—संघीय लोकसेवा आयोग और संयुक्त आयोग के सदस्यों और अध्यक्षों की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा राज्य-लोकसेवा आयोग के सदस्यों और अध्यक्ष की नियुक्ति राज्यपाल करेगा।

किसी भी लोकसेवा आयोग के सदस्यों में से लगभग आधे सदस्य ऐसे होने चाहियें जो अपनी इस नियुक्ति के समय कम से कम दस वर्ष तक संघ या राज्य सरकार के अन्तर्गत सेवा कर चुके हों।

कार्यकाल—लोकसेवा आयोगों के सदस्य अपनी नियुक्ति के समय से केवल छह वर्ष तक अपने पद पर रह सकते हैं तथा वह अवधि पूरी हो जाने पर उन्हें दोबारा उस पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि संघीय लोकसेवा आयोग का कोई सदस्य छह वर्ष पूरे होने से पहले ही ६५ वर्ष की अवस्था प्राप्त कर लेता है तो वह सेवा से निवृत्त हो जायगा तथा संयुक्त या राज्य लोकसेवा आयोगों के सदस्य ६० वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर निवृत्त हो जायेंगे।

पदमुक्ति—संघीय और संयुक्त आयोगों के सदस्य राष्ट्रपति को अपना त्याग-पत्र देकर कार्यमुक्त हो सकते हैं तथा राज्य आयोगों के सदस्य अपने अपने सम्बन्धित राज्यपाल को त्यागपत्र दे सकते हैं।

संविधान ने इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि राष्ट्रपति किसी भी लोक-सेवा आयोग के किसी भी सदस्य या अध्यक्ष को निम्न आधारों पर पदच्युत कर सकता है यदि वह—

१ किसी न्यायालय द्वारा दिवालिया घोषित कर दिया गया हो।

२ अपने पद के अतिरिक्त कोई दूसरी वैतनिक-सेवा करने लगा हो।

३ राष्ट्रपति के विचार से शारीरिक या मानसिक अयोग्यता के कारण अपने पद पर रहने के अयोग्य हो गया हो।

४ यदि राष्ट्रपति को लगता है कि किसी लोकसेवा आयोग के किसी सदस्य

या अध्यक्ष ने अनुचित व्यवहार किया है तो वह उस मामले को जाच के लिये सर्वोच्च-न्यायालय के पास भेज सकता है तथा सर्वोच्च-न्यायालय उसके बारे मे जाच करने के बाद यदि यह सिफारिश करता है कि उस व्यक्ति के विरुद्ध लगाये गये आरोप सिद्ध हो गये हैं तथा उस कारण से उसे उसके पद से हटा देना चाहिये तब राष्ट्रपति उसे हटा देगा। यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि राज्यो के लोकसेवा आयोग के सदस्य और अध्यक्ष को हटाने की शक्ति भी राष्ट्रपति के ही पास है राज्यपाल के पास नही है।

ऐसी स्थिति मे जबकि राष्ट्रपति ने किसी सदस्य या अध्यक्ष के विरुद्ध किसी आरोप की जाच का काम सर्वोच्च-न्यायालय को सौपा है यदि आवश्यक समझा जाय तो सघीय और सयुक्त आयोगो के सदस्यो या अध्यक्षो को राष्ट्रपति और राज्य-आयोग के सदस्यो और अध्यक्ष को जो भी आरोपो से सम्बन्धित हो राज्यपाल निलम्बित (Suspend) कर सकता है।

अनुचित व्यवहार के आरोप मे ऐसे मामले आते हैं जैसे कि किसी लोकसेवा आयोग का कोई सदस्य या अध्यक्ष भारत सरकार या राज्य सरकार द्वारा दिये गये किसी ठेके से किसी प्रकार सम्बन्धित हो जाता है या उसमे उसका कोई हित निहित हो जाता है या वह उससे होने वाले लाभ मे किसी प्रकार भागीदार हो जाता है तथा किसी व्यापारिक सस्था के दूसरे सदस्यो के साथ उसके लाभ या वेतन मे हिस्सेदार हो जाता है। ऐसे मामलो को राष्ट्रपति सर्वोच्च-न्यायालय के पास भेजता है।

आयोग के सदस्य और कार्य की दशायें—सघीय और सयुक्त आयोगो में कितने सदस्य होगे यह राष्ट्रपति तय करता है तथा राज्य आयोग मे कितने होगे यह राज्यपाल निर्णय करता है। इसी प्रकार उनके कार्य की दशाओ का निश्चय भी किया जाता है। आयोगो के अन्य कार्यकर्ताओ के बारे मे भी इसी रीति से निर्णय होता है।

सविधान ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि आयोग के किसी सदस्य की नियुक्ति के बाद उसके वेतन भत्ते या काम की दशाओ मे कोई ऐसा परिवर्तन नही किया जा सकता जिससे उसे हानि होने की सम्भावना हो।

आयोग के सदस्यो और अध्यक्षो पर प्रतिबन्ध—किसी भी आयोग के सदस्य और अध्यक्ष सेवा से निवृत्त होने के बाद निम्न शर्तों से बधे रहेंगे—

१ सघीय-लोकसेवा आयोग का अध्यक्ष भारत या राज्य सरकारो मे किसी भी वैतनिक पद पर नियुक्त नही किया जा सकेगा।

२ किसी राज्य-लोकसेवा-आयोग का अध्यक्ष सघीय लोकसेवा आयोग का सदस्य या अध्यक्ष अथवा किसी दूसरे राज्य के लोकसेवा आयोग का अध्यक्ष बनाया जा सकता है इसके अतिरिक्त वह भारत या किसी राज्य सरकार के आधीन कोई दूसरा पद ग्रहण नहीं कर सकता।

३ अध्यक्ष को छोड़कर सघीय आयोग का कोई सदस्य सघीय-आयोग या राज्य लोकसेवा-आयोग का अध्यक्ष बनाया जा सकता है वह इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी वैतनिक पद भारत या राज्यसरकारो के आधीन ग्रहण नही कर सकता।

४ अध्यक्ष को छोड़कर किसी राज्य-लोकसेवा आयोग का कोई सदस्य अपने राज्य या किसी दूसरे राज्य के लोकसेवा आयोग का अध्यक्ष बनाया जा सकता है, अथवा वह सघीय लोकसेवा आयोग का सदस्य या अध्यक्ष बनाया जा सकता है परन्तु इनके अतिरिक्त और कोई दूसरा वैतनिक पद वह भारत या किसी राज्य सरकार के आधीन ग्रहण नही कर सकता।

लोकसेवा आयोगो का कार्य

सविधान मे लोकसेवा आयोगो के निम्न कार्यों का उल्लेख किया गया है—

१ सघीय और राज्य लोकसेवा आयोग क्रमश सघ और राज्यो की सेवाओ म नियुक्ति करने के लिए परीक्षाओ का सचालन करेंगे।

२ यदि किसी समय दो या अधिक राज्य सघीय आयोग से यह प्रार्थना करें कि वह उन्हे किन्ही ऐसी सेवाओ म सयुक्त रूप से भर्ती करने की योजनायें बनाने और उनका सचालन करने में सहायता दे जिनके लिए विशेष योग्यता वाले व्यक्तियो की आवश्यकता होती है तो सघीय आयोग का यह कर्तव्य होता कि वह उनकी सहायता करे।

३ सघीय और राज्य आयोगा से अपने-अपने क्षेत्र म निम्न मामला म परामर्श मागा जाएगा—

(क) समस्त असैनिक सेवाओ और पदो के लिए भर्ती करने से सम्बन्धित सब मामला मे,

(ख) असैनिक सेवाओ और पदो पर नियुक्ति, एक असैनिक सेवा से दूसरी असैनिक सेवा म स्थानान्तरण या पदोन्नति तथा नियुक्ति, पदोन्नति व स्थानांतरण के लिए उम्मीदवारो की योग्यता के सम्बन्ध म व्यवहार किए जाने वाले सिद्धान्तो के तय करने म,

(ग) भारत सरकार या राज्य सरकार के अन्तर्गत असैनिक पद पर काम करने वाले किसी व्यक्ति के विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही तथा उससे सम्बन्धित स्मरण-पत्र या आवेदन आदि के बारे म,

(घ) ऐसे मामला मे जहा किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा जो भारत या राज्य सरकार के आधीन किसी असैनिक पद पर काम कर रहा है या कर चुका है या ब्रिटिश शासन काल म कर चुका है या किसी देशी राज्य में काम कर चुका है, यह माग की गई हो कि उसे किसी ऐसे मुकदमे पर खर्च हुई राशि भारत या राज्य की सचित निधि म से दिलाई जाये जो उस पर किसी ऐसे काम के लिये चलाया गया था जिसे वह अपने पद से सम्बधित कर्तव्य को पूरा करने के लिये कर रहा था,

(च) ऐसे मामलो में जिनमे उपरोक्त प्रकार का व्यक्ति सरकारी काम के सिलसिले में आने वाली चोट या चोटो के लिये कोई निवृत्ति-वेतन (पेंशन) मागता हो, तथा इस मामले में भी कि उसे कितनी राशि दी जाये।

(छ) राष्ट्रपति या राज्यपाल सघीय या राज्य आयोग से किसी भी मामले मे परामर्श माग सकता है, साथ ही वह पहले से यह घोषणा कर सकता है कि सघ या राज्य की दूसरी सेवाओ के बारे मे वह किन-किन मामलो मे लोकसेवा आयोग का परामर्श लेगा और किन म नही।

राष्ट्रपति या राज्यपाल लोकसेवा आयोग के परामर्श से जो नियम बनाता है वे कम से कम चौदह दिन तक चर्चा और निर्णय के लिये ससद या राज्य-विधान-मण्डल के सामने रखे जायेंगे, तथा वे जिस प्रकार उन्हे स्वीकार करेंगे उस प्रकार उन्हे लागू किया जायेगा।

ससद सघीय आयोग के और राज्य विधानमण्डल राज्य–आयोग के कार्यक्षेत्र का विस्तार कर सकती है।

लोकसेवा आयोगो का समस्त व्यय सघ मे भारत की सचित निधि पर और राज्यो मे उनकी सचित निधि पर भारित होगा।

आयोगों के प्रतिवेदन—सविधान ने कहा है कि सघीय लोकसेवा आयोग प्रतिवर्ष अपने कार्यों का एक प्रतिवेदन राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत करेगा तथा राष्ट्रपति उस प्रतिवेदन को एक ऐसे स्मरण पत्र के साथ दोनो सदनो के सामने रखेगा जिसमे बताया जायगा कि यदि किन्ही मामलो म आयोग की सिफारिश नही मानी गई है तो उसका क्या कारण है।

इसी प्रकार की कार्यवाही इस बारे म राज्यो म की जायगी, वहा प्रतिवेदन राज्यपाल के सामने पेश किया जायगा तथा वह राज्य के विधानमण्डल को यह बतायगा कि यदि आयोग की सिफारिशें किन्ही अवसरो पर नही मानी गई है तो उनका क्या कारण है।

लोकसेवा आयोग की निष्पक्षता

जैसा हम आरम्भ मे कह चुके है लोकतन्त्र के भीतर सरकारी पदो पर नियुक्तियो म अधिक से अधिक निष्पक्षता का व्यवहार होना चाहिये, नियुक्तिया और पदोन्नति योग्यता के आधार पर की जानी चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि इस *काम को करने वाला आयोग अर्थात लोकसेवा आयोग सरकार के दबाव* से ठीक उसी प्रकार मुक्त होना चाहिये जिस प्रकार न्यायालय। नियुक्तियो मे भी न्याय का तत्व समावेश करने की आवश्यकता है। यह न्याय दोहरा होता है, एक तो व्यक्ति के प्रति दूसरा समाज के प्रति। व्यक्ति के प्रति न्याय मे हमारा प्रयोजन यह है कि आयोग को यह सावधानी रखनी चाहिये कि ऐसा न होने पाये कि योग्य उम्मीदवार के रहते हुए अयोग्य या कम योग्यता वाला उम्मीदवार सेवा के

लिये भर्ती कर लिया जाये, समाज के प्रति न्याय भी इसके साथ ही जुडा हुआ है, यदि अयोग्य व्यक्तियो को राज्य के पदो पर नियुक्त कर दिया जाता है तो वह निश्चित रूप से समाज की हानि करने वाला है। समाज के साथ तभी न्याय हो सकता है जब कि आयोग योग्यतम व्यक्ति को सरकारी पदो के लिये चुने और उन्हे नियुक्ति व पदोन्नति दे।

ऐसा करने के लिये संविधान ने उसे सरकारी दबाव से बहुत मुक्त रखा है, उदाहरण के लिय उस पर होने वाला व्यय सचित निधि पर भारित होता है अर्थात् संसद और राज्यों के विधानमण्डल उस पर मत नही देते, उसके सदस्यो के वेतन भत्ते और दूसरे लाभ उनके कार्यकाल मे घटाय नही जा सकते, उसके सदस्यो के निवृत्त होने पर वे दूसरी सरकारी नौकरियो मे नही जा सकते, उन्हें केवल राष्ट्रपति ही हटा सकता है वह भी तब जबकि सर्वोच्च-न्यायालय उन्हें दोषी पाये और राष्ट्रपति से उन्हे हटाने की सिफारिश करे, तथा जब लोक-सेवा आयोग की सिफारिशें नही मानी जाती तो राष्ट्रपति या राज्यपाल को यह बताना पडता है कि वैसा क्यो हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा संविधान इस दिशा म खूब सतर्क रहा है और उसने एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया है जिसमे यदि हम चाहे तो ईमानदार और निष्पक्ष रह सक्ते हैं। जहा तक कानून का सम्बन्ध है उसम तो कोई दोष है नही, उसके बावजूद भी यदि हमारे यहा निष्पक्षता न रह पाती हो तो वह हमारे चरित्र का दोष माना जायेगा संविधान का नही, इस बारे में हम सभी को सोचना होगा तथा अपने लिये यह निर्णय करना होगा कि हम संविधान के प्रति पूरी तरह वफादार रहेंगे तथा उसे ऐसे कानून का ढाचा नही मानेंगे जिसकी आख मे जब बन पडे तब धूल झोंक कर बुद्धिमान बना जाये, वरन हम उसे अपने जीवन के शाश्वत मूल्यो का प्रहरी समझें तथा सतर्कता के साथ चेष्टा करें कि हम अपनी राष्ट्रभक्ति के नाते अपने संविधान के शब्द और उसकी आत्मा दोनो का पूरी तरह निर्वाह करें।

लोकसेवायें और मन्त्रिपरिषद

प्रस्तुत अध्याय के आरम्भ मे हमने कार्यपालिका के स्वरूप का विश्लेषण किया है यहा हम यह बताना चाहते हैं कि लोकसेवको और मन्त्रियो के बीच क्या सम्बन्ध होता है। नदी कहती है कि पानी आता है और जाता है परन्तु मैं सदा बहती रहती हू, नदी म हाथ डालें और निकाल कर फिर डालें तो वह पहले वाला जल हमारे हाथ नही आयेगा वह तो कितनी ही दूर निकल चुका होगा। ठीक इसी प्रकार मन्त्रिपरिषद और सरकार का सम्बन्ध है। सरकार एक निरन्तर प्रवाहित होने वाली नदी है और मन्त्रिपरिषद उसमे आने और जाने वाला जल है जो कभी स्थिर नही रहता। सरकार रूपी नदी का निरन्तर प्रवाह किसके कारण बना रहता है? इस प्रश्न का उत्तर देना हो तो हम कहेंगे कि लोकसेवकों के कारण, वे सरकार के

स्थायी तत्व हैं।

इन दोनो के सम्बन्ध के बारे मे यह कहा जा सकता है कि मन्त्री अपने विभाग मे एक नौसिखिया (Amateur) होता है और लोकसेवा का सदस्य विशेषज्ञ (Expert)। मन्त्री नीति के लिये उत्तरदायी होता है और लोकसेवक उनको क्रियान्वित करने के लिय। नीतिया जब तक नही बनती या उन पर अन्तिम निर्णय नही होता तब तक लोकसेवक को अधिकार है कि वह उनके बारे म पूछे जाने पर और कई बार बिना पूछे हुए भी अपना मत मन्त्री को दे दे, साथ ही उससे सम्बन्धित आवश्यक रेकार्ड और दूसरी सामग्री भी मन्त्री के सामने पेश कर दे। मन्त्री का कर्तव्य है कि वह लोकसेवक की बात ध्यान से सुने और उसके विभाग के बारे म उसकी विशेष योग्यता व अनुभव का सम्मान करे, यह आवश्यक नही हैं कि वह उसकी बात माने ही परन्तु यह आवश्यक हैं कि वह उसकी आलोचना के लिय उससे अप्रसन्न न हो, बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र मे कहा गया हैं कि मन्त्रकाले न कोपयन्‍ अर्थात मन्त्रणा (सलाह) करते समय प्रतिकूल विचार आने पर भी लोकसेवक पर नाराज नही होना चाहिय सचिव के मत का सम्मान करना चाहिय। सचिव (Secretary) का कर्तव्य हैं कि यदि वह किसी नीति मे गम्भीर दोष देखता हैं तो वह उसके दुष्परिणामो के बारे में मन्त्री को सचेत कर दे इस पर भी यदि वह नीति बन जाती हैं तो पूरी शक्ति के साथ उसकी सफलता के लिये काम करे। नीति बन जाने के बाद वह उसकी आलोचना नही कर सकता सेना के सिपाही की भाति तब तो उसे बस काम करना और मरना हैं यह नही पूछना कि कैसे और क्यो।

मन्त्रियो का विशेषज्ञ न होना अच्छा माना गया हैं क्योकि यदि किसी विभाग के राजनीतिक और स्थायी दोनो अध्यक्ष विशषज्ञ होग तो उनके बीच बात-बात मे मतभेद होग और विभाग का काम डूब जायगा। मन्त्री का काम केवल इतना हैं कि वह अपने विभाग मे लोकहित की प्रवृत्ति को सचारित करे तथा शेष काम लोकसेवक के लिय छोड दे। दोनो के मध्य अधिकतम सहयोग होने पर ही प्रशासन म कुशलता आ सकती हैं। यदि लोकसेवायें निरकुश हो जायें तो लोकतत्र के स्थान पर कर्मचारीतत्र (Bemurocracy) स्थापित हो जायगा और समाज लोकतन्त्र के लाभ से वचित हो जायगा।

★

अध्याय १९
प्रमुख अधिकारी, आयोग, समिति व परिषद्

"भारत का महान्यायवादी, नियन्त्रक महालेखा-परीक्षक, अन्तर्राज्य-वाणिज्य अधिकारी, अनुसूचित व आदिम जाति अधिकारी, पिछड़ी जाति सुधार आयोग, वित्त आयोग, राष्ट्रभाषा आयोग, निर्वाचन आयोग, राष्ट्र-भाषा समिति, अन्तर्राज्य-परिषद व अन्य।"

सविधान के विभिन्न अनुच्छेदो मे अनेक अधिकारियो, आयोगो, समिति व परिषदो का उल्लेख किया गया है उनमे से कुछ प्रमुख का वर्णन प्रस्तुत अध्याय मे किया जा रहा है।

प्रमुख अधिकारी

१ महान्यायवादी—सविधान ने राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया है कि वह एक ऐसे व्यक्ति को भारत का महान्यायवादी नियुक्त करेगा जिसम सर्वोच्च-न्यायालय का न्यायाधीश होने की योग्यता हो। महान्यायवादी (Attorney-General) का कर्तव्य यह होगा कि वह भारत सरकार को ऐसे सब मामलो मे परामर्श दे जिनका सम्बन्ध वैधानिक प्रश्नो से हो, तथा ऐसे दूसरे काम करे जो उसे राष्ट्रपति द्वारा या ससद की विधि द्वारा उसे सौंपे जायें। अपने कर्तव्यों की पूर्ति के लिये वह भारत के प्रत्यक न्यायालय म सुनवाई का अधिकार रखता है।

इसके अतिरिक्त उसे यह अधिकार भी है कि वह किसी समय ससद के एक या दोनो सदनो म किसी प्रश्न पर भाषण दे सके तथा ससद की किसी समिति के सामने अपना विचार रख सके, वह ससद की समितियो का सदस्य बनाया जा सकता है तथा उनकी कार्यवाही मे भाग ले सकता है।

महान्यायवादी को वह वेतन और भत्ता आदि मिलेगा जो कि उसके लिये राष्ट्रपति तय करेगा तथा वह राष्ट्रपति के प्रसाद-काल म अपने पद पर रहेगा।

२ *नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक*—भारत के लिय एक नियन्त्रक-महालेखा-परीक्षक (Auditor & Comptroller General) की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। उसका वेतन, भत्ता और सेवा की दूसरी सब शर्तें ससद द्वारा तय की जायेंगी। परन्तु ससद को यह अधिकार नही है कि वह उसके कार्यकाल में उसके वेतन आदि को कम कर सके। यह व्यवस्था इसलिय की गई है जिससे कि वह निर्भयता पूर्वक अपना काम कर सके तथा उसे अपना वेतन आदि कम होने का

कोई आशंका न हो।

वह निम्नलिखित कार्य करेगा—

१ भारतीय लेखा-परीक्षा विभाग (Audit Deptt.) और लेखा-विभाग (Accounts Deptt) मे काम करने वाले व्यक्तियो की सेवा-शर्तों तथा अपनी प्रशासकीय शक्तियों के बारे मे राष्ट्रपति द्वारा मागे जाने पर सलाह देना,

२ राष्ट्रपति का अनुमोदन प्राप्त करके सघ और राज्यो मे लेखा (Accounts) रखने की पद्धति निश्चित करना,

३ सघ के लेखे सम्बन्धी वार्षिक प्रतिवेदन (Report) राष्ट्रपति के सामने तथा राज्यो के लेखे का प्रतिवेदन राज्यपालो के सामने प्रस्तुत करना, तथा

४ संघीय सरकार राज्य सरकारो और अन्य सस्थाओ के लेखे के सम्बन्ध मे ससद द्वारा निर्धारित कर्तव्यो का पालन करना।

पद का महत्व—नियन्त्रक महा-लेखा परीक्षक वास्तव म संसद और विधानमण्डलो का एक सहायक अधिकारी है, वह ससद की ओर से सरकार के व्यय की जाच करता है, वह यह देखता है कि ससद ने और राज्यो के विधानमण्डलो ने जिस काम के लिए धन स्वीकार किया था, वह उसी के लिये व्यय हुआ है या नही। वह यह भी देखता है कि सरकारो ने धन का दुरुपयोग तो नही किया है, यदि वह समझता है कि वैसा हुआ है तो वह संघ के बारे मे ससद को तथा राज्यो के बारे मे उनके विधानमण्डलो को वैसी सूचना अपने प्रतिवेदन मे देता है।

पिछले दिनो भारत के नियन्त्रक महा-लेखापरीक्षक ने अपने वार्षिक प्रतिवेदन में सुरक्षा-मन्त्रालय द्वारा गत वर्ष मे किये गये व्यय की आलोचना की और यह प्रतिवेदन सयोग से ठीक उस समय ससद की मेज पर पहुचा जबकि ससद सुरक्षा-मन्त्रालय की आगामी वर्ष की मागो पर विचार कर रही थी, इससे सुरक्षा मन्त्री और उनके कुछ मित्रो को ऐसा लगा कि नियन्त्रक महा-लेखापरीक्षक का उस समय प्रतिवेदन पेश करना अनुचित था। इस आधार पर ससद मे उसकी बहुत आलोचना की गई। उस आलोचना का उत्तर देते हुए वित्त-मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने कहा कि, "किसी लोकतान्त्रिक शासन मे एक स्वतन्त्र न्यायपालिका और स्वतन्त्र लेखा-परीक्षण का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। अत. यदि उनकी आलोचना की जाती है तो यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।" .. ..इसी सदर्भ मे उन्होने दूसरे अवसर पर ससद में कहा कि, "नियन्त्रक महा-लेखापरीक्षक को सविधान में असाधारण स्थान दिया गया है अत न तो उसकी सत्ता के बारे मे शका की जानी चाहिये और न उसके आचरण के बारे में चर्चा की जानी चाहिये।" उन्होने यह भी बताया कि वह अपना वार्षिक प्रतिवेदन वित्त-मन्त्रालय के द्वारा राष्ट्रपति को भेजता है, तथा वित्त-मन्त्रालय यह तय करता है कि उसे कब ससद के सामने पेश किया जाये।

इसी प्रश्न पर बोलते हुए संसत्सदस्य श्री फ्रैंक एन्थनी ने लोकसभा में कहा कि, "लेखा-परीक्षण सम्बन्धी विधियाँ नियन्त्रक महा-लेखापरीक्षक पर इस प्रकार का

कोई प्रतिबन्ध नही लगाती कि वह कब किस मामले को संसद के ध्यान मे लाये या न लाये। सविधान निर्माताओ ने उसे एक असाधारण स्थान प्रदान किया है। उसका *स्थान न्यायाधीशों से भी ऊँचा है। यह उसका कर्तव्य और अधिकार है कि वह* ससद के सामने अपना प्रतिवेदन रखे। .. उसने बिना किसी देरी के सुरक्षा मन्त्रालय की लेखा-परीक्षण रिपोर्ट लोकसभा के सामने रखी इसके लिये वह बधाई का पात्र है। उसे सविधान ने असाधारण शक्तिया जान बूझ कर दी हैं।" (२१ अप्रैल १६६०)

निष्पक्षता का प्रबन्ध—सविधान ने उसकी निष्पक्षता बनाये रखने के लिय निम्न प्रबन्ध किया है—

१ उसके वेतन और भत्ते तथा उसके कार्यालय से सम्बन्धित समस्त व्यय भारत की सचित निधि पर भारित होता है उसके बारे मे संसद को मत देने का *अधिकार नही है।*

२. उसके वेतन और भत्ते आदि उसके कार्यकाल म घटाये नही जा सकते।

३ वह अपने पद पर ६५ वर्ष की आयु प्राप्त करने तक रहेगा, तथा सेवा निवृत्त होने के बाद वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत कोई वैतनिक सेवा नही कर सकेगा।

४ उसे राष्ट्रपति द्वारा केवल उस प्रकार ही हटाया जा सकता है जिस प्रकार ससद की स्वीकृति मिलने पर सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जा सकता है। इस प्रकार वह कार्यपालिका के दबाव से सर्वथा मुक्त है।

३ *अन्तर्राज्य वाणिज्य अधिकारी—सविधान के अनुच्छेद ३०७ ने ससद को* यह अधिकार दिया है कि वह अपनी विधि द्वारा एक ऐसे अधिकारी की नियुक्ति करे जो निम्न कार्य करे—

सारे भारत मे व्यापार वाणिज्य और आवागमन की स्वतंत्रता की रक्षा करना, यदि सार्वजनिक हित की दृष्टि से ससद ने इस पर कोई प्रतिबंध लगाये हो तो उनका पालन कराना, यह देखना कि ससद या राज्यो के विधानमण्डल इस प्रकार का कोई नियम न बनावें जिसके द्वारा राज्यो के बीच किये जाने वाले व्यवहार में भेदभाव पैदा हो, तथा यह ध्यान रखना कि कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के साथ होने वाले व्यापार पर कोई ऐसे अनुचित प्रतिबन्ध न लगावे जो संविधान की धाराओ के विपरीत हो।

४ **अनुसूचित व आदिमजाति अधिकारी**—सविधान के अनुच्छेद ३३८ के *अनुसार राष्ट्रपति एक ऐसे विशेष अधिकारी की नियुक्ति करता है जो इन जातियो* को दी जानी वाली विशेष सुविधाओ के बारे में सब मामलो पर जाच करेगा तथा समय-समय पर अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति के सामने पेश करेगा। राष्ट्रपति उस प्रतिवेदन को ससद के दोनो सदनो के सामने रखायेगा।

५. **भाषायी अल्पसख्यक अधिकारी**—संविधान के अनुच्छेद ३५० 'ब' म कहा गया है कि राष्ट्रपति एक भाषायी-अल्पसख्यक-अधिकारी (Languages-Mino-

rity Officer) की नियुक्ति करेगा जिसका काम यह होगा कि वह सविधान के अन्तर्गत भाषायी अल्पसख्यकों को जो सुरक्षा प्रदान की गई है उससे सबधित प्रत्यक मामले म समय-समय पर राष्ट्रपति को अपना प्रतिवेदन दे। राष्ट्रपति उस प्रतिवेदन को ससद के दोनो सदनों के सामने रखायगा तथा उसे सम्बन्धित राज्य-सरकार को भेजेगा।

प्रमुख आयोग, समिति व परिषद्

६ पिछडी जाति सुधार आयोग—सविधान के अनुच्छेद ३४० के अनुसार राष्ट्रपति एक आयोग बनाता है जिसका काम यह है कि वह भारत मे सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछडे हुए वर्गो की दशाओ की खोज करे तथा यह पता लगाय कि वे किन दशाओ म परिश्रम करते ह। यह आयोग अपनी सिफारिशें राष्ट्रपति को देगा जिनम वह बतायगा कि उनकी दशा सुधारने के लिय भारत और राज्य सरकारो को क्या क्या कदम उठाने चाहिये उनके सुधार के लिय कितनी राशि व्यय की जानी चाहिय तथा उस राशि को किस प्रकार व्यय किया जाना चाहिय।

इस आयोग की सिफारिशो की प्रतिलिपि राष्ट्रपति ससद के दोनो सदनो के सामने अपने स्मरण पत्र के साथ पेश करेगा। उसके स्मरण पत्र में बताया जायगा कि सरकार ने उन सिफारिशो को क्रियान्वित करने के लिय क्या कदम उठाय है।

७ वित्त आयोग (Finance-Commission)—सविधान के अनुच्छेद २८० मे बताया गया है कि राष्ट्रपति सविधान के लागू होने के दो वर्ष के भीतर अर्थात १९५२ तक एक वित्त आयोग की स्थापना करेगा तथा उसके बाद हर पाचवें वर्ष या यदि वह आवश्यक समझे तो उससे पहले उस वित्त आयोग का पुनर्गठन करेगा। इस आयोग म एक अध्यक्ष और चार अन्य सदस्य होंगे, जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा, परन्तु उनकी योग्यता के बारे में ससद नियम बनायगी वह यह भी तय करेगी कि इन व्यक्तियों की नियुक्ति किस प्रकार की जाय।

आयोग निम्न मामलो म राष्ट्रपति के सामने अपना प्रतिवेदन पेश करेगा—सविधान के अन्तर्गत जिन करो से होने वाली आय को सघ व राज्यो के बीच बाटा जाना है उसे किस प्रकार बाटा जाय तथा राज्यो को जो अ श प्राप्त होता है उसे राज्यो में किस प्रकार वितरित किया जाय, भारत की सचित निधि म से राज्यो को किन सिद्धान्तो के आधार पर सहायता अनुदान दिय जाये, उनके अतिरिक्त राष्ट्रीय स्थिरता की दृष्टि से राष्ट्रपति उसे जो कोई और विषय सौपे।

राष्ट्रपति वित्त आयोग की सिफारिशो और उनके आधार पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही का विवरण ससद के दोनो सदनो के सामने रखवाता है।

८. राष्ट्रभाषा आयोग—सविधान के अनुच्छेद ३४४ के अनुसार राष्ट्रपति को सविधान लागू होने के पाचवें और दसवें वर्ष म एक राष्ट्रभाषा आयोग की नियुक्ति करनी थी जो वह कर चुका है। आयोग म एक अध्यक्ष और विविध भारतीय भाषाओ

के प्रतिनिधि राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये गये हैं।

आयोग को सविधान ने यह कर्तव्य सौंपा है कि वह राष्ट्रपति को निम्न बातो के बारे मे अपनी सिफारिशें दे—सघ सरकार में सरकारी कामकाज के लिये हिंदी का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग हो सघ सरकार मे पूरी तरह या आंशिक तौर पर अग्रेजी भाषा का प्रयोग बन्द हो न्यायालयो म किस भाषा का प्रयोग किया जाये, सघ सरकार के प्रयोग मे आने वाले अ को का स्वरूप क्या हो, तथा सघ की राजभाषा व सघ और किसी राज्य के बीच अथवा एक राज्य व दूसरे राज्य के बीच व्यवहार में आने वाली भाषा व उसके प्रयोग के बारे मे राष्ट्रपति द्वारा उसे सौंपा गया अन्य कोई विषय।

आयोग को अपनी सिफारिशें करते समय भारत की औद्योगिक, सास्कृतिक व वैज्ञानिक उन्नति तथा लोकसेवाओ के बारे मे हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्रो के लोगो के न्यायपूर्ण दावो और हितों का ध्यान रखना होता है।

९. राष्ट्रभाषा समिति—राष्ट्रभाषा आयोग की सिफारिशो को जाचने के लिये एक राष्ट्रभाषा समिति की स्थापना की गई है। यह समिति उन सिफारिशों की जाच के बाद अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति के सामने पेश करती है तथा राष्ट्रपति उसके आधार पर आवश्यक आदेश जारी करता है।

यह समिति ससदीय समिति है, इसमें बीस सदस्य लोकसभा से और दस सदस्य राज्यसभा मे से लिय जाते है। इन सदस्यो का निर्वाचन सम्बन्धित सदन अपने सदस्यो में से एकल सक्रमणीय मत से आनुपातिक निर्वाचन पद्धति से करता है।

मई १९६० म हमारे राष्ट्रपति ने इस समिति के प्रतिवेदन के आधार पर आदेश जारी किये हैं, जिनका वर्णन अगले अध्याय में किया गया है।

१०. निर्वाचन आयोग—हमारे देश मे लोकतत्रीय शासन रचना की गई है जिसका मूल आधार निर्वाचन हैं। लोकतन्त्र की सफलता के लिये निष्पक्ष निर्वाचन हो यह बहुत आवश्यक है। हमारे सविधान ने इस काम के लिये एक ऐसे आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की है जो निष्पक्ष रहकर देश मे निर्वाचन करायगा।

निर्वाचन आयोग मे एक प्रमुख निर्वाचन आयुक्त (Chief-Election Commissioner) होगा तथा यदि आवश्यक होगा तो दूसरे सदस्य भी होगे। उनकी नियुक्ति के नियम ससद बनायेगी और वे राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जायेंगे। प्रमुख निर्वाचन आयुक्त आयोग का अध्यक्ष होगा। आयोग की सहायता के लिये राष्ट्रपति समय-समय पर क्षेत्रीय निर्वाचन आयोगो की स्थापना भी कर सकता है। उनके कार्य की दशायें ससद विधि द्वारा निश्चित करेगी।

जब जब इन आयोगो की आवश्यकता होगी राष्ट्रपति व राज्यपाल इन्हे इनके काम म सहायता देने के लिये आवश्यक कर्मचारी देंगे। निर्वाचन-आयोग के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं—

(क) ससद और राज्यो के विधानमण्डलो के निर्वाचन के लिये नामावली तैयार कराना और उन निर्वाचनो का सचालन करना,

(ख) राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचनो का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण,

(ग) ससद तथा राज्य विधानमण्डलो के निर्वाचन म उत्पन्न सदेहों और विवादो को निपटाने के लिय निर्वाचन न्यायाधिकरण (lection Tribunal) की नियुक्ति करना, तथा

(घ) राज्यों के विधानमण्डलो के निर्वाचनो के समय अपनी सहायता के लिये क्षेत्रीय आयोगो की नियुक्ति के बारे म राष्ट्रपति को परामर्श देना।

निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता का प्रबन्ध—हमारे सविधान ने निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता का प्रबन्ध सर्वोच्च न्यायालय के समान ही किया है क्योकि जैसा कि हम कह चुके हैं वह भी लोकतन्त्र की आधारभूत-सस्था है। सविधान म बताया है गया कि प्रमुख निर्वाचन-आयुक्त को ससद उसी प्रकार हटाने का प्रस्ताव पारित कर सकती है जिस प्रकार वह न्यायाधीशो को हटाने के लिय करती है तथा ससद द्वारा ऐसा प्रस्ताव पारित करने पर ही राष्ट्रपति उसे उसके पद से हटा सकता है। इसी प्रकार उसके कार्यकाल म उसके वेतन भत्ते आदि कम नही किय जा सकते। आयोग/के दूसरे सदस्यो या क्षेत्रीय निर्वाचन-आयोगो के सदस्यो को भी राष्ट्रपति तब तक नही हटा सकता जब तक कि प्रमुख निर्वाचन आयुक्त वैसा करने की सिफारिश न करे।

११ अन्तर्राज्य परिषद् (Inter-State Council)—अनुच्छेद २६३ मे कहा गया है कि यदि किसी समय राष्ट्रपति को ऐसा लगे कि एक ऐसी अन्तर्राज्य परिषद बनाने से सार्वजनिक हित की वृद्धि होगी जो राज्यों के बीच उठने वाले झगडो को जाच करे तथा उनके बारे म राष्ट्रपति को सलाह दे, ऐसे विषयो में खोजबीन और उनकी चर्चा करे जो कुछ या सब राज्यों अथवा सघ और एक या अनेक राज्यो के सामान्य-हितो से सम्बन्धित हो, या ऐसे किसी विषय पर कोई सिफारिश करे और विशेषकर यह सुझाव दे कि उस विषय पर नीति और कार्य का अधिक अच्छा सामजस्य किस प्रकार हो सकता है, तो राष्ट्रपति को यह अधिकार होगा कि वह ऐसी परिषद का निर्माण करे और उसके कार्यों तथा संगठन आदि के बारे मे नियम बनाये।

इनके अतिरिक्त अनेक आयोगो का समय-समय पर निर्माण किया जाता है तथा वे अपना-अपना काम निपटा कर समाप्त हो जाते हैं, जैसे राज्यपुनर्गठन आयोग राज्यों के पुनर्गठन के बारे मे अपनी सिफारिशें देकर समाप्त हो गया।

अध्याय २०

हमारी राष्ट्रीयता के सम्माननीय प्रतीक

"अशोक का चक्र किसी भी दशा मे हिंसा का चक्र नही बन सकता।"

— महात्मा गांधी

मानव एक भावना-प्रधान प्राणी है। हम अपने राष्ट्र मे जहा अन्य सब प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक आदि एकता का निर्माण कर रहे हैं वही हमारे लिये यह भी आवश्यक है कि हम अपने बीच एक सास्कृतिक, मानसिक, वैचारिक एवं भावनात्मक स्तर पर राष्ट्रीय एकता का निर्माण करें तथा उसको पुष्ट करें, परिपुष्ट करें।

इस एकता के लिये हमने चार सम्माननीय प्रतीकों को चुना है—राष्ट्रभाषा, राष्ट्रगीत, राष्ट्रध्वज और राजचिन्ह। यहा हम इन चारो मे से एक-एक का सक्षिप्त वर्णन करेंगे।

राष्ट्रभाषा

भारत एक विशाल राष्ट्र है। यहा उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक अनेको भाषायें बोली जाती हैं। इस महादेश के इतिहास का एक ऐसा स्वर्ण युग था जब यहा सस्कृत जैसी देवभाषा हमारी राष्ट्रभाषा थी, भारत का बच्चा-बच्चा उसे समझता था तथा उसके द्वारा आपस में भी हम एक दूसरे को समझते थे। अंग्रेजों के शासनकाल में हमने आपस में एक दूसरे को समझने के लिए उनकी भाषा का सहारा लिया जिसे उन्होंने अपने हितो की पूर्ति के लिये हमारे ऊपर थोप दिया था। वे यहा से गये तो हमने अपना नया संविधान बनाया और उस समय हम यह नही भूले कि हमें अपने लिये अपने देश की एक भाषा को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करके विदेशी भाषा की दासता से अपना पिंड छुडाना चाहिये।

हमारे सविधान ने अनुच्छेद ३४३ की प्रथम धारा मे यह घोषणा की है कि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी होगी। साथ ही भारतीय अंको का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप मान्य किया गया है, अर्थात् 1, 2, 3, 4, 5 इत्यादि। हमारी राष्ट्रभाषा के लिये देवनागरी लिपि स्वीकार की गई है, अर्थात् अ, इ, उ, ए, क, ख, ग आदि अक्षरो वाली लिपि।

अंग्रेजी भाषा का प्रयोग—संविधान ने बताया है कि १९६५ तक उन सब राजकीय कामो के लिये अंग्रेजी का प्रयोग चालू रहेगा जिनके लिये सविधान लागू

होते समय अ ग्रेजी का प्रयोग हो रहा था।

राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि यदि वह राष्ट्रभाषा आयोग के प्रतिवेदन और राष्ट्रभाषा समिति की सिफारिशो के आधार पर यह उचित समझे कि पन्द्रह वर्ष बीतने से पहले ही सघ मे किसी कार्य के लिय हिन्दी का प्रयोग तथा अ को के देवनागरी रूप अर्थात १ २, ३ ४ आदि का व्यवहार चालू किया जा सकता है तो वह वैसे आदेश जारी कर सकता है।

ससद की सत्ता—सविधान ने ससद को यह शक्ति दी है कि वह यदि यह समझती है कि १९६५ के बाद भी किसी काय के लिय अ ग्रेजी का प्रयोग चालू रहना चाहिय तो वह उस बारे में वैसा नियम बना सकती है।

राष्ट्रपति का निर्णय—मई १९६० में राष्टपति ने ससद के दोना सदनों के सामने समदीय राष्टभाषा समिति की सिफारिशें रखते हुए यह घोषणा की है कि १९६५ क बाद भी पूरी तरह सरकारी काम के लिय अकेली हिन्दी का प्रयोग नही किया जा सकेगा। १९६५ के बाद हिदी राज्य की प्रधान भाषा (Chief-Language) होगी तथा अ ग्रेजी सहायक भाषा (Subsidiary Language) के रूप म अनिश्चित काल तक जारी रहेगी। इस निश्चय का कारण यह है कि दक्षिण भारत के लोग अभी तक हिन्दी को उतनी निपुणता के साथ नही सीख पाये हैं जिस निपुणता के साथ वे अ ग्र जी का ज्ञान रखते हं। देश की भावनात्मक एकता और हृदय परिवर्तन द्वारा काम करने की परम्परा की रक्षा के लिय हिन्दी के साथ अ ग्रे जी को भी सहायिका के बतौर काम करने का अवसर दिया गया है। राष्ट्रभाषा का गौरव अभी तक हम पूरी तरह तो नही स्थापित कर सक ह तथापि उसे राज्य की प्रधान भाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है यह सन्तोष की बात है।

प्रादेशिक भाषायें—सविधान ने राज्य सरकारों के प्रयोग के लिये प्रादेशिक भाषाओं को भी मान्य किया है। सविधान के भीतर यह कहा गया है कि राज्य अपनी प्रादेशिक भाषा म राजकाज चला सकता है। यदि किसी समय राष्ट्रपति को लगता है कि किसी राज्य द्वारा किसी दूसरी भाषा को भी मान्यता दी जानी चाहिये तो वह वैसा आदेश दे सकता है।

राज्य आपस मे साधारणतया उस भाषा का प्रयोग करेग जो उस समय सघ म प्रचलित हो परन्तु उन्हें इस बात का अधिकार होगा कि वे जब चाहें अपने निजी या आपसी व्यवहार के लिय हिन्दी का प्रयोग आरम्भ कर दें।

जब तक हिन्दी को प्रमुख भाषा के रूप में घोषित नहीं किया जाता तब तक सघ और राज्यो की समस्त कार्यवाही अ ग्रे जी में ही अधिकृत मानी जायगी चाहे वे अपने लिय हिन्दी या प्रादेशिक भाषा का व्यवहार आरम्भ कर दें।

न्यायालयों की भाषा—जब तक ससद विधि द्वारा हिन्दी को लागू नही करती है तब तक न्यायालयो म अ ग्रे जी का प्रयोग चालू रहेगा। यदि किसी राज्य का राज्यपाल चाहे तो राष्ट्रपति की अनुमति लेकर अपने राज्य के उच्च-न्यायालय

में हिन्दी का प्रचलन कर सकता है परन्तु उस उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश अपने निर्णय हिन्दी में देने को तब तक बाध्य नही होगे जब तक कि ससद वैसा निर्णय ही न कर दे।

हिन्दी की समृद्धि—सविधान ने घोषणा की है कि राज्य (सघ) का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी का इस प्रकार विकास करे कि वह भारत की सम्मिश्र सस्कृति के समस्त तत्वो के लिय अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके तथा सघ का यह कर्तव्य है कि वह हिन्दी की समृद्धि के लिय हिन्दुस्तानी और दूसरी चौदह भाषाओ मे से जिनका उल्लेख सविधान की आठवी अनुसूची म किया गया है ऐसे रूपो और प्रयोगो को हिन्दी मे समाविष्ट करने की चेष्टा करे जो हिन्दी के मूल-स्वभाव के विपरीत न हो तथा जहा कही आवश्यक हो उसके शब्दकोष को बढाने के लिये मूलत सस्कृत से और गौणत दूसरी भाषाओ से शब्द लिय जायें।

राष्ट्रगीत

अपने स्वातन्त्र्य सग्राम म भारत ने अपने लिये एक राष्ट्रगीत चुन लिया था। वह उसको सहज रूप से बगला के प्रसिद्ध साहित्यकार और राष्ट्रभक्त बकिम बाबू के आनन्दमठ नामक उपन्यास से मिला था। इसे हम वन्देमातरम्' के नाम से पुकारते हैं। इसके साथ ही साथ हमारी सस्कृति के महान उन्नायक राष्ट्रकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जन गण मन' नामक एक राष्ट्रगीत लिखा जो स्वतन्त्रता सग्राम मे वन्देमातरम्' के साथ प्रचलित हुआ।

स्वाधीनता के पश्चात हमारी सविधान सभा ने राष्ट्रगीत के बारे मे निर्णय करते समय इन दोनो को मान्यता दी है। इनमे सगीत की गति और तालबद्धता के आधार पर 'जन गण मन' को प्रधानता दी गई है।

राष्ट्रगीत हमारी राष्ट्रीय भावनाओ का प्रतीक होता है तथा हमारा यह धर्म है कि जहा कही राष्ट्रगीत विधिवत् बजाया या गाया जा रहा हो वहा हम शाति-पूर्वक सतर्क खडे रहे।

'जन गण मन'

जन गण मन अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता।
पजाब सिन्धु गुजरात मराठा, द्राविड उत्कल बगा।
विन्ध्य हिमाचल यमुना गगा उच्छल जलधि तरगा॥
तव शुभ नामे जागे, तव शुभ आशिष मागे।
गाहे तव जय गाथा।
जन गण मगल दायक जय हे भारत भाग्य विधाता।
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे॥

'वन्दे मातरम्'

वन्दे मातरम् ।
सुजला सुफला मलयज शीतला, शस्य श्यामलाम् मातरम् ।
शुभ्र ज्योत्सना पुलकित यामिनीम्,
फुल्ल कुसुमित द्रुमदल शोभिनीम्,
सुहासिनीम सुमधुरभाषिणीम्, सुखदा वरदा मातरम् ।
वन्दे मातरम् ॥

राष्ट्र-ध्वज

राष्ट्र-ध्वज या राष्ट्रीय पताका भी राष्ट्रीय जीवन मे अनन्य है। वह राष्ट्रीय एकता की परिचायक और राष्ट्रीय सम्मान की प्रतीक होती है। भारत जब अपनी स्वाधीनता का सघर्ष कर रहा था उस समय हम एक झण्डे का प्रयोग करते थे जिसे हम अपना राष्ट्रीय झण्डा कहते थ, उसके पीछे हमने किस प्रकार के रोमाचकारी बलिदान किय वे अब इतिहास की घटना बन गय हैं, उनम से अनेको बलिदानो को तो इतिहास कभी जान ही न पायगा। वह एक जमाना था जब तिरगा झण्डा हाथ मे लेकर, जवानो, बूढो, बच्चो, महिलाओ और पुरुषो की टोलिया 'विजया विश्व तिरगा प्यारा, झण्डा ऊचा रहे हमारा' का दिव्य सगीत गाते और गुजाते हुए राष्ट्रीय स्वाधीनता का अलख जगाया और उसकी वेदी पर बलि हो जाया करते थे। उनका एक ही मन्त्र था, शान न इसकी जाने पावे चाहे जान भले ही जावे।' और वे वीर जान गवाकर ही इस देश की और अपने प्यारे तिरगे झण्डे की शान को रख पाय। भारत की आने वाली पीढिया उन महावीरो की सदा सदा तक ऋणी रहेगी।

हमारे राष्ट्रीय ध्वज का ऐसा उन्नायक और पावन-प्रेरक इतिहास है। सविधान सभा के सामने जब राष्ट्रीय ध्वज का प्रश्न उपस्थित हुआ तो इस बारे मे सभी विचारशील लोग सहमत थे कि जिस झण्डे के नीचे हमने एक साथ खडे होकर अपनी आजादी के लिय रक्त बहाया, जिसके लिय हमारे मन म आदर और स्नेह का अनन्य भाव भरा पडा है वह झण्डा ही हमारा राष्ट्रध्वज हो सकता है, परन्तु एक बडा प्रश्न यह था कि क्रमश केशरिया, सफेद और हरी पट्टियो के बीच में आने वाली सफेद पट्टी पर जो चरखे का चिन्ह अ कित था जिसे हमने अपनी आर्थिक प्रगति और अहिंसात्मक दृष्टि का प्रतीक माना था वह इस दृष्टि से उपयुक्त नही था क्योंकि वह दोनो ओर से एकसा नही दिखाई देता था, राष्ट्रीय ध्वज दोना ओर से एकसा दिखाई देना चाहिये। इस कारण यह प्रस्ताव किया गया कि चरखे के स्थान पर अहिंसा के अनुयायी सम्राट् अशोक का धर्मचक्र झण्डे पर प्रतिष्ठित किया जाय। यह निश्चय हो गया और उस धर्मचक्र ने भारत के वर्तमान को उसके अतीत के साथ जोड दिया।

आज हमारे राष्ट्रध्वज का स्वरूप इस प्रकार है—इसमे समान लम्बाई और

समान चौडाई की तीन पट्टिया हैं, जिनमे से सबसे ऊपर केशरिया रग की पट्टी है, बीच मे सफेद पट्टी है तथा सबसे नीचे हरे रग की पट्टी है। बीच की सफेद पट्टी पर नीले रग मे अशोक-चक्र अंकित है। झण्डे की लम्बाई और चौडाई मे तीन और दो का अनुपात है।

हम सबका धर्म है कि इस राष्ट्रध्वज के सम्मान के लिये अपने जीवन का सर्वस्व बलिदान करने को तैयार रहे। शातिकाल हो या युद्धकाल जहा कही हमारा राष्ट्रध्वज विधिवत् फहराया जाये हमे सीधे खडे रहकर उसका मान करना चाहिये। राष्ट्रध्वज का मान केवल खून गिराने से ही नही बढता वह तो वास्तव मे तब बढता है जब हमारा देश ससार मे अपने चरित्र, ईमानदारी और पुरुषार्थ के लिये प्रसिद्ध हो तथा हम अपने देश के प्रत्येक निवासी को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रतिष्ठा व जीवन का सम्यक् साधन समान रूप से दे सकें। यह सब हमारे चरित्र पर निर्भर करता है। यदि हमे अपने देश और राष्ट्रध्वज से प्यार है और हम इसका सम्मान करते हं तो हम सच्चे और ईमानदार बनें तथा देश के भीतर समानता की स्थापना करने के लिय अपने जीवन का उत्सर्ग करें।

राष्ट्पति की ध्वजा—राष्ट्रपति हमारे देश के गौरव का प्रतीक है। उसके राजकीय निवास स्थान अर्थात् राष्ट्रपति भवन पर उसकी पताका फहराती है जिसमे लाल और नील रग के चार आयत हैं, आयतो के रग कर्णवत् हे। इन आयतो में चार चिन्ह मुद्रित हैं—राजचिन्ह, तुला, हाथी और पूर्णघट। ये चारो चिन्ह भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं।

राजचिन्ह और पूर्णघट सारनाथ से, तुला दिल्ली के लाल किले से तथा हाथी अजन्ता के चित्रो से लिया गया है।

राष्ट्रपति की ही भाति राज्यपालो के भी अलग-अलग ध्वज हे।

राजचिन्ह

प्रत्यक देश का एक राजचिन्ह होता है। अग्रेजी साम्राज्यकाल में हमारे यहा ब्रिटिश सम्राट के मुकुट को राजचिन्ह के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया था। स्वतन्त्रता के साथ ही हमारी दासता का वह चिन्ह भी चला गया और अब हम जिस राजचिन्ह का प्रयोग करते हैं वह हमने सम्राट अशोक से लिया है। वह उन महान अशोक का राजचिन्ह है जो देवप्रिय कहे जाते है तथा जो हमारे इतिहास के सबसे उज्ज्वल नक्षत्र हैं। इसे अपना कर हमने अशोक के बाद स्वतन्त्रता मिलने तक अपने इतिहास के काले पन्ने फाड दिये हैं तथा सीधे रूप में हम सम्राट अशोक के उत्तराधिकारी बन गये हैं।

हमारे राजचिन्ह पर सारनाथ के अशोक स्तम्भ की मूर्ति है। इसमें नीचे की ओर देवनागरी लिपि मे लिखा है—'सत्यमेव जयते', उसके ऊपर बीचोबीच एक चक्र है जिसमें क्रमश. दायें बायें बैल और घोडा तथा सबसे ऊपर तीन सिंह अभय मुद्रा

में खड़े हैं।

यह राजचिन्ह बहुत अर्थपूर्ण है। सिंह कभी एक साथ नहीं खड़े होते, परन्तु इसमें उन्हें साथ दिखाया गया है, इसका अर्थ यह है कि यह हमारी असाधारण एकता का प्रतीक है, सिंह शक्ति का प्रतीक भी है और उनकी प्रसन्न मुद्रा न्याय की प्रतीक है। बैल और घोड़ा हमारी आर्थिक व्यवस्था और समृद्धि की ओर इशारा करते हैं। चक्र अर्थात् धर्मचक्र लोक कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य और न्याय की स्थापना का प्रतीक है। इस प्रकार यह राजचिन्ह हमारे राष्ट्र की आकांक्षाओं और उनकी शक्ति का सही प्रतिनिधि है।

❀

अध्याय : २१

राज्यों की शासन प्रणाली . कार्यपालिका

भारतीय सघ मे पन्द्रह राज्य हैं—(१) असम, (२) आध्र प्रदेश, (३) बिहार, (४) गुजरात, (५) केरल, (६) मध्य प्रदेश, (७) महाराष्ट्र, (८) मद्रास, (९) मैसूर, (१०) उडीसा, (११) पजाब, (१२) राजस्थान, (१३) उत्तर प्रदेश, (१४) पश्चिमी बगाल और (१५) जम्मू-काश्मीर। इन राज्यो के लिये भी हमारे संविधान ने शासन-व्यवस्था का चित्र बनाया है।

इस बारे में सबसे पहले हमें यह बुनियादी बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि हमारे संविधान ने शासन की मौलिक रूप रेखा सघ व राज्यो के लिये एक सरीखी रखी है। हम सघ की शासन व्यवस्था का अध्ययन प्रस्तुत पुस्तक के गत पृष्ठो मे कर चुके हैं, यहा हम देखेंगे कि राज्यो की शासन-व्यवस्था मे सघ से कोई मौलिक भेद नही है। राज्यो के कार्यपालिका और विधायिका अंगो का सगठन और उनके पारस्परिक सम्बन्ध ठीक उन्ही सिद्धान्तो पर आधारित है जिनपर सघ के। इसका मूल कारण यह है कि सविधान ने ससदात्मक लोकतन्त्र की पद्धति को अपनाया है।

राज्य-कार्यपालिका—राज्यो की कार्यपालिका के दो अग हैं। राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष है तथा मुख्यमन्त्री शासन का। इस प्रकार राज्यो की कार्यपालिका में राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद होते हैं। इन दोनो के सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार के हैं जैसे कि राष्ट्रपति और संघीय मन्त्रिपरिषद के बीच होते हैं। यहा हम उनका वर्णन सक्षेप म करेंगे।

राज्यपाल

राज्य का सर्वोच्च-कार्यपालिका अधिकारी राज्यपाल होता है। उसका पद औपचारिक है। वह राज्य का अध्यक्ष होता है शासन का नही। नाम के लिये तो वह राज्य की समस्त सत्ता का प्रतिनिधि होता है परन्तु वास्तव में वह इन शक्तियो का प्रयोग साधारण परिस्थितियो में नही करता है। वह राज्य का वैधानिक अध्यक्ष होता है।

नियुक्ति—राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। यह आवश्यक है कि वह भारत का नागरिक हो तथा कम से कम ३५ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो। राज्यपाल ससद या किसी राज्य विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य नही

हो सकेगा । यदि अपनी नियुक्ति के समय वह इनम से किसी सदन का सदस्य हो तो जिस दिन से वह राज्यपाल पद ग्रहण करता है उस दिन से उस सदन म उसका पद स्वतः रिक्त माना जायेगा ।

राज्यपाल अपने पद के अतिरिक्त और किसी लाभ के पद को धारण नही करेगा । उसे एक नि शुल्क निवास राज्य की ओर से मिलेगा तथा उसे ससद द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ते आदि दिय जायेगे । उसके कार्यकाल मे इनमे कोई कमी नही की जा सकती । यदि किसी व्यक्ति को दो या अधिक राज्यो का राज्यपाल नियुक्त किया जाता है तो उसके वेतन और भत्तो की राशि उन राज्यो के बीच उस अनुपात म बाटी जायेगी जो कि राष्ट्रपति निर्धारित करेगा ।

राज्यपाल तब तक अपने पद पर रहेगा जब तक कि राष्ट्रपति उसको वहा रखना चाहे । राज्यपाल स्वय चाहे तो अपने हस्ताक्षर से अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति को दे सकता है । सविधान कहता है कि सामान्यतया राज्यपाल का कार्यकाल पाच वर्ष होगा अर्थात उसकी नियुक्ति एक बार मे पाच वर्ष के लिय की जायगी परन्तु यह अवधि समाप्त हो जाने पर भी वह तब तक अपना पद नही छोडेगा जब तक कि उसका उत्तराधिकारी उसमे उस पद का कार्यभार न सभाल ले ।

पद की शपथ—राज्यपाल पद ग्रहण करने से पूर्व उस पद के लिय नियुक्त व्यक्ति को राज्य के उच्च-न्यायालय के मुख्य-न्यायाधीश के सामने यह शपथ लेनी होती है कि वह ईमानदारी के साथ उस राज्य के राज्यपाल पद के कार्यों को पूरा करेगा, अपनी पूरी योग्यता के साथ सविधान व विधि का सरक्षण, रक्षण और बचाव करेगा तथा उस राज्य की जनता की सेवा मे अपने को समर्पित करेगा ।

राज्यपाल की शक्तियाँ—राज्यपाल एक कार्यपालिका अधिकारी है अत यह बहुत स्वाभाविक है कि उसकी शक्तिया कार्यपालिका शक्तिया है । उसे किसी प्रकार की विधायी या न्यायापालिका सत्ता ठीक उसी प्रकार प्राप्त नही है जिस प्रकार कि राष्ट्रपति को वे नही दी गई है । कार्यपालिका-अधिकारी होने के नाते वह कुछ ऐसे कार्य अवश्य करता है जिनका सम्बन्ध विधानमण्डल से होता है लेकिन वे उसके विधायी कृत्य (Legislative Functions) नही होते उन्हे वह राज्य का मुख्य-कार्यपालिका अधिकारी (Chief Executive officer) होने के नाते करता है । इसी प्रकार उसे क्षमा आदि के जो अधिकार दिये गय हैं वे उसके न्यायिक-अधिकार नही है, वे भी कार्यपालिका कृत्य ही ह । इस बारे म हमने विस्तार से राष्ट्रपति की शक्तियो के वर्णन के प्रसग म लिखा है विद्यार्थियो को उसका अध्ययन करना चाहिय ।

राज्यपाल की शक्तिया सामान्यतया तीन प्रकार की हैं—नियुक्ति की शक्तिया, क्षमा की शक्तिया, और सामान्य शक्तिया । इस प्रसग मे सबसे पहली बात तो यह ध्यान मे रखनी चाहिय कि राज्यपाल की शक्तिया केवल राज्यसूची के विषयो तक ही सीमित हैं ।

राज्यपाल राज्य के कुछ महत्वपूर्ण पदो पर नियुक्तिया करता है। वह राज्य के मुख्यमन्त्री को नियुक्त करता है तथा उसके परामर्श से राज्य-मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यो को। इनके अतिरिक्त वह राज्य लोकसेवा आयोग के सदस्यो राज्य के महाधिवक्ता (Advocate General) और जिला-न्यायाधीश आदि की नियुक्तिया भी करता है।

इस प्रसग म यह नही भूलना चाहिये कि राज्यपाल य सब नियुक्तिया अपनी मर्जी से नही करता वरन् उनके बारे म कुछ निश्चित नियम ह जिनका अनुसरण वह करता है। जहा तक मुख्यमन्त्री की नियुक्ति का प्रश्न है वह उस मामले म बहुत कुछ बधा हुआ होता है, उसे हर स्थिति म विधानसभा की इच्छा का आदर करना होता है, तथा वह उस व्यक्ति को ही मुख्यमन्त्री-पद ग्रहण करने के लिय आमन्त्रित करता है जिसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो यदि वह ऐसा न करे तो उसका बनाया हुआ मुख्यमन्त्री विधानसभा की पहली ही बैठक मे परास्त हो जायगा और त्यागपत्र देने के लिय विवश हो जायगा।

राज्यपाल को क्षमा के भी कुछ अधिकार ह, वह अपने राज्य के विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत विधियो का उल्लघन करने के कारण दण्ड पाने वाले अपराधियो के दण्ड मे कमी कर सकता है, उनके दण्ड को निलबित कर सकता है अथवा मृत्युदण्ड पाने वाले अपराधियो को उससे बचा सकता है। राष्ट्रपति के क्षमा अधिकार के प्रसग मे और राष्ट्रीय न्यायपालिका नामक अध्याय में हम इस बारे मे विस्तार से चर्चा कर चुके हैं।

राज्यपाल की सामान्य शक्तियो म सबसे प्रमुख शक्ति यह है कि वह अपनी सरकार से राज्य के प्रत्यक विषय पर जानकारी प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह मत्रिपरिषद की सिफारिश पर धन-विधेयको को विधानसभा मे पेश होने की अनुमति प्रदान करता है, जिन राज्यो में विधान परिषद भी है उनम राज्यपाल परिषद के भीतर कुछ ऐसे व्यक्तियो को मनोनीत करता है जो साहित्य, कला, विज्ञान और समाज सेवा के क्षेत्र मे प्रतिष्ठित रहे हो यदि विधानसभा के भीतर आग्ल भारतीय जाति का प्रतिनिधित्व समुचित न हुआ हो तो वह उस जाति के सदस्यो को विधानसभा के लिय मनोनीत करता है, विधान मण्डल को आहूत करता है, उसका सत्रावसान करता है उसे विघटित तथा स्थगित करता है, विधानमण्डल के नय सत्र में भाषण देता है, द्विसदनात्मक विधानमण्डल का सयुक्त सत्र बुलाकर उसके सामन भाषण देता है, यदि आवश्यक समझता है तो किसी विषय पर विधानमण्डल को लिखित सन्देश भेजता है, विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक पर हस्ताक्षर करके उसे प्रवर्तित (लागू) करता है तथा यदि उचित समझे तो उसे अपने सन्देश के साथ विधानमण्डल के पुनर्विचार के लिय लौटा सकता है (वित्तीय-विधेयको को वह वापिस नही लौटा सकता, उन पर उसे हस्ताक्षर करने ही होते हैं) तथा दोबारा उस विधेयक के किसी रूप में भी पारित होकर आने पर उस पर हस्ताक्षर करके उसे

अधिनियमित (Enact) व प्रवर्तित लागू करता है, विधानमण्डल द्वारा पारित कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोकता है, राज्य-विधानमण्डल की बैठक न होने की स्थिति में वह किसी आवश्यक विषय पर अध्यादेश (Ordinance) जारी कर सकता है जो उस समय विधि के समान ही लागू होंगे परन्तु उन्हें विधान-मण्डल का सत्र आरम्भ होने पर तुरन्त उसके सामने रखना होता है और विधान-मण्डल या तो उन अध्यादेश को विधि के रूप मे पारित कर देता है या रद्द कर देता है। राज्यपाल राज्य में औपचारिक अवसरों और राष्ट्रीय उत्सवों पर राज्य का प्रतिनिधित्व करता है।

हमने यहा राज्यपाल की उन शक्तियों का उल्लेख नही किया है जिनके प्रयोग से वह आपातकालीन घोषणाओं को आमन्त्रित कर सकता है। वह राज्य के भीतर सघ का व्यक्ति होता है जो राष्ट्रपति से मिलने वाले आदेशों के अनुसार कार्य करता है। सामान्यतया उसे अपने मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार कार्य करना होता है। परन्तु असाधारण परिस्थितियों में वह राष्ट्रपति के आदेशों का पालन करता है। साधारण परिस्थितियों में भी वह राष्ट्रपति को राज्य के बारे में सूचना तो देता ही है। सविधान ने राज्यपाल को यह अधिकार दिया है कि यदि वह समझता है कि राज्य के भीतर शान्ति और सुव्यवस्था भग हो गई है तथा राज्य मे साविधानिक शासन नही चल पा रहा है या चलना कठिन हो गया है तो वह राष्ट्र-पति को उसके बारे में सूचित कर सकता है और उसे आपातकालीन घोषणा करने के लिये सलाह दे सकता है। ऐसी परिस्थिति में जबकि राष्ट्रपति राज्य में आपातकाल की घोषणा कर देता है तो राज्यपाल उनकी ओर से राज्य के शासन का सचालन अपने परामर्शदाताओं की सहायता से चलाता है। राज्यपाल की यह स्थिति कई बार बहुत उलझन पैदा कर सकती है इस बारे में हम विस्तार से केरल के प्रश्न की चर्चा कर चुके हैं। वहा के राज्यपाल ने एक वैधानिक विधानसभा के रहते हुए तथा विधानसभा के विश्वास से काम करने वाली मन्त्रिपरिषद की सलाह के बिना ही राष्ट्रपति को यह सलाह दे दी कि राज्य में साविधानिक तन्त्र असफल हो गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि राज्यपाल किस प्रकार अपने मन्त्रिपरिषद के निर्णयों से बंधने की अपेक्षा सघ के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन अधिक तत्परता के साथ कर सकता है। हमारी अपनी दृष्टि में केरल के राज्यपाल का यह कार्य पूर्णतया सविधान की इच्छा के विपरीत था, उसे राष्ट्रपति को यह परामर्श देने का तब तक कोई अधिकार नही था जब तक कि राज्य मे विधानसभा के बहुमत द्वारा समर्थित मन्त्रिपरिषद उसे वैसी सलाह न देती। परन्तु हमारे यहा राज्यपालों के बारे में सामान्यतया अलग परिपाटिया निर्माण की जा रही हैं, जैसे आमतौर पर यह माना गया है कि किसी राज्य के राज्यपाल को दूसरे राज्य के मामलों में अपनी राय नही देनी चाहिए परन्तु पजाब के राज्यपाल श्री नरहरि विष्णु गाडगिल ने केरल के बारे में अपनी राय प्रकट करते हुए यह कह दिया कि केरल में बहुमत द्वारा समर्थित

सरकार को हटाना संविधान की इच्छा के विपरीत है। उनकी यह बात चाहे कितनी भी सही हो परन्तु प्रश्न तो यह था कि उनके इस वक्तव्य से दूसरे राज्य के राज्यपाल की स्थिति पर प्रभाव पडने वाला था। इसी प्रकार श्री गाडगिल ने अपने एक सार्वजनिक भाषण मे स्वतन्त्र दल की निन्दा की, उनका यह कार्य राज्यपाल के लिये अनुचित माना जाना चाहिये क्योकि यह स्वीकार किया गया है कि राष्ट्रपति और राज्यपाल दलातीत होते हैं तथा उन्हे राजनीतिक दलो के बीच निष्पक्ष व्यवहार करना चाहिये, ऐसा न हो कि उनके किसी कार्य से किसी राजनीतिक दल को विशेष प्रोत्साहन मिले और किसी को हानि पहुँचे निश्चय ही उनके इस वक्तव्य से स्वतन्त्र दल को हानि पहुँचने की सम्भावना है, इस पर भी जब उनसे यह कहा गया कि राज्यपाल होते हुए उन्हे वैसा नही कहना चाहिए था तो उन्होने उसका बहुत सीधा उत्तर दिया कि वे अपने नागरिक अधिकार को नही छोड सकते तथा उन्हे इस बात का अधिकार है कि वे अपने राजनीतिक विचारो को प्रकट करें। यदि यह बात सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर ली जाती है तो राष्ट्रपति, राज्यपाल, लोकसभा और राज्यसभा के अध्यक्ष व सभापति, राज्य विधानसभाओ के अध्यक्ष व विधान परिषदो के सभापति सभी निष्पक्षता और निर्दलीयता के बधन से मुक्त हो जायेंगे, तब हमें सोचना होगा कि क्या हम उस स्थिति म ससदात्मक लोकतन्त्र का सफल सचालन कर सकेंगे। अत यह आवश्यक है कि राज्यपाल के पद पर रहने वाले व्यक्ति पद की मर्यादाओ को निबाहे तथा उनका सम्मान करें हो सकता है कि इस प्रकार उनके सामान्य अधिकारो को कोई ठेस लगती हो लेकिन राज्य के हित में उन्हे उसको सहन करना चाहिये, हमारी दृष्टि मे तो सविधान की भी उनसे यही माग है। राज्यपाल के पद के साथ यदि दो बाते जुड जाती है तो वह पद बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकता है, उनमे से एक तो है स्वेच्छाचारिता और दूसरी है सघ के आदेशों को आखे मूद कर मानना। *यदि राज्य म वैधानिक सरकार काम कर रही है तो राज्यपाल को कोई* अधिकार नही है कि वह बिना उसके परामर्श करके सघ के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करे। यहा हम सविधान के अनुच्छेद १६३ का उल्लेख करना चाहेगे जिसमे कहा गया है कि राज्यपाल की स्वविवेक शक्तियो को छोडकर जिनका सविधान मे उल्लेख कर दिया गया है शेष सब कार्यों की पूर्ति मे उसकी मन्त्रिपरिषद उसे परामर्श देगी व उसकी सहायता करेगी। राष्ट्रपति के प्रसग मे भी सविधान ने ये शब्द ही ज्यो के त्यो प्रयोग किये हैं कि मन्त्रिपरिषद उसे उसके कार्यों को पूरा करने मे परामर्श देगी और सहायता देगी। वहा हमने इसका यह अर्थ लगाया है कि राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद का परामर्श मानना होगा, तो कोई कारण नही है कि सविधान के उन्ही शब्दो का अर्थ राज्यपाल के बारे मे कुछ और निकाला जा सके। सविधान की पाचवी और छठी अनुसूची में यह भी बता दिया गया है कि राज्यपाल किन मामलों मे सीधा राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी हैं तथा किन मामलो में वह राज्य की मन्त्रिपरिषद के प्रभाव से मुक्त होकर स्वविवेक की शक्ति का प्रयोग कर सकता

है। पाचवी अनुसूची के प्रथम खण्ड की धारा ३ मे कहा गया है कि जिन राज्यो में अनुसूचित क्षेत्र ह (असम को छोडकर) उनके राज्यपाल प्रति वर्ष अथवा राष्ट्रपति के मागने पर अपन राज्य के अनुसूचित क्षेत्रा के प्रशासन के बारे मे अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को देंग तथा इन क्षत्रो के प्रशासन के बारे मे निर्देश देने के लिये यह माना जायगा कि वे सघ की कायपालिका शक्ति क क्षेत्र म आते है।

यहा यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि राज्यपाल अनुसूचित क्षेत्रो के प्रशासन मे अपने मन्त्रिपरिषद का परामर्श मानन के लिय बाध्य नही होगा, इस मामले मे वह सघ की कायपालिका-सत्ता के मागदर्शन म कार्य करेगा।

इसी प्रकार छठी अनुसूची की १८ वी धारा की उपधारा २ मे बताया गया है कि जब तक असम का राज्यपाल भारत के उत्तर-पूर्वीय सीमान्त प्रदेश के उस भाग म जिस म बलीपारा सीमान्त क्षेत्र, तिराप सीमात क्षेत्र, अबोर पर्वत जिला, मिसिमी पवत जिला और नगा पवत-तुएनसाग क्षेत्र सम्मिलित ह छठी अनुसूची के अनुसार स्वशासी प्रशासन की स्थापना का आदेश नही देता तब तक उस क्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति राज्यपाल के द्वारा सचालित करेगा। इसी धारा की उपधारा ३ मे यह कहा गया है कि असम का राज्यपाल जब राष्ट्रपति के एजण्ट के नाते इन क्षेत्रो का प्रशासन चलायगा तो वह स्वविवेक से काम करेगा। यहा स्वविवेक शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करन के लिय किया गया है कि इस कार्य म वह अपने मन्त्रिपरिषद से परामश नही लगा तथा यदि वह उसे उस बारे म कोई परामर्श दे तो वह उस परामश को मानने क लिय बाध्य नही होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे सविधान ने बहुत स्पष्ट भाषा म सारी बात कही ह और इनम कही भी यह प्रकट नही होता कि राज्यपाल इन परिस्थितियो के अलावा किन्ही दूसरी परिस्थितियो म सघ शासन के आदेशा का पालन करेगा। वह राज्य का एक सावैधानिक अध्यक्ष है तथा उसे कोई वास्तविक सत्ता प्राप्त नही है।

सविधान के अनुच्छेद १६३ की धारा २ ने अवश्य ही सारे किय कराय पर पानी फेर दिया है, उसमे कहा गया है कि कोई विषय राज्यपाल के स्वविवेक के भीतर है या नहीं यह स्वय राज्यपाल अपने विवेक से ही तय करेगा और उसके किसी काम क बारे म यह शका नही उठाई जा सकती कि उसे अमुक काम करना चाहिय था या नही। शायद यह व्यवस्था सघ को राज्यपाल के ऊपर अधिक सत्ता प्रदान करने और सघ की स्थिति को और भी अधिक दृढ करने के लिय की गई है।

मन्त्रिपरिषद

(Council of Ministers)

राज्यपाल के नाम से राज्य का शासन चलता अवश्य है परन्तु वह उसका वास्तविक सचालक नही है, वास्तविक सचालन की शक्ति मन्त्रिपरिषद के पास है। लोकतन्त्र की ससदात्मक पद्धति म उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाती है।

भारत मे भी वैसा किया गया है, विधिया बनाने का काम राज्यो के विधानमण्डल करते हैं तथा विधानसभा म जिस दल का बहुमत होता है वह राज्य का शासन चलाने के लिये मन्त्रिपरिषद का निर्माण करता है। यह मन्त्रिपरिषद विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है अर्थात् यदि विधानसभा उसके कामो से अप्रसन्न हो जाये तो वह उसको हटा सकती है। इसकी सैद्धान्तिक समीक्षा हम सघीय मन्त्रिपरिषद के प्रसंग मे विस्तार से कर चुके हे।

रचना—विधानसभा के निर्वाचन के बाद उसके भीतर प्रत्येक राजनीतिक दल अपने-अपने नेता का निर्वाचन कर लेता है। जो दल बहुमत मे होता है उसके नेता को राज्यपाल मन्त्रिपरिषद बनाने के लिय आमन्त्रित करता है तथा उसको मुख्यमन्त्री के पद पर नियुक्त करता है। मुख्यमन्त्री बनने के बाद वह अपनी मन्त्रि-परिषद के नाम अपने दल के लोगो मे से छाटकर राज्यपाल के सामने प्रस्तुत कर देता है, यदि राज्यपाल को उनमे से किसी नाम पर आपत्ति होती है तो वह मुख्य-मन्त्री को उसकी सूचना कर देता है, मुख्यमन्त्री चाहे तो उस नाम को छोड सकता है परन्तु यदि दलीय स्थिति ऐसी है कि वह उसे नही छोड सकता या वह स्वय उस व्यक्ति को मन्त्रिपरिषद म रखना चाहता हैं तो वह इस बारे मे राज्यपाल को कह देता हैं और राज्यपाल अपने सुझाव पर आग्रह न करके मुख्यमन्त्री की बात मान लेता हैं क्योकि वह यह जानता है कि यदि वह उसकी बात न माने तो वह मन्त्रि-परिषद का निर्माण करने से मना कर सकता है और उस स्थिति मे राज्य के भीतर सांविधानिक शासन चलना ही असम्भव हो जायेगा।

मन्त्री होने के लिय यह आवश्यक है कि व्यक्ति राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य हो, यदि मुख्यमन्त्री किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्री बनाना चाहता है जो विधानमण्डल का सदस्य न हो तो वह उसको मन्त्री बना सकता है परन्तु उस व्यक्ति को छह महीने के भीतर विधानसभा या विधानपरिषद की सदस्यता प्राप्त कर लेनी होगी अन्यथा वह व्यक्ति मन्त्री पद से हट जायगा।

मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल सामान्यतया पाच वर्ष माना गया है परन्तु उसका जीवन विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। यदि विधानसभा उसमे किसी भी प्रकार से अविश्वास प्रकट कर देती है तो उसे त्यागपत्र देना होता है। इसके अतिरिक्त राज्यो की राजनीति मे एक नये तत्व का उदय हुआ है जिसका सफल प्रयोग केरल राज्य में हुआ। यह तत्व जनता का विद्रोह या सत्याग्रह है। १६५६ मे केरल राज्य मे जो घटनायें हुई हें उनका उल्लेख हम अनेक स्थलो पर कर चुके है, यहा यह बताना आवश्यक है कि यदि किसी मन्त्रिपरिषद को अपनी विधानसभा का बहुमत प्राप्त हो तब भी यदि राज्य की जनता इस सीमा तक उसके विरुद्ध हो जाये और विद्रोह कर दे कि राज्यपाल के विचार से राज्य मे सांविधानिक शासन चलना असम्भव हो जाय और वह राष्ट्रपति को आपात्कालीन व्यवस्था लागू करने के लिये परामर्श दे दे या राष्ट्रपति स्वयं इस बारे

मे सन्तुष्ट हो जाये कि उस राज्य में सावधानिक तन्त्र असफल हो गया है तो वह अपने को सुरक्षित नहीं मान सकती। यह एक नया विकास है, इस प्रयोग में खतरे बहुत हैं, इससे राजनीतिक असहनशीलता और असामाजिक तत्वों द्वारा शान्ति व सुव्यवस्था के लिय स्थायी सकट पैदा हो सकता है।

विधानसभा के सामने मन्त्रिपरिषद सयुक्त रूप से उत्तरदायी होती है तथा मन्त्री लोग व्यक्तिगत तौर पर भी उत्तरदायी होते है। यह उत्तरदायित्व ठीक वैसा ही है जैसा कि सघीय मन्त्रिपरिषद का लोकसभा के सामने। विधानसभा मन्त्रि-परिषद के प्रति अविश्वास प्रकट करने के लिय वे ही साधन प्रयोग कर सकती है जो कि लोकसभा द्वारा सघीय मन्त्रिपरिषद के प्रसग म किय जाते है। प्रत्येक मन्त्री को गोपनीयता की शपथ लेनी होती है तथा वह मन्त्रिपरिषद की चर्चाओ को सार्वजनिक रूप से प्रकट नही करता।

मन्त्रिपरिषद के कार्य—मन्त्रिपरिषद राज्य के शासन म केन्द्रीय स्थिति मे होती है, एक ओर वह राज्यपाल की समस्त शक्तियो का प्रयोग करती है दूसरी ओर राज्य के विधानमण्डल की शक्तियो का भी प्रयोग करती है। राज्य के विधानमण्डल की शक्तियो के प्रयोग के दो कारण हैं, एक तो यह कि वह विधानमण्डल की कार्यकारिणी समिति के समान है जो उसकी ओर स उसके कार्यों को पूरा करने के लिये निर्माण की जाती है, दूसरा कारण यह है कि विधानमण्डल म उसका बहुमत होता है और उस बहुमत के बल पर वह जो चाहती है वही करा सकने की स्थिति मे होती है।

उसके कार्यों को हम कार्यपालिका-कार्य और विधायी-कार्य इन दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। कार्यपालिका कार्यो मे वह वे सब काम करती है जो राज्यपाल को सौंपे गय हैं। इनके अतिरिक्त मन्त्रिपरिषद क सदस्य राज्य के प्रशासन मे एक-एक या अनेक प्रशासकीय विभागों के प्रमुख भी होते हैं तथा वे उनका सचालन करते है एव अपने-अपने विभाग के कामो के लिय विधानसभा के सामने उत्तरदायी होते है।

विधायी कृत्या म उसके प्रमुख कार्य ये है—शासन की नीतियों की रूपरेखा तैयार करके विधानसभा की स्वीकृति के लिय पेश करना, विधेयको की रचना कराना और उन्हे विधानमण्डल के सामने रखना एव वहा उनका समर्थन करके उनको पारित कराना, यदि वे पारित न हों तो मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देना होता है, तथा वित्तीय प्रस्तावो का निर्माण करना व अन्य वित्तीय व्यवस्था करना।

वास्तव मे राज्य की समूची विधायी सत्ता मन्त्रिपरिषद के हाथों म आ गई है। उसकी सहमति और समर्थन के बिना यह सम्भव नही है कि राज्य म कोई विधि बन सके। यदि कोई सदस्य विधानसभा के विचार के लिये कोई धन-विधेयक रखता है और मन्त्रिपरिषद उससे असहमत हो तो वह राज्यपाल को परामर्श देगी

कि वह उस विधेयक को विधानसभा म पेश होने की अनुमति न दे। इस प्रकार अपनी इच्छा के प्रतिकूल धन-विधेयको को तो वह आरम्भ मे ही समाप्त करा सकती है तथा साधारण विधेयक जब सदन के सामने विचार के लिए आयेगे उस समय वह उनमें से ऐसे विधेयको को गिरा सकती है जो उसे पसन्द न हो क्योकि सदन का बहुमत उसके साथ रहता है और उसके आदेशानुसार काम करता है। तथापि, इन शक्तियो के कारण हम मन्त्रिपरिषद को अधिनायक (Dictator) नही कह सकते, ससदात्मक लोकतन्त्र मे मन्त्रिपरिषद को इस प्रकार की शक्तिया प्राप्त होना स्वाभाविक और आवश्यक होता है। इन्ही शक्तियो के कारण मन्त्रिपरिषद उत्तरदायी बन पाती है।

मन्त्रिपरिषद की कार्यप्रणाली—राज्य के कार्यों में स्वतन्त्रता के बाद बहुत तेजी के साथ विकास हुआ है, एक ओर तो वह लोककल्याणकारी बन गया है दूसरी ओर वह समाजवादी बनता जा रहा है अत मन्त्रिपरिषद के सदस्यो की सख्या मे वृद्धि होती जा रही है जिसके कारण यह आवश्यक हो गया है कि मन्त्रिपरिषद मे कई श्रेणी के सदस्य लिए जाये। आज साधारण तौर पर प्राय सभी राज्यो मे मन्त्रिपरिषद के तीन भाग बन गए है। एक भाग में वे लोग हैं जो मन्त्री कहलाते हैं, वे अन्तरग मण्डल (Cabinet) के सदस्य होते है तथा मन्त्रिपरिषद की नीतियो का निर्माण करते है, दूसरे भाग म उपमन्त्री (Deputy-Ministers) हैं, ये लोग अलग अलग विभागो के मन्त्रियो के साथ सहायक के तौर पर लगे रहते हैं तथा धीरे-धीरे मन्त्री पद रिक्त होने पर मन्त्री बनते हैं, तीसरे भाग मे वे लोग है जो मन्त्री न होकर सचिव हैं। इन्हे संसदीय-सचिव (Parliamentary-Secretary) कहा जाता है। ये लोग भी विभिन्न विभागो के मन्त्रियो और उपमन्त्रियो को उनके कामो में सहायता देते है तथा विधानमण्डल में सत्ताधारी राजनीतिक दल के सदस्य होते हैं।

अन्तरंगमण्डल जो निर्णय करता है वे मन्त्रिपरिषद के निर्णय माने जाते हैं। मन्त्रिपरिषद की बैठकों की अध्यक्षता मुख्यमन्त्री करता है। बैठको की कार्यवाही गुप्त होती है और कोई भी मन्त्री उसकी चर्चा नहीं कर सकता। उसका अपना पृथक सचिवालय होता है जिसम स्थायी सचिव होते है जो कार्यवाही का अभिलेख इत्यादि रखते हैं तथा मन्त्रिपरिषद द्वारा सौंपे गये अन्य कार्य करते हैं।

सविधान के अनुच्छेद १६४ मे कहा गया है कि उडीसा, बिहार और मध्य-प्रदेश राज्यो म आदिम जातियो के कल्याण के लिए एक मन्त्री होगा जो साथ-साथ अनुसूचित जातियो और पिछडे वर्गों के कल्याण तथा दूसरे कार्यों का उत्तरदायित्व भी सम्हालेगा।

मुख्यमन्त्री की स्थिति—जिस प्रकार राज्य का अध्यक्ष राज्यपाल होता है उसी प्रकार शासन का अध्यक्ष मुख्यमन्त्री होता है। वह मन्त्रिपरिषद में ही नही

विधानमण्डल मे भी केन्द्रीय व्यक्ति होता है। वह विधानसभा का नेता होता है तथा उसकी शक्ति का आधार यही है कि उसके पीछे उसके दल का समर्थन होता है जो विधान सभा म बहुसख्या मे होता है।

मुख्यमन्त्री क कार्यों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं—मन्त्रिपरिषद और अन्तरग मण्डल की अध्यक्षता करना, मन्त्री पद पर नियुक्त किय जाने के लिय व्यक्तियो की एक नामावली राज्यपाल के सामने पेश करना, मन्त्रियो के बीच मे प्रशासकीय विभागो का वितरण करना, विभिन्न मन्त्रालयो और विभागों के बीच सामजस्य पैदा करना, राज्यपाल को राज्य के शासन क बारे म समस्त जानकारी देना, राज्यसूची के विषयो पर राज्य की नीतियो के निर्माण म मन्त्रिपरिषद का नेतृत्व करना विधानसभा का उसके कामो म विशेषकर विधि निर्माण के काम में नेतृत्व करना, राज्यपाल की शक्तियो के प्रयोग के लिय मन्त्रिपरिषद का निर्णय उसके सामने रखना, विधानसभा मे राज्य की नीतियो और राज्य के प्रशासन के लिय उत्तरदायित्व ग्रहण करना तथा उसका विश्वास प्राप्त किय रहना, सघ से प्राप्त आदेशो पर विचार और उनका पालन। वर्तमान काल मे मुख्यमन्त्री का काम बहुत अधिक बढ गया है वह राष्ट्रीय विकास परिषद का सदस्य होता है जिसका अध्यक्ष देश का प्रधानमन्त्री होता है, वह राज्य की योजनाओं के निर्माण और उनके सफल सचालन के लिय उत्तरदायी होता है। इन सब कामो के अतिरिक्त वह राज्य-प्रशासन में एक प्रशासकीय विभाग का अध्यक्ष भी होता है तथा जिस प्रकार दूसरे मन्त्री अपने-अपने विभाग के लिये उत्तरदायी होते ह वह भी अपने विभाग के लिय उत्तरदायी होता है, अन्तर केवल इतना ही है कि जहा दूसरे मन्त्री प्रश्नोत्तरकाल म अपने अपने विभाग से सम्बन्धित प्रश्नो का ही उत्तर देते ह वहा वह सभी विभागो से सम्बन्धित मामलों को सम्हालता है।

मुख्यमन्त्री अपनी मन्त्रिपरिषद का प्राण होता है, वह उसके कन्धो पर ही टिकी रहती है। यदि उसकी मृत्यु हो जाय या वह त्यागपत्र दे दे तो सारी मन्त्रि-परिषद भग हो जाती है। इसीलिये कहा गया है कि मुख्यमन्त्री मन्त्रिपरिषद रूपी भवन का आधारस्तम्भ होता है। उसका व्यक्तित्व यदि प्रभावशाली है तो राज्य का शासन अधिक स्थायी होगा तथा उसकी मन्त्रिपरिषद अधिक टिकाऊ होगी अन्यथा उसमें स्थायित्व का अभाव रहेगा।

राज्य का महाधिवक्ता

जिस प्रकार सघ में राष्ट्रपति महान्यायवादी की नियुक्ति करता है उसी प्रकार सविधान के अनुसार राज्यपाल राज्य मे एक महाधिवक्ता की नियुक्ति करता है। महाधिवक्ता नियुक्त किय जाने वाला व्यक्ति भारत का नागरिक होना चाहिये तथा उसम इतनी योग्यता होनी चाहिय कि वह उच्च-न्यायालय का न्यायाधीश बनाया जा सके।

महाधिवक्ता (Advocate General) का कार्य है कि वह राज्यपाल को विधि सम्बन्धी प्रश्नों पर मन्त्रणा दे तथा उसके द्वारा सौंपे गये अन्य वैधानिक कर्तव्यों का पालन करे। वह उन कार्यों को भी करता है जो संविधान ने उसे सौंपे हैं।

महाधिवक्ता के वेतन, भत्ते आदि के बारे में राज्यपाल निश्चय करता है तथा वह अपने पद पर राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त रहता है।

अध्याय . २२

राज्यों की शासन प्रणाली : विधानमण्डल

संविधान ने भारत के पन्द्रह राज्यों में से प्रत्येक में एक विधानमण्डल की स्थापना की है, राज्यपाल तथा विधानसभा सब राज्यों में उसके अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार किये गये हैं। इनके अतिरिक्त निम्न राज्यों में विधान परिषद की स्थापना भी की गई है—आंध्र-प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश, मैसूर, पंजाब, उत्तरप्रदेश और पश्चिमी बंगाल। शेष राज्यों में केवल विधानसभा ही है।

संसद को यह अधिकार दिया गया है कि यदि किसी राज्य की विधानसभा अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई मतों से यह प्रस्ताव पारित कर दे कि उस राज्य में यदि विधान परिषद नहीं है तो उसकी स्थापना की जाये या यदि वहां विधान परिषद है तो उसे भंग कर दिया जाये तो संसद जैसा उचित समझे वैसा कर सकती है। इस प्रकार नई विधानपरिषदें बनाई जा सकती हैं और पुरानी मिटाई जा सकती हैं।

विधानसभा

(Legislative Assembly)

विधानसभा राज्य का प्रतिनिधि सदन है, उसमें सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ५०० और कम से कम ६० होगी। इन सदस्यों का निर्वाचन राज्य में रहने वाले भारत के वे समस्त नागरिक करेंगे जिनका नाम उस राज्य की मतदाता सूचियों में दर्ज है। निर्वाचन प्रत्यक्ष होगा तथा गुप्त मतदान प्रणाली के द्वारा होगा। निर्वाचन कराने का काम भारत के निर्वाचन आयोग के जिम्मे होगा। निर्वाचनों के लिये सारे राज्य को एक सदस्यीय-निर्वाचन-क्षेत्रों में बांटा जायेगा तथा प्रत्येक नई जनगणना के पश्चात् संघीय विधियों के अनुसार निर्वाचनक्षेत्रों का पुनर्गठन किया जायेगा।

संविधान ने अनुच्छेद ३३२ में यह आदेश दिया है कि असम को छोड़कर प्रत्येक राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जातियों और वर्गों के लोगों के लिये कम से कम उतने स्थान सुरक्षित रहेंगे जितने जनसंख्या के अनुपात से राज्य में उन्हें मिलने चाहियें। असम की विधानसभा में स्वशासी जिलों के लिये उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित रहेंगे तथा उन स्थानों से स्वशासी क्षेत्रों में रहने वाले अनुसूचित वर्गों के लोग ही चुने जा सकेंगे।

अनुच्छेद ३३३ राज्यपाल को यह शक्ति देता है कि यदि वह समझता है कि राज्य की विधानसभा के भीतर आंग्ल-भारतीय जाति के लोगों को समुचित प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हुआ है तो वह विधानसभा में उस जाति के उतने सदस्य मनोनीत कर सकता है जितने वह उचित समझे।

अनुसूचित जातियों व वर्गों तथा आंग्लभारतीय जाति के लिये स्थानों के सुरक्षित रखने तथा मनोनीत किये जाने की व्यवस्था संविधान ने (अनु० ३३४) केवल दस वर्षों के लिये की थी परन्तु आठवें संशोधन के द्वारा जो संसद ने १ दिसम्बर १६५६ को स्वीकार किया है यह अवधि अगले दस वर्ष के लिये और बढ़ा दी गई है।

कार्यकाल—विधानसभा का कार्यकाल सामान्यतया पांच वर्ष निर्धारित किया गया है परन्तु राज्यपाल को यह शक्ति दी गई है कि यदि वह उचित समझे तो उसे उसके पहले ही विघटित कर सकता है। वह दो परिस्थितियों में ऐसा करता है, या तो उस मुख्यमन्त्री यह परामर्श दे कि विधानसभा को विघटित कर दिया जाये या राष्ट्रपति राज्य में आपातकाल की घोषणा करके उसे यह आदेश दे कि वह विधानसभा को भंग कर दे। भंग हो जाने के बाद उसका निर्वाचन इस प्रकार हो जाना अनिवार्य है कि विधानसभा के भंग होने से पहले समाप्त होने वाले अधिवेशन (सत्र) और पुनर्निर्वाचन के बाद होने वाले पहले सत्र के प्रारम्भ होने की तिथि के बीच में ६ मास से अधिक का अन्तर न हो।

संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह आपातकालीन-घोषणा के बाद विधानसभा की अवधि एक बार में एक वर्ष के लिये बढ़ा सकती है परन्तु यह अवधि आपातकाल के समाप्त होने पर ६ मास पूरे होते ही समाप्त हो जाती है और उस समय अनिवार्य रूप से नये निर्वाचन कराने होते हैं।

अध्यक्ष—निर्वाचन होने के पश्चात् विधानसभा यथाशीघ्र अपने पहले सत्र में ही अपने दो अधिकारियों अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का चुनाव करती। ये दोनों सदन के सदस्य होते हैं। जब इनमें से किसी का या दोनों पद रिक्त हो जाते हैं तो सदन यथाशीघ्र इन पदों के लिये निर्वाचन करता है। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष सदन के सदस्य न रहने पर अपना पद रिक्त कर देते हैं, वे स्वयं अपने पद से त्यागपत्र दे सकते हैं तथा यदि विधानसभा के सदस्य चौदह दिन की सूचना देकर विधानसभा में अध्यक्ष या उपाध्यक्ष या दोनों के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखें और वह प्रस्ताव सदन के बहुमत से स्वीकार कर लिया जाय तो वे अपने पदों से त्यागपत्र दे देते हैं।

अध्यक्ष का पद ब्रिटिश परम्परा के आधार पर एक आजीवन पद माना गया है, तथा यदि उसका आचारण निष्पक्ष रहता है तो सामान्यतया उसको ही बार-बार अध्यक्ष चुन लिया जाता है। संविधान के अनुसार भी वह तब तक अपने पद पर रहता है जब तक कि विधानसभा के भंग होने के बाद नये निर्वाचन हो और उनके बाद नये अध्यक्ष का निर्वाचन न हो जाय। इस प्रकार उसके पद को स्थायित्व दिया

गया है यानी विधानसभा भग हो सकती है परन्तु उसके अध्यक्ष का पद अखण्ड रहता है। विधानसभा की अनुपस्थिति म भी उसका अध्यक्ष अपने पद पर रहता है। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष सभा के उन सत्रो की अध्यक्षता नही करेंगे जिनम उनके विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर वाद विवाद हो रहा हो, उन्हे उस समय अपना बचाव देने और विवाद मे भाग लेने का अधिकार दिया गया है। यदि वे दोना ही किसी समय किसी अनिवार्य कारण से अनुपस्थित हो तो सभा के अध्यक्ष मण्डल का कोई सदस्य अपने क्रम से सभा की अध्यक्षता करेगा। यदि उनमे से भी कोई न हो तो सभा अपनी अध्यक्षता करने के लिय किसी सदस्य को उस सत्र का अध्यक्ष चुन सकती है।

अध्यक्ष सामान्यतया चर्चाओ मे भाग नही लेता, यद्यपि उसे स्पीकर कहा गया है तथापि वह सभा का सबसे कम बोलने वाला सदस्य है उसका काम दूसरो को बोलने का अवसर देना है। वह सामान्यतया विभाजन के समय अपना मत भी नही देता है परन्तु यदि किसी समय सभा मे किसी प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष मे समान मत पडे तो वह गुत्थी को सुलझाने के लिये निर्णायक मत दे सकता है।

अध्यक्ष का दलातीत चरित्र—लोकसभा के अध्यक्ष की भाति विधानसभा के अध्यक्ष को भी पक्षातीत होना चाहिय। यह आवश्यक है कि वह सभा के भीतर सब दलों के सदस्यो के साथ समानता का व्यवहार करे, सबको समान रूप से बोलने के अवसर प्रदान करे तथा उनकी बातो को ध्यान और धीरज से सुने। हम लोकसभा के अध्यक्ष के प्रसग मे यह बात बता चुके है कि विधानसभा के अध्यक्ष का दलातीत होना ही लोकतंत्र की रक्षा कर सकेगा। यदि सभा के भीतर अध्यक्ष किसी दल का पक्ष लेता है तथा दूसरे का विपक्ष करता है तो इसका परिणाम यह होगा कि विधान-सभा सरकार के विरोधी विचारो को प्रकट करने म समर्थ नही रहेगी और यदि ऐसा हुआ तो लोकतन्त्र समाप्त होने म देर नही लगेगी। असन्तुष्ट विरोधी दल अपने विचारो को प्रकट करने के लिये जब विधानसभा का मच प्राप्त करने म असमर्थ रहेगें तो वे गुप्त कार्यवाहियो की शरण लेंगे तथा देश म हिसक क्रातियो और षडयन्त्र की राजनीति का सूत्रपात हो जायगा। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि अध्यक्ष विशेषकर विरोधी दलों के प्रति उदारता की दृष्टि रखे तथा उन्हे इस बात का पूरा अवसर दे कि वे अपने विचार को पूरे तर्क के साथ सदन के सामने रख सकें। यो लोकतन्त्र का अर्थ भी हृदय-परिवर्तन और विचार परिवर्तन द्वारा शासन है। ससद या विधानसभा के भीतर जो लोग सदस्य होते हैं वे वहा एक दूसरे का हृदय और विचार बदल कर शासन की सत्ता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। विधानसभा विरोधियो को परास्त करने का स्थान नही है वरन् वह सही अर्थो मे विचार के मथन का मञ्च है। यह तभी हो सकता है जब निष्पक्ष होकर सबको विचार प्रकट करने का अवसर दिया जाये।

अध्यक्ष के लिये सविधान ने तो यह आवश्यक नही माना है कि वह किसी राजनीतिक दल का सदस्य नही होगा परन्तु हमने ब्रिटिश परम्पराओं को इस विषय

मे अपने लिये आदर्श माना है और हम धीरे-धीरे उसकी दिशा म बढना चाहते हैं। सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सब राजनीतिक दल इस परम्परा के निर्माण मे सहयोग दें। सबसे प्रमुख बात यह है कि अध्यक्ष सभा की सदस्यता के लिय जिस निर्वाचन क्षेत्र से खडा हो वहा उसका विरोध न किया जाय तथा उसे निर्विरोध चुन लिया जाय तो वह व्यक्ति स्वय ही निर्दलीय हो जायेगा। एक बार अध्यक्ष बनने के बाद जब तक वह चाहे तब तक उसे ही अध्यक्ष बनाया जाय यह परम्परा बहुत आवश्यक है। यदि उस के चरित्र म ऐसा कोई दोष हो कि उसका अध्यक्ष रहना सभा के लिय अपमान की बात हो जाय तो उसे हटाया जा सकता है।

अध्यक्ष की निष्पक्षता उसके पद को स्थिर बनाने म मदद करेगी तथा उसके पद की स्थिरता उसको निष्पक्ष बनायेगी। य दोनो परस्पर आश्रित है।

अध्यक्ष के कार्य—विधानसभा का अध्यक्ष सामान्यतया निम्न कार्य करता है—

१ सभा की बैठको का सभापतित्व करना,
२ सभा म शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाय रखना,
३ सदस्यो को बोलने का अवसर देना,
४ मुख्यमन्त्री के परामर्श से सभा के सत्रो का कार्यक्रम बनाना,
५ यह निर्णय करना कि कोई विधेयक जो उसके पास सभा म रखने के लिय भेजा गया है धन विधेयक है या नही
६ सदस्यो के प्रश्नो को छाटना और उत्तर के लिय विभिन्न मन्त्रियो के पास भेजना,
७ स्थगन प्रस्ताव पेश करने की अनुमति देना या देने से मना करना।
८ परिषद से आने वाले विधेयको को सभा के सामने रखना और सभा द्वारा पारित विधेयको को परिषद के सामने भेजना, तथा अन्तिम रूप से विधानमण्डल द्वारा किसी विधेयक के पारित हो जाने पर उसे राज्यपाल के हस्ताक्षर के लिय भेजना।

विधान परिषद्

(Legislative Council)

राज्य विधानमण्डल के दूसरे सदन का नाम विधान-परिषद् है। इसके भीतर राज्य की विधानसभा के कुल सदस्यो की सख्या के एक तिहाई सदस्य हो सकते हैं तथा कम से कम ४० सदस्य होते है। सदस्य होने के लिय यह आवश्यक है कि प्रत्यक उम्मीदवार की आयु कम से कम तीस वर्ष हो तथा उसके भीतर वे सब योग्यतायें हो जो विधि द्वारा निर्धारित की जायें।

निर्वाचन—परिषद् के सदस्यो का निर्वाचन आनुपातिक पद्धति के अनुसार **एकल सक्रमणीय मत (Single Transferable Vote) द्वारा होता है।**

परिषद् के एक तिहाई सदस्य राज्य की नगरपालिकाओ, जिला-परिषदो तथा अन्य स्थानीय स्वशासन की संस्थाओ के सदस्यो के एक सम्मिलित निर्वाचन मण्डल द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं।

परिषद् की सदस्य सख्या का बारहवा अ श राज्य के भीतर रहने वाले उन व्यक्तियो द्वारा निर्वाचित किया जाता है जो कम से कम तीन वर्ष से किसी भारतीय विश्वविद्यालय के स्नातक (Graduate) हो अथवा संसद द्वारा इस काम के लिये स्नातक के तुल्य मान लिये गये हो।

अन्य बारहवे अंश का निर्वाचन एक ऐसा निर्वाचक मण्डल करता है जिसमे माध्यमिक विद्यालयो के भीतर कम से कम तीन वर्ष से अध्यापन कार्य करने वाले शिक्षक होते हैं।

अन्य एक तिहाई सदस्यो को विधानसभा के सदस्य बाहर से (अपने सदस्यो मे से नही) करते हैं।

परिषद् के शेष सदस्यो को राज्यपाल साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा के क्षेत्र में ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव प्राप्त लोगो मे से मनोनीत करता है।

कार्यकाल—विधान-परिषद् एक स्थायी सस्था है परन्तु इसके सदस्य इसमे आजीवन नही रहते, उनका कार्यकाल ६ वर्ष है। हर दूसरे वर्ष परिषद् के एक तिहाई सदस्य अपना कार्यकाल पूरा करके निवृत्त हो जाते हैं तथा उन रिक्त स्थानो पर नये निर्वाचन हो जाते है, परिषद के निवृत्त सदस्य निर्वाचन के लिये फिर से खडे हो सकते हैं उन पर कोई प्रतिबन्ध नही है। परिषद् राज्यपाल द्वारा विघटित नही की जा सकती।

सभापति और उपसभापति—परिषद अपने दो सदस्यो को क्रमश सभापति और उपसभापति चुनती है। उनमे से किसी एक का या दोनो का पद रिक्त होने पर वह दूसरा चुनाव करती है।

यदि उन दोनो मे से कोई सदन का सदस्य नही रहता तो वह अपना पद रिक्त कर देगा। यदि वह चाहे तो अपने पद से त्यागपत्र भी दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि परिषद चाहे तो उनमे से किसी एक को या दोनो को चौदह दिन की पूर्व सूचना देकर उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव अपनी कुल सदस्य सख्या के बहुमत से पारित कर सकती है, उस स्थिति मे उस अधिकारी को अपना पद रिक्त करना होगा।

सभापति की अनुपस्थिति मे उपसभापति सदन की अध्यक्षता और उस पद से सम्बन्धित कार्यों को करेगा तथा यदि वह भी अनुपस्थित हो तो परिषद् के सभापति मण्डल का कोई उपस्थित सदस्य अपने क्रम से उस कार्य को करता है। यदि उनमें से भी कोई न हो तो सदन जिस व्यक्ति को उसी समय इस कार्य के लिये नियुक्त कर वह उस बैठक का सभापतित्व करता है।

यदि किसी समय सदन में सभापति के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर विचार हो रहा हो तो उस समय वह सदन का सभापतित्व नही करेगा और यदि उपसभापति के विरुद्ध विचार हो रहा हो तो वह सदन का सभापतित्व नही करेगा। उन लोगो को अपने-अपने मामले में सदन की कार्यवाही म भाग लेने और अपना बचाव करने का अधिकार होता है। उस समय वह सदन के सदस्य की हैसियत से मतदान कर सकेगा और उसे अध्यक्ष होने के नाते निर्णायक मत देने का अधिकार उस बैठक म नही होगा।

दोनो सदनो से सम्बन्धित नियम

सचिवालय—दोनो सदनो का अपना सचिवालय होगा जिसके कर्मचारियो की नियुक्ति आदि के नियम विधानसभा के लिय उसके अध्यक्ष से परामर्श करके व विधानपरिषद के लिय उसके सभापति से परामर्श करके राज्यपाल बनाता है, तथा वे नियम राज्य की अन्य विधियो के समान ही प्रभावशाली होते हैं।

पदाधिकारियो के वेतन-भत्ते—विधानसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के तथा परिषद के सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते तथा अन्य सुविधायें विधानमण्डल द्वारा निर्धारित किये जाते हैं।

शपथ—प्रत्यक सदस्य को अपने सदन की कार्यवाही म भाग लेने से पूर्व अपने पद की शपथ लेनी होती है जिसे वह राज्यपाल या उसके द्वारा नियुक्त किसी दूसरे अधिकारी के सामने लेता है।

निर्णय—दोनो सदनो मे निर्णय बहुमत से किय जाते हैं, केवल उन मामलो मे विशेष बहुमत की आवश्यकता होगी जिनम सविधान का वैसा आदेश है। सामान्यतया अध्यक्ष और सभापति अपने अपने सदन म मतदान के समय मत नही देंगे परन्तु यदि किसी प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष म समान मत आते हैं तो वह अपना निर्णायक मत दे सकता है।

गणपूर्ति—सविधान म बताया गया है कि प्रत्यक सदन मे गणपूर्ति के लिये कम से कम १० या सदन की सदस्य सख्या का दसवा भाग, इनमे से जो भी अधिक हो उपस्थित होना चाहिय। यदि इतने सदस्य उपस्थित नही होते हैं तो सदन की कार्यवाही स्थगित कर दी जायगी। विधानमण्डल को यह अधिकार है कि वह इस व्यवस्था म कोई परिवर्तन करना चाहे तो कर ले।

कार्यवाही की विहितता—किसी सदन मे कोई स्थान रिक्त होने के कारण सदन की कार्यवाही अविहित नही मानी जायेगी, इसी प्रकार यदि यह बात ज्ञात हो जाये कि सदन की कार्यवाही म किसी ऐसे व्यक्ति न भाग लिया है जिसे वैसा करने का अधिकार नही था तथा उसने अपना मत भी दिया है तो भी सदन की उस बैठक की कार्यवाही अविहित नही मानी जायगी।

सदस्यों के पदों का रिक्त होना—निम्न परिस्थितियो मे किसी भी सदन में

सदस्यों के पद रिक्त माने जायेंगे—

१. कोई भी सदस्य दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता, अत विधान-मण्डल इस बारे मे नियम बनाता है कि जिस व्यक्ति ने दोनो सदनो मे सदस्यता प्राप्त कर ली हो एक सदन मे उसका पद रिक्त माना जाये।

२ यदि कोई व्यक्ति कई राज्यों के विधानमण्डलो की सदस्यता प्राप्त कर लेता है तो राष्ट्रपति उसे कुछ समय का अवसर देता है कि वह एक राज्य मे अपनी सदस्यता बनाये रखकर अन्य राज्यो म अपने स्थान का त्याग कर दे, परन्तु यदि वह इस अवधि में ऐसा नही करता है तथा सबका सदस्य बना रहता है तो राष्ट्रपति अपने आदेश से सब राज्यों के विधानमण्डलो में उसकी सदस्यता को समाप्त कर देगा और उसका स्थान रिक्त माना जायेगा।

३ यदि कोई सदस्य सदन के अध्यक्ष या सभापति के सामने अपना त्याग-पत्र पेश कर देता है तो उसका स्थान रिक्त हो जाता है, इसी प्रकार यदि सदन के नियमो के अनुसार किसी सदस्य मे कोई अयोग्यतायें पैदा या सिद्ध हो जायें तो उसका स्थान रिक्त हो जायेगा, इन अयोग्यताओ का उल्लेख हम आगे कर रहे हैं।

४ यदि कोई सदस्य बिना सदन के अध्यक्ष या सभापति की अनुमति के लगातार साठ दिन तक सदन की कार्यवाही से अनुपस्थित रहता है तो अपने आप ही उसका पद रिक्त हो जायेगा।

५ कोई व्यक्ति राज्य विधानमण्डल के किसी सदन और संसद के किसी सदन का सदस्य एक साथ नही रह सकता। अत एक सदन मे उसका स्थान रिक्त हो जाता है।

सदस्यो की अयोग्यतायें—सदन के सदस्य निम्न आधारो पर सदन की सदस्यता के अयोग्य माने जायेंगे और जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, सदन मे उनका पद अयोग्य सिद्ध होते ही रिक्त माना जायेगा —

१ यदि कोई सदस्य भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत कोई लाभ का पद धारण किये हुये हैं, (मन्त्रीपद या ससदीय सचिव के पद को लाभ का पद नही माना गया है),

२ यदि कोई अधिकृत न्यायालय उसके बारे मे यह निर्णय दे दे कि उसका मस्तिष्क ठीक नही है,

३ यदि वह अविमुक्त दिवालिया हो,

४. यदि वह ससद की किसी विधि के अन्तर्गत अयोग्य सिद्ध होता हो।

अयोग्यताओं का निर्णय राज्यपाल करता है। राज्यपाल के लिये यह अनिवार्य है कि वह ऐसे प्रत्येक मामले मे निर्वाचन आयोग से परामर्श करेगा और उसके मत के अनुसार निर्णय करेगा।

सदनों, उनकी समितियों और उनके सदस्यो के विशेषाधिकार—संविधान के अनुच्छेद १९४ मे बताया गया है कि विधानमण्डलो के दोनो सदनो म भाषण की

स्वतन्त्रता होगी और सदस्यो को वहा कोई बात कहने के लिये न्यायालय के सामने उपस्थित नही किया जा सकता। सदस्यो को यह भी अधिकार है कि वे विधानमण्डल की किसी भी समिति म कोई भी मत प्रकट करें तथा उस समिति की कार्यवाही प्रकाशित होने पर भी उसमे कही गई किसी बात के लिय न्यायालय मे कोई प्रश्न नही उठाया जा सकता। इसी प्रकार सदस्यो को यह अधिकार है कि वे किसी प्रश्न पर अपनी पसन्द के अनुसार मत दे सकें। विधानमण्डल स्वय अपने और अपने सदस्यों के विशेषाधिकारो की व्याख्या करेगा, तथा मोटे तौर पर उन्हे वे सब विशेषाधिकार प्राप्त होगे जो भारत का संविधान प्रवर्तित होने के समय ब्रिटिश ससद को प्राप्त थे।

दोनों सदनो के सदस्यो को वे वेतन, भत्ते और दूसरे साधन-सुविधा उपलब्ध होगे जो समय-समय पर विधानमण्डल तय करे।

विधानमण्डल मे राज्यपाल की स्थिति

राज्यपाल विधानमण्डल का एक अंग है। वह उसके सम्बन्ध मे कुछ कार्य करता है। इनका वर्णन हम राज्यपाल की शक्तियो और उसके कार्यों के विवरण में गत अध्याय मे कर चुके हैं। यहा उस बारे म संक्षेप मे यह बताना पर्याप्त होगा कि राज्यपाल दोनो सदनो को आहूत करता है, उनका सत्रावसान करता है, और विधानसभा को विघटित कर सकता है। उसे यह अधिकार है कि वह विधानसभा के निर्वाचन के बाद पहले सत्र का उद्घाटन स्वय करे तथा उस समय विधानसभा के सामने (यदि दो सदन हो तो दोनो के सयुक्त अधिवेशन के सामने) यह बताये कि उसने उन्हें क्यो आहूत (Summon) किया है। वह जब चाहे एक या दोनो सदनों को अपना सन्देश भेज सकता है तथा एक या दोनो सदनों को समवेत (इकट्ठा) करके उनके सामने भाषण दे सकता है। विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयको पर अपनी स्वीकृति दे सकता है, या अपने सन्देश सहित उन्हें वापिस विधानमण्डल के पुनर्विचार के लिये लौटा सकता है, अथवा उनमे से जिसे वह चाहे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोक सकता है। संविधान ने इस बारे म केवल एक ऐसे अवसर का उल्लेख किया है जबकि विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिय भेजा जा सकता है वह तब जबकि राज्यपाल को ऐसा लगे कि यदि वह विधेयक विधि का रूप ले लेता है तो राज्य के उच्च-न्यायालय की प्रतिष्ठा और उसकी शक्ति को हानि पहुँचने की सम्भावना है।

जब कोई विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाये तब राष्ट्रपति धन-विधेयको के अतिरिक्त दूसरे विधेयक को अपनी सिफारिश के साथ राज्यपाल के पास वापिस भेज देगा जो उसे सदनो के सामने विचारार्थ रखेगा। सदन छह मास के भीतर उस पर विचार करके उसे सशोधन सहित या सशोधन रहित रूप मे पारित करेगा तथा उसे पुन राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजा जायेगा। संविधान

तना कहकर मौन हो गया है, परन्तु यह बात बहुत स्पष्ट है कि यदि विधेयक का विषय ऐसा है जो सविधान के अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल के क्षेत्र म है तो राष्ट्रपति को उस पर अपनी स्वीकृति देनी ही होगी वह उसे रोक नही सकता तथा अस्वीकार भी नही कर सकता।

राज्यपाल एक काम यह करता है कि वह वित्तीय वर्ष के अन्त में विधानसभा के सामने राज्य का वित्तीय विवरण पेश कराता है तथा उसके सामने आगामी वर्ष के लिए आय और व्यय के प्रस्ताव रखवाता है। वह दोनो सदनो के सामने राज्य के लेखा निरोक्षण का प्रतिवेदन (Report), लोकसेवा आयोग का प्रतिवेदन तथा दूसरे महत्वपूर्ण आवेदन, प्रतिवेदन रखवाता है।

धन विधेयको को सदन के सामने रखने से पूर्व विधानसभा का अध्यक्ष राज्यपाल की अनुमति के लिए भेजता है और राज्यपाल यदि मन्त्रिपरिषद उसे परामर्श दे तो उस पर अनुमति देता है अन्यथा अनुमति नही प्रदान करता। जब धन विधेयक विधानमण्डल द्वारा पारित होने के बाद राज्यपाल के पास भेजे जाते हैं तो वह उनको पुर्नविचार के लिए नही भेज सकता उन पर उसे तुरन्त अपनी स्वीकृति प्रदान करनी ही होगी यदि वह कोई धन-विधेयक राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृति के लिये भेजता है तो राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति तुरन्त प्रदान करेगा। वित्त को पूर्णतया विधानसभा के आधीन रखा गया है।

राज्यपाल के इन कार्यों का अवलोकन करने के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि वह विधि-निर्माण के काम म कोई प्रत्यक्ष भाग नही लेता तथा सिवाय अध्यादेश जारी करने के (जो विधानमण्डल की स्वीकृति के बिना रद्द हो जाते हैं), उसे किसी प्रकार की विधि बनाने का अधिकार नही है वह विधि निर्माण के काम पर अपना नैतिक प्रभाव भल ही डाल सके कोई वैधानिक प्रभाव नही डाल सकता। इस प्रकार उसे कोई विधायी सत्ता नही दी गई है, विधि निर्माण के सम्बन्ध म उसकी शक्तिया कार्यपालिका प्रकृति की है जिनका प्रयोग वह राज्य के प्रधान कार्यपालिका अधिकारी के रूप म करता है।

विधि निर्माण की प्रक्रिया

राज्यो म विधि निर्माण की प्रक्रिया लगभग वैसी ही है जैसी कि सघ मे है। यहा केवल अन्तर यह है कि ससद के दोनो सदनो म जिस प्रकार सम्बन्ध हैं उन सम्बन्धो का राज्य-विधानमडलो म अभाव है। ससद के दोनो सदन सिवाय धन-विधेयको के दूसरे सब मामलो मे समान शक्ति रखते ह परन्तु राज्यो म वैसा नही है। राज्यो के विधानमडलो में विधानसभा को साधारण और वित्तीय दोनो प्रकार के विधायी क्षेत्र में अन्तिम सत्ता प्राप्त है। वहा परिषद का काम केवल विधायी प्रस्तावो पर चर्चा करना तथा सुझाव देना मात्र है, उसे विधानसभा की समानता प्राप्त नही है, तथापि वह विधि निर्माण के कार्य मे भाग लेती है।

राज्य की विधायी सत्ता—राज्यो को निम्न क्षेत्रो म विधान बनाने की सत्ता दी गई है —

(क) राज्य-सूची के समस्त विषयो पर,

(ख) समवर्ती सूची के उन विषयो पर जिन पर तब तक सघ की कोई विधिया न हो अथवा वे विस्तृत व विशद न हो।

(ग) अ य विषयो पर जो उसे सघ मसद द्वारा सौपे जायें।

राज्यो की विधायी प्रक्रिया को भी सघ की भाति दो भागो म बाटा जा सकता है—साधारण विधि निर्माण सम्बन्धी और वित्तीय प्रक्रिया।

पारिभाषिक शब्द—ससद द्वारा विधि निर्माण के प्रसग म हमने जिन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया था उन्ही का प्रयोग हम यहा करेंगे। अत नये सिरे से उनके अर्थ यहा लिखने की आवश्यकता नही है।

साधारण विधि निर्माण

सविधान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जिन राज्यो में विधानसभा और परिषद दो सदन हैं वहा साधारण विधेयक किसी भी सदन म पुरस्थापित (आरम्भ) किये जा सकते हैं।

दोनो सदनो मे विधि निर्माण म सहायता के लिय प्रचुरता के साथ समितियो का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन होते हैं तथा यदि आवश्यक हो तो उसे समिति के पास भेजा जाता है।

जब एक सदन विधेयक को पारित कर देता है तो उसे दूसरे सदन के विचारार्थ भेज दिया जाता है वहा भी उसको तीन वाचनो मे से होकर गुजरना पडता है। यदि दोनो सदन सहमत हो जाते है तब तो कोई कठिनाई उठती ही नही परन्तु यदि दोनो मे मतभेद हो जाय तो निम्न प्रक्रिया अपनानी पडती है —

विधानसभा द्वारा विधेयक पारित करने के बाद विधान परिषद के पास भेजा जाता है यदि वह उसे अस्वीकार कर दे या जिस दिन उसे विधेयक प्राप्त हुआ है उसके तीन महीने पश्चात तक वह उस विधेयक पर कोई निर्णय न करे या वह उसमें ऐसे सशोधन कर दे जो विधानसभा को स्वीकार न हो तो विधानसभा उस विधेयक को फिर से उसी सत्र या अगले सत्र म परिषद द्वारा प्रस्तावित या पारित सशोधनो सहित या उनके बिना विहित प्रक्रिया के अनुसार पारित करके पुन परिषद के पास भेजती है।

इस बार भी यदि परिषद विधेयक को अस्वीकार कर दे, या एक मास तक विधेयक पर कोई निर्णय न करे, या उसमे ऐसे सशोधन कर दे जो सभा को स्वीकार न हो तो यह मान लिया जायेगा कि विधानसभा ने दूसरी बार उस विधेयक को जिस रूप में स्वीकार किया था, वह उसी रूप म विधानमण्डल द्वारा पारित कर दिया गया है तथा उसे राज्यपाल की स्वीकृति के लिय भेज दिया जायगा। इस प्रक्रिया

का धन विधेयको के साथ कोई सम्बन्ध नही है ।

राज्यपाल विधेयको के बारे मे क्या अधिकार रखता है इसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं ।

वित्तीय विधियो के निर्माण की प्रक्रिया

सविधान ने बताया है कि निम्न विषयो मे से किसी एक, कुछ या सब से सम्बन्धित विधेयको को धन विधेयक माना जायगा—

१ करो का आरोपण, उत्सादन, परिहार, परिवर्तन या विनियमन (imposition, abolition remission alteration or regulation of any tax),

२. राज्य द्वारा धन ऋण लेने या कोई गारन्टी देने, या राज्य द्वारा वित्तीय-दायित्वो से सम्बन्धित किसी विधि के संशोधन का नियम,

३ राज्य की सचित निधि अथवा आकस्मिकता निधि की रक्षा, उसमे धन जमा करना या उसमें से निकालना

४. राज्य की संचित निधि में मे धन का विनियोग

५ किसी व्यय के बारे मे यह घोषणा करना कि वह राज्य की सचित निधि पर भारित होगा या ऐसे किसी व्यय की राशि बढाना,

६ राज्य की सचित निधि या उसके लोकलेखे (Public-Account) के खाते में धन प्राप्त करना, उसकी रक्षा या उसमें से धन निकालना,

७ उपरोक्त विषयों मे मे निष्पन्न होने वाला कोई और विषय ।

राज्य के विधानमण्डल मे विचार के लिये प्रस्तुत किसी विधेयक के बारे में यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि वह धन-विधेयक है या नही तो इस बारे मे विधानसभा के अध्यक्ष का निर्णय मान्य होगा । सभा का अध्यक्ष जब ऐसे विधेयक को विधान परिषद के विचारार्थ उसके पास भेजता है या जब वह उसे राज्यपाल के हस्ताक्षर के लिये भेजता है तो उसके साथ अपने हस्ताक्षरों के साथ यह प्रमाणपत्र सलग्न करता है कि वह विधेयक धन-विधेयक है ।

आयव्ययक (Budget)— राज्यपाल वित्तीयवर्ष के आरम्भ मे विधानमण्डल का सामने उस वर्ष मे होने वाले व्यय और आय के अनुमान रखवाता है जिसे वार्षिक वित्तीय विवरण कहा गया है । व्यय के अनुमानो मे निम्न प्रकार से व्यय का वर्गीकरण किया जायेगा—

(क) वे व्यय जो राज्य की संचित निधि पर भारित हैं ।

(ख) दूसरी राशिया जिनके बारे मे यह प्रस्ताव रखा गया है कि वे भारत की संचित निधि मे से व्यय की जायें ।

तथा उसमे राजस्व के खाते का व्यय दूसरे व्यय से अलग दिखाया जायेगा ।

राज्य की सचित निधि पर निम्न राशिया भारित होंगी—राज्यपाल के वेतन,

भत्ते और उससे सम्बन्धित दूसरे व्यय, विधानसभा के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष तथा यदि परिषद हो तो उसके सभापति व उपसभापति के वेतन और भत्ते, राज्य के ऋण सम्बन्धित व्यय उच्च-न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतन और भत्ते, किसी न्यायालय व न्यायाधिकरण के निर्णय के फलस्वरूप राज्य द्वारा चुकाई जाने वाली राशि तथा सविधान या राज्य द्वारा ऐसी दूसरी राशिया जिन्हे वे सचित निधि पर भारित घोषित कर दे।

विधानसभा को यह अधिकार नही है कि वह सचित निधि पर भारित राशियो के बारे मे मतदान कर सके, वे राशिया बिना मतदान के ही स्वीकृत मान ली जाती हैं परन्तु सभा को यह अधिकार है कि वह उनके बारे म चर्चा कर सके।

जहा तक दूसरे व्यय के प्रस्तावो का प्रश्न है विधानसभा को यह अधिकार है कि वह उन्हे सचित निधि पर भारित करने के लिये स्वीकार कर दे या अस्वीकार कर दे। वह उनकी राशियो म कमी भी कर सकती है।

धन की माग के बारे म कोई भी प्रस्ताव राज्यपाल की पूर्व अनुमति के बिना सभा के सामने पेश नही किया जा सकता।

विधानसभा को यह अधिकार नही है कि वह प्रस्तावो मे मागी गई राशि की मात्रा को बढा सके। मागो के स्वीकार हो जाने के बाद सभा म विनियोग विधेयक पेश किया जाता है जिसम सशोधन आदि करने का अधिकार नही दिया गया है। राज्य की सचित निधि म से कोई भी राशि बिना वैधानिक स्वीकृति के नही निकाली जा सकती।

त्रिविध अनुदान—लोकसभा की ही भाति राज्य की विधानसभा भी तीन प्रकार के अनुदान स्वीकार कर सकती है—लेखानुदान प्रत्ययानुदान और अपवादानुदान। वह इन अनुदानो म स्वीकृत राशि को राज्य की सचित निधि म से निकालने की अनुमति दे सकती है। इसके अतिरिक्त यदि स्वीकृत राशि वर्ष समाप्त होने से पूर्व ही समाप्त हो जाय, या कोई अप्रत्याशित व्यय आ जाय तो राज्यपाल विधानसभा के सामने पूरक-बजट पेश करा सकता है जिसम कि पूरक अनुदान, अतिरिक्त अनुदान या अधिक-व्यय अनुदान की माग की जाती है। विधानसभा इन मागो को पूरा कर सकती है। पूरक अनुदान तब माग जाते है जब किसी विभाग के लिये निश्चित राशि होने वाले व्यय की अपेक्षा कम पड जाती है अतिरिक्त अनुदान ऐसे व्यय के लिये मागे जाते है जो किसी ऐसी सेवा पर करने पडते है जिसकी कल्पना वित्तीय प्रस्तावो के समय नही थी, तथा अधिक-व्यय अनुदान उस व्यय के लिये मागा जाता है जो किसी विभाग के लिय स्वीकृत राशि से अधिक पहले ही व्यय कर लिया गया हो।

वित्तीय विषयों पर विधानसभा का एकाधिकार—सविधान ने वित्तीय विषयो पर विधानसभा को एकाधिकार प्रदान किया है, उसम कहा गया है कि धन विधेयक और अन्य वित्तीय प्रस्ताव केवल विधानसभा म ही पुरस्थापित (आरम्भ) किये जा सकते है। जिन राज्यो म दो सदन है वहा विधानसभा उन्ह पारित करने के बाद

विधान-परिषद के पास भेज देती है। परिषद उस विधेयक को प्राप्त करने के बाद चौदह दिनों के भीतर अपनी सिफारिशों के साथ सभा के पास लौटा देती है तथा सभा को यह अधिकार है कि वह उन सिफारिशों और सुझाव-सशोधनों को जो परिषद् ने किये हैं स्वीकार कर दे या अस्वीकार कर दे।

विधानसभा उस विधेयक को दोबारा जिस रूप में स्वीकार करती है वह उसी रूप में राज्यपाल के हस्ताक्षरों के लिये भेज दिया जाता है तथा राज्यपाल उस पर अविलम्ब हस्ताक्षर कर देता है।

यदि परिषद चौदह दिन के भीतर विधेयक सभा को नहीं लौटाती है तो यह मान लिया जाता है कि विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है।

विधान मडल की भाषा—राज्य के विधानमण्डल की कार्यवाही उस राज्य की राजकीय भाषा (या भाषाओं) में, अथवा अंग्रेजी या हिन्दी में चलती है। यदि कोई सदस्य इन भाषाओं में अपने विचार प्रकट करने में कठिनाई का अनुभव करता है तो अध्यक्ष उसे अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे सकता है। यदि राज्य का विधानमण्डल इसके विपरीत निर्णय न करे तो सन् १९६५ के २६ जनवरी से अंग्रेजी राज्य की भाषा नहीं रहेगी।

विधान मडल पर प्रतिबन्ध—विधानमण्डल का कोई सदन सर्वोच्च-न्यायालय या उच्च-न्यायालय के किसी न्यायाधीश के ऐसे आचरण की चर्चा नहीं कर सकता जो वह अपने कर्तव्यों के पालन के प्रसग में करता है।

न्यायालयों पर प्रतिबन्ध—न्यायालयों पर भी यह प्रतिबन्ध है कि वे विधान-मण्डल के किसी भी सदन की कार्यवाही के किसी भी अंश, उसकी किसी समिति की कार्यवाही के किसी भी अंश या उसके भीतर या उसकी समिति के भीतर उसके किसी सदस्य के आचरण के बारे में कोई जाच नहीं कर सकते तथा उस बारे में कोई सुनवाई नहीं कर सकते।

अध्यादेश (Ordinance)

राज्यपाल की शक्तियों के सदर्भ में हमने अध्यादेश का वर्णन किया है, यहा अधिक विस्तार से उसके बारे में चर्चा करनी होगी। सविधान ने अध्यादेश को भी एक प्रकार से विधि ही माना है क्योंकि जब तक वह या तो राज्यपाल द्वारा वापिस न ले लिया जाय या विधानमण्डल द्वारा अस्वीकार न कर दिया जाय तब तक विधि के समान ही प्रभावशाली होता है।

राज्यपाल अध्यादेश तब जारी कर सकता है जबकि विधानमण्डल के दोनों सदनों में से किसी का भी सत्र न हो रहा हो। ऐसी अवस्था में यदि वह समझता है कि किसी विषय के बारे में नियम बनाना आवश्यक है तो वह अध्यादेश जारी कर सकता है, ये अध्यादेश विधि के समान ही लागू किये जायेंगे।

राज्यपाल को निम्न विषयों पर अध्यादेश जारी करने से पहले राष्ट्रपति की

स्वीकृति लेनी पड़ती है —

१ जिन विषयो के बारे में कोई विधेयक विधानमण्डल मे पेश करने से पहले राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता होती है

२ जिन विषयो पर उसके लिय यह आवश्यक होता कि वह विधानमण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिय सुरक्षित रखे और उसकी स्वीकृति प्राप्त करे।

३ जिन विषयो पर वह स्वय अपने विवेक से यह निर्णय करता कि उनसे सम्बन्धित विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिय भेजे जायें।

अध्यादेश जारी होने के बाद किसी भी समय राज्यपाल द्वारा वापिस लिय जा सकते हैं। यदि वे तब तक चालू रहते है जबकि विधानमण्डल का सत्र आरम्भ हो तो उन्हे तुरन्त उसके सामने पेश कर दिया जाता है, यदि विधानमण्डल अपने सत्रारम्भ से ६ सप्ताह तक कोई निर्णय न ले पाय तो अध्यादेश रद्द हो जाते हैं। विधानमण्डल उससे पहल भी उन्हे रद्द कर सकता है। यदि वह उसे पसन्द करता है तो विधि के रूप म पारित कर सकता है।

यदि राज्यपाल किसी ऐसे विषय पर अध्यादेश जारी करता है जो राज्य विधानमण्डल की विधायी सत्ता म सम्मिलित नही है तो वह अध्यादेश अविहित होगा और न्यायालय उस लागू करने से मना कर सकते है।

एक स्थिति ऐसी भी होती है जिसमें अध्यादेश को विधानमण्डल द्वारा पारित विधि मान लिया जाता है तथा उसका रद्द नही किया जा सकता स्वय विधानमण्डल भी उसको रद्द नही कर सकता। वह स्थिति तब पैदा होती है जब राज्य की कोई विधि ससद द्वारा बनाई गई किसी विधि के विपरीत हो या समवर्ती सूची के किसी विषय पर सघीय विधि के विरुद्ध हो ऐसी स्थिति म राष्ट्रपति के आदेश पर राज्यपाल द्वारा उस विधि के सशोधन का अध्यादेश जारी कर दिया जाता है तथा वह अध्यादेश विधि का स्वरूप ले लेता है।

विधान परिषद का महत्व

विधि निर्माण की प्रक्रिया के अध्ययन मे हमने देखा कि जिन राज्यो मे द्विसदनात्मक विधायिका है वहा विधान-सभा को ही विधि निर्माण की वास्तविक सत्ता प्राप्त है, तथा विधान परिषद को कोई शक्ति नही दी गई है। यदि दोनो में मतभेद होता है तो विधानसभा की इच्छा ही मानी जाती है परिषद की बात को कोई महत्व नही दिया जाता है। यह स्थिति ब्रिटेन जैसी है।

इस स्थिति को देखकर दो प्रश्न पैदा होते हैं—पहला प्रश्न तो यह कि जब विधान परिषद को कोई वास्तविक सत्ता दी ही नही गई है तो उसकी स्थापना की ही क्यो गई है? दूसरा प्रश्न यह है कि जब उसकी स्थापना की गई है तो उसे वास्तविक सत्ता क्यो नही दी गई है?

पहले प्रश्न का उत्तर देना कठिन है, क्योंकि यदि हम यह कहें कि विधि निर्माण के कार्य मे अनेक प्रसिद्ध कारणो से दूसरे सदन का बहुत महत्व होता है तो यहा यह शंका पैदा होगी कि यदि ऐसा था तो भारत के सभी राज्यो मे सविधान निर्माताओ ने विधान परिषद् की स्थापना क्यो नही की ? वास्तव मे इस बारे मे तथ्य यह है कि संविधान निर्माण के समय कुछ राज्यो मे जो उस समय प्रात कहलाते थे परिषदे काम कर रही थी और वे राज्य इस पक्ष मे थे कि परिषदो को बनाये रखा जाये अत यह सिद्धात स्वीकार कर लिया गया कि उन राज्यो में परिषदो को बने रहने दिया जाये तथा शेष राज्यो मे परिषदे न बनाई जायें। इस मामले में संविधान ने राज्यों को यह अधिकार दे ही दिया है कि यदि राज्य चाहे तो ससद के पास यह प्रस्ताव पारित करके भेज सकता है कि उसकी विधान परिषद् तोड दी जाय या यदि वहा परिषद नही है तो उसका निर्माण किया जाये। इस प्रकार राज्य अपनी इच्छा के अनुसार परिषद बना या बिगाड सकते हैं। यह कोई ऐसी नीति या सावैधानिक महत्व का प्रश्न नही था कि इसके बारे में समस्त राज्यों के लिये कोई एक सा निर्णय लिया जाता। अनुभव के आधार पर विकास के लिये उसे छोड दिया गया है।

दूसरा प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है तथा उसमे कुछ गम्भीर सिद्धात निहित हैं। संविधान ने संघ मे भी दो सदनो की स्थापना की है परन्तु हमने अध्ययन मे देखा कि वहा भी यद्यपि राज्यसभा को साधारण विधि निर्माण के काम मे लोकसभा के समान सत्ता दी गई है तथापि वित्तीय मामलो मे लोकसभा की सत्ता अन्तिम मानी गई है। राज्यो मे दूसरे सदन अर्थात् परिषद् को केवल वित्तीय मामलो मे ही नही साधारण विधि निर्माण मे भी समान सत्ता नही दी गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहा केवल यह प्रश्न ही नही है कि विधान परिषद् को विधानसभा के समान सत्ता नही दी गई है वरन् एक प्रश्न यह भी है कि उसे वह शक्ति भी नही दी गई है जोकि राज्यसभा को संघ में दी गई है।

सबसे पहले हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि राज्यसभा और विधानपरिषद को वित्तीय मामलो मे कोई सत्ता क्यों नही दी गई है। इस बारे मे सबसे प्रमुख बात यह है कि ये दोनो सदन परोक्ष निर्वाचन पद्धति से बनते हैं। दोनों के सदस्य जनता के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि नही होते हैं। राज्यसभा मे राज्य-विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुने गये प्रतिनिधि होते हैं तथा विधान परिषद मे भी इसी प्रकार अनेक सस्थाओं आदि मे चुने हुए लोग आते हैं उन्हे आम जनता नही चुनती। लोकतन्त्र का सिद्धान्त यह है कि जनता के धन पर केवल उन्ही लोगो की सत्ता चलनी चाहिये जो जनता ने इस काम के लिये प्रत्यक्ष निर्वाचनों मे चुने हों। यह सिद्धान्त ब्रिटेन मे बहुत समय से प्रचलित था परन्तु इसे ऐतिहासिक महत्व तथा सैद्धान्तिक मान्यता तब प्राप्त हुई जब सयुक्तराज्य अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम के समय प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और महापुरुष जार्ज वाशिंगटन ने जो अमेरिकन स्वातन्त्र्य

संग्राम के सेनानी और नेता भी थे यह विचार रखा कि "प्रतिनिधित्व के बिना करारोपण नही किया जा सकता" (No taxation without representation) उस समय इस सूत्र को अमेरिकन स्वातन्त्र्य संग्राम का मूलमन्त्र स्वीकार कर लिया गया था, जैसे हमारे स्वाधीनता संग्राम मे हमारे प्रसिद्ध लोकनायक और महापुरुष लोकमान्य बालगगाधर तिलक का यह वाक्य हमारा मूलमन्त्र बन गया था कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मै इसे लेकर रहूगा।"

इस प्रकार वित्तीय प्रस्तावो पर अन्तिम निर्णय करने का अधिकार केवल उन लोगो को ही दिया जा सकता है जो जनता के सीधे रूप से चुने गये प्रतिनिधि हो। विधान परिषद के सदस्य जनता के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि नही हैं, अतः यह बहुत स्वाभाविक है कि उन्हे वह अधिकार नही दिया गया है। यही बात राज्यसभा पर भी लागू होती है।

दूसरा प्रश्न यह है कि जब राज्यसभा और विधानपरिषद दोनो परोक्ष रूप से निर्वाचित सदन हैं तो फिर दोनो के अधिकार समान क्यो नही हैं ? राज्यसभा सघ-ससद का सदन है। वहा वह एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है, अर्थात् वह सघ-ससद मे राज्यो की प्रतिनिधि है, सघीय ससद म राज्यो का प्रतिनिधित्व अनिवार्य है जिससे कि राज्यो के हितो की रक्षा हो सके। इस प्रकार राज्यसभा राज्यो के हितो की प्रहरी बन गई है और इसी कारण उसे साधारण विधि निर्माण में लोकसभा के बराबर सत्ता प्राप्त हो गई है अर्थात् दोनो मे मतभेद होता है तो दोनो के सयुक्त अधिवेशन में निर्णय किये जाते हैं। इस व्यवस्था से सघीय रचना को सुदृढता प्रदान की गई है। परन्तु विधान परिषद के साथ ऐसी कोई विशेषता लगी हुई नही है अतः उसे सामान्यत एक परोक्ष-निर्वाचित सदन का पद देकर सतोष कर लिया गया है। इसके पीछे एक विचार और भी है, यदि परिषदो को राज्यो मे विधान सभाओ के बराबर अधिकार दे दिये जाते तो वे संस्थायें जिनके प्रतिनिधि विधान-परिषद में बैठते हैं राज्य की राजनीति मे असाधारण राजनीतिक महत्व प्राप्त कर लेते तथा इसका प्रभाव यह होता कि उनके अपने काम को हानि पहुचती। उदाहरण के लिये परिषदो मे एक तिहाई सदस्यो का निर्वाचन स्थानीय-स्वायत्त सस्थायें करती हैं जैसे नगरपालिका, जिला-परिषद आदि, यदि विधान-परिषद को विधानसभा के बराबर महत्व दे दिया जाये तो ये सस्थायें राज्य की राजनीति का अखाडा बन जायेंगी तथा इनका जो प्रधान कार्य है अर्थात् स्थानीय विकास और सेवा उसमे बाधा आयेगी। इसी प्रकार परिषदो के बारहमाश सदस्य शिक्षको मे से चुने जाते हैं, परिषदो को अधिक सत्ता देने का परिणाम यह हो सकता था कि शिक्षको के बीच गहरी राजनीति प्रवेश कर जाती और राज्य मे शिक्षा के काम को क्षति पहुचती। इसके अतिरिक्त यदि परिषद को सभा के समान सत्ता दे दी जाती तो एक प्रकार से यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाता कि स्थानीय सस्थाओ को राज्य के शासन मे भाग लेने का अधिकार है। संविधान के अनुसार यह स्थिति अवाछनीय है क्योकि राज्य सघ नहीं

है। भारत एक सघ है उसके शासन मे राज्यो का भाग लेना सर्वथा उचित और अनिवार्य है, परन्तु राज्यो के शासन म केवल नागरिको को ही भाग लेने का अधिकार है किसी विशेष सस्था सगठन या व्यक्ति को नही।

विधानसभा के अन्य कार्य

विधानसभा विधि निर्माण के अतिरिक्त कुछ काम और भी करती है और उसके वे काम विधि-निर्माण के समान ही महत्वपूर्ण है अत उनका उल्लेख यहा आवश्यक है।

विधानसभा राज्य के प्रशासन के लिय भी जनता के प्रति जिम्मेदार होती है। ससदात्मक शासन म जनता अपने प्रतिनिधियो को केवल विधि निर्माण करने के लिय ही नही कार्यपालिका कार्य करने के लिय भी सत्ता प्रदान करती है। विधानसभा को विधि बनाने और उन विधियो क आधार पर प्रशासन चलाने का अधिकार है। प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के अपने कार्य की पूर्ति के लिय विधानसभा एक मन्त्रिपरिषद बनाती है जिसके सदस्य प्रशासकीय विभागो के अध्यक्ष होते हैं तथा प्रशासन का सचालन, नियमन व नियन्त्रण करते हैं। विधानसभा समय समय पर मन्त्रियो से उनके विभागों के बारे म प्रश्न पूछती है तथा मन्त्रिपरिषद की प्रशासकीय नीतियो पर वाद विवाद व उनकी आलोचना करती है। इस प्रकार जागरूकता और सतर्कता का प्रयोग करके विधानसभा प्रशासन को सदा जागृत और सचेत बनाये रखती है। *विधान परिषद भी प्रशासकीय व दूसरे मामलो पर प्रश्न पूछ सकती है तथा उनकी चर्चा कर सकती है।* परन्तु दोनो की शक्तियो म अन्तर केवल इतना ही है कि विधानसभा यदि किसी समय मन्त्रिपरिषद की नीतियो से असतुष्ट हो जाय या किसी प्रश्न के उत्तर मे उसका समाधान न हो तो वह मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर सकती है तथा उसे हटा सकती है जबकि परिषद को ऐसी कोई शक्ति प्राप्त नही हैं।

वास्तव म विधानसभा और विधान परिषद ऐसे मच हैं जहा वक्तृत्व कला का प्रशिक्षण प्राप्त होता हैं तथा वे ऐसे महाविद्यालय हैं जहा राजनीतिज्ञो का सार्वजनिक समस्याओं के बारे म प्रशिक्षण होता हैं तथा जहा नेतृत्व की पक्ति तैयार होती हैं। *य सदन सूचनालय भी हैं जहा होने वाली चर्चाओं से जनता को राज्य के शासन और नीतियो के बारे मे हर प्रकार की सूचनायें प्राप्त होती हैं तथा उसका राजनीतिक* प्रशिक्षण होता है।

इस प्रकार विधानमण्डल अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण कार्य करता हैं जिनका लोकतन्त्र म बहुत बडा स्थान हैं।

★

अध्याय २३

विशेष क्षेत्रों की शासन व्यवस्था

'क्षेत्रीय परिषदे, जम्मू व काश्मीर की शासन व्यवस्था, सघ शासित-क्षेत्रो की शासन व्यवस्था, अनुसूचित क्षेत्रो व जन-जातियो का प्रशासन और नियन्त्रण तथा असम के अनुसूचित क्षेत्रो का प्रशासन।'

क्षत्रीय परिषदें (Zonal Councils)

भारतीय सगद के एक अधिनियम ने १६५६ म भारत को पाच क्षेत्रो में विभाजित किया—उत्तरी क्षेत्र, मध्यवर्ती क्षेत्र, पूर्वीय क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र तथा दक्षिणी क्षेत्र।

उत्तरी क्षेत्र मे पजाब, राजस्थान, जम्मू काश्मीर, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश, मध्यवर्ती क्षेत्र मे उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश के राज्य, पूर्वीय क्षेत्र में बिहार, पश्चिमी बगाल, उडीसा, असम, मणिपुर और त्रिपुरा के क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र मे बम्बई और मैसूर राज्य तथा दक्षिणी क्षेत्र मे आध्र, मद्रास और केरल राज्य रखे गये हैं।

उपरोक्त क्षेत्रों में से प्रत्येक मे एक-एक क्षेत्रीय परिषद की स्थापना की गई है जिसमे निम्न राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य होते हैं—संघीय मन्त्रिपरिषद का एक सदस्य जो लिया जाता है, क्षेत्र में सम्मिलित प्रत्येक राज्य का मुख्यमन्त्री, क्षेत्र में सम्मिलित प्रत्येक राज्य से दो अन्य मन्त्री जो राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जाते हैं, यदि किसी क्षेत्र में कोई सघीय प्रदेश है तो उसका एक प्रतिनिधि जो राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है तथा पूर्वीय क्षेत्र में विशेषकर असम की जन-जातियो के बारे में उस राज्य के राज्यपाल का एक परामर्शदाता भी एक सदस्य होगा।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष—संघीय मन्त्री क्षेत्रीय परिषद का अध्यक्ष होता है तथा उस क्षेत्र म सम्मिलित प्रत्येक राज्य का मुख्य मन्त्री क्रमश एक-एक वर्ष के लिए उसका उपाध्यक्ष होता है।

परिषदो का महत्व—परिषदें प्रतिनिधि-मूलक लोकतन्त्रीय संस्थायें नही हैं। ये परिषदें सरकारें नही है, ये केवल मध्यवर्ती सगठन हैं। ये उन प्रश्नो पर विचार करती हैं जो उन्हे उनके सदस्य राज्यो द्वारा सौंपे जाते हैं। इन परिषदो के द्वारा राज्यो के बीच निकटता स्थापित होगी तथा उन्हें आपसी समस्याओ को निबटाने में सुविधा होगी ऐसी आशा की जाती है। अभी तक इन परिषदो ने कोई ऐसा महत्व

पूर्ण कार्य नही किया है जो इनके अभाव मे न हो पाता। हो सकता है भविष्य मे ये अधिक सक्रिय हो।

जम्मू व काश्मीर की शासन व्यवस्था

यो तो जम्मू व काश्मीर भारत के पन्द्रह राज्यो मे से एक राज्य है तथापि आरम्भ से ही उसकी स्थिति विशिष्ट रही है। सविधान ने भी उसकी इस स्थिति को स्वीकार किया है। यद्यपि उसका भारत मे पूर्ण विलय हो चुका है तथापि अभी तक सविधान के अनेक अ ग उस राज्य पर लागू नहीं होते। हम निरन्तर उस दिशा मे बढना है कि वहा भारत का सविधान पूरी तरह से लागू हो सके तथा वह भारत के अन्य चौदह राज्यो के समान ही एक राज्य बने।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—भारत की स्वाधीनता के समय १५ अगस्त १६४७ को अ ग्रेजो ने देशी राज्यो के साथ अपनी सधि को समाप्त करके उनको भी स्वतन्त्र कर दिया था। उस समय जम्मू व काश्मीर एक देशी राज्य था। १५ अगस्त १६४७ तक इस राज्य ने भारत मे प्रवेश करने का कोई निर्णय नही किया था। उधर पाकिस्तान अपने क्षेत्र के विस्तार की धुन म काश्मीर की भूमि पर आखें गडाय बैठा था। वहा आजाद काश्मीर सरकार के नाम से एक सगठन का निर्माण किया गया जिसने पाकिस्तानी सेनाओ की सहायता से काश्मीर की सुरम्य घाटी पर अक्टूबर १६४७ मे आक्रमण किया जिसका परिणाम यह हुआ कि जम्मू काश्मीर के महाराजा ने भारत की सहायता मागी तथा उस राज्य को भारत म सम्मिलित करने के लिये भारत सरकार से विनती की। भारत सरकार ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया तथा अपनी सेनायें काश्मीर की घाटी मे भेज दी। भारत-प्रवेश का समर्थन वहा के एकमात्र राजनीतिक दल नेशनल कान्फ्रेंस के नेता शेख अब्दुल्ला ने किया।

भारतीय सेनाओ ने पाकिस्तानी आक्रमणकारियो को आगे बढने से तो रोक दिया परन्तु वे उनसे उस क्षेत्र को वापिस न लौटा सकी जिसे कि पाकिस्तानी सेनायें ले चुकी थी क्योकि भारत सरकार ने जनवरी १६४८ म ही इस प्रश्न को सयुक्तराष्ट्र संघ म रख दिया जिसकी मध्यस्थता के कारण युद्ध रोको निर्णय पर अमल करना पडा। काश्मीर घाटी का एक बहुत बडा भाग अभी तक पाकिस्तानी आक्राताओ के अधिकार म पराधीन पडा है और भारत के पुरुषार्थ की राह देख रहा है, परन्तु हमारी अन्तर्राष्ट्रीय नीति शान्तिपूर्ण होने के कारण हम उसके लिय सशस्त्र कार्यवाही करने की सोचते नही हैं और वह सयुक्तराष्ट्र सघ जिसके न्याय पर विश्वास किये हम बैठे हैं इस मामले म निष्क्रिय और उदासीन है।

भारत प्रवेश और जनता का निर्णय—भारत प्रवेश के समय काश्मीर के महाराजा ने भारत सघ को तीन शक्तिया हस्तातरित की थी—(१) प्रतिरक्षा (Defence), (२) वैदेशिक-सम्बन्ध, (३) सचार-परिवहन। भारत का विश्वास आरम्भ से लोकतान्त्रिक पद्धति म रहा है अत उसने काश्मीर की सरकार को कह

दिया था कि काश्मीर के भारत प्रवेश का अन्तिम निर्णय वहां की जनता को ही करना होगा। इस दृष्टि से कार्य करने के लिये अक्टूबर १६५० में तत्कालीन काश्मीर सरकार ने यह निर्णय किया कि वहा एक संविधान सभा का सगठन किया जाये। मार्च १६५१ मे मतदाताओं की सूची बनकर तैयार हो गई तथा उसी वर्ष सितम्बर मे सविधान सभा का निर्वाचन आरम्भ हो गया। सभा की प्रथम बैठक ३१ अक्तूबर १६५१ को हुई। इस सभा ने सबसे पहला प्रस्ताव भारत प्रवेश के समर्थन मे पारित किया तथा उसकी पुष्टि सर्वसम्मति से की। इस प्रकार भारत सरकार ने काश्मीर की जनता की स्वीकृति लेने का जो वचन दिया था वह पूरा हो गया तथा जम्मू व काश्मीर राज्य सदा-सदा के लिये वैधानिक दृष्टि से भारत का अंग हो गया।

जम्मू काश्मीर का नया विधान—राज्य की संविधानसभा ने १७ नवम्बर १६५६ को सर्व सम्मति से नया विधान स्वीकार किया तथा वह २६ जनवरी १६५७ को राज्य मे लागू हो गया। इस विधान के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं —

(१) जम्मू काश्मीर राज्य भारत का अविभाज्य अंग घोषित किया गया है।

(२) उस राज्य का वह भाग भी जो पाकिस्तान के अवैध अधिकार मे है जम्मू व काश्मीर राज्य का अंग घोषित किया गया है।

(३) नागरिको के मौलिक अधिकारो का उल्लेख किया गया है।

(४) सघीय सविधान की भाति इसमें भी राज्य के नीति-निर्देशक तत्वो का समावेश किया गया है। इनमे नि शुल्क शिक्षा व अनिवार्य, आर्थिक प्रबन्ध आदि के बारे में सिद्धान्त दिये गये हैं।

(५) राज्य का कार्यपाल अधिकारी राज्यपाल के स्थान पर सदरे रियासत बनाया गया है जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति नही करता वरन् विधानसभा की कुल संख्या के बहुमत से उसका निर्वाचन होता है। उसका कार्यकाल पाच वर्ष माना गया है। वर्तमान सदरे रियासत युवराज कर्णसिंह राज्य के निर्वाचित अध्यक्ष है।

(६) विधानसभा मे बहुमत दल का नेता मन्त्रिपरिषद का निर्माण करता है। राज्य के मुख्यमन्त्री को प्रधानमन्त्री कहा गया है। मन्त्रिपरिषद की स्थिति अन्य राज्यो जैसी ही है।

(७) राज्य के विधान मण्डल के तीन अंग माने गये हैं—सदरे रियासत, विधानसभा और विधान परिषद। विधानसभा मे १०० सदस्य होते हैं, जिनमे से २५ स्थान पाकिस्तान अधिकृत प्रदेश के लिये रिक्त रखे गये हैं तथा ७५ स्थानो के लिये निर्वाचन होता है।

विधान परिषद के सदस्यों की संख्या ३६ रखी गई है इनमे से ११ जम्मू से, ११ सदस्य काश्मीर से इस प्रकार २२ सदस्यो का निर्वाचन वहा की विधानसभा करती है। शेष १४ स्थानो से ६ का निर्वाचन स्थानीय संस्थाओ के सदस्य करते हैं,

२ का शिक्षक और ६ सदस्यो को सदरे रियासत मनोनीत करता है। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि काश्मीर के ११ सदस्यो मे से १ सदस्य लद्दाख क्षेत्र मे और १ सदस्य करगिल क्षेत्र से लिया जायगा।

(८) राज्य का उच्च-न्यायालय पृथक है और वह दूसरे राज्यो की भाति काम करता है।

राष्ट्रपति का सावैधानिक आदेश—राष्ट्रपति ने जम्मू व काश्मीर के शासन के बारे मे एक सावैधानिक आदेश द्वारा निम्न व्यवस्था की है।

भारत का सविधान निम्नलिखित बातो को छोडकर शेष मामलो मे जम्मू व काश्मीर पर लागू होगा —

(१) *राज्य के विधानमण्डल की सहमति के बिना ससद मे कोई ऐसा विधेयक प्रस्तुत नही किया जा सकेगा जिसमें उस राज्य का क्षेत्र घटाने, बढाने अथवा नाम या सीमायें बदलने का प्रस्ताव हो*

(२) *राज्य का कोई निवासी जो पाकिस्तान अधिकृत क्षेत्र मे चला गया हो* परन्तु राज्य की विधानसभा द्वारा स्वीकृत नियमो के अनुसार लौट कर पुन उस राज्य म निवास करने लगा हो, भारत का नागरिक समझा जायगा

(३) राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित निवारक-बन्दी अधिनियम भारतीय सविधान के विरुद्ध होते हुए भी १४ फरवरी १९६३ तक वैधानिक माना जायगा तथा उसे किसी न्यायालय म अवैध नही घोषित किया जा सकेगा। पाच वर्ष के बाद इस प्रश्न पर पुन विचार होगा,

(४) राज्य का विधानमण्डल निम्न विषयो पर ऐसी विधियां बनाने के लिये भी अधिकृत होगा जो इस सविधान के विपरीत हो और इस प्रकार उसके द्वारा बनाई गई विधिया अवैध नही घोषित की जा सकेंगी —

(क) राज्य के स्थायी निवासियो की परिभाषा

(ख) उन निवासियो को दी जाने वाली ऐसी विशेष सुविधायें जिनके द्वारा वे अन्य व्यक्तियो पर राज्य मे पद प्राप्त करने, अचल सम्पत्ति प्राप्त करने, बसने और राज्य द्वारा दी जाने वाली छात्रवृत्ति व *अन्य सहायता प्राप्त करने के बारे मे नियम बना सकें।*

(५) *लोकसभा म इस राज्य के प्रतिनिधियो को राष्ट्रपति राज्य के विधान*-मण्डल की सिफारिश पर मनोनीत करेगा

(६) उस राज्य मे बनाये गय भूमि स्वामित्व सम्बन्धी अधिनियम इस सविधान के विपरीत होने पर भी वैध माने जायेंगे। उस राज्य म बिना प्रतिघन (Compensation) दिय भूमि छीन लेने की जो विधि बनाई गई है उसे किसी भी न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकेगी।

(७) भारतीय सविधान की समवर्ती सूची के समस्त विषय इस राज्य के लिये राज्य सूची के अन्तर्गत माने जायेंगे।

(८) यह राज्य अवशिष्ट शक्तियो का प्रयोग भी स्वय ही करेगा और सघ-सूची के कुछ विषय जैसे—खनिज, व्यापार, कम्पनी नियम और जनसख्या के बारे म स्वय विधिया बना सकेगा ।

(९) इस राज्य के बारे मे सकटकाल की घोषणा राष्ट्रपति वहा की सरकार की सहमति से करेगा।

राज्य के कुछ तत्व निरतर इस बात की चेष्टा कर रहे हैं कि राज्य का भारत के साथ पूर्ण एकीकरण हो सके तथा भारत का सविधान पूर्ण रूप से वहा लागू हो सके । इनम डेमोक्रेटिक नेशनल कान्फ्रेंस और उसके नेता श्री जी० एम० सादिक के नाम उल्लेखनीय ह् । वे चाहते है कि जम्मू व काश्मीर राज्य भारत के दूसरे राज्यों की भाति ही शासित हो ।

सघ शासित क्षेत्रो को शासन-व्यवस्था

सघ द्वारा शासित क्षेत्र—सविधान की प्रथम अनुसूची म उन क्षेत्रो का वर्णन इस प्रकार किया गया है जो सीधे सघ के प्रशासन मे रहेग—दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, अण्डमान निकोबार द्वीप समूह, लकदिव, मिनिकाय तथा अमिनदिव द्वीप समूह ।

इन क्षेत्रो के शासन के बारे म सविधान के सातवें खण्ड के अनुच्छेद २३९, २४० और २४१ मे बताया गया है कि—

१ यदि ससद कोई और व्यवस्था न करे तो सघीय क्षेत्रो का शासन राष्ट्रपति अपनी समझ के अनुसार ऐसे प्रशासक के द्वारा चलायेगा जिसके पद के बारे म स्वय राष्ट्रपति निर्णय करेगा तथा जिसकी नियुक्ति भी स्वय राष्ट्रपति करेगा ।

२ राष्ट्रपति किसी क्षेत्र के राज्यपाल को उस राज्य के निकटवर्ती सघीय क्षेत्र का प्रशासन सौंप सकता है । राज्यपाल इस कार्य को अपने मन्त्रिपरिषद से सर्वथा स्वतन्त्र रहकर करेगा, अर्थात् मन्त्रिपरिषद उसमें कोई हस्तक्षेप नही करेगी ।

३ राष्ट्रपति अन्दमान निकोबार, लकदिव, मिनिकाय व अमिनदिव द्वीप समूह की शाति, प्रगति और सुशासन के लिय नियम बना सकता है । ऐसे नियम ससद के किसी अधिनियम का सशोधन कर सकते हैं या उसे रद्द भी कर सकते हैं परन्तु वे ससद द्वारा बनाई गई विधियो के समान ही लागू किय जायेंगे ।

४ ससद इन क्षेत्रो म उच्च-न्यायालयो की स्थापना विधिवत् कर सकेगी या किसी न्यायालय को उच्च न्यायालय घोषित कर सकेगी ।

प्रादेशिक परिषदें और परामर्शदात्री समितिया—ससद ने १९५६ में एक अधिनियम पारित करके हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा और मणिपुर म से प्रत्यक क्षेत्र म एक प्रादेशिक परिषद की स्थापना की है । हिमाचल प्रदेश म परिषद के सदस्यो की सख्या ४१ है, त्रिपुरा म ३० और मणिपुर म २० । य सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के द्वारा व्यापक वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित किय

जाते हैं। परिषद की अवधि ५ वर्ष होती है, इसे एक वर्ष के लिये और बढाया जा सकता है। प्रत्येक प्रादेशिक परिषद मे दो सदस्य सघ सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। हिमाचल प्रदेश में परिषद के १२ सदस्य हरिजनो म से होने अनिवार्य हैं।

ये परिषदें सीमित क्षेत्रो में नगरपालिका या जिला परिषद की तरह प्रदेश के प्रशासक के नीचे काम करती हैं। हिमाचल प्रदेश मे एक उप-राज्यपाल होता है तथा दिल्ली, मणिपुर और त्रिपुरा आदि मे चीफ कमिश्नर होता है।

संघ क्षेत्रो के प्रशासन मे गृह मन्त्रालय की सहायता के लिय अलग-अलग क्षेत्रों की परामर्शदात्री समितिया बनाई गई हैं, इनमें उन क्षेत्रो के संसद सदस्यो के अतिरिक्त कुछ दूसरे लोग भी होते हैं।

दिल्ली क्षेत्र के लिये परिषद के स्थान पर निगम (Corporation) की स्थापना की गई है जिसमें जनता द्वारा ८० सदस्य चुने जाते हैं। ये ८० सदस्य मिलकर ६ वरिष्ठ सदस्यो (Alderman) को चुनते हैं। निगम अपनी नाना समितियो और उपसमितियो के द्वारा अपने कार्य का सचालन करती है। यह अपने लिये एक महापौर (Mayor) और एक उपमहापौर (Deputy Mayor) का निर्वाचन करती है। महापौर का पद बहुत अधिक सम्मान व प्रतिष्ठा का है क्योकि दिल्ली लोकधानी है। (यहा हमने राजधानी के लिये लोकधानी शब्द का प्रयोग किया है क्योकि अब राजा नही लोक का शासन है। राज्य को भी हमारे विचार मे राज्य के बजाये प्राज्य कहना चाहिये जिससे प्रजा की सत्ता का बोध हो सके।)

अनुसूचित क्षेत्रों व जन-जातियों का प्रशासन और नियन्त्रण

असम राज्य के अतिरिक्त दूसरे राज्यो या संघ क्षेत्रो के अनुसूचित क्षेत्रो और जन-जातियो का प्रशासन व नियन्त्रण किस प्रकार होगा यह सविधान की पाचवी अनुसूची मे बताया गया है।

उसमें कहा गया है कि अनुसूचित क्षेत्रो मे राज्य की कार्यपालिका सत्ता उन क्षेत्रो के प्रशासन की रीति के बारे में सघ सरकार की कार्यपालिका के निर्देशन में प्रयोग की जायेगी जब कभी राष्ट्रपति उन क्षेत्रों के प्रशासन के बारे म राज्यपाल से सूचना मागे तभी उसे वह देनी पडती है तथा वह उस बारे म राष्ट्रपति के सामने एक वार्षिक प्रतिवेदन भी प्रस्तुत करता है।

जन-जाति मन्त्रणा परिषद (Tribal Advisory Council)—पाचवी अनुसूची क ख खण्ड म कहा गया है कि जिन राज्यों म अनुसूचित क्षेत्र और जन-जातिया हैं वहा एक-एक जन-जाति मन्त्रणा परिषद की स्थापना की जावेगी। इस परिषद मे बीस से अधिक सदस्य नही होंगे। इनम से जहा तक सम्भव होगा तीन चौथाई सदस्य उस राज्य की विधानसभा के वे सदस्य होंगे जो जन-जातियों के प्रतिनिधि हैं। यदि यह संख्या कम रही तो जन-जातियो के अन्य सदस्यों को परिषद का सदस्य बनाया जावेगा।

जन जाति मन्त्रणा परिषद राज्यपाल को उन मामलो पर परामर्श देती है जिनका सम्बन्ध जन जातियो के कल्याण और उनकी उन्नति से है तथा जो उसे राज्यपाल द्वारा सौंपे जायें।

राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि वह परिषद के सदस्यो की सख्या, उनकी नियुक्ति, परिषद के सभापति तथा अन्य पदाधिकारियो और सेवको की नियुक्ति की रीति उसके अधिवेशनो के सचालन तथा उसकी साधारण प्रक्रिया आदि के बारे मे नियम बनाता है।

राज्यपाल की सत्ता—सविधान मे कहा गया है कि राज्यपाल जन-जाति मन्त्रणा परिषद के परामर्श से तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति लेकर निम्न कार्य कर सकता है —

१ वह भूमि के हस्तातरण का निषेध कर सकता है या उस पर प्रतिबन्ध लगा सकता है

२ जन-जातियो के सदस्यो को जिस पद्धति से भूमि बाटी जाती है वह उसका विनियमन कर सकता है,

३ जन-जातियो के सदस्यो को ऋण देने वाले व्यक्तियो के धन्धे का नियमन कर सकता है।

अनुसूचित क्षेत्रो मे कौन सी विधिया लागू होगी और कौन सी नही यह निश्चय राज्यपाल करता है। इन क्षेत्रो में शान्ति और सुरक्षा के लिये नियम बनाने का अधिकार भी राज्यपाल को है। यह नियम उस समय उस क्षेत्र मे लागू सघीय व राज्य की विधियो को रद्द या सशोधित कर सकता है।

अनुसूचित क्षेत्रो की परिभाषा—सविधान ने कहा है कि कौन क्षेत्र अनुसूचित क्षेत्र होगे यह निश्चय राष्ट्रपति करता है। किसी भी समय राष्ट्रपति अपने आदेश के द्वारा यह घोषणा कर सकता है कि किसी अनुसूचित क्षेत्र का कोई भाग या पूरा क्षेत्र ही अनुसूचित नही रहा वह किसी अनुसूचित क्षेत्र की सीमाओ म परिवतन कर सकता है तथा राज्यों की सीमाओ का परिवर्तन होने पर या सघ मे किसी नय राज्य के प्रवेश या नय राज्य के निर्माण पर वह किसी अनुसूचित क्षेत्र को किसी राज्य मे नय सिरे से सम्मिलित कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह इस बारे मे अन्य आदेश भी जारी कर सकता है।

सशोधन—इस बारे में हमने जिन नियमो का वर्णन किया है उनका सशोधन ससद किसी भी समय कर सकती है, उसके लिय किसी विशेष प्रक्रिया या विशेष बहुमत की आवश्यकता नही होती। कोई न्यायालय ससद की इस शक्ति पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता।

असम के जन-जाति क्षेत्रो का प्रशासन

असम के जन-जाति क्षेत्रो का विवरण सविधान में इस प्रकार दिया गया है—

'क' खण्ड

१ सयुक्त खासी जयन्तिया पर्वत जिला,
२ गारो पर्वत जिला,
३ मिजो जिला
४ उत्तर कछार पर्वत,
५ मिकिर पर्वत ।

'ख' खण्ड

१ उत्तर पूर्वीय सीमान्त क्षेत्र, जिसमे बालीपारा सीमातक्षेत्र, तिराप सीमान्त क्षेत्र अबोर पर्वत्त जिला और मिशिमी पर्वत जिला सम्मिलित हैं ।

२ नगा पर्वत-तुएनसाग क्षेत्र ।

स्वशासी जिले और स्वशासी क्षेत्र—उपरोक्त क्षेत्रों में से क' खण्ड मे सम्मिलित क्षेत्रो को स्वशासी जिला (Autonomous District) कहा जायगा । यदि किसी स्वशासी जिले मे भिन्न जन जातिया हों तो राज्यपाल सार्वजनिक आदेश के द्वारा स्वशासी जिले को स्वशासी क्षेत्रों (Autonomous Regions) मे विभाजित कर सकता है ।

इस बारे मे राज्यपाल को बहुत विस्तृत सत्ता दी गई है वह उपरोक्त तालिका के क खण्ड म किसी अन्य क्षेत्र को सम्मिलित कर सकता है उसम से कोई क्षेत्र निकाल सकता है, नया स्वशासी जिला बना सकता है, किसी स्वशासी जिल के क्षेत्र को बढा सकता है या घटा सकता है दो या अधिक स्वशासी जिलो को या उनके खण्डो को जोडकर एक स्वशासी जिला बना सकता है तथा किसी स्वशासी जिले की सीमायें निश्चित कर सकता है ।

नया स्वशासी जिला बनाने, किसी स्वशासी जिले का क्षेत्र घटाने या बढाने तथा दो या अधिक जिलो को मिलाने के बारे मे राज्यपाल तब तक कोई निश्चय नही करेगा जब तक कि वह जन-जाति आयोग (जिसका वणन हम पीछे कर चुके हैं) की सिफारिशो पर विचार न कर ल ।

स्वशासी जिला परिषदे (District & Regional Councils) तथा स्वशासी क्षेत्रीय परिषदे—प्रत्यक स्वशासी जिल में एक जिला परिषद होती है जिसमें २४ से अधिक सदस्य नहीं होते । इनम स कम से कम तीन चौथाई सदस्य वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित किय जाते ह ।

प्रत्यक स्वशासी क्षेत्र के लिय एक क्षेत्रीय परिषद की व्यवस्था की गई है, इसके बारे म यह नही बताया गया कि उसमें कितने सदस्य होगे तथा उनकी नियुक्ति किस प्रकार होगी । इस बारे म ससद को नियम बनाने का अधिकार दिया गया है ।

स्वशासी जिल का प्रशासन जिला परिषद और स्वशासी क्षत्र का क्षेत्रीय-परिषद चलाती हैं तथा दोनो की सत्ता अपने अपने क्षेत्र मे स्पष्ट कर दी गई है । यदि क्षेत्रीय परिषद चाहे तो वह उस जिला परिषद को जिसमे वह क्षत्र सम्मिलित

है अपनी सत्ता का कोई अ श हस्तातरित कर सकती है।

जिला परिषद और क्षेत्रीय परिषद की विधायी सत्ता—अनुसूची मे इन विषयो की एक सूची दी गई है जिनके बारे में विधिया बनाने की सत्ता जिला और क्षेत्रीय परिषदो को दी गई है।

इन परिषदो द्वारा पारित विधियो राज्यपाल की स्वीकृति के लिये उस के सामने रखी जायेगी और जब तक वह उन पर अपनी अनुमति प्रदान न करे तब तक वे लागू नही की जा सकती। राज्यपाल की अनुमति मिलने पर वे राजपत्र मे प्रकाशित होती है तथा प्रभावशाली होती हैं।

इन क्षेत्रो म राज्य-विधानमण्डल द्वारा बनाई गई विधिया किस सीमा तक लागू होगी यह निश्चित परिषदें करेंगी तथा सघीय विधियो के बारे मे राज्यपाल निश्चय करेगा।

राज्यपाल द्वारा नियन्त्रण—यदि राज्यपाल समझता है कि किसी परिषद के किसी काम से भारत की सुरक्षा के लिय सकट उत्पन्न हो सकता है तो वह उसे रोक सकता है तथा आवश्यक समझे तो परिषद के कार्य को अपने हाथ मे ले सकता है। राज्यपाल के इस प्रकार के आदेशो को यथाशीघ्र राज्य के विधानमण्डल के सामने विचार के लिय रख दिया जाता है और यदि वह ठीक समझे तो आदेश जारी होने की तिथि से बारह मास के लिय उसे लागू कर सकता है।

राज्यपाल को सत्ता दी गई है कि वह जन-जाति आयोग की सिफारिश के आधार पर इन परिषदो को विघटित कर सकता है। विघटन के तुरन्त पश्चात ही नई परिषदो के निर्माण का काम शुरु हो जायगा। राज्य का विधानमण्डल किसी विघटित परिषद के तर्क सुनने के बाद यह निर्णय कर सकता है कि उस जिले या क्षेत्र का प्रशासन एक वष के लिय राज्यपाल को दे दिया जाय।

सक्षेप म इस प्रकार इन क्षेत्रो का प्रशासन चलता है। आजकल यह माग बहुत तेजी के साथ की जा रही है कि जिन क्षत्रो में स्वशासन की व्यवस्था नही की गई है वहा भी उसका प्रबन्ध किया जाय। निश्चय ही देर सवेर से लोकतन्त्रात्मक सस्थाओ का विस्तार वहा भी होगा। परन्तु यह ध्यान रखना होगा कि वह क्षेत्र हमारा सीमावर्ती क्षेत्र है। अत यह बहुत स्वाभाविक है कि सघ सरकार देश की प्रतिरक्षा की दृष्टि से उस क्षत्र के प्रशासन पर नियन्त्रण की शक्ति निश्चय ही अपने हाथ में रखेगा जो सर्वथा वाछनीय और उचित है विशेषकर आज की स्थिति मे जब हमारे पडोसी चीन के साथ हमारा सीमा सघर्ष चल रहा है।

ॐ पूर्ण है वह पूण है यह,
पूर्ण से निष्पन्न होता पूर्ण है
पूर्ण म से पूर्ण को यदि लें निकाल।
शेष तब भी पूण ही रहता सदा॥

जयहिन्द जयजगत्